दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

स्वर्णजयंती-ग्रंथ

(अप्रैल, 1971)

संपादक-मंडल

श्री शा. रा. शारंगपाणि (प्रधान संपादक)

श्री ए. सी. कामाक्षिराव	श्री बी. एम. कृष्णस्वामी
डॉ० मलिक मुहम्मद	श्री एस. श्रीकण्ठमूर्ति
श्री मे. राजेश्वरय्या	डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन
श्री एस. महालिंगम	श्री मु. नरसिंहाचार्य
श्री एन. वेंकटेश्वरन	श्री र. शौरिराजन
डॉ० चावलि सूर्यनारायणमूर्ति	श्री पी. नारायण (संयोजक)

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा

त्यागरायनगर :: मद्रास-17

दाम : रु. 15/-

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास,

का

यह स्वर्णजयंती-ग्रंथ

क़ौमी एकता के लिए अहिन्दी भारत में हिन्दी की प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाले अमर बलिदानी राष्ट्र-पिता की हुतात्मा को......

हिन्दी को भारत की आत्मा की ज़बान घोषित करनेवाले अहिन्दी भारत के कोटि-कोटि हिन्दी शिक्षार्थियों तथा उनके महान हिन्दी शिक्षकों की अथक निष्ठा को.. ..

अपने यौवन को चंदन की तरह घिसा कर दक्षिण के हिन्दी आन्दोलन पर कुरबान हुए हिन्दी भारत के अग्र-गण्य आदिम हिन्दी प्रचारकों को . ...

अवकाश-प्राप्त तथा दिवंगत सभा के समर्पित समस्त हिन्दी-भिक्षुओं की सेवा-साधना को . .

दक्षिणापथ के हिन्दीतर हिन्दी लेखकों की साहसी प्रतिभा को . ...

सादर, सविनय समर्पित!
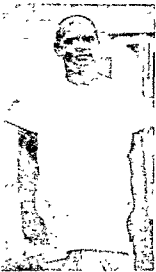
दक्षिण के हिन्दी आंदोलन के शक्ति-स्रोत और
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रथम प्रधान मंत्री

स्व. पं० हरिहर शर्माजी का संदेश

हुतात्मा की अंतिम पुकार !

" स्वर्णजयंती में राष्ट्रपति आये और रजतजयंती में राष्ट्रपिता पधारे थे। मगर हिसाब लगाकर देखें कि इस बीच में हमने क्या किया! आज हमारा राष्ट्र कहाँ है? और राष्ट्रभाषा कहाँ है?........

" पहले हिन्दी के प्रति उत्साह दोनों (जनता और प्रचारक) में रहा था। अब जनता में कम है तो प्रचारकों में दुगुना उत्साह बढ़ना है। हम सरकार के मुखापेक्षी न बनकर जनता की ओर निहारें, जनता में उतरें। वास्तव में अब से स्वर्णजयंती का प्रारंभ मानकर गाँवों में जाकर घर-घर हिन्दी सिखावें। जय हिन्द! जय हिन्दी!!"

(ता. 30-4-'71 को मद्रास में संपन्न हिन्दी प्रचारक सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण से)

संपादकीय निवेदन

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, के स्वर्णजयंती-महोत्सव के उपलक्ष्य में यह 'स्वर्णजयंती ग्रंथ' प्रकाशित हो रहा है।

किसी भी संस्था के इतिहास में ऐसे उत्सव का विशेष महत्व होता है। यह स्वाभाविक है कि इस अवसर पर संस्था और उसके समर्थक अपने अब तक के कार्य का सिंहावलोकन और आगे के कार्य का विहगावलोकन करना चाहें, क्योंकि उनको अपनी साधनाओं तथा उपलब्धियों के मूल्यांकन के आधार पर ही आगे के कार्यक्रम का निर्धारण करना है। इसी को सहज-संभव करने के इरादे से सभा ने 'स्वर्णजयन्ती-स्मारिका' और 'स्वर्णजयन्ती-ग्रंथ' प्रकाशित करने का निश्चय किया।

दक्षिण के हिन्दी-आंदोलन के प्रचार, शिक्षण तथा संगठन-संबंधी सचित्र विवरण और लेख 'स्मारिका' में प्रकाशित हैं, उस आंदोलन से प्रभावित भावात्मक नवजागरण, साहित्यिक नवोत्थान, सांस्कृतिक नवचेतना और ऐतिहासिक आघात-प्रतिघातों का कुछ संक्षिप्त विवरण इस 'ग्रंथ' में प्रस्तुत है। सभा चाहती थी कि इस 'ग्रंथ' में दक्षिण के संगीत, नृत्य, चित्र, काव्य आदि के भी परिचयात्मक कुछ अलग-अलग खंड रहें। लेकिन परिस्थिति से विवश होकर वह इरादा छोड़ना पड़ा।

प्रस्तुत 'ग्रंथ' के तीन खंड हैं—(अ) भाषा और साहित्य, (आ) संस्कृति और कला और (इ) सभा इतिहास। तीनों खंडों के विविध उद्देश्य स्पष्ट हैं; लेकिन पाठक देखेंगे कि तीनों ही खंडों में अंतर्वाहिनी के रूप में एक सामान्य सूत्र चलता है जिसके कारण सभी लेख दक्षिण के परिवेश में हिन्दी आंदोलन और उससे प्रभावित गतिविधियों तथा उपलब्धियों के ही परिचायक बने हैं। पाठकगण यह भी देखेंगे कि सभा की शिक्षा-दीक्षा से लाभान्वित कितने ही दाक्षिणात्य हिन्दी के कैसे अच्छे लेखक बन सके हैं।

पृष्ठ-सीमा तथा अन्य विवशताएँ नहीं होतीं, तो इसमें और भी अनेक लेख और भी विस्तृत रूप में छप सकते थे। संपादकगण अपनी विवशताओं के लिए लेखकों और पाठकों से क्षमा-याचना करते हैं। जैसा भी हो, प्रस्तुत रूप में भी इस 'ग्रंथ' का अधिकांश श्रेय इसके सभी लेखकों को है। एतदर्थ, संपादकगण उन सभी लेखकों के आभारी हैं। हाँ, यह न माना जाए कि लेखों में व्यक्त सभी विचार सभा के भी हैं, वास्तव में ये विचार लेखकों के अपने हैं।

स्वर्णजयंती के अवसर पर ता 29-4 1971 को यह 'ग्रंथ' एक अग्रिम रूप में प्रकाशित किया गया, कुछ और लेखों को भी मिलाकर प्रस्तुत रूप में अभी इसका प्रकाशन हो रहा है।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा संचालित हिन्दी आंदोलन के परिवेश, प्रचार तथा प्रभाव का थोड़ा-सा परिचय देने में भी यह 'ग्रंथ' अगर समर्थ निकला, तो संपादकगण कृतार्थ होंगे। विज्ञ पाठकों से सविनय निवेदन है कि इस 'ग्रंथ' में संभाव्य भूलों और कमियों के लिए संपादकगण क्षमाप्रार्थी हैं।

मद्रास
ता 25-12 1971

शा. रा. शारंगपाणि
प्रधान संपादक

स्वर्णजयन्ती-ग्रंथ

विषय-सूची

साहित्य-भाषा-खंड :

संस्कृति-कला-खंड :

सभा : इतिहास-खंड :

डॉ० अम्बाप्रसाद, 'सुमन'
एम. ए., डी. लिट्
8/7, हरि नगर, अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

साहित्यगत भावना-भूमि पर उत्तर-दक्षिण भारत एक है

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विश्वविद्यालय विभाग की दागबेल डालनेवाले, हिन्दी भाषी प्रगल्भ भाषाविद श्री 'सुमन' का सारस्वत जीवन बहुमुखी रहा है। आप लिंग्विस्टिक्स में विशेष अभिरुचि रखते हैं और तत्संबन्धी विविध सरकारी उपसमितियों से भी संबद्ध हैं। हिन्दी साहित्य व हिन्दी उपभाषाओं पर आपके विविध शोधपूर्ण ग्रंथ तथा सैकड़ों निबंध भी प्रकाशित हैं। संप्रति अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से संबद्ध हैं।

किसी देश का वास्तविक स्वरूप उसकी भावमूल संस्कृति में देखा जा सकता है। उस संस्कृति को जीवित रखने की शक्ति उस देश विशेष की भाषाओं के साहित्य में ही हो सकती है। यों तो किसी भी भाषा को ज्ञान के लिए अथवा मजबूर होकर नौकरी के लिए सीखा जा सकता है, किन्तु कोई देश आत्मगौरव एवं सांस्कृतिक रागात्मक सत्ता के साथ जीवित रहना चाहता है, तो यह तभी संभव है, जब वह अपनी सांस्कृतिक भाषा को जीवन्त बनाते हुए उसकी प्राणप्रतिष्ठा करता रहे।

मनुष्य का व्यक्तित्व अपने देश की संस्कृति में जन्म लेता है; फिर पनपता और बढ़ता है। प्राकृतिक परिवेश की भिन्नता के कारण एक मानव-समुदाय दूसरे मानव-समुदाय से शारीरिक गठन और रूप-रंग में भिन्न हो सकता है; किन्तु एक संस्कृति में जन्मे और पले हुए मानव-समुदायों को भावनाओं एवं मूल चिन्ताओं में अन्तर नहीं आ सकता। यदि वह अन्तर कहीं दिखाई पड़ता है, तो निश्चित रूप से वह क्षणिक है, बाहरी है अथवा स्वार्थी तत्वों द्वारा आरोपित है।

ऋतुएँ जैसे प्रकृति से प्रभावित होकर अनेक रंगों के फूलों को जन्म देती हैं और उन फूलों से उपवन की शोभा बढ़ाती हैं, ठीक उसी प्रकार भाषा भी अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है। हमारे भारत की प्रादेशिक भाषाओं की ऊपरी भिन्नताएँ वास्तव में परस्पर विरोधमूलक नहीं हैं, अपितु वे अनेक रंगों के पुष्पों से भारतोद्यान की

शोभा ही बढा रही हैं। इस देश की सभी प्रादेशिक भाषाएँ हमारे सांस्कृतिक क्षीरसागर की लहरें हैं, जो ऊपर से अलग-सी दिखाई देती हुई भी उस सागर में एकता और उल्लास की गतिमयी निरन्तरता सिद्ध कर रही हैं।

क्या हिन्दी और क्या हिन्दीतर अन्य भारतीय प्रादेशिक भाषाएँ—सभी का सांस्कृतिक स्वर एक है और वही हमारे स्वतंत्र नवोदित राष्ट्र का मूल शाश्वत स्वर है।

भारत की सम्पूर्ण आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं का प्रत्यक्ष और परोक्ष संबंध संस्कृत से अवश्य रहा है। उसकी भावराशि और शब्दराशि का भी समय-समय पर आदान-प्रदान होता रहा है। संस्कृत के संदर्भ में प्रायः सभी भारतीय प्रादेशिक भाषाएँ सहोदरा या सहचरी सिद्ध होती हैं। असमिया, बँगला, उड़िया, गुजराती, मराठी, पंजाबी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि प्रादेशिक भाषाओं में हिन्दी अपने प्रदेश की दृष्टि से मध्यवर्ती है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह अपनी सब बहिनों के साथ सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संबंध जोड़ने में सदा आगे बढ़ती रही है। अपनी बहिनों से इसने बहुत कुछ लिया है और अपनी ओर से उन्हें कुछ न कुछ भेंट भी किया है।

हिन्दी की विनय-शीलमयी लोकप्रियता से प्रसन्न होकर ही इसे इसकी अन्य बहिनों ने अपने आशीर्वाद के सुमन उपहार में दिये थे। उन्हीं सुमनों के प्रताप से हिन्दी हमारे संपूर्ण हिन्द की एक मात्र सांस्कृतिक भाषा बन गयी थी। क्या पूरब, क्या पच्छिम, क्या उत्तर, क्या दक्खिन, सभी क्षेत्रों के भारतीय साहित्यकार और संत हिन्दी को इस सांस्कृतिक भाषा में अपनी बात कहने लगे थे। भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के अनेक साहित्यकारों और सन्तों से सम्पत्ति हिन्दी को मिली, उसे हिन्दी ने सिर माथे चढ़ाकर लिया और अपने को सौभाग्यशाली समझा।

जिस दिन असम के शंकरदेव ने 'अंकिया' नाटक की रचना की थी, जिस दिन बंगाल के कवियों ने ब्रजबुलि के माध्यम से अपनी भक्ति-भावनाओं को अभिव्यक्त किया था, जिस दिन गुजरात के नरसी भगत ने अपने भजन गाये थे, जिस दिन महाराष्ट्र के संत नामदेव और तुकाराम ने अपनी रागिनी छेड़ी थी, जिस दिन गिरधर नागर के प्रेम में राजस्थान की दीवानी मीरा गीत गाते हुए नाची थी, जिस दिन पंजाब के गुरुनानक, काशी के कबीर और जायस के जायसी ने अपने मानवतावादी उद्गारों को प्रकट किया था और जिस दिन दक्षिणांचल के शंकर, रामानुज, मध्व, रामानन्द और आचार्य वल्लभ ने भक्ति की पतितपावनी धारा को दक्षिण से लाकर उत्तर में बहाया था—वास्तव में वे हिन्दी के लिए परम सौभाग्य के दिन थे।

सांस्कृतिक भावनाओं की दृष्टि से हमारी राष्ट्रवीणा का स्वर एक है—भले ही उसके तार हमें अलग-अलग और अनेक दिखाई देते हों। तेलुगु के वेमना और हिन्दी के कबीर की भावनाएँ क्या अलग-अलग हैं? तमिल की आण्डाल और राजस्थानी की मीरा की भक्ति का स्वर क्या भिन्न भिन्न है? रामचन्द्रजी के चरित-वर्णन में मलयालम के एळुत्तच्चन और हिन्दी के तुलसीदास क्या हमें भिन्न भावनाओं के कवि दिखाई पड़ते हैं? इतना ही नहीं, सम्पूर्ण देश की राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने में तमिल के सुब्रह्मण्य भारती और हिन्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने

एक-सा ही शंखनाद किया है। तमिल के भक्तवर श्री तिरुवल्लुवर ने अपने कुरळ् छन्दों में जिस भक्ति और दर्शन का मार्गोद्घाटन किया है, ठीक उसी भक्ति और दर्शन का प्रतिपादन हमें कबीर की 'साखी' और 'सबद' में मिलता है। श्री तिरुवल्लुवर की भावना और अभिव्यंजना की छाया का प्रभाव हमें अकेले कबीर पर ही नहीं, अपितु मलिक मुहम्मद जायसी पर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार श्री तिरुवल्लुवर भगवान् को वर्णमाला के प्रथम वर्ण 'अ' की भाँति आदि शक्ति मानकर उसका वर्णन करते हैं, ठीक उसी तरह जायसी भी कहते हैं:—

"अकर मुदुल एपुत्तेल्लाम्
आदि भगवन् मुदट्रे उलगु।"

—तिरुवल्लुवर

* * *

"सँवरौं आदि एक करतारू।
जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥"

—जायसी

संस्कृत वाङ्मय में ज्ञान का जो प्रखर सूर्य उदित हुआ था, उसीकी रश्मियाँ हमारी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में उद्भासित हुई हैं। संस्कृत की शब्द-सम्पत्ति समान रूप से हमारी सभी प्रादेशिक भाषाओं ने प्रेमपूर्वक ग्रहण की है। हमारे मानव धर्म और संस्कृति एक हैं और उनकी अभिव्यक्ति के साधन भी एक हैं। इसका प्रत्यक्ष और स्पष्ट प्रमाण यह है कि भारत की सभी आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं में ईश्वर, आत्मा, आरती, आश्रम, स्वर्ग, नरक, पाप, पूजा, शाप आदि के लिए समान ही शब्द हैं।

हमारे संपूर्ण भारत की राष्ट्रीय भावना सदा से एक रही है। भारतीय कवियों ने उत्तर से दक्षिण तक तथा पूर्व से पश्चिम तक एक ही भाव के साथ अँग्रेज नाम की विदेशी सत्ता से अपने को स्वतंत्र बनाने के लिए मंजु घोष किया था। तेलुगु के कवि गुरजाडा और लक्ष्मीकान्तम् की निम्नांकित भावधारा किस भारतीय आत्मा में राष्ट्रीय ओज उत्पन्न नहीं करती?—

"पाडि पंटलु योङ्गि पोलें दारिरो
नीव पाटु पडवोय्।
देश सरुकुल अन्नि देशान् कंपवलेनोय्।"

—गुरजाडा

(अर्थात्, कृषि के पथ पर तुम बढ़े चलो ; यहाँ घी-दूध की नदियाँ बहें और स्वदेशी वस्तुएँ हमारे सभी बाजारों में बिकें।)

* * *

"भरत खंडनु नोक चक्कानी पाडियावु
हिन्दुवुल लोगदडले एड्चुचुंड
तेल्लवारनु गडसरि गोल्लवारु
पितुकुचुन्नाह मूतुलु विगियहि।"

—लक्ष्मीकान्तम्

(अर्थात्, भारत एक सुंदर दुधारू गाय है। भारतीय बछड़े दूध बिना बिलख रहे हैं और गोरे ढीठ ग्वाले बनकर उस गाय का दूध दुह रहे हैं।)

अंग्रेज शासकों की नीति के प्रति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भावधारा भी गुरजाडा और लक्ष्मीकान्तम् के समान ही अभिव्यक्त हुई है—

"मारकीन मलमल बिना चलत न एकहु काम।
परदेसी जुलहान के मानहु भए गुलाम।"

* * *

"आवहु सब मिलिकें रोवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

—भारतेन्दु

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की-सी ही राष्ट्रीय भावना एवं स्वदेश-प्रेम की अनुभूतिपरक चेतना तमिळ् के सुब्रह्मण्य भारती की कविताओ मे भी पायी जाती है। आध्यात्मिक भावभूमि पर कबीर और वेमना साथ-साथ हैं। मीरा और आण्डाल एक आसन पर हैं।

हिन्दी ने जहाँ भारत की अन्य आधुनिक प्रादेशिक भाषाओ को घर, आँगन, हुक्का, रुमाल, टोपी, साड़ी आदि शब्द दिये हैं, वहाँ उसने अन्य भारतीय प्रादेशिक भाषाओ से अनेक शब्द लिये भी हैं।

तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम को छोड़कर प्राय. सभी आधुनिक भारतीय प्रादेशिक भाषाओ मे 'घर' शब्द 'मकान' के अर्थ मे ही प्रचलित है। वह केवल कश्मीरी भाषा मे 'गर' और बँगला में 'घरबाड़ी' रूप मे बोला जाता है। प्रत्येक भाषा अपनी प्रकृति के अनुसार किसी शब्द की दो-एक मूल ध्वनियो में कुछ परिवर्तन तो कर ही लेती है। इसीलिए हिन्दी का 'आँगन' पंजाबी में 'अंगण' मराठी में 'आङ्गण', गुजराती मे 'आँगणु', बँगला में 'अंगन', मलयालम में 'अंकणम्' और कन्नड में 'अंगळ' बोला जाता है। इसी तरह 'हुक्का', 'रूमाल', टोपी, साड़ी आदि शब्दों की मूल ध्वनियों मे थोडा-सा अन्तर आ जाता है। परन्तु सर्वत्र मूल शब्द की आत्मा वही बनी रहती है।

हिन्दी ने अपनी विशालता और सम्पन्नता के दृष्टिकोण से अनेक शब्द अपनी बहिनों से लिये हैं। बँगला से लिये हुए उपन्यास, गल्प, संभ्रान्त, परिप्रेक्ष्य आदि शब्द आज भी हिन्दी में खूब व्यवहार में आ रहे हैं। मराठी का 'चालू' तो हिन्दी में पूरी तरह से चालू है। गुजराती के 'साँकळ' को हिन्दी ने 'संकल' या 'साँकल' रूप में ग्रहण कर ही लिया है। इनके अतिरिक्त ऐसे सैकडो शब्द हैं, जो थोडे-से अर्थ-परिवर्तन के साथ हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं में समान रूप से व्यवहृत होते हैं। हिन्दी या उर्दू मे 'दरिया' शब्द 'नदी' के अर्थ में प्रचलित है। यही गुजराती मे 'समुद्र' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। हिन्दी या संस्कृत का 'पशु' शब्द मलयालम और तमिळ् में जाकर 'गाय' का अर्थ देने लगा है। संस्कृत या हिन्दी मे 'भलाई' के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाला 'कल्याण' शब्द तमिळ में 'विवाह' का अर्थवाची बन गया है। हिन्दी का 'शिक्षा' शब्द जो 'पढ़ाई-लिखाई' के अर्थ में प्रचलित है, वह मराठी तथा दक्षिणी भाषाओं में 'दण्ड' के अर्थ में व्यवहृत होता है। ऐसे सहस्रों भिन्नार्थवाची समान शब्द आधुनिक भारतीय प्रादेशिक भाषाओ मे पाये जाते हैं। इनकी अर्थभिन्नता मे हमे एक अन्तरवाही मूल एकता की सूक्ष्म धारा ही दिखाई पड़ती है, जिसके माध्यम से हमें अपनी सांस्कृतिक इकाई का सकेत मिल जाता है।

इतना ही नहीं संस्कृत-काल मे इस देश की संस्कृत भाषा ने तमिल भाषा से अनेक शब्द लिये थे जो आज संस्कृत की अपनी सम्पत्ति के रूप में दिखाई पडते हैं। 'एलादि' शब्द तमिल के प्राचीन ग्रन्थों मे पाया जाता है। 'एलादि' का अर्थ है इलाइची, मिर्च, सोंठ आदि पदार्थों की समष्टि। आज भी उत्तर भारत में पूजा के समय पडित जी श्लोक बोलते हुए कहते हैं—"एलादि चूर्ण संयुक्तं ताम्बूल प्रतिगृह्यताम्।"

संस्कृत-साहित्य मे जो अटवि (=जंगल), अक्का (=दीदी), कटु (=कड़वा), नीर (=जल),

मीन (= मछली), मलय (मलै = पर्वत) आदि शब्द मिलते हैं, वे सब तमिळ भाषा की ही देन हैं।

तमिळ ने जहाँ संस्कृत को कुछ दिया है, वहाँ उससे कुछ प्राप्त भी किया है। यह आदान-प्रदान ही तो हमारे संपूर्ण भारत की सांस्कृतिक एकता का मूल मंत्र रहा है। ये शब्द ही तो हमारी हृदय-विशालता एवं सांस्कृतिक इकाई के पुष्ट प्रमाण हैं।

संस्कृत का 'सौख्यम्' ही तो तमिळ में 'सवुक्कियम्' के रूप में बोला जाता है। संस्कृत के राजन्, रक्त, लोक, भाग्य और अन्त तमिळ में जाकर रायन्, इरत्तम्, उलगम्, पाक्कियम और अन्दम् के रूप में व्यवहृत होते हैं।

आज संस्कृत के 70 प्रतिशत शब्द भारत की प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं में पाये जाते हैं। उनसे हमारी सभी प्रादेशिक भाषाएँ एक सूत्र में आबद्ध हैं और वे भारत के सांस्कृतिक मानसरोवर की शोभाप्रद ललित लहरें हैं। इससे स्पष्ट है कि इस देश में अनेक भाषाओं के होने पर भी हमने कभी इसे खण्डित रूप में नहीं देखा। हमारे विचार और भाव सदा एक रहे और हमारी संस्कृति एवं राष्ट्रीय चेतना अनेकत्व में भी एकत्व का सूत्र पिरोती रही। भारतीय संस्कृति की अखण्ड धारा से ही तो हमारी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य-सरोवर परिपूर्ण रहे हैं।

संस्कृति और साहित्य की भावधारा के दृष्टिकोण से आज हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय प्रादेशिक भाषाएँ अलग-अलग नहीं हैं। प्राचीन बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में असमिया, बँगला और उड़िया से हिन्दी की साझेदारी है। जैन-साहित्य में गुजराती के साथ और संत-साहित्य में मराठी के साथ हिन्दी अपना सम्बन्ध जोड़ चुकी है। मध्य युग के भक्ति-साहित्य की स्वच्छ एवं निर्मल भूमि पर हिन्दी द्रविड़ कुल की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं से अपना हृदय मिला चुकी है।

अतः राष्ट्र की सांस्कृतिक पावन वेदी पर खड़े होकर राष्ट्रीय स्वर में हम शुद्ध मन से यह कह सकते हैं कि हमारी सब भाषाएँ एक हैं। सबकी उन्नति ही समूचे राष्ट्र की और राष्ट्रीय भावनाओं की उन्नति है। राष्ट्र का सम्मान और गौरव भी सभी प्रादेशिक भाषाओं के गौरव पर ही निर्भर है। भारत की इन प्रादेशिक भाषाओं का भौगोलिक सीमा-भेद ऊपरी है और नगण्य है। सबके मूल में हमारे संपूर्ण राष्ट्र की एक ही संस्कृति है। इस संस्कृति और राष्ट्रीय भावना को, पल्लवित पुष्पित और फलित करना स्वतंत्र भारत के प्रत्येक भारतवासी का पावन कर्त्तव्य है। यही हमारा सदाचरण है और इसी सदाचरण से हमें सच्चे लोकतंत्र के दर्शन हो सकते हैं। किन्तु इस सदाचरण का मूल मंत्र है—राष्ट्रहित के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ की तिलांजलि। यही स्नेह-सौजन्यपूर्ण, समंजस, राष्ट्रीय आत्मीयता का उत्स है।

★

भारतीय एकता का एक मुख्य साधन हिन्दी बन चुकी है इसलिए भारतीय राष्ट्र के विरोधी हिन्दी के विरोध में अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं।

—सुनीति बाबू

श्री आरिगपूडि रमेश चौधरी
1[illegible] [illegible] नगर, मद्रास 10

हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेश के लेखकों की देन

हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी लेखकों में श्री रमेश चौधरी, 'आरिगपूडि' का अपना प्रमुख स्थान है। हिन्दी की आधुनिक हिन्दी लेखक पीढ़ी के वे आप अगुआ कहे जा सकते हैं। मातृभाषा तेलुगु, अंग्रेजी और हिन्दी पर आपका गुणात्मक अधिकार है। अपने-अपने अनुभवों का विधा में, हुनर न प्रकाशित करने का लेखकीय गुण आपमें अनुपम है। आपने कई उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, लेख आदि लिखे हैं जिनमें कतिपय केन्द्र राज्य सरकारों से पुरस्कृत भी हो चुके हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी आपका विशेष स्थान है। हाल ही में, आपके उपन्यास 'शान्ति-[illegible]' का रूसी अनुवाद भी हुआ है। सम्प्रति आप आकाशवाणी, मद्रास केन्द्र, में हिन्दी विभाग के निर्देशक हैं।

सम्पूर्ण देश राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रदेश है। हिन्दीतर की कल्पना इस दृष्टि से कृत्रिम है, एक उत्तम आदर्श की आंशिक क्षति भी। हिन्दी के प्रोत्साहन और व्यापकता के लिए यह विभाजन कदाचित् निरापद है, पर इसकी राजनैतिक सम्भावनाएं जो भाषा की समस्या के साथ जुड़ी हुई हैं, शायद आपत्तिजनक हैं, मुझे भय है कि वे इतनी आपत्तिजनक हैं कि वे प्रोत्साहन के सदुद्देश्य को विफल कर सकती हैं।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना देने के कारण ही सम्भवत "हिन्दीतर" की कल्पना वास्तविक हो जाती है। इससे जहाँ हिन्दी को प्रधानता मिलती है, वहाँ मानना होगा 'हिन्दीतर' प्रदेश में या तो हिन्दी के प्रति तटस्थता की भावना प्रबल होती है, अथवा हीन भावना पनपती है, और दोनों ही न राष्ट्रभाषा के हित में हैं, न राष्ट्रीयता के हित में ही। हित के अभाव में यह काल्पनिक वास्तविकता अवांछनीय है।

एक क्षेत्र की, एक सांस्कृतिक इकाई की—एक भाषा होती है, पर किसी भी भाषा का जीवन या प्रचलन उसी क्षेत्र तक सीमित नहीं रहता। भाषा की स्वाभाविक गति होती है, और स्वाभाविक गति की कोई सीमा नहीं होती। भाषा वह द्रव है, जो क्षेत्र के पात्र में रखा जा सकता है, पर पात्र के बाहर भी उसका अस्तित्व है। क्षेत्र तो एक अनवरत प्रवाह का जलबन्ध-सा है। यही कारण है कि प्रत्येक मुख्य भाषा एक क्षेत्रीय होकर भी अन्तर्राष्ट्रीय होती है। अंग्रेजी भाषा

एक ही है, पर उसके कई क्षेत्र हैं, और वे दूर-दूर बिखरे हुए हैं। यही बात स्पेनिश और फ्रेंच की है।

क्षेत्र की परिभाषा भी प्रसंगानुसार परिवर्तित होती है, भारतीय दृष्टिकोण से अर्थात् निकट से, भारत कई क्षेत्रों में विभक्त है, और प्रत्येक क्षेत्र की अपनी-अपनी भाषा है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सारा देश एक राष्ट्रभाषा का क्षेत्र हो जाता है, निकट के छोटे-छोटे भेद, दूर से विलुप्त हो, एक विस्तृत क्षेत्रफल का भास कराते हैं, और दोनों ही दृष्टिकोण अपनी-अपनी जगह उचित हैं।

हिन्दी का प्रदेश, जहाँ हिन्दी एक ही रूप में बोली और लिखी जाती है, भौगोलिक दृष्टि से बहुत ही सीमित है। तथाकथित हिन्दी प्रदेश में कितनी ही अपभ्रंश भाषाएँ प्रचलित हैं—राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि; किन्तु ये एक ही जाति के भिन्न परिवार के हैं। यानी हिन्दी, हिन्दी प्रदेश में ही सबकी मातृभाषा नहीं है। यह सीखी जाती है, भले ही हिन्दी के विद्यार्थी को इसके अध्ययन में यहां कुछ अतिरिक्त परिवेशीय लाभ मिलते हों।

जिस प्रदेश को 'हिन्दीतर' कहा जा रहा है, उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी भाषा सम्बन्धी एकरूपता का अभाव है। क्षेत्र की दृष्टि से इसके दो भाग हो सकते हैं—एक वह जो तथाकथित हिन्दी प्रदेश का निकटवर्ती है—यानी पंजाबी, गुजराती, बंगाली, मराठी, उड़िया के क्षेत्र, और दूसरा दक्षिण का है, यानी तेलुगु, कन्नड, तमिल और मलयालम के भाषाक्षेत्र। ये हिन्दी क्षेत्र से तो दूर हैं ही, भिन्न भी हैं। और ये भाषाएँ परस्पर प्रभावित होकर भी अपना पृथक अस्तित्व रखती हैं, जो हिन्दी क्षेत्र की अपभ्रंश-सी नहीं हैं, परन्तु लिपियुक्त, सुसम्पन्न, सुविकसित भाषाएँ हैं। इन दोनों को 'हिन्दीतर' के एक ही कोष्ठ में रख देना कृत्रिम ही नहीं, अनुचित भी है।

यदि विभाजन की आवश्यकता ही हो, तो संस्कृत कुल का भाषाक्षेत्र और द्राविड कुल का भाषाक्षेत्र अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, अथवा संस्कृत प्रभावित भाषाक्षेत्र और संस्कृतस्वतन्त्र भाषाक्षेत्र। पहिले कोष्ठ में भारत की सारी भाषाएँ आ जाती हैं और दूसरे में तमिल मात्र रहती है। पर विभाजन की कृत्रिमता कुछ कम होती है। विभाजन की प्रवृत्ति से ही मैं असन्तुष्ट हूँ। यदि किसी सुविधा के लिए यह आवश्यक भी हो, तो विस्तृत प्रयत्न यह रहना चाहिए कि उसकी व्यापकता इतनी हो कि राष्ट्रीयता के साथ वह समवस्थित हो। दूसरे शब्दों में विभाजन राष्ट्रीयता का संगठक हो, विघटक नहीं हो।

साहित्य मूलतः भाषा का होता है, क्षेत्रीयता उसपर बाद में आरोपित होती है। अंग्रेजी साहित्य चाहे वह अमेरिका में बने, या आस्ट्रेलिया में, या भारत में, प्रधानतः वह अंग्रेजी का है, और बाद में अमेरिका या आस्ट्रेलिया का, या भारत का होता है।

यही बात लेखक की है, वह भाषा का लेखक पहिले है और क्षेत्र का बाद में—उसकी राष्ट्रीयता या नागरिकता कुछ भी हो। निकट भूत का अंग्रेजी साहित्य कई आयरिश लेखकों की रचनाओं से सुसम्पन्न है, कई अमेरिकन लेखकों की कृतियों से समृद्ध है, कई आस्ट्रेलियन

लेखकों की प्रतिभा से प्रभावित है। साहित्य सेवा में राष्ट्रीयता अथवा नागरिकता गौण है। जन्म की भौगोलिक आकस्मिकता का साहित्य-सृष्टि से कोई सम्बन्ध नही है; भाषा का अवश्य है।

क्षेत्र का आरोपण साहित्येतर उद्देश्यो से होता है। इससे न साहित्य का परिमाण बढता है, न गुण ही। यह एक अनावश्यक देशाभिमान है, जिससे साहित्य को कोई अतिरिक्त शक्ति नही मिलती। क्षेत्र कुछ भी हो, भाषा कुछ आधार-भूत सिद्धान्तो द्वारा अनुशासित है, और वे सिद्धान्त भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे भिन्न नहीं हो जाते।

यही बात हिन्दी की है। हिन्दी किसी भी तरह बोली जाती हो, परन्तु लिखी एक ही तरह जाती है—व्याकरण का आधार सभी के लिए एक-सा है। और शैली सामूहिक अभिव्यक्ति नही है, वह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है, अत इसका क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अहिन्दी क्षेत्र की लिखित हिन्दी, हिन्दी क्षेत्र की लिखित हिन्दी से भिन्न नहीं है। लिखित हिन्दी के लिए तो हिन्दी और हिन्दीतर का विभाजन नितान्त युक्तिहीन-सा प्रतीत होता है।

भाषा पर क्षेत्रीयता का आरोपण, प्रान्तीयता का आरोपण प्राय होता है, और वह अस्वस्थ है। इससे स्थानीय अभिमान भले ही प्रोत्साहित होता हो, पर साहित्य का विस्तार अवरुद्ध होता है, और सृजनात्मक संसार में कुछ ऐसे सकुचित, क्षुद्र, तुच्छ तत्व आ जाते हैं, जो इसके सहज आकर्षण को ही क्षीण कर देते हैं। प्रान्तीयता साहित्य की सृष्टि की प्रेरक नही है, बाधक है।

मेरी आपत्ति भाषा पर आधारित विभाजन पर जो आवश्यकता से अधिक बल दिया जा रहा है, उसके प्रति है, तत्सम्बन्धित परिप्रेक्ष्य के प्रति है। पर वास्तविकता यह है कि भारत में कई भाषाएँ हैं और उनके क्षेत्र भी हैं। और भाषाओ का एक-दूसरे पर प्रभाव रहा है। भाषाओं के भिन्न होते हुए भी भारतीय समाज प्राय. सम्पूर्ण भारत मे एक-सा ही रहा है—अर्थात् धर्म-प्रभावित। अत साहित्य के मूल तत्व कभी भी प्रान्तीय न रहे। वे हमेशा भारतीय रहे हैं। भाषा प्रान्तीय हो, पर साहित्य—चूँकि समाज से सम्बन्धित है, और सारा भारतीय समाज एक-सा है, इसलिए—अनिवार्य रूप से, अविभाज्य रूप से भारतीय है।

किसी भी भारतीय भाषा की कृति अनूदित होकर किसी और की सम्पत्ति बन सकती है। उनमे समान गुण हैं, और समान गुण आसानी से खपा लिये जाते हैं। एक साहित्य मे दूसरी भाषाओ के साहित्य को आत्मसात् करने की विलक्षण क्षमता होती है।

हिन्दीतर प्रदेशों के हिन्दी के साहित्य पर काफी प्रभाव रहे हैं। हिन्दी का भी अन्य भाषाओ पर प्रभाव है। 'प्रभाव' भी आवश्यक रूप से देन है। भले ही यह तोले-मापे न जा सकें; पर ये प्रभाव ही दिशानिर्णायक होते हैं, साहित्य को मार्ग देते हैं, गति और रंग देते हैं। ये प्रभाव ही वस्तुत. देन हैं। केवल देना ही देन नही है। दिया तो बहुत कुछ जाता है, पर 'दिया' जब खपा लिया जाता है, वही 'देन' बनता है। वही देन है जिसकी अनुपस्थिति अखरे—जिसके बगैर लाभान्वित साहित्य विपन्न लगे—जो कलेवर की वृद्धि मात्र का कारण

नहीं है, परन्तु उसकी आन्तरिक वृद्धि का प्रेरक है। इस अर्थ में 'प्रभाव' ही देन हो सकते हैं।

'देन' में स्थायित्व की ध्वनि है। 'देन' को पुस्तकों की गणना या लेखकों की गणना से तोलना गलत है। व्यक्तिगत देन तभी सार्थक है, जब वह कालक्रमेण एक प्रभाव और परम्परा में प्रक्रीत हो। 'देन' वह है, जिसके कारण साहित्य के स्वरूप में ही परिवर्तन आ जाएँ।

इस 'देन' का सम्बन्ध साहित्य की यान्त्रिकता से या उसके भाषागत निर्माण से नहीं है। इसका सम्बन्ध विचार से है, विवेचन से है, चिन्तन से है। दक्षिण से इस प्रकार की देन, उत्तर को, यानी मोटे तौर पर हिन्दी प्रदेश को पर्याप्त रही है। शंकर का प्रभाव कुछ ऐसा है, जिसने भारतीय चिन्तन को सर्वत्र नयी प्रेरणा दी। उस चिन्तन को लेकर हिन्दी में बहुत-सा आध्यात्मिक, धार्मिक, और दार्शनिक साहित्य बना।

हिन्दी के भक्तिकाव्य, इसके साहित्य की अनश्वर निधियाँ हैं और इनके पीछे रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क और वल्लभाचार्य की प्रेरणाएँ हैं। ये सभी दाक्षिणात्य थे। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि का भी हिन्दी के साहित्य पर प्रभाव पड़ा। चैतन्य की चेतना भी इसमें प्रवहित हुई। ये हिन्दीतर प्रदेशों के थे। किन्तु यह सुदूर अतीत की बात है।

खड़ी बोली का प्रारंभिक इतिहास, कहा जाता है, बंगला-साहित्य से प्रभावित था। यह हिन्दी का गौरव है कि यह अन्य भाषाओं से प्रभावित हो सका। साहित्य प्रायः प्रभावित होकर ही प्रगति करता है। ये लेन-देन ही एक सजीव साहित्य के श्वास और निश्वास होते हैं।

क्या वर्तमान में हिन्दी पर हिन्दीतर प्रदेश से कोई ऐसा प्रभाव आया, जिसकी ओर मैंने संकेत किया है? शायद नहीं। गांधीजी का प्रभाव अवश्य है। पर वे हिन्दी के उतने ही थे, जितने कि हिन्दीतर प्रदेश के। हिन्दी को प्रान्तीयता के स्तर से उठाकर भारतीयता के धरातल पर रखने का श्रेय उन्हींको है। उनकी विचारधारा का प्रभाव हिन्दी के साहित्य पर, साहित्यकार पर पड़ा। और यह प्रभाव शाश्वत महत्व का है।

जिस अर्थ में मैंने 'देन' को लिया है, उस अर्थ में, कहना होगा, वर्तमान हिन्दीतर प्रदेश के लेखकों की देन एक विशाल पृष्ठभूमि में कदाचित् नगण्य-सी है—यद्यपि कई लेखक जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, हिन्दी में साहित्यसाधना कर रहे हैं और प्रचलित अर्थ में, हिन्दी साहित्य को उनकी देन भी है।

इन लेखकों की दो श्रेणियाँ हैं—एक वह जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, पर जो हिन्दीभाषी प्रदेश में रहते हैं; दूसरी श्रेणी उनकी है जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, और न वे तथाकथित हिन्दी प्रदेश में रहते ही हैं।

भारतीय आधुनिक साहित्य उतना पुराना नहीं है। कई साहित्य के माध्यम ऐसे हैं जिनका इतिहास मुश्किल से चार पांच दशाब्दों का होगा। भारतेन्दु काल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारंभिक काल है। उसी तरह वीरेशलिंगम् का काल मेरी मातृभाषा तेलुगु का प्रारंभिक काल है।

मुद्रण की सुविधाएँ, शिक्षण के प्रचार, आधुनिक यान्त्रिक युग की प्रगति के कारण विविध विषयों पर साहित्य विपुल मात्रा में बनने लगा। इसकी व्यापकता भी बढ़ने लगी। यह राजप्रासादों,

सामन्तो की हवेलियो और धर्माचार्यों के मठो से मुक्त होकर, शिक्षित जन समाज मे प्रचलित होने लगा। साहित्यिक मूल्यो मे क्रान्ति हुई। और एक प्रकार का नया साहित्य बनने लगा।

इस नये साहित्य को हिन्दीतर प्रदेश के लेखकों ने क्या दिया? मापदण्ड और मूल्यो की बात है, और दोनो ही अनिश्चित हैं। इसलिए इसके अनेक उत्तर सम्भव हैं। और उत्तर वैयक्तिक, बौद्धिक विकास और सामूहिक गुणग्राहकता पर निर्भर है।

मैं इस सम्बन्ध मे पहिले उनका जिक्र करूँगा जो पहिली श्रेणी में आते हैं—यानी हिन्दी प्रदेश के हिन्दीतर लेखक। यशपाल ने हिन्दी को सोद्देश्य साहित्य दिया है। वे आजीविका से भी लेखक हैं। परन्तु आजीविका की आवश्यकताओ और विवशताओ ने उनके आदर्शो को ग्रसा नही है। यह उनके सुविकसित व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण पार्श्व है। जनचेतना के लिए साहित्य को साधन मानकर साधना करनेवालो के लिए यशपाल आदर्श-प्राय है। उन्होने वर्तमान हिन्दी साहित्य को नये मूल्यो से सम्पन्न किया है—ऐसे मूल्य जो आज के समाज की मांग है और जो कल के समाज के आधार हैं। वे वह क्रान्तिकारी हैं, जो समझौते के नारे नही उगलते हैं। वे विप्लव में ही विकास देखते हैं। और वे आज के हिन्दी और हिन्दीतर के विभाजन मे जिला कांगडा मे पैदा होने के कारण *हिन्दीतर ही हैं, यद्यपि* वे सम्प्रति लखनऊ मे रहते हैं।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' साहित्य के कई माध्यमों मे सिद्धहस्त समझे जाते हैं। नाटककार वे हैं, कवि वे हैं, उपन्यासकार वे हैं, निबन्धकार वे हैं, आलोचक वे हैं। ये युगप्रवर्तक भले ही न हों, और सभी क्षेत्रों में समान रूप से वे भले ही मूर्धन्य न हो, पर मानना होगा कि नाटक के क्षेत्रों मे उन्होने काफी कुछ किया है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य मे वे ऐसे व्यक्तित्व हैं जिनका कृतित्व परिमाण और गुण की दृष्टि से बिना राजनैतिक सिद्धान्तो और विश्वासो मे उलझे स्वीकार्य माना जाता है। वे जालन्धर के हैं। परन्तु आजकल इलाहाबाद मे रहते हैं।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' जिनकी कृतियाँ—कविताएँ, नाटक वग़ैरह, हिन्दी क्षेत्र मे ही हिन्दी पाठ्यक्रम मे पढी जाती हैं। उनके नाटक भी सर्वत्र अभिनीत होते हैं।

श्री रागेय राघव की बहुमुखी प्रतिभा थी—प्राय प्रतिभा और श्रम मे आनुपातिक सम्बन्ध नही होता है। प्रतिभाशाली श्लथ प्रकृति के पाये जाते हैं। पर उनमें दोनो ही समान मात्रा मे थी। उन्होंने अपने अल्प जीवन मे वह कर दिखाया, जो कम ही ससार मे कर दिखाते हैं। उनकी उपलब्धियाँ श्लाघ्य हैं। क्या उपन्यास, क्या आलोचना, क्या लेख, क्या अनुवाद—सभी मे उनकी समान गति थी। वे चिन्तन के धनी थे और प्रस्तुतीकरण के भी। हिन्दी पर उनका आश्चर्यजनक अधिकार था। प्रकाण्ड पाडित्य को सरल प्रवाहमान शैली मे व्यक्त कर देने में वे अत्यत कुशल थे। वे साहित्यशिल्पी थे; बौद्धिक साधक थे। उनको शायद वह मान्यता न मिली, जिसके कि वे अधिकारी थे। ऐसा लगता है, जैसे वे वर पाकर आये थे और तपस्या करते-करते चले गये। वे हिन्दी प्रदेश मे रहते थे; पर जन्म से वे तमिलनाडु के थे, तमिल-भाषी थे।

श्रीगुरुदत्तजी ने जितने उपन्यास लिखे हैं, जहाँ तक मैं जानता हूँ, भारत के किसी और लेखक ने नहीं लिखे हैं। उनके हर उपन्यास में कोई न कोई सामाजिक पहलू होता है। चिंतनपक्ष भले ही कुछ-कुछ पारंपरिक हो, पर उनके उपन्यास सोद्देश्य होते हैं—इस बारे में दो राय नहीं हो सकती। और कुछ अंशों में यह अपने आप में पर्याप्त भी है। ये पंजाबी हैं।

मन्मथ नाथ गुप्तजी बंगाली हैं—सफल पत्रकार, इतिहासकार, उपन्यासकार, कथाकार हैं। साहित्य में भी ये निरीह, कर्तव्यपरायण, क्रान्तिकारी-से हैं, जो लक्ष्य की ओर चलते जाते हैं—और ऐसे हैं, जो बहुत चलकर भी अपना रास्ता बढ़ाते जाते हैं। इन-जैसे कर्मठ लेखकों का मिलना मुश्किल है।

मराठी भाषी श्री प्रभाकर माचवे कई क्षेत्रों में अग्रणी हैं। ये तारसप्तक के कवि हैं, यानी प्रयोगवादी कवि। मंजे हुए नीर-क्षीर आलोचक। सुलझे हुए वक्ता और विद्वान हैं। ये शायद एक साथ कई दिशाओं में चलते हैं। यह इनकी विशेषता है। यह इनकी असाधारण शक्ति और प्रतिभा का द्योतक है। विद्वत्ता और सृजनात्मक प्रतिभा इनमें एक-दूसरे के पूरक हैं, और इनके विशाल व्यक्तित्व के आधार हैं।

श्री शेवड़े हिन्दी प्रदेश की सीमा पर हैं—नागपुर में। साहित्य में इनको जितनी प्रसिद्धि मिली है, उससे कहीं अधिक के वे अधिकारी हैं। अनेक उपन्यास लिखे हैं। कुशल पत्रकार हैं। साहित्येतर विषयों पर भी लेखनी बखूबी चलती है। ये ही हिन्दीतर प्रदेश के एक लेखक हैं जिनकी पुस्तक "ज्वालामुखी" भारत की सभी भाषाओं में अनूदित हुई है। इनकी मातृभाषा मराठी है।

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी लोक-साहित्य के संग्रहकर्ता हैं, उपन्यासकार हैं, कथाकार भी। हिन्दी में जो लिखित लोक-साहित्य मिलता है, उसके संकलन का बहुत-सा श्रेय इनको है और यह साहित्य का मुख्य अंग है। और इसका संग्रह बिना साधना और अध्यवसाय के सम्भव नहीं है। हिन्दी को लोक-साहित्य की देन, अतिशयोक्ति न होगी, बहुत कुछ श्री सत्यार्थी की देन है। वे पंजाबी हैं।

श्री चंद्रगुप्तजी विद्यालंकार सधे हुए कथाकार हैं, कथामर्मज्ञ हैं, श्रेष्ठ पत्रकार हैं, प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। वे भी पंजाबी हैं। श्री कुलभूषण जी की कहानियों में नवीनता है—शिल्प की और सामग्री की भी। उनके पिता सुदर्शनजी ने हिन्दी कथा-साहित्य को बहुत दिया है। पर सुदर्शन जी उस पीढ़ी के हैं, जिसको मैं व्यक्तिगत रूप से नहीं जान सकता था। खैर, ये दोनों ही पंजाबी हैं।

श्री सी. बालकृष्ण राव हिन्दी के जाने-माने कवि हैं। प्रतिभासम्पन्न सम्पादक हैं। उत्तम वक्ता हैं। हिन्दी प्रचार आन्दोलन के अग्रणी हैं। आप इलाहाबाद में रहते हैं, परंतु इनकी मातृभाषा तेलुगु है।

श्री मोहन राकेश पंजाबी हैं। प्रसिद्ध कथाकार हैं। हिन्दी कथा-संसार में 'नई' को लेकर जो आन्दोलन चल रहा है, उसके पीछे, कहते हैं, उनका नया नेतृत्व ही है। वे नाटककार हैं। पिछले दिनों उनका एक उपन्यास भी प्रकाशित हुआ है। कहानीकारों की, हिन्दी में उनके साथ नई पीढ़ी ही चल पड़ी है।

डॉ. महीप सिंह भी पंजाबी हैं। प्रबुद्ध कथाकार हैं। साहित्य के सचेतन क्षेत्रों में सोद्देश्य

रचनाओं और आलोचना के लिए उन्होंने काफी प्रसिद्धि पायी है।

कई बार तो यह भी अनुभव होने लगता है कि हिन्दी का साहित्यसृजन अहिन्दीभाषियों द्वारा अधिक हो रहा है बनिस्बत हिन्दी भाषियों के द्वारा। हो सकता है, यह अनुभव गलत हो।

यहाँ मैंने उन्हीं लेखकों का उल्लेख किया, जो जाने-माने हैं और जिनसे मैं परिचित हूँ। और भी कितने ही लेखक हैं, जो साहित्य की ऊँची-नीची सीढ़ियों पर भिन्न भिन्न स्थलों पर हैं। यहाँ मैंने सृजनात्मक साहित्यकार को ही लिया है। कितने ही अहिन्दीभाषी, उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में हिन्दी में शोध कर रहे हैं। कालान्तर में वे साहित्यसृष्टि भी करेंगे, यह विश्वास किया जा सकता है।

अब मैं दूसरी श्रेणी के बारे में कहना चाहूँगा। और इस सिलसिले में, मेरा विचार व्यक्ति-आधारित न होकर, विषय-आधारित होगा। यह पहली श्रेणी से बहुत भिन्न है। इसकी परिस्थितियाँ और समस्याएँ भिन्न हैं। पर मैं यहाँ यह कहूँगा कि इस श्रेणी का हर व्यक्ति, अपने आप में, हिन्दी की व्यापकता का सुदृढ़ चिन्ह है—भले ही वह हिन्दी के केन्द्र से दूर हो, पर वह उसके विस्तार का परिचायक है।

यह श्रेणी होने को तो अन्यत्र भी है, पर मैं यहाँ विशेष रूप से दक्षिण के बारे में ही कहूँगा। दक्षिण से हिन्दी में चार प्रकार का साहित्य आ रहा है। 1 मौलिक, 2 अनूदित, 3 पाठ्यक्रम संबंधी, 4 विषय संबंधी।

इससे हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है या नहीं हुआ है, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर इससे इसमें वैविध्य अवश्य आया है, और हिन्दी के बनते सौध में कुछ नये कक्ष अवश्य जुड़े हैं। इस साहित्य से, कहना होगा, "प्रान्तीय" हिन्दी को "राष्ट्रीय" आधार मिल रहा है। वर्तमान संदर्भ में हिन्दी को "राष्ट्रीयता" की देन से बढ़कर कोई देन नहीं हो सकती। उत्तम साहित्य तभी बनता है, जब उत्तम दृष्टिकोण, और साहित्यिक मूल्य बनते हैं। और यह दृष्टिकोण ही दक्षिण की देन मालूम होती है। यह "देन" एक ऐसा बिम्ब विकसित करती है, जो राष्ट्रभाषा के हित में है। यह कार्य इतना विस्तृत है कि विस्तृत-से-विस्तृत कार्य भी प्रयत्न मात्र प्रतीत होता है। प्रयत्न हो रहा है, संप्रति यही पर्याप्त है।

दक्षिण की 'देन' परिमाण में भले ही प्रभावशाली न हो, पर इस 'देन' के कारण हिन्दीतर प्रदेश में ऐसा वातावरण बन रहा है जिसमें हिन्दी सहज स्वीकार्य हो जाती है और यह अपने आप में महान उपलब्धि है।

जिस अर्थ में मैंने पहिले 'देन' को लिया है, उस अर्थ में तो दक्षिण की इस समय कोई ऐसी देन नहीं है जिसकी अनुपस्थिति में हिन्दी अपने को 'वंचित' समझे। पर दूसरे अर्थ में दक्षिण की भी कुछ देन है।

मौलिक साहित्य की मात्रा कम है। क्यों कम है, इसके कारण साफ हैं। उपन्यास ही अधिक आये हैं। और वे भी एक दो लेखकों के ही। हिन्दी में उपन्यासों की कमी नहीं है, पर दक्षिण सम्बन्धी उपन्यास, सिवाय दाक्षिणात्यों के किसी और ने नहीं लिखे हैं। और उपन्यास के माध्यम में दक्षिण का चित्र आना आवश्यक है—राष्ट्रभाषा का साहित्य प्रान्तीय नहीं हो सकता। इन

उपन्यासों की कथा-भूमि दक्षिण की है, भाषा मात्र हिन्दी है। और शेष सब कुछ दाक्षिणात्य है। इस प्रकार उत्तर में दक्षिण ही प्रक्षिप्त नहीं होता है, अपितु हिन्दी की साहित्यिक परिधि भी बढ़ती है। और यह हिन्दी का गौरव ही है कि हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य का सम्मिलन बढ़ता जा रहा है, यह हिन्दी की विशेषता है, और राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता है। और वह देन ही है, जब एक आवश्यकता की पूर्ति होती है।

इस सम्बन्ध में लेखकों के नाम मैं जानबूझकर नहीं ले रहा हूँ। ऐसा करने से शिष्टता, नम्रता, औचित्य का उल्लंघन होगा।

अनूदित साहित्य भी दक्षिण से हिन्दी में बहुत कम आया है। दक्षिण की चारों भाषाएँ समृद्ध हैं। इनका साहित्य भी बहुत प्राचीन है। साहित्य के लेन-देन के पीछे, वाणिज्य के सिद्धान्त हों, यह मैं नहीं कहता। पर औचित्य और समदृष्टि की भावना अवश्य होनी चाहिए। सिवाय तमिल के दक्षिण की तीनों भाषाओं में हिन्दी का काफ़ी साहित्य अनूदित होकर आ रहा है। यह हिन्दी साहित्य की उत्कृष्टता को लेकर किया जा रहा है, यह सोचना स्वाभाविक होगा, पर भ्रामक होगा। इसके पीछे हिन्दी के प्रचार का दूसरा पार्श्व है, और मैं यहाँ यह कहता जाऊँ कि बिना इस मुख्य पार्श्व के हिन्दी के प्रचार के विरोध की और भी सम्भावना है।

पर दाक्षिणात्य भाषाओं का साहित्य हिन्दी में, उतना अनूदित नहीं हो रहा है। हो सकता है, अनुवादकों की कमी हो, हो सकता है कि कुतूहल की कमी हो, खपत की कमी हो, साहित्यिक कारणों की अपेक्षा आर्थिक कारण ही अधिक मुख्य हों, या हिन्दी संसार इस विषय में चेता ही न हो, या यह कोई अविदित तटस्थता ही हो। पर सत्य यह है कि दक्षिण के साहित्य के अनुवाद हिन्दी में कम ही हैं।

कुछ तो साहित्य अकादमी की ओर से प्रकाशित हुए हैं—साहित्य अकादमी भी सम्प्रति इस दिशा में कुछ-कुछ निष्क्रिय-सी ही है, और कुछ स्वतन्त्र प्रकाशन-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित हुई हैं।

तेलुगु से अडवि बापिराजु का 'नारायण राव', मलयालम से का. म. पणिक्कर का 'केरल सिंह', तकळी शिवशंकर पिल्लै का 'दो सेर धान', उड़िया से कालिन्दी चरण पाणिग्राही का 'मिट्टी का पुतला' और गोपीनाथ महान्ती का 'अमृत सन्तान', बंगला से विभूति शरण बन्दोपाध्याय का 'आरण्यक', ताराशंकर बन्दोपाध्याय का 'आरोग्य निकेतन', पंजाबी से नानकसिंह का 'आदमखोर'—ये कुछ साहित्य अकादमी की ओर से प्रकाशित हुई हैं। हो सकता है, और भी पुस्तकें अनूदित हुई हों। अगर इस तरह की पुस्तकें हिन्दी में हैं भी, तो अधिक नहीं है। 'अमृत सन्तान' मेरी दृष्टि में हिन्दी साहित्य का ही नहीं, आधुनिक भारतीय साहित्य का ही मुख्य उपन्यास है।

यह अनुवाद का कार्य अकादमियाँ और विश्व-विद्यालय ही सुचारू रूप से करवा सकते हैं, क्योंकि वे भाषा और साहित्य की और ज्ञान की, वृद्धि के लिए ही संस्थापित हैं। और मानना होगा कि अनुवाद से प्रत्येक भाषा के साहित्य की श्रीवृद्धि होती है। हिन्दी का स्वार्थ इसीमें है कि अनुवाद हों, और खूब हों।

इनके अलावा, स्वतंत्र प्रकाशकों ने तमिल से दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं—कल्की की 'चोर की प्रेमिका', 'पार्थिव का सपना', एन चिदम्बर सुब्रह्मण्यम की 'हृदयनाद' और मु वरदराजन का 'कोयले का टुकडा', तेलुगु और तमिल के दो-तीन कथा सग्रह भी हिन्दी मे आ चुके हैं। पत्र पत्रिकाओ मे भी यदा-कदा दक्षिण का कथा-साहित्य अनूदित होकर प्रकाशित होता है।

राष्ट्रभाषा में हर प्रान्तीय भाषा का स्थान है। वह जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है सपूर्ण राष्ट्र के साहित्य की प्रतिनिधि भाषा है। और यह हिन्दी का दायित्व है कि इस प्रतिनिधित्व के तत्व को और उभारे, निखारे।

हो सकता है, पाठच पुस्तको का निर्माण साहित्य से सीधे सबधित न हो, पर भाषा से अवश्य है। इसकी आधारभूत महत्ता है। जब दक्षिण मे हिन्दी का प्रचार प्रारभ हुआ, तो प्रारभिक कक्षाओं के लिए हिन्दी की पाठच पुस्तकें न के बराबर थी और ऐसी पुस्तकें तो थी ही नही जिनसे हिन्दी के दाक्षिणात्य विद्यार्थी की आवश्यकताओं की पूर्ति होती।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के तत्वावधान मे कई पाठच पुस्तकें बनी। कई व्याकरण लिखे गये। कई द्विभाषीय कोश बनाये गये। इस क्षेत्र मे, हिन्दी प्रचार सभा ने हिन्दी के लिए बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य किया है। अहिन्दी क्षेत्र मे हिन्दी को मानक बनाने के लिए जो इस सभा का कार्य है, वह वस्तुत हिन्दी के लिए बडी देन है।

अब भी जब अहिन्दी क्षेत्र मे हिन्दी के प्रचार की योजनाएँ कार्यान्वित होती हैं, तो प्राय ये पुस्तकें ही निर्यात की जाती हैं। इनकी उपयोगिता और प्रामाणिकता का अनुमान सहज किया जा सकता है।

हिन्दी का यह सौभाग्य है, या दुर्भाग्य यह तो मैं नहीं जानता, पर इतना प्रत्यक्ष है कि जितनी यह वाणिज्य की वस्तु है, उतनी भारत की कोई और भाषा नहीं है। हिन्दी आजीविका का साधन भी है। दक्षिण मे इसके बढते प्रचार के पीछे कुछ हद तक यह भेद भी है। यही कारण है कि पाठच पुस्तकों को लेकर बहुत-सा साहित्य दक्षिण मे दाक्षिणात्यो द्वारा बनाया गया है, और बनाया जा रहा है। यह सच्चे अर्थों मे साहित्य नहीं हो सकता—यह शायद व्यापार ही है। इसे प्रचलित अर्थ मे 'देन' कहा जा सकता है, यह भी सशयात्मक है। चूँकि यह सब हिन्दी मे ही हो रहा है, इसलिए इसका मैंने यहाँ उल्लेख किया है।

दक्षिणसबधी विषयो पर भी साहित्य बहुत कम है, और यह शोचनीय है। दक्षिण के साहित्य और सस्कृति के बारे मे, जहाँ तक मैं जानता हूँ, तीन-चार पुस्तकें ही हैं। एक हैं 'तमिल साहित्य और सस्कृति' इसके लेखक हैं श्री अवधनन्दन। ये उत्तर भारतीय हैं। इसी विषय पर नया प्रकाशन है, 'तमिळ सस्कृति', जो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा प्रकाशित है और इसके लेखक हैं श्री र शौरिराजन। और दूसरा है 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' इसके लेखक हैं श्री बाल शौरि रेड्डी। ये तेलुगुभाषी हैं। इनकी एक और पुस्तक है 'आन्ध्र भारती'—यह तेलुगु साहित्य के बारे में निबन्धसग्रह है। श्री हनुमच्छास्त्री ने भी तेलुगु का इतिहास लिखा है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा हाल ही

में प्रकाशित 'आन्ध्र संस्कृति' जिसके लेखक श्री मु. नरसिंहाचार्य हैं, उल्लेखनीय है। सुनता हूँ हिन्दी में कन्नड़ का इतिहास भी प्रकाशित हुआ है।

मलयालम साहित्य के बारे में हिन्दी में कोई विशेष साहित्य उपलब्ध नहीं है, यद्यपि केरल में, हिन्दी का प्रचार काफ़ी है, और कई हिन्दी के डॉक्टर हैं। दक्षिण के साहित्य व संस्कृति पर तो पुस्तकों की कमी है ही, वहाँ का इतिहास भी अवहेलित-सा है। यह भारत का दुर्भाग्य है। इतिहास में भी उत्तर भारत को इतनी प्रधानता दी जाती है कि दाक्षिणात्य प्रायः शंकित हो उठते हैं। यह सहज, सही प्रतिक्रिया है।

हिन्दी की इतिहास की पुस्तकों में विजयनगर साम्राज्य का ज़िक्र तो होता है, पर कहीं कोई विस्तृत अध्ययन नहीं मिलता। यदि भारतीय संस्कृति बाह्य दुराक्रमणों के बावजूद, दक्षिण में यदि कुछ हद तक सुरक्षित रही, तो इसका अधिकांश श्रेय विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य के संस्थापकों को है। और भी कई ऐसी बातें हैं, जिनका राष्ट्रीय सांस्कृतिक संगठन में विशेष महत्व है। पर यह महत्व, कहना होगा, उपेक्षित-सा ही है।

दाक्षिणात्य साहित्य न सही, कम-से-कम, वहाँ की भाषाओं के बारे में तो हिन्दी में साहित्य हो। दक्षिण और दृष्टियों के अलावा, भाषा की दृष्टि से अवश्य अध्ययनयोग्य है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में भारत की अन्य सभी भाषाओं के बारे में उत्तम निबन्ध होने चाहिए। व्याकरण और शब्दकोश होने चाहिए—पर इस विषय में हिन्दी नितान्त विपन्न है।

दक्षिण के शिल्प, कला, संगीत आदि विषयों पर भी हिन्दी में कोई उल्लेखनीय सामग्री नहीं मिलती, यद्यपि इन सभी बातों में दक्षिण बहुत समृद्ध है। भावात्मक एकता, एकसात् होने की प्रक्रिया है—यह नहीं समझा जा रहा है। वह नारा मात्र बन गया है। बड़े से बड़ा आन्दोलन भी आवश्यक जानकारी के अभाव से असफल रहता है। आवश्यकता है साहित्यिक, सांस्कृतिक आदान-प्रदान की। इस आदान-प्रदान में भाषा और साहित्य का मुख्य स्थान है। ये राष्ट्रीय संगठन के लिए आवश्यक है। इनकी आयोजना देशीय सुरक्षा के स्तर पर होनी चाहिए। राष्ट्र-भाषा ने इस क्षेत्र में क्या किया है? और वह क्या-क्या कर सकती है—यह निस्सन्देह विचारणीय विषय है। यह एक चेतावनी है, दक्षिण के लेखकों के लिए और उत्तर के लेखकों के लिए भी।

दक्षिण में हिन्दी का प्रचार बहुत हो रहा है। सिवाय एक प्रान्त के शेष तीनों प्रान्तों में हिन्दी अनिवार्य विषय है। विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी के अध्ययन और अध्यापन की सुविधाएँ प्राप्त हैं। कितनी ही सभाएँ, कितनी ही परीक्षाएँ चलाती हैं। कितने ही हिन्दी के विद्वान हैं, ज्ञाता हैं। पर हिन्दी के लेखक इने-गिने हैं। इनकी संख्या शायद बढ़ रही है, पर उस अनुपात में नहीं, जिस अनुपात में हिन्दी का प्रचार बढ़ रहा है। क्या उस मात्रा में हिन्दी में दक्षिण का साहित्य आ रहा है, जिस मात्रा में आना चाहिए था? यह प्रश्न ऐसा है, जो दक्षिण में ही नहीं, अन्य हिन्दीतर प्रदेशों में भी किया जा रहा है। मुझे नहीं मालूम कि हिन्दी प्रदेश में यह प्रश्न किया जाता है कि नहीं?

हिन्दीतर प्रदेश की देन बढनी चाहिए थी, बढ नही रही है—यह एक अप्रिय सत्य है।

दक्षिण मे कई ऐसे व्यक्ति हैं, जो हिन्दी मे लिख सकते हैं, पर लिखते नही हैं। वे ऐसे 'नीच' भी नहीं हैं कि विघ्न के भय से यह कार्य प्रारभ ही न करें। वे निश्शक्त नही है, निरुत्साह हैं, असमर्थ नही, निष्क्रिय हैं।

यदि वे सब सक्रिय होते, तो हिन्दी को उनसे बहुत कुछ मिलता—और वह ऐसी देन होती, जिसकी आवश्यकता थी, और इस कारण उसकी अनुपस्थिति अखरती है।

मैं यहाँ यही कहूँगा कि जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, दक्षिण मे या अन्य हिन्दीतर प्रदेशो में भूमि ऊर्वरा है, सुसिंचत है, पर सम्भवतः जलवायु प्रतिकूल है।

अन्त में फिर मैं यह कहना चाहूँगा कि मेरे वर्गीकरण के द्वितीय श्रेणी के लेखको की देन अभी पर्याप्त नही है। हो सकता है, कहीं-कही उनको निम्न श्रेणी का भी समझा जा रहा हो—कम-से-कम यह सन्देह दाक्षिणात्य लेखकों के मन मे आता है। और यह सन्देह उनको जकड़-सा देता है।

कोई चीज़ तभी दी जा सकती है, जब वह ली जाये। 'देन' स्वीकृत होकर ही देन है। जो भी कुछ देन है, क्या वह स्वीकृत हुई है? क्या उसका उस सहृदयता से स्वागत हुआ है, जिस सहृदयता से होना चाहिए था, मुझे नहीं मालूम।

इस देन के स्वीकारने के पीछे या तो विवशता होनी चाहिए अथवा उदारता। विवशता से मेरा अर्थ अपर्याप्ति का अनुभव है—आवश्यकता का अनुभव भी। जिस मात्र में यह अनुभव बढता जाएगा, उदारता भी बढती जाएगी।

हिन्दी भाषा बहुत ही संचयशील भाषा है, यह कई भाषाओं का सम्मिलित रूप है। सम्मिलित, सर्वप्रान्तीय, समन्वित साहित्य इस भाषा के अनुरूप हैं और इसके जीवन व प्रचलन के लिए वे आवश्यक भी हैं।

★

यदि भारतीय लोग व्यापार या कला मे एक रहना चाहते हैं, तो हिन्दी ही वह भाषा है जो समस्त भारतीयों का ध्यान आकर्षित कर सकती है, चाहे वे लोग अपने प्रदेश मे कोई भी भाषा बोलते हो। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना भारत के सभी लोगो के लिए शिक्षा का एक उद्देश्य होना चाहिए।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

डॉ० ई. पांडुरग राव,
एम.ए., पीएच. डी., सीनियर रिसर्च आफीसर,
यूनियन पब्लिक सर्विस कमिशन, दिल्ली

हिन्दी और तेलुगु के उपन्यास साहित्य की अधुनातन गति-विधियाँ

हिन्दी की स्नातकोत्तर शिक्षा पाने के बाद नागपुर विश्वविद्यालय से आपने पीएच. डी. की उपाधि हासिल की। हिन्दी विशेषाधिकारी की हैसियत से विविध राज्य सरकारों की सेवा की। संप्रति केन्द्र-सरकार के लोक-सेवा-आयोग के आप वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी है। तेलुगु तथा हिन्दी साहित्यों की गद्य-पद्यात्मक अनुवाद-प्रक्रिया में आप विशेष अभिरुचि रखते हैं।

एक समय था जब केवल कविता की साहित्य के अंतर्गत गणना होती थी। बाद को एक ऐसा भी समय आया, जब नाटक को कविता से भी अधिक उत्कृष्ट स्थान देकर 'नाटकांतं हि साहित्यम्' कहा जाने लगा। महाकवि कालिदास को भी अपने समय की इस नई मान्यता को स्वीकार करते हुए अपनी प्रारंभिक नाट्यरचना में कहना पड़ा—'नाट्यम् भिन्न रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।" अगर वही कालिदास आज होते तो शायद उनको युग के स्वर में स्वर मिलाकर फिर कहना पड़ता 'गल्पं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।' वाल्मीकि के समय कविता का जो स्थान था और कालिदास के समय विभिन्न रुचिवाले लोगों को एकसाथ संतुष्ट करनेवाले नाटक को काव्य की विभिन्न विधाओं में जितना रम्य समझा गया था, शायद उसी प्रकार की अभिनव रमणीयता का गौरव साथ लिये आज कहानी-उपन्यास का भारतीय साहित्य में अवतरण हो चुका है।

भारत की प्राय: सभी भाषाओं में कहानी उपन्यास की नई धारा लगभग एक ही समय—उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में—प्रवर्तित हुई थी। कादंबरी, दशकुमार चरित आदि संस्कृत के गद्य काव्यों से प्राप्त आंतरिक प्रवृत्ति को पश्चिम के गद्य वाङ्मय ने नई प्रेरणा प्रदान की और फलत: अंग्रेजी 'नावेल' के अनुरूप हमारे यहाँ भी उपन्यास, कादंबरी या 'नवला' का अवतरण हुआ है। अंग्रेजी 'नावेल' को हिन्दी, बंगला आदि भाषाओं में 'उपन्यास' कहा जाता है,

जबकि मराठी और कन्नड में इसको 'कादम्बरी' का नाम दिया गया है। तेलुगु में अंग्रेजी शब्द को ही लेकर उसे भारतीय रूप दिया गया है। 'नवला' या 'नवलिका' के नाम से तेलुगु के उपन्यास अभिहित हैं। इस प्रकार नामकरण में ही उपन्यास नाम की इस नई साहित्यिक विधा का पूर्वरंग प्रकट हो जाता है।

पिछली शताब्दी के अंतिम चरण मे ही हिन्दी और तेलुगु में उपन्यास रचना आरम्भ हुई। यद्यपि संस्कृत और अंग्रेजी का प्रभाव दोनों भाषाओं पर अनिवार्य रूप से पड़ा है, फिर भी हिन्दी की प्रारंभिक उपन्यास-रचना पर बंगला का प्रभाव अधिक स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रतापनारायण मिश्र ने बंकिम के प्राय सभी प्रमुख उपन्यासों का हिन्दी मे सफल अनुवाद किया था। इसी प्रकार गदाधर सिंह, कार्तिक प्रसाद आदि उपन्यासकारों ने भी बंगला के उत्कृष्ट उपन्यास-साहित्य को हिन्दी मे रूपांतरित कर दिया था। बंगला के उपन्यास साहित्य का प्रभाव तेलुगु पर भी काफी पड़ा है—लेकिन कुछ देर मे। तेलुगु का पहला उपन्यास कंदुकूरि वीरेशलिंगम का 'राजशेखर चरितम्' अंग्रेजी के 'विकर आफ़ वेकफील्ड' का अनुकरण है। अंग्रेजी उपन्यास के अनुकरण पर इसकी रचना के होने पर भी यह अत्यंत मौलिक और भारतीय पर्यावरण से अनुप्राणित मालूम पड़ता है। इसका प्रमाण यही है कि इस उपन्यास का बाद में 'व्हील आफ़ द फार्चून' के नाम से फिर अंग्रेजी मे अनुवाद हुआ है। वीरेशलिंगम पंतुलु के बाद चिलकमर्ति लक्ष्मी नरसिंहम्, केतवरपु वेंकट शास्त्री, दुग्गिराल रामचंद्रय्या आदि विद्वानों के द्वारा जो उपन्यास लिखे गये उनमें अंग्रेजी और संस्कृत का ही प्रभाव अधिक दिखाई देता है, बंगला या तमिल-जैसी पड़ोसी भाषाओं का बहुत कम।

पर हाँ, इस प्रारंभिक चरण के बाद तेलुगु में शरत् और बंकिम के प्राय समस्त उत्कृष्ट उपन्यासों का अनुवाद हुआ है और परवर्ती रचनाओं पर बंगला से आगत इस नई विचारधारा का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इसके बाद हिन्दी और तेलुगु दोनों भाषाओं में उपन्यासों की बाढ़-सी आ गयी। ऐतिहासिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, सामाजिक, हास्यप्रधान, समस्यामूलक जासूसी आदि कई प्रकार के उपन्यास दोनों भाषाओं में काफी संख्या में और बड़े जोश के साथ लिखे जाने लगे। तेलुगुभाषी उपन्यासों के पीछे पागल-से हो गये। दो प्रकार के उपन्यास अधिक लोकप्रिय हुए, जासूसी और वासना सम्बन्धी। जासूसी उपन्यासों ने कुछ दिन तक तेलुगु उपन्यास के क्षेत्र मे एकाधिपत्य-सा कर लिया था। लेकिन बाद मे यह धारा क्षीण होती चली गयी। उसके बाद चलम्-जैसे अति यथार्थवादी लेखकों ने काम-वासना को चित्रित करनेवाली रचनाएँ शुरू की। ये भी बड़े चाव से पढ़े जाने लगे। पर इन उपन्यासों ने उपन्यास की प्रवहमान धारा को गतिशील बनाने की अपेक्षा एक प्रकार से अवरुद्ध ही किया था। लेकिन विश्वनाथ सत्यनारायण, अडवि बापि राजु, नोरि नरसिंह शास्त्री आदि मनस्वी लेखकों की संजीवनी रचनाओं ने इस धारा को फिर आगे बढ़ाया और इस वर्द्धमान साहित्यिक विधा को नई दिशा प्रदान की।

ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों का काफी प्रचार स्वतंत्रता की प्राप्ति (1947) तक हो चुका था। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात्

तेलुगु उपन्यास-साहित्य में एक नई चेतना, नई परम्परा और नई प्रवृत्ति का समावेश हुआ। आदर्श के स्थान पर यथार्थ, उपदेश के स्थान पर संवेदना, विशिष्ट के स्थान पर सामान्य और नियति के स्थान पर प्रगति की प्रतिष्ठा हुई।

आजकल तेलुगु में जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उनमें कुछ ऐसे हैं जो पुरानी परंपरा के अनुसार विशिष्ट पाठक समाज के लिए या आत्मसंतोष के लिए लिखे जा रहे हैं। इस कोटि के उपन्यास-लेखक प्रायः विद्वान और अधिक पढ़े-लिखे होते हैं, जिनका आशय समाज को सुधार का कुछ संबल प्रदान करना होता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे उपन्यासकार हैं जिनका अतीत से कोई गहरा संबंध नहीं है और जिनका आशय केवल मानव-जीवन में अधिक सद्भावना और सौजन्य को प्रतिष्ठित करना मात्र होता है। ये शुद्ध वर्तमान के प्राणी हैं जिनकी कलात्मक साधना निराडंबर होते हुए भी अत्यंत लोकप्रिय और हृदयरंजक होती है। इस वर्ग के उपन्यास प्रायः सामाजिक गतिविधियों से संबंधित होते हैं। जो जहां जैसा हो रहा है, उसे उसी रूप में चित्रित करके पाठकों के सामने समस्या मात्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इन उपन्यासकारों में लक्षित होती है।

यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी पायी जाती है, पर इतनी प्रचुर मात्रा में नहीं, जितनी कि तेलुगु में। इसके अनेक कारण हैं। एक तो यह है कि आजकल तेलुगु में भाषा के पुराने बंधन कुछ ढीले हो गये हैं। व्याकरणसम्मत भाषा आज बहुत कम लिखी जाती है। पत्र-पत्रिकाओं की भाषा शिष्ट जनों के द्वारा व्यवहृत भाषा को ही आदर्श मानकर चलती है। जैसे लोग बोलते हैं, वैसे लिखने की प्रवृत्ति अब लोकप्रिय हो चुकी है—विशेषकर कहानी-उपन्यास साहित्य में। अतः सामाजिक गति-विधियों से परिचित कोई भी व्यक्ति, जिसमें अभिव्यक्ति की तीव्र लालसा है और अनुभूति की गहराई है निस्संकोच अपनी निरलंकृत भाषा में व्यक्त करने में समर्थ हो रहा है। इस प्रवृत्ति से एक लाभ यह हुआ कि प्रबल अनुभूति से युक्त अनेक व्यक्ति अभिव्यक्ति की प्राक्कल्पित सीमाओं का उल्लंघन करके अपनी विचारधारा से साहित्य-जगत को लाभान्वित कर पा रहे हैं। भारत जब से स्वतंत्र हुआ, तब से तेलुगु भाषा के क्षेत्र में भी इस प्रकार की स्वच्छन्द रचनाओं का प्रचार और प्रसार यथेष्ट रूप में संपन्न हो रहा है।

आजकल के तेलुगु उपन्यास-क्षेत्र में एक और विशेषता ध्यान देने योग्य यह है कि आजकल तेलुगु उपन्यास लिखनेवालों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है और यह दिन-ब-दिन बढ़ भी रही है। एक प्रकार से यह अच्छा लक्षण है। सामाजिक उपन्यास लिखने में समाज की आंतरिक जटिलताओं से भली-भांति परिचित महिलाएँ अधिक योग्य सिद्ध हो सकेंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन आवश्यकता केवल इसी बात की है कि उन लेखिकाओं में साहित्यिक रचना के लिए अपेक्षित कारयित्री प्रतिभा, उद्भाविका शक्ति, वास्तविक अनुभूति, सक्षम अभिव्यक्ति आदि उपादान अवश्य हों। सौभाग्य से अब तक इसी प्रकार की प्रतिभा-संपन्न महिलाओं का योगदान ही तेलुगु उपन्यास साहित्य को मिलता रहा है। पर हाल ही में देखा जा रहा है कि पन्द्रह-बीस साल की लड़कियां भी कहानी-उपन्यास लिखने लगी हैं। उनकी

रचनाओ मे न तो अनुभूति की वास्तविकता है और न भाषा पर अधिकार। ऐसी स्थिति मे ये क्षणभगुर रचनाएँ साहित्य की इस नवल विधा को सजीव और शाश्वत बनाने मे समर्थ नहीं हो सकेंगी।

लेकिन साथ साथ यह भी देखा जा रहा है कि कोडवटि गटि कुटुब राव, रावकोंड विश्वनाथ शास्त्री, पालगुम्मि पद्मराजु आदि गण्य-मान्य लेखक भी अपनी ओजस्वी रचनाओं के द्वारा नई पीढी का पथप्रदर्शन कर रहे हैं।

परतु हिन्दी मे यह समस्या ही नही है। भाषासबधी कोई समस्या हिन्दी मे उस रूप में नही है, जिस रूप मे तेलुगु मे है। हिन्दी मे भाषा की जो समस्या है, उसका उपन्यास साहित्य पर कोई खास प्रभाव नही पडता। अब रही, नई पीढी की समस्या। हिन्दी मे आजकल नई पीढी के लोग कोई जटिल समस्या प्रस्तुत नही कर रहे हैं। आज भी जैनेन्द्र, यशपाल, विष्णु प्रभाकर आदि के उपन्यास उसी प्रकार लोकप्रिय हैं जिस प्रकार यादवचन्द्र जैन के। पुरानी और नई धाराओं में कोई विभेदक और विलक्षण रेखा दिखाई नही देती है।

आजकल के हिन्दी उपन्यासो के बारे मे एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि अब हिन्दी उपन्यास केवल हिन्दीभाषी समाज तक सीमित नही है। बाहर के लोग भी अब हिन्दी मे लिखने लगे हैं। प्रभाकर माचवे, अनत गोपाल शेवडे, रमेश चौधरी, बालशौरि रेड्डी आदि लेखको के उपन्यास अब हिन्दी साहित्य के अभिन्न अग बन गये हैं। यह स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी को प्राप्त राष्ट्रीय गौरव है।

हिन्दी की शब्द सभावना अत्यधिक है, वह अग्रेजी फ्रेंच रूसी जर्मनादि भाषाओ के सारे शब्दो के लिए कम से-कम पाँच-पाँच पर्याय प्रस्तुत कर सकती है। हिन्दी मे एक धातु से दो सौसे अधिक शब्द बनाये जा सकते हैं, बारह दिन मे हिन्दी का व्याकरण सिखाया जा सकता है। यदि दूर-मुद्रण की क्षमता भी देखी जाय तो उसमे विश्व की अन्य किसी भाषा मे सदेश भेजने की अपेक्षा समय और स्थान कम लगेगा। रोमणी से लेकर थाइलैंड की भाषाओ तक हमारी भाषा के शब्द फैले हुए हुए हैं। वे कश्यप और कुमार जीव के साथ मगोल और चीन तक गये हैं। जापान की वर्णमाला मे भी वे छिपे हैं और मध्य एशिया के अभिलेखों मे भी वे सुरक्षित हैं।

—डॉ॰ रघुवीर

"हिन्दी का मुकाबला केवल अग्रेजी के साथ है किसी भी प्रातीय भाषा के साथ नहीं है और अग्रेजी का मुकाबला सिर्फ हिन्दी से नहीं, बल्कि सभी प्रातीय भाषाओं से है।"

—डा राजेन्द्रप्रसाद

डॉ. एम. एस. कृष्णमूर्ति,
एम.ए., पीएच. डी.,
हिन्दी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय,
मानसगंगोत्री, मैसूर-6

कन्नड और हिन्दी वीरकाव्यों की समानधर्मी विशेषताएँ

सभा की उच्च हिन्दी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के बाद आपने मैसूर विश्वविद्यालय में हिन्दी का स्नातकोत्तर अध्ययन पूरा किया तथा उसी विश्वविद्यालय के प्रथम पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधिधारी भी बने। मातृभाषा कन्नड और हिन्दी में समान अधिकार के साथ आलोचना, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं में मौलिक तथा अनूदित सर्जन क्रिया में आप संलग्न है। संप्रति मैसूर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक है।

यदि शृंगार विश्वमोहक रस है, तो वीर विश्व-पोषक रस है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है और संपूर्ण मानवजीवन उत्साह का चुस्त लीलाक्षेत्र है। वीर रस ही ऐसा रस है जिसमें सहृदय का पक्ष और रसों की अपेक्षा अधिक प्रकट होता है। कर्म-सौंदर्य विश्व में सर्वाधिक आकर्षक होता है और वीर रस में इसीका महत्व है। शृंगार रस का रतिभाव जिस प्रकार सृष्टि के चराचर सब जीवों में पाया जाता है, उसी प्रकार वीर रस का उत्साह भी सर्वत्र व्याप्त दिखाई देता है। शृंगार रस हृदय की कोमल भावनाओं को तृप्त करता है। उसमें कर्मनिष्ठा मूल में नहीं है। वीर रस में हृदय की भावनाओं की तृप्ति के साथ ही कर्मनिष्ठता मूल रूप से विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि शृंगार रस जहाँ केवल सहृदय के आभ्यंतर पक्ष को तृप्त करके छोड़ देता है, वीर रस वहाँ आभ्यंतर की तृप्ति के साथ-साथ कर्मनिष्ठा भी जागरित करता है। वीर रस कर्मप्रधान होता है और कर्म समाज का पोषक है। सारा इतिहास साक्षी है कि किसी भी देश का उत्थान वहाँ के वीर पुरुषों के द्वारा ही हुआ है। जब भी किसी देश ने अपना वीरावेश त्यागकर विलास को अपनाया तब वह नष्ट हो गया।

वीर काव्य मानव हृदय की वीर पूजा की अजस्र पिपासा को शांत कर सकता है, युग की माँग को पूर्ण कर सकता है। इसीकी ओर इंगित करते हुए सी. एम. बौरा ने यों कहा है—"The conception of the hero and the heroic process is widely spread, and despite its different

settings and manifestations shows the same main characteristics, which agree with what the Greeks say of their heroes An age which bel eves in the pursuit of honour will naturally wish to express its adm ration in a poetry of action and adventure of bold endeavours and noble examples Heroic poetry st ll ex sts in many parts of the world and has existed in many others, because it answers a real need of the human sp rit *

जातीय भावना से वीर काव्य अनुप्राणित रहते हैं। जातीय भावना की अभिव्यजना होने से ही वीर काव्य सब देशो और जातियो मे अभिनदन और साथ ही सुरक्षित होते रहते हैं। देश की तत्कालीन सभ्यता, मनोवृत्ति, परिस्थिति, जीवन के घातप्रतिघात के ज्ञान का वह कोश होता है। जनता की आशा-आकाक्षा तथा अभिलाषा वाछा भी उसमे परिस्फुट रहती हैं। वह जनता के हृदयदेश मे प्रतिष्ठित ऐसे वीर का जीवन काव्यबद्ध करता है जो समष्टि मे विकीर्ण जनता की सहानुभूति समेटकर अपने पास राशीभूत करता है। ऐसे वीर या तो पौराणिक हो सकते हैं या एतिहासिक, कल्पित कथा नही।

भारत वीरप्रसविनी भूमि है। इस पुण्य भूमि मे सहस्रो वीर हुए हैं। उनके यशोगान से यहाँ का कण-कण भी अनुरागित है, यहाँ की देशभाषाएँ वीरश्री के लास्यमय नूपुरो से निनादित हैं।

वीर पूजा मे कन्नड एव हिन्दी जनपद एक-दूसरे से होड करते हैं। कर्नाटक की जनता को आर्यो से सबसे पहले मुकाबला करने का श्रेय मिलता है। वह महावीर हनुमान की जन्मभूमि है। यही नहीं, कर्नाटक के धर्म भी वीरधम हैं। वीरशैव, वीरवैष्णव आदि नामो से ही यह तथ्य स्पष्ट है। वीरपर्व महानवमी (दशहरा) कर्णाटक का राष्ट्रीय पर्व है। कर्नाटक मे वीरो की प्रशसा करते हुए राजशेखर ने यो कहा है—"कर्नाटो युद्धतत्व चतुर-मति ', 'समरकर्मणि निमर्गोद्भटा एव कर्णाटा '। यही नही, कर्नाटक भारत मे विख्यात साम्राज्यों की जन्मभूमि रहा है। कर्नाटक क इस वीर तेज के बारे मे डॉ श्रीकण्ठ शास्त्री जी ने ठीक ही कहा है—' Karnataka influence extended *even over* Northern India upto Nepal The Nepal royal family of Nanyadeva is of Karnataka origin The Senas of Bengal *trace* their descent from Samanta Sena a Karnataka tendatory born in the family of Vira Sena, a Brahma Kshatriya. The Chadvalas of Kanuj trace their descent from Nandapala who became a King of Karnataka. The Rathods of Jodhpur aud Bikaner were also the descendants of Karnataka rulers The Gangas and Kadambas of Kal nga sim larly trace their descent from the Gangas and Kadambas of Karnataka The Barbhujya Rajas of East Bengal came from Karnataka [2]

यही नही कर्नाटक के राष्ट्रकूट, चालुक्य एव होय्सल ही उत्तर के राठोर, सोलकी एव भोन्सले बने। परमार भी कर्नाटक के थे। इस प्रकार समग्र भारत में कर्नाटक की वीरश्री व्याप्त थी। उत्तरापथेश्वर श्री हर्ष को विगलित हर्ष बनाने का श्रेय कर्नाटक सम्राट परमेश्वर पुलिकेशि से मिलता है। कर्नाटक की इस वीरश्री के लास्य

* C M Bowra · Heroic poetry PP 2—3

2 Dr Srikantha Shastry Sources of Karnataka H story—Vol I.

की ओर इंगित करते हुए गुणभद्र ने अपने 'उत्तर पुराण' में कहा है कि कर्नाटक के वीरों के हाथी गंगा में नहाकर मलयाचल में विश्राम लेते थे। एक समय समग्र भारत आसेतु हिमालय विशाल कर्नाटक साम्राज्य की छत्रछाया में था। कर्नाटक राज्य रमारमण राष्ट्रकूटों के पराक्रम के बारे में महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी का वक्तव्य द्रष्टव्य है—"हर्षवर्धन को दक्षिणी भारत की दिग्विजय से खाली हाथ लौटने के लिए मजबूर करनेवाले पुलिकेशि के चालुक्यवंश को ख़तम कर राष्ट्रकूटों ने अपनी ज़बर्दस्त सत्ता उसी समय (सन् 753) स्थापित की, जब कि पूरब में गोपाल पाल वंश की नींव रख रहा था। 753 ई. से 973 ई. की प्रायः दो सदियों तक राष्ट्रकूटवंशी वल्लभ-राज भारत के सबसे बलवान राजा रहे। नर्मदा से कृष्णा और कभी-कभी कांची तक उनका विशाल राज्य फैला हुआ था और सुदूर दक्षिण रामेश्वर ही नहीं, कभी-कभी तो सिंहल भी उनकी आज्ञा को मानता था। कितनी ही बार उनके घोड़ों की टाप यमुना और गंगा के दुबाबे (अंतर्वेद) में प्रतिध्वनित हुई थी। कितनी ही बार उनके सैनिक युक्तप्रान्त के दुर्गों में मालिक बनकर बैठते थे।"[3]

राजपूतों की वीरता तो विश्वविख्यात है। टाड साहब ने ठीक ही कहा है—"पृथ्वी पर ऐसी कौन-सी जाति है जो शौर्य, धैर्य और पराक्रम और जीवन के ऊँचे सिद्धांत में राजपूत जाति की बराबरी कर सके? सैकड़ों वर्ष तक विदेशी आक्रमणकारियों के अत्याचारों को सहकर और भीषण सर्वनाश को पाकर राजपूत जाति ने जिस प्रकार अपने पूर्वजों की सभ्यता को अपने जीवन में सुरक्षित रखा है उसकी समता विश्व की कोई भी जाति नहीं कर सकती—इस बात को तो मानना ही पड़ेगा।"[4]

अस्तु, इससे स्पष्ट है कि कन्नड और हिन्दी प्रदेश की जनता वीरता में एक-दूसरी से होड़ करनेवाली है। समाज का प्रतिबिम्ब होने के कारण इनके साहित्य में भी क्षात्र तेज समान रूप से दर्शित है।

यदि हिन्दी साहित्य का आदिकाल 'वीरगाथा काल' कहलाता है, तो कन्नड साहित्य का आदि-काल (पाँचवीं सदी से 12-वीं सदी ई. तक) क्षात्र युग या वीरयुग कहलाता है। अतः सहज ही इन दोनों भाषाओं के वीरयुग में अद्भुत साम्य है। वीरयुग के दोनों भाषी कवि प्रधान रूप से असि एवं मसि के धनी थे। कन्नड का आदि कवि पंप (940 ई.) अपने आश्रयदाता चालुक्य नरेश अरिकेसरी का दंडनायक था। उसने अपने शौर्य का वर्णन यों किया है—

"पंप धात्रीवलयनि
  लिंपं चतुरंगबलभयंकरणं नि।
र्कंपं ललितालंकर
  णंपंचशरैकरूप नप गतपापं।"[5]

'कादंबरी' के रचयिता नागवर्मा ने (978 ई.) भगवती दुर्गा से प्रार्थना की है कि वह उसकी भुजासि को वीरश्री प्रदान करें।

इसी युग का कवि चावुण्ड राय (980 ई.) समर में परशुराम था, गंगनरेंद्रों का दण्डनायक। उसने अपने पराक्रम का वर्णन अपने 'चावुण्डराय पुराण' में यों किया है—'असहाय पराक्रमी

3. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा-पृ. 25

4. टाड—राजस्थान का इतिहास—(हिन्दी अनुवाद) पृ. 146 5. पंप भारत।

चावुण्डराय हमपर रुष्ट हुआ है, हमारी रक्षा करें, हमे आश्रय दें। इस प्रकार कहकर शत्रुमाण्डलिक लोग भय के कारण दीवाली के मर्दल की भाँति घर घर जाकर आश्रय की याचना कर रहे हैं।

हिन्दी का आदि कवि चंदवरदाई भी पंप की भाँति असि एवं मसि का धनी था। स्वयं वह युद्धभूमि जाकर लडा था। उसने अपने काव्य मे कई स्थलों मे एक योद्धा के रूप मे अपने शौर्य का वर्णन किया है। युद्धभूमि मे जाकर उसने कहर मचा दिया था।

> लरत चंदबरदाई करति अच्छरि विरदावलि।
> झरत कुसुम गमनग धरत गर ईस मुडावलि।
> करत घाव कवि राव पिसुन परिवध्य पछारत।
> मरत पत्त कालिका भूत वेताल उकारत।
>
> जहं तहं ढरत गज वाज नर,
> लोह लपटि पावक लहर।
> मुष वाह वाह प्रथिराज कहि
> कटक कटक भट्ट की नंनौ कहर॥[6]

पृथ्वीराज रासो के अनुसार 'आल्हा' का रचयिता जगनिक भी एक योद्धा था —

> रूपि जगनिक रन माही।
> हथ्थ वाहै वर हथ्थिय।
> कियो कान्ह मूरछाह।
> कियो कममास समथ्थिय।
> हनियो सैन हजार।
> रुड नाच्यो बिन सीसह।
> मानि जोर पृथिराज।
> पील मारयो करि रीसह॥
> कीनो पहाव रान राज कहि।
> लोह लहरि खड मार झरि॥
> जपी मुचदबानी बरनि।
> भाट ठाट कीनो कहर॥[7]

उस समय देश एवं धर्म के लिए मरना धर्म माना जाता था। योद्धाओ के दोनों हाथों में लड्डू था। यदि वे मरेंगे तो वीरस्वर्ग मिलेगा, जीतेंगे तो सुख व कीर्ति। अधोलिखित श्लोक से उस युग के वीरों की चित्तवृत्ति पर प्रकाश पडता है —

> "जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगना।
> क्षणे ये विध्वंसिनि काये का चिंता मरणे रने॥"

उनका विश्वास था —

> "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमंडलभेदिनौ।
> परिव्राट् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हत॥"

जनता के वीरोल्लास को उत्तेजित करनेवाली कई प्रथाएँ दोनों भाषी जनपदो मे मिलती हैं। राजस्थान मे सती, जौहर आदि प्रथाएँ थीं, तो कर्णाटक में भी थी। ये ही नहीं, कर्णाटक में गरुड, सल्लेखन, कोळगुटे आदि विशेष प्रकार की प्रथाएँ थीं। 'गरुड' उन लोगों को कहा जाता था जो किसी राजा के अंगरक्षक हुआ करते थे। वे यह प्रतिज्ञा कर लेते थे कि वे सदा सर्वदा अपने स्वामी के छायानुवर्ती रहेंगे और उन्हींके साथ रहेंगे। राजा के मरने पर 'गरुड' अपनी सती तथा सेवकों के साथ अपना प्राणोत्सर्ग कर लेते थे। 'कोळगुटे' एक ऐसी प्रथा है, जिसमे सेवकगण अपने स्वामी के साथ ही मरते थे और उसके शव के साथ अपने को सजीव जलवा या

---

6. पृ रा रा—छद 1599

7 वही महोबा समय-4

गड़वा लेते थे। 'सल्लेखन' जैनियों का एक व्रत है जिसमें एक व्यक्ति निराशा या अन्य किसी कारण किसी क्षेत्र में जाकर अन्न जल त्यागकर अपना प्राणोत्सर्ग करता था। उन दिनों युद्ध के कारण 'गोग्रहण' हुआ करते थे। अपने गाँव की गायों की रक्षा करने के लिए छँटे हुए वीर तैयार रहते थे। ये हँसते-हँसते अपनी जान पर खेलते थे। इस प्रकार मरे हुए व्यक्तियों को जनता कभी नहीं भूलती थी। उनके स्मारकार्थ स्मृतिशिलाएँ खड़ी की जाती थीं। वीरमृत्यु पानेवाले वीरों की स्मृतिशालाएँ "वीरगल्लु" तो सती होनेवाली रमणियों की स्मृतिशिलाएँ 'मास्तीकल्लु' कहलाती हैं। सल्लेखन से मृत व्यक्तियों की स्मृतिशिलाएँ 'निषिधिगल्लु' कहलाती हैं। इन शिलाओं पर मृत व्यक्ति के पौरुष का वर्णन अत्यंत काव्यमय भाषा में उत्कीर्ण रहता है। इन युद्धवीर और धर्मवीरों के अतिरिक्त दानवीरों के चित्र भी इस समय मिलते हैं। दानवीरों की प्रशस्तिशिलाएँ 'दत्ति' कहलाती हैं। ये बोलते पत्थर कर्णाटक में वीररस के खण्डकाव्य के जैसे हैं और वे कन्नड़ साहित्य की अमर निधियाँ हैं। ऐसी शिलाएँ कर्णाटक में पाँच हज़ार से भी अधिक मिलती हैं। कन्नड़ भाषा का प्राचीनतम लिखित साहित्य हल्मिडी शिलालेख (450 ई.) है, जो एक दानपत्र है। यही नहीं, मृत वीरों को दैवीभूत किया जाता था और उनके मृत्युस्थल या समाधि पर मंदिर निर्मित किये जाते थे। ऐसे दैवीभूत वीर 'बीरप्पा, बीरय्या, बीरेदेवरु, बीरोबा' आदि कहलाते हैं। कर्णाटक में ऐसा कोई भी गाँव नहीं है जिसमें 'वीरे देवरु' का मंदिर न हो।

राजस्थान में भी इसी प्रकार की वीर प्रथाएँ थीं। वहाँ की वीरशिलाएँ 'जुझार' कहलाती हैं। किन्तु वहाँ शिलालेख बहुत ही कम मिलते हैं। उनका साहित्यिक गुण भी न्यून है।

कन्नड के शिलालेखों की परंपरा 18-वीं सदी तक व्याप्त है। चौडय्या नामक एक वीर के शौर्य का क्या ही ओजोमय वर्णन इस शिलालेख में है!

"सेडेदु दवानलं नडेयुत्तिर्पुदु पुल्विडिदानं भीतियिं।
मिडुकुवुदल्तु नीरोळगणि वडवानलनिप्पं शंभुवं॥
बिडदे ललाटनेत्रशिखियादुदु चौडन तेजदेळगेयु
म्मडिप्पुदु उग्रवह्निनयेनलागॆळ् तेजमनांतु बाळ्वर्॥

"चौडय्या के शौर्य एवं पराक्रम को देखकर दावानल डर के मारे ठिठुर गया और सिर पर तिनका धरे चल रहा है। उसके आतंक से ग्रस्त होकर वडवानल जल में जा छिपे काँप रहा है। किन्तु वहाँ से भी भागकर शंभु के कुटिल नयन में जा छिपा है। चौड के प्रतापानल का सामना कौन कर सकता है और वैसा करके कौन जी सकता है?"

ऐसे वीरयुग में रहनेवाला कवि सहज ही असि एवं मसि का धनी बनता है।

कन्नड एवं हिन्दी की आदिकालीन कृतियों में वीर प्रधान रस है, तो शृंगार पोषक के रूप में आया है। इस युग में हिन्दी में वीररसपूर्ण 'रासो' ग्रंथों का प्रणयन हुआ, तो कन्नड में विजय-काव्यों की परंपरा चल पड़ी। यदि पंप ने 'विक्रमार्जुन विजय' लिखी, तो रन्न ने (990 ई.)

2. कन्नड़ साहित्य पारिवत्पत्रिके, जून-दिसंबर, 1951, पृष्ठ 67.

'साहसभीमविजय' और पोन्न (950) ने 'भुवनैक-रामाभ्युदय' की रचना की। 'वीरमहाकाव्य' महाभारत कन्नड में classic है, तो हिन्दी का classic 'रामायण' है। किन्तु कन्नड में 'रासो' जैसे लौकिक काव्य क्षात्र युग में प्रणीत न होकर बहुत पीछे हुए। पप, पोन्न, रन्न आदि कवियों ने महाभारत, रामायण आदि प्राचीन काव्यों के नायकों के साथ अपने आश्रयदाताओं का समीकरण किया। पप ने अपने आश्रयदाता चालुक्यनरेश अरिकेसरी का समीकरण अर्जुन के साथ किया, तो रन्न ने भीम को सत्याश्रय से अभिन्न माना। इस प्रकार महाभारत आदि विगतकालीन ऐतिहासिक कृतियाँ समसामयिक इतिहास से मिलकर ध्वनिरम्य बनीं, आत्मीय बनीं। किन्तु वर्तमान अतीत में डूब गया। हिन्दी में ऐसी बात नहीं हुई। वहाँ प्रत्यक्ष वीरकाव्यों का ही प्रणयन हुआ है। किन्तु दोनों भाषी काव्यों की शैली या कलेवर की भिन्नता के बावजूद विचारों में विलक्षण साम्य है।

पप और चद दोनों ने अपने युगानुकूल स्वामिधर्म का प्रतिपादन किया है। पाण्डवों के पक्ष में आ मिलने की प्रेरणा कुंती कर्ण को देती है। तब कर्ण अपनी अचल स्वामिनिष्ठा प्रकट करते हुए यों कहता है—"भय और लोभ में पड़कर यदि मैं अपने स्वामी के उपकारों को भूलकर कृतघ्न बनके तेरे पक्ष में आ मिलूं, तो क्या यह शरीर कीर्ति की भाँति कल्पांतर तक स्थायी है?" चदबरदाई ने भी ऐसी ही बातें कही हैं—

सोइ सो सुरसध्रम, जुग्ग सा ध्रम्म न पुज्जै,
दया दान यम दिव्य, सबै साध्रम मनि सज्जै।
सामि ध्रम बर मुगति, नरक वरतिय्य निवासो।
सुनी हमीर सा ध्रम करे सुरपुर नरवासो॥[9]

सा ध्रम मुकति बंधं धन सामि ध्रम जस
मुगति वर।
अब कित्ति कित्ति करतार करे, नरक चूक
जुझ्झोति नरों।[10]

इस समय "नाविष्णु: पृथ्वी वल्लभ" जैसा विश्वास सर्वत्र प्रचलित था। कन्नड तथा हिन्दी के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को ईश्वरांश-संभूत या अवतारी पुरुष माना है।

उस समय पौरुष का आदर्श परहिंसा नहीं धर्म-रक्षा था। 'वरं मृत्यु न तु मानवखंडनम्' की भावना उन वीरों की रग-रग में व्याप्त थी। पंप का अर्जुन अपने पौरुष का आदर्श यों प्रस्तुत करता है—

"ओत्ति तरबि निंद रिपु भूज समाजद
बेरंगळं नभ।
क्केत्तदे, बदु तन्न मरेवोक्कड़े कायदे
चागदोळ्पिन
च्चोत्तदे माण्डु बाळ्व पुळुवानसनेंववन
जाडमेबुदो
दत्तिय पण्णोळिपें पुळुवल्लेदे मानसने
मुरातका॥[11]

"हमारे मार्ग में रोड़ा बनकर अटके हुए, हमारा विरोध करनेवाले रिपु राजाओं की जड़ों को ही उखाड़कर नभ में न फेंकनेवाला, शरणागतों की रक्षा न करनेवाला तथा त्याग एवं सत्कार्य न कर जीवित रहनेवाला अल्प मनुष्य ब्रह्माण्डरूपी

9 पृ. भा 1-74.
10 पृ. रा. छ 608   11. प भा. 10-99.

औदुंबर फल के कीट से किसं कंदर बेहतर है? वह भी कोई मानव है?"

रन्न ने क्षात्र धर्म का प्रतिपादन और भी ओजोमय वाणी में किया है—

"तुरुगोळोळ् पेण्बुटयलो-
ळरिवेसदोळ् नंटनेऽरोळूरळविनोळं ॥
तरिसंदु गंडवनमने
नेरपदवं गंडनल्लनेंतुं पंडं ॥"[12]

"गोग्रहण में, असहाय रमणियों के आर्तनाद पर शत्रुदमन में, बंधुजनों की विपत्ति में, गाँव पर आये संकटों में, जो अचल होकर अपने पौरुष का प्रदर्शन नहीं करता है, वह 'गंड' (पुरुष) नहीं है, षंड है।"

चन्दवरदाई ने अपने युगीन आदर्श का चित्रण यों किया है:—

"मरना जाना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां।
सा पुरुसां का जीवना, थोड़ाई है भल्लां॥"[13]

कन्नड तथा हिन्दी के कवियों ने क्षात्र धर्म का तो प्रतिपादन किया है। किन्तु साथ कर्मवाद पर भी जोर दिया गया है। इस प्रकार पुरुषार्थवाद और कर्मवाद के विलक्षण संयोग को हम इन कवियों में देख सकते हैं। पंप का कर्ण विधिवाद का प्रतिपादन यों करता है:—

"विधि वसदिंदे पुट्टुवुदु पुट्टिसुवंविधि
पुट्टिदंदिवं।
गिदुवियमोळिपवंगिदु विनोदमिवंगिदु
साव पांगिवं॥
गिदु पडेमातिवंगिदु पराक्रममेंबुदनेल्ल
माळ्केयिं।
बिदि समकट्टि कोट्टोडेयोळ् किडिसल
कुडिसल समर्थरार॥"[14]

"विधिवश ही मनुष्य का जन्म होता है, जन्म देनेवाला भी विधि है। जन्म लेने के बाद अमुक का यह व्यय है, अमुक को यह कल्याण, अमुक को यह विनोद करना है, अमुक को यों मरना है, अमुक की कीर्ति यों होनी है, अमुक का पराक्रम यों होगा। इस प्रकार सब तरह से विधि ने हमारे जीवन की व्यवस्था की है। उसे मिटाने या बदलने में कौन समर्थ है?"

चंदवरदाई भी पंप के सुर में सुर मिलाकर कहता है:—

'कर्मवस्य नरं जीवं, जं कर्मक्रियतं सो प्राप्ति।'
कर्म सुभं च असुभं कर्मजीवं प्रेरक प्रानी॥"[15]

व्यूह-रचना, रण-प्रमाण, युद्ध, वीरालाप, दुर्ग, नगर, आयुध आदि के वर्णन में दोनों भावी कवि महाभारत और रामायण के ऋणी हैं। युद्धभूमि में नवों रसों की परिपाक का कन्नड तथा हिन्दी के कवियों ने दिखाया है।

रन्न का दुर्योधन युद्धभूमि में जाते समय नवों रसों को देखता है: 'श्रृंगाररस से आपूरित हो अपांग वीक्षण कर वीरभटों को अपने उत्संग में रखकर ले जानेवाली देवकामिनियों को उस दिन कुरुराज ने देखा। अपराजेय उत्साह तथा वीरता का प्रदर्शन कर अपनी भूमि को पराक्रांत होने न देकर यहाँ महान वीर लड़ मरे। टूटे सिर, खुले मुँह, अधटूटे गले, खुली आँखें तथा रक्तसिक्त देहयुक्त वीर सैनिक वीभत्स का प्रदर्शन कर रहे थे। वक्र बाण एक योद्धा के पास रहनेवाले

12. साहस-भीम विजय 2-24. 13. पृ. रा. स. 61-180, 14. पं भा. 12-182, 15. पृ. रा. 219.

को लगा। उससे रक्त फूट रहा था। "हाय! मैं घायल हुआ" इस प्रकार की उसकी उक्ति को अनसुनी कर वह स्वयं मूर्छित हो गया। उसे देखकर सेना में हास्य का संचार हुआ। तनी हुई भ्रुकुटियो, चबे हुए होंठ, बाहर निकली हुई तलवार, मारने के लिए प्रस्तुत हाथ, खुली हुई आँखें, सवारों की ये वस्तुएँ रौद्र रस का प्रदर्शन कर रही थी। दाँतों तले उँगली दबानेवाले, भागकर बाँबी पर चढनेवाले, हथियारों को फेंककर प्रणत होनेवाले, भय-ज्वर से काँपनेवाले भीत जन भयानक रस को बिंबित कर रहे थे। निरहकार, निरीहता से युक्त तथा निरायुध हो दीन वचनो से भरे भीत भटो पर करुणा दिखाकर योद्धाओ ने उन्हें वापस भेज दिया। हयो को एक ही मार से, मत्तगजो को दो मार से दो टुकड़े करनेवाले खड्गधारी वीरो के भुजबल ने रण में अद्भुत रस का सचार किया। दूसरो से लड़कर, स्वय सतप्त हो, हथियार ग्रहण करने मे असमर्थ हो कुछ योद्धा अपने इष्ट देवता के चरणस्मरण में मग्न हुए। उनके अत करणो मे "शात रस का प्रादुर्भाव हुआ।"[16]

चंदबरदाई—

भान कुँअरि शशिवृत्त, नैन श्रृंगार सुराजे।
वीररूप सामत, रुद्र प्रथिराज विराजे।
चद अद्भुत जानि, भये कातर करुनामय।
बीभछ अरिन समूह, साथ अपनो मरु भय।
उप्पज्यौ हास अमछर अमर, भो भयानक
भावी विगति।
कूरम रव प्रथिराजवर, तरन लोहंचिते
तरनि॥[17]

[16] गदायुद्ध 3-22 से 41 [17] पृ. रा 25-501

रणांगण में त्रिवेणी संगम का उपस्थित होना, शाकिनी डाकिनियों का नाम, युद्ध मे अट्टनुवर्णन, कबंधों का नृत्य, रणाभिमुख जाते समय पग-पग पर प्रयाग का उपस्थित होना, सेना-संचालन से कमठ का डोल उठना, सूरज का ढंक जाना, आदि रूढियों का पालन दोनो भाषी कवियो ने किया है। काव्य-नायको के वाहनों तथा हथियारों के वर्णन मे दोनो भाषी कवियों ने अपरिमित ओज भर दिया है। रायचूर जिले के एक शिलालेख मे सोम दंडनायक नामक एक वीर की तलवार का वर्णन यो है:—

"चिरकीर्ति श्रीलता सततिय बलविगादलकरि
पोय्व पोय्नीर।
शरणागतंगे मुन्नीर उरद पगेराळ बेरंलिगे
ताने बेन्नीर।
परभूपालर्गुगुलुनीरजयवनितेय वैवाहत्वकाद
केय्नीर।
धरेमोलदंडेश सोम प्रबल निजभुजोच्छासि
धाराजलौघ॥"

"दण्डनायक सोम की खड्ग धारा उसकी कीर्ति लता संतति की वृद्धि के लिए जलधारा है। शरणागतो के लिए सागर की जलराशि है। शत्रुओ की जड के लिए उष्ण जलधारा है। परभूपालों के लिए थूक की धारा है। जयवधू के विवाह के लिए धाराजल है। इस प्रकार सोमदंडाधीश की भुजासि का धाराजलौघ विराज रहा है।

छत्र साल की तलवार का वर्णन भूषण ने ऐसा ही किया है:—

भुजभुजगेस की वैसंगिनि भुजंगिनी-सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारून दलन के।

बखतर पारवरम बीच धँसि जाति, मीन
पैरि पार जात परवाह ज्यूँ जलन के ।
रैयाराव चंपति के छत्रसाल महाराज
भूषन सकै करि बखान को थलन के ।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर ।
तेरी परछीनेवर छीने हैं खलन के ।।[18]

हिन्दी के कवियों ने अपने काव्य में ओज भरने के लिए संयुक्ताक्षरों का द्वित्वों व मूर्धन्याक्षरों का विपुल प्रयोग किया है। वैसा करते समय उन्होंने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है। किंतु कन्नड के वीर कवियों ने शब्दों के साथ ऐसा खिलवाड़ नहीं किया है। पंप आदि कवियों ने परुषाक्षरों तथा मूर्धन्याक्षरों के विन्यास के द्वारा अद्भुत ओज का निर्माण किया है। पंप का एक पद्य द्रष्टव्य है। अर्जुन के रथ का वर्णन यहाँ कितना ओजमय है—

चटुलित चक्रनेमि परिवर्तनघट्टनघातनिर्भर।
स्फुटित धरातलंविजयनु-
ग्ररथम परिदत्तु दल् घटा
घटित हटद्विरोधिरुधिरप्लवलंपट संकटोत्कटं।
कटकट घात नाकतट संकट
संगर रंगभूमियोळ् ।।"

"चंचल चक्रनेमि परिवर्तन के कारण धरातल डोल रहा है और अर्जुन का उग्र रथ आ रहा है मानों घटा-घटित हो, विरोधियों का रक्तप्रवाह लपट हो वह स्वर्ग को भी संकटोत्कट बनाते हुए उसे कंपायमान कर रहा है। ऐसा भयंकर रथ रणांगण में आ उपस्थित हुआ।"

चंदबरदाई—
"सुनंत ईस रज्जई, तनीरु राग सज्जई।
सुमेरि शुंकय धन, श्रवन्नफुट्टि जंझनं।"

मान—
"कत्ती किलकिल्ला सवित
सलिल्ला तोपक्षिमुल्ला जा जल्ला
दल मझि दहचल्ला लोह उजल्ला
नहि बिचि पल्ला घर भल्ला ।।
घूमत घामल्ला छक छवल्ला,
तनि गृह तल्ला एकल्ला।
छुटि तुरत बल्ला ढरि गज
ढल्ला, कायर डुल्ला अकतुल्ला।

संवाद वीर काव्यों की एक बड़ी विशेषता है। दोनों भाषी कवियों ने अच्छा संवाद कौशल दिखाया है। इन संवादों के कारण उनकी, विशेषकर कन्नड के कवियों की, कृतियों में अद्भुत नाटकीयता है। रन्न के 'गदायुद्ध' को आसानी से एक नाटक बनाया जा सकता है और प्रो. बी. एम. श्रीकंठमलजी ने बनाया भी। कन्नड के परवर्ती वीरकवि तथा हिन्दी के वीरकवि मुसलमानों को दैत्यों के रूप में चित्रित करते हैं।

इस समय की दोनों भाषी कृतियों में कल्पना और तथ्य Facts और Fiction का अद्भुत संयोग दर्शित है। हिन्दी के वीरकाव्यों में जहाँ क्षेपकों की भरमार है वहाँ कन्नड के वीरकाव्य उनसे मुक्त हैं। दोनों भाषाओं के आदिकाल में जहाँ वीर रस की धारा बह रही थी वहीं शांत रस का दीप भी निवात निष्कंप हो जल रहा था। इसीको दृष्टि में रखकर राहुलजी ने वीरगाथा-काल को 'सिद्ध सामंत युग' कहा है। किंतु

18. छत्रसाल दशक छं 30. 16 पं. भा. 11-146. 17 वीर काव्य पृ. 259.

जहाँ हिन्दी मे सिद्ध और वीर अलग-अलग है वहाँ कन्नड मे एक ही कवि मे 'सामन और सत' प्रवृति का सयोग है। पप, रन्न आदि कवियों ने एक-एक लौकिक या वीर रस प्रधान कृति तथा एक एक "आगमिक" या शात रस प्रधान कृति निर्माण करने की परपरा का निर्माण किया जो बहुत समय तक प्रचलित रही। 'पपभारत' जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही महत्वपूर्ण है उसका 'आदि पुराण'। कन्नड साहित्य के आदिकाल मे जैनियो की प्रधानता है। अत उसे 'जैनयुग' भी कहा गया है। अद्यतन खोजो से पता चला है कि हिन्दी के आदिकाल में भी जैन कवियो की सख्या अनल्प है। छदो वैविद्ध्य इस युगीन वीर-काव्यो की एक विशेषता है। इस युग मे कन्नड मे 'चपूकाव्यों' का ही राज्य रहा है। अतः उसे 'चपूयुग' भी कहा गया है। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदीजो का कहना है कि पृथ्वीराज रासो में गद्य भी था। विद्यापति के 'कीर्तिलता' को हम चपूकाव्य कह सकते हैं। इस प्रकार हम शैली मे भी साम्य देख सकते हैं। पप ने एक जगह अपने 'भारत' को 'कर्ण रसायन' कहा है। यहाँ शिलष्टार्थ में 'रसायन' काव्य के अर्थ मे प्रयुक्त है। यदि शुक्लजी का मत मान्य हो तो 'रासो' शब्द भी 'रसायन' शब्द से निकला है।

यह काव्यगत साम्य मूलस्रोत की एकता के कारण या पारस्परिक सपर्क के कारण रहा होगा। कहा जाता है कि जब हर्ष पुलिकेशि के हाथों पराजित हुआ तो उन दोनो के बीच सन्धि हुई, सास्कृतिक विनिमय हुआ। हर्ष ने अनेक वस्तुओं के साथ पुलिकेशि को एक नर्तकी भी भेंट के रूप में दी। पुलिकेशि ने भी एक नर्तकी दी जिसका वश चला। वही 'कर्णाती' या कर्नाटी नाम से विख्यात हुई। 'पृथ्वीराज रासो' का कर्नाटी प्रसग इसीसे सबन्धित है। यही नहीं, राजस्थान के चौदहवी सदी के एक शिलालेख मे वीर राजा हम्मीर की कीर्ति का वर्णन करते हुए यों कहा गया है—"उसकी कीर्ति चद्रमा और शिवजी से भी धवल है। काति में वह कर्नाटक की रमणियो की दतद्युति के बराबर है।"[19]

इससे कर्णाटक और हिन्दी प्रदेश के सास्कृतिक सबन्ध पर प्रकाश पडता है। साहित्यगत साम्य से यही साबित होता है कि भाषाओं की भिन्नता के बावजूद देश का समष्टिगत अचेतन मन एक है, हृदय विचारो और भावो की यह एकता किसी भी राष्ट्र की सजीविनी है।

---

19 Epigraphica India PP 413

मैं मलयालम, तमिल, तेलुगु तथा कन्नड भाषा भाषी लोगो से ही नहीं मिलकर आ रहा बल्कि मैंने मराठी गुजराती तथा बगला भाषी लोगो से बातें की हैं। हमे नही लगता कि हिन्दी समझने मे उन्हें दिक्कत होती है।
—डा० वीकशोर पाल्लोव

हेच. परमेश्वरन, एम ए.,
हिन्दी विभाग, यूनिवर्सिटी कॉलिज,
तिरुवनंतपुरम (केरल)

मध्यकालीन मलयालम साहित्य की मुख्य विधाएँ

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ। हिन्दीसेवा-परायण आपका सारा कुटुंब विभिन्न हैसियत से आज भी सभा से संपर्कित है। केरल विश्वविद्यालय में हिन्दी की स्नातकोत्तर शिक्षा-प्राप्ति के बाद उसी विश्वविद्यालय के अंतर्गत आप हिन्दी प्राध्यापक हुए। लिंग्विस्टिक्स में आपकी विशेष अभिरुचि है और तत्संबन्धी शोध-प्रबंध भी तय्यार कर रहे हैं।

अति प्राचीन काल से केरल प्रदेश के चेर राजा तमिल साहित्य में आस्था रखते आये हैं और उनमें से अनेकों ने तमिष् में काव्य रचना भी की है। साधारण जनता के बीच में, बोलचाल में मलयालम का व्यवहार हो रहा था, पर सरकार के आज्ञा-पत्र व अन्य आदेश तमिष् में ही निकला करते थे। सो मलयालम साहित्य के विकास का अवसर बहुत कम मिलता रहा। फिर भी मलयालम भाषा अपने सीमित क्षेत्र में विकसित होती रही और भाषा प्रांजल होती रही। दसवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते उसने इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि उस युग की कहावतें और पहेलियाँ अब भी काफ़ी प्रभावपूर्ण लगती हैं।

मलयालम साहित्य का प्राचीन काल दसवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल की रचनाएँ भक्तिपूर्ण स्तवों, वीरों की गाथाओं, ग्राम्य गीतों, कहावतों और पहेलियों के रूप में मिलती हैं। यद्यपि प्राचीन मलयालम के मौखिक साहित्य में काफ़ी बाहरी प्रभाव दृष्टिगत होते हैं, तथापि भक्ति काव्यों और कहावतों-पहेलियों में ये बाहरी प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही होते हैं। अत: ऐसे साहित्य में हम मलयालम साहित्य के प्राचीन रूप का नमूना पा सकते हैं। इस प्रकार के साहित्य में तमिष् या संस्कृत के शब्द बिलकुल नहीं मिलते। इन पुरानी कहावतों और पहेलियों में हम आधुनिक मलयालम का रूप पाएँ तो आश्चर्य नहीं है। अमीर खुसरो की पहेलियों और मुकरियों में खड़ीबोली के आधुनिकतम रूप को पानेवाले हम हिन्दी के विद्यार्थी प्राचीन मलयालम की पहेलियों में

आधुनिक भाषा को गद्य को बिलकुल सहज और स्वाभाविक ही मानेंगे।

प्राचीन काल की रचनाओ मे 'पाट्टु' साहित्य (गीत साहित्य) विशेष महत्व रखता है। इन गीतो मे संस्कृत शब्द कम-से-कम प्रयुक्त हुए हैं और इन शब्दों को द्राविडी बाना पहनाया गया है। और एक विशेषता यह है कि इनमे द्राविडी छन्दो का ही प्रयोग किया गया है। पाट्टु साहित्य मे 'रामचरितम्' पाट्टु बहुत मुख्य है। बारहवी सदी में वेणाड् के एक राजा श्री वीररामवर्मा द्वारा रचित ग्रन्थ है रामचरितम्। श्री इलकुलम कुञ्जन पिल्लै के अनुसार इसके रचयिता एक चीरामन् थे। कहा जाता है, राज्य की रक्षा मे रत वीर सैनिको के मनोरजन केलिए रचित होने के कारण रामायण के युद्ध-काड से इसकी कथा प्रारभ होती है; युद्ध-वर्णन के उपरान्त पूर्वकथा के रूप मे शेष मार्मिक कथा-प्रसगो का वर्णन हुआ है। रामचरितम् के अलावा कृषिप्पाट्टु, वळ्ळप्पाट्टु, सर्पपाट्टु आदि अनेक प्रकार के गीत प्रचलित थे। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के परिचायक अनेक लोकगीत भी प्राप्त हुए हैं।

तेरहवी सदी से सोलहवी सदो तक के काल को मलयालम साहित्य के इतिहास का मध्यकाल माना जा सकता है। मध्यकालीन मलयालम साहित्य का अध्ययन करनेवाला विद्यार्थी इस काल को 'मणिप्रवालम् काल' स्वीकार करने मे कभी नहीं हिचकेगा। यद्यपि इस काल मे मणिप्रवाल शैली से भिन्न साहित्यिक रचनाएँ भी हुई थीं, फिर भी अधिकतर रचनाएँ इसी शैली की हैं। इस मध्यकालीन साहित्य की विविध विधाओ का परिचय देने से पूर्व मणिप्रवालम् साहित्य के विषय के बारे में एक भूमिका बनाना आवश्यक मालूम पड़ता है।

केरल मे आकर बसे हुए नंपूतिरी ब्राह्मण यहाँ के रीति-रिवाज और संस्कृति से घुलमिल गये। यहाँ की बोली को अपना लिया, यद्यपि उनकी भाषा में संस्कृत शब्दो की संख्या जरा अधिक रही। वैसे, केरलीय जनता ने संस्कृत भाषा को ऐसा अपना लिया कि चौथी शताब्दी से लेकर केरल संस्कृत साहित्य-सर्जन के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध रहा। केरल ने संस्कृत साहित्य की अमूल्य सेवाएँ की हैं। गणिताचार्य वररुचि, पूर्वमीमासाकार प्रभाकर, अद्वैतवादी श्रीमद् शकराचार्य, 'मुकुन्दमाला' के रचयिता कुलशेखर, 'आश्चर्य चूडामणी' के नाटककार शक्तिभद्र, शुक-सदेशकार लक्ष्मीदास आदि अनेक महात्माओं और कवियों ने केरल के नाम को उज्ज्वल कर दिया है।

नपूतिरियों के संपर्क से जन साधारण की बोली मे संस्कृत के सरल शब्द बहुतायत से काम मे लाये जाने लगे और फलस्वरूप मलयालम के अन्दर से तमिष शब्दो की सख्या कम होती गयी। बोलचाल की इस शिष्ट भाषा में साहित्य रचना भी होने लगी। संस्कृत शब्दो मे मलयालम के प्रत्यय और मलयालम शब्दो में संस्कृत के प्रत्यय मिलाकर दोनों भाषाओ का समन्वय हुआ और एक सामान्य शैली स्वीकृत हुई। यही शैली आगे चलकर मणिप्रवालम् मे परिणत हुई। मलयालम की मणि (पद्मराग) और संस्कृत के प्रवाल (मूंगा) को लाल डोरी मे पिरो देने पर दोनों का अन्तर मलूम नहीं पड़ता। यद्यपि तमिष्, तेलुगु और कन्नड मे भी यह मणिप्रवालम् शैली प्रचलित हुई है, तो भी उन सब मे

मलयालम के मणिप्रवालम की जैसी निखार नहीं पायी जाती।

आठवीं-नवीं शताब्दी से केरल के मन्दिरों में पूजा से लेकर मन्दिर की व्यवस्था तक के सभी कार्यों में नंपूतिरियों का बड़ा हाथ रहा। समाज में भी नंपूतिरियों का मान रहा। कालान्तर में ये नंपूतिरी लोग जमीन्दारों के जैसे विलासी हो गये। संपत्ति और अधिकार के मद का यही परिणाम होता है। उनके सुखलोलुप जीवन का चित्रण तत्कालीन साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। उन दिनों मन्दिरों में देवदासियों की प्रथा प्रचलित थी। यद्यपि इस देवदासी प्रथा के पीछे बहुत ऊँची कल्पनाएँ और आदर्श माने जाते थे, तो भी इस नाम पर देश में गणिकाओं की वृत्ति को एक प्रकार की मान्यता प्राप्त हो गयी। फलस्वरूप समाज के सभी स्तरों के लोग इन गणिकाओं के संपर्क को आदर की दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है कि उस युग की करीब-करीब समस्त रचनाओं पर शृंगार रस का स्वच्छन्द प्रभाव मिलता है। प्रेमी, प्रेमिका, शीतल मन्द समीर, शरत्कालीन चांदनी रात, पुष्प-भार से लदे वन-उपवन, मनोहर मणि-सौध, आकर्षक वस्त्राभूषण, संदेशवाहन में समर्थ दूत-दूतिकाएँ—बस, उस युग के कवियों का यही संसार रहा।

मध्ययुगीन मलयालम साहित्य की सभी मुख्य विधाओं का नमूना एकसाथ पाना हो तो पन्द्रहवीं सदी में कभी रचित 'लीलातिलकम्' को देखना होगा। करीब पचास-साठ साल पहले ही 'लीलातिलकम्' नामक इस सर्वश्रेष्ठ अलंकार-ग्रन्थ का पता लगा था। काव्य-शास्त्र, समालोचना और व्याकरण-शास्त्र का एक मिश्रित रूप है लीलातिलकम्। मलयालम के मणिप्रवालम् साहित्य के महत्व का लीलातिलकम् में विस्तृत रूप से प्रतिपादन हुआ है। तत्कालीन साहित्य की समस्त विधाओं के लक्षण और उदाहरण इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। इस काल के कवियों ने कभी राजाओं की प्रेरणा से और कभी आत्म-सन्तोष के लिए देश की सुन्दर-से-सुन्दर देवदासियों, गणिकाओं के सौन्दर्य की प्रशंसा में गीतों की रचना की है; इन गीतों में अत्युक्तियों और चाटूक्तियों की भरमार है। इन शृंगार-परक नमूनों के अलावा भक्ति-परक, वीर-रसात्मक, विनोद-व्यंग्यात्मक रचनाओं के नमूने भी लीलातिलकम् में प्राप्त होते हैं। मध्यकालीन साहित्य का दिशादर्शन करने में लीलातिलकम् का महत्वपूर्ण स्थान मानना चाहिए।

इतनी-सी भूमिका के बाद हम मध्यकालीन साहित्य की विविध विधाओं का संक्षिप्त परिचय पाएँगे। सुविधा के वास्ते हमने विषय व शैली को दृष्टि में रखकर कुछ शीर्षकों और उपशीर्षकों में इन सारे साहित्य-रूपों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है।

1. मणिप्रवालम् शैली में रचित काव्य

(क) वेश्याओं और देवदासियों के सौन्दर्य-वर्णन से संबद्ध।

(i) वैशिक तंत्रम्—मलयालम का सबसे पुराना काव्य है 'वैशिक तंत्रम्'। समाज में वेश्यावृत्ति का खुला प्रचार था और सनाढ्य ब्राह्मण नंपूतिरी भी इससे संबद्ध थे। एक वृद्ध गणिका द्वारा अपनी युवती पुत्री अनंग-सेना को वेश्यावृत्ति के विषय में उपदेश के रूप में इस काव्य की रचना हुई है। इस विद्या

का महत्व समझाते हुए बूढी माँ का कहना है कि मैंने यह कला अपनी माँ से सीखी थी, मेरी माँ ने अपनी माँ से—इस प्रकार परपरा से चली आनेवाली है यह कला। वेश्याधर्म की भूमिका मे माँ का कहना है:—

"मून्नल्लो पुरुषार्थमिन्न-
वनिमेलम्मून्निलु धर्ममे
मान्य मगलगात्रि, धर्ममळियु
कामार्थयोगे नृणाम्।
कामार्थड्डळ् नमुक्कु धर्ममविडे
वकामेन पोमर्थमेन्नेल्लार्कुं नियम
नमुक्कु मक्ळ, अक्काममर्थं तरुम्॥"

"इस ससार मे पुरुषार्थ तीन माने जाते हैं— धर्म, अर्थ और काम। इन तीनो में, हे मगलगात्रि, धर्म ही आदरणीय है। काम और अर्थ का योग हो जाय तो मनुष्य का धर्म लुप्त हो जाता है, पर हम गणिकाओ के लिए तो काम और अर्थ ही धर्म हैं। काम मनुष्यो के अर्थ का नाश कर देता है, पर हमारा नियम तो यह है कि काम ही हमें अर्थ दिलाता है।" इसी सिलसिले माँ बेटी को यहाँ तक उपदेश देती है कि कामियो से जितना ऐंठ सके, ऐंठ लेना चाहिए, आगे बुढापे का महासागर पडा है। तत्कालीन समाज की सदाचारहीनता का इससे अच्छा क्या प्रमाण चाहिए?

(ii) अच्चो चरितड्डळ्—ग्यारहवी सदी मे मलयालम मे गद्य और पद्य से युक्त 'चम्पू' ग्रन्थो का निर्माण शुरू हुआ। तेरहवी सदी तक पहुँचते-पहुँचते साहित्य मे चम्पुओं को समादरणीय स्थान प्राप्त हो गया। चम्पुओ में प्रयुक्त गद्य मे यत्र-तत्र छन्द.शास्त्र की गन्ध मिल जाती है, अत. इस गद्य को वृत्तगन्धी गद्य कहते हैं। केरल में सस्कृत और मलयालम में अनेक चम्पू ग्रन्थ बने। प्रारभ में ये चम्पू ग्रन्थ शृंगार-परक ही रहे, आगे चलकर पुराणों की कथाओ को आधार बनाकर चम्पुओं की रचना हुई। 'अच्चो चरितड्डळ्' नाम से प्रसिद्ध चम्पू ग्रन्थ शृगार-परक ही थे जिनमे देवदासियों के वर्णन को मुख्य विषय बनाया गया था।

उण्णियच्चि चरितम्– तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध मे वयनाड् के रहनेवाले एक तेवन् श्रीकुमारन ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। मलयालम का सर्वप्रथम चम्पू ग्रन्थ यही है। तिरुनेल्ली नामक स्थान के पास तिरुमरुत्तूर के मन्दिर की नर्तकी उण्णियच्ची इतनी सुन्दर थी कि उससे मिलने के लिए एक गन्धर्वकुमार तिरुनेल्ली पहुँचता है। एक ब्रह्मचारी विद्यार्थी के मुँह से उण्णियच्ची के अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन सुनकर बड़ी आतुरता से रात बिताता है और अगले दिन उसी विद्यार्थी के साथ वह उण्णियच्ची के महल में पहुँचता है। महल मे वैद्य, ज्योतिषी, व्यापारी, उन्नत कुल के नायर, विद्यार्थीगण आदि की एक बहुत बडी भीड उण्णियच्ची के 'दर्शनो' के लिए पहले से ही प्रतीक्षा में बैठी है। इस प्रसग में कवि ने नीम-हकीमो, विद्यार्थियो आदि को आड़े हाथो लिया है।

उण्णिच्चिरुतेवि चरितम्—उण्णियच्चि चरितम् से भी अधिक काव्यात्मक सौन्दर्य लिये और एक चरितम् की रचना तेरहवी सदी के उत्तार्द्ध मे हुई, वह है उण्णिच्चिरुतेवि चरितम्। वल्लुवनाडु राज्य के शुकपुरम् ग्राम की एक अभिनत्री उण्णियप्पिळ्ळ की पुत्री थी उण्णिच्चिरुतेवी। उसके सौन्दर्य के बारे मे सुनकर देवराज इन्द्र उसके

महल में पहुँचते हैं। वहाँ पहले से प्रतीक्षा में बैठे सनाढ्य नंपूतिरियों, व्यापारियों, नायरों और छात्रों को देख लौट पड़ते हैं। इस ग्रन्थ के बीच-बीच में जो गद्य भाग है, अपने प्रवाह को लेकर बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

उण्णियाटि चरितम्—चौदहवीं सदी में भी नर्तकियों के वर्णन का यह क्रम जारी रहा और उण्णियाटि चरितम् इस शृंखला की और एक महत्वपूर्ण कड़ी है। ओडनाडु राज्य के अधीश केरलवर्मा और कंडियूर के मन्दिर की नर्तकी कुट्टत्ती की सन्तान थी उण्णियाटी। उण्णियाटी की गानमाधुरी से मुग्ध होकर चन्द्र उस गायिका की तलाश में दो गन्धर्वों को भेजते हैं। कंडियूर की राजधानी का वर्णन, मन्दिर का वर्णन आदि बहुत सुन्दर बने हैं। दोनों गन्धर्व मन्दिर में पहुँचते हैं और दामोदर कवि के साथ उण्णियाटी के घर जाते हैं। वहाँ भी पहले से ही प्रतीक्षा में बैठे सनाढ्यों, चेट्टियों और 'मणिप्रवाल कवियों' को देख लौट जाते हैं।

चेरियच्चि चरितम्—चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तिरुवचिक्कुळम् की एक नर्तकी की पुत्री चेरियच्ची को नायिका बनाकर यह काव्य रचा गया है। इस रचना की प्रकृति, भाषा आदि से पूर्ण रूप से मिलती जुलती 'मल्ली निलावु' नामक और एक लघुकाव्य भी प्राप्त हुआ है। इस आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि इन दोनों कृतियों के कवि एक ही रहे हों। इसकी भी कथावस्तु अन्य अच्ची चरितों से मिलती, जुलती ही है।

चन्द्रोत्सवम्—ऊपर बताये चार अच्ची चरितों और उसी प्रकार की अन्य रचनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसकी रचना हुई। देवदासी वर्णनों से कवियों और कविता को एक हद तक बचाने में यह रचना समर्थ हुई है। इसे उस युग का एक हास्य साहित्य भी माना जा सकता है।

तृशूर के निकट चिट्टिलप्पळ्ळी की एक भक्त और सुन्दर गणिका की कन्या थी 'मेदिनी वेण्णिलावु'। उस सुन्दरी ने अनेक राजाओं को अपने वश में रखा था और उस युग के कविगण तो उसका यशोगान करते उसका चक्कर लगाते फिर रहे थे। मेदिनी वेण्णिलावु ने चंद्रोत्सव मनाने का निश्चय किया। उसमें भाग लेने के लिए उसकी दो सखी गणिकाएँ, मारलेखा और मानवी मेनका अपने प्रेमी राजा-रईस और कवियों के साथ जुलूस बनाकर आ पहुँचीं। देश की सभी प्रसिद्ध वेश्याओं ने उत्सव में भाग लिया। इस चंद्रोत्सव के सिलसिले में कवि ने तत्कालीन कामलोलुप कविगण, कामी राजा, सुखलोलुप नंपूतिरि और सदाचारहीन जनता पर तीखा व्यंग कसा है। राघव वारियर, शंकर वारियर, पुनम् नंपूतिरी जैसे प्रसिद्ध कविगण भी इस ग्रंथ के कवि के तीखे वाग्बाणों से बच नहीं सके। मीठी तीखी चुटकियों से युक्त यह रचना तत्कालीन समाज को सुधारने में थोड़ा बहुत सफल हुई है।

(ख) सन्देश काव्यम्—मणिप्रवाळम् काव्य शैली की एक महत्वपूर्ण शाखा संदेश काव्यों की है। संस्कृत के संदेश काव्यों से अनुप्राणित होकर अनेक संदेश काव्य केरल में दसवीं या ग्यारहवीं सदी में ही रचे गये थे। 'मेघदूत' के बाद सारे संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान 'शुक संदेश'

का है, जिसे केरल के लक्ष्मीदास ने चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचा था। केरलीय संस्कृत कवियों ने पीछे चातक संदेश, भ्रमर संदेश, कोकिल संदेश आदि भी बनाये थे। मलयालम भाषा में इस युग के दो सन्देश-काव्य महत्वपूर्ण हैं—उण्णुनीलि संदेशम् और कोक संदेशम्।

उण्णुनीलि सन्देशम्—उण्णुनीलि सन्देशम् के रचना काल अथवा रचनाकार के संबन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं बताया जा सकता। अन्त साक्ष्यों से अनुमान लगाया जाता है कि नायिका उण्णुनीलि राजपरिवार की कन्या थी और नायक स्वयं कवि था। वर्णन प्रकार से यह भी सूचित होता है कि नायक वडक्कुकूर राजवंश का कोई राजकुमार रहा हो। कडुत्तुरुत्ती नामक स्थान पर जब नायक-नायिका आराम कर रहे थे, एक कामातुर यक्षिणी नायक को आकाश-मार्ग से उड़ा ले गयी। परेशान नायक ने नृसिंह मंत्र का जप किया तो यक्षिणी उसे छोड़ गयी। मन्दिर की घंटा-ध्वनि और भजन कीर्तन सुन नायक वहाँ पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि वह तिरुवनन्तपुरम के श्री पद्मनाभस्वामी के मन्दिर में आ गया है। मन्दिर में अप्रत्याशित रूप से अपने वयस्य कोल्लम के युवराज आदित्य वर्मा से मिलकर उसके द्वारा वह अपनी प्रेयसी के पास सन्देश भेजता है। तिरुवनन्तपुरम से कडुत्तुरुत्ती तक के प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में कवि ने कमाल कर दिया है। नारियल, केले, कटहल और आम के बगीचे, सायेदार वृक्षों की पंक्तियाँ, सुगन्धित फूलों से अलंकृत गृहोद्यान, इधर उधर अपने सौन्दर्य की झाँकी दिखाकर मन को मुग्ध कर देनेवाली केरलीय रमणियाँ, ऊँचे घरानों में शाम सबेरे मंगलाचार के गीत गानेवाली प्रौढ़ाएँ तथा उनके प्रिय जन, मुर्गों की बाँग, कोयल की कूक, पश्चिमी सागर की लहरें, मछुआरों की नौकाएँ नदी नाले और सर-सरोवर—कहाँ तक गिना जाय। केरल का अपना जो भी सौन्दर्य है, 'उण्णुनीलि सन्देशम्' के कवि ने उन सबका छाया चित्र-सा उतार दिया है। छ सौ सालों के पहले का केरलीय जीवन पाठकों के सामने सजीव हो उठता है।

कोक सन्देशम्—कोक सन्देशम् का काल 1400 ई० के करीब माना जाता है। इसकी नायिका भी शायद कोई देवदासी ही थी। नायिका का घर कोल्लम में था। एक प्रभात में नायक-नायिका जब एक साथ थे, अचानक नायक बेहोश हो गया। थोड़ी देर बाद जब होश आया, वह रोता हुआ उठ बैठा। बेहोशी की हालत में उसने अनुभव किया था कि कोई आकाशचारी उसे उड़ा ले गया था और दक्षिण मलबार की किसी वापिका के किनारे डाल दिया था। उसने एक चक्रवाक के द्वारा अपनी प्रियतमा के पास सन्देश भेजा। थोड़ी देर की बेहोशी में ही सारी घटनाएँ घट जाती हैं। इस ग्रन्थ की एक अपूर्ण प्रति ही प्राप्त हुई है। अत दक्षिण मलबार के चेल्लोट्टुकरा से इडप्पल्ली तक के मार्गों का ही वर्णन मिलता है। यह रचना भी काफी प्रसिद्ध है।

(ग) भक्ति परक ग्रन्थ—सातवीं और नवीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन का विकास हो गया था। कहा भी गया है "भक्ति द्राविड ऊपजी"। यद्यपि बीच में कुछ दिनों तक समाज में विलासिता का प्रभाव रहा, तथापि चौदहवीं शताब्दी में बाहरी आक्रमणों से त्रस्त जनता ने भक्ति का सहारा लिया। ईसाई

धर्म और इसलाम के प्रचार के सिलसिले में यत्र-तत्र धर्म परिवर्तन होने लगे, तो यह हिन्दू धर्म पर का सबसे बड़ा धक्का साबित हुआ। इन सारी परिस्थितियों का जो प्रभाव पड़ा, उसीका प्रतिबिंब उत्तरकालीन भक्ति परक चम्पुओं में देखने को मिलता है। इन भक्ति परक चम्पुओं के उदय के काल को मणिप्रवाळ शैली का सुवर्ण काल माना जा सकता है। रामायण और महाभारत की संपूर्ण कथाएँ चम्पुओं के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। इनके अलावा इन दोनों श्रेष्ठ ग्रन्थों के कुछ मार्मिक प्रसंगों को लेकर छोटे-छोटे चम्पू ग्रन्थ भी निकले हैं, जैसे नैषध चम्पू, रावण विजयम् चम्पू, रुग्मिणी स्वयंवरम्, कामदहनम्, कोडिय विरहम् इत्यादि।

रामायणम् चम्पू—पन्द्रहवीं शताब्दी में कापिक्कोड सामूतिरी के दरबार के साढ़े अठारह कवियों में पुनम् नंपूतिरी आधे कवि के स्थान के अधिकारी थे! शेष अठारहों संस्कृत के कवि रहे, पुनम् मात्र भाषा कवि रहे। पुनम् की सर्वश्रेष्ठ रचना है रामायणम् चम्पू, जिसमें राम जन्म से लेकर स्वर्गारोहण तक की कथा को बीस प्रबन्धों में प्रस्तुत किया गया है। शब्द चमत्कार, अर्थ पुष्टि और ऊँची कल्पना के कारण यह ग्रन्थ बहुत ही प्रभावकारी बन गया है।

नैषधम् चम्पू—इसके रचयिता श्री मळमंगलम् काव्य चातुरी में शायद पुनम् से भी श्रेष्ठ हैं, फिर भी न जाने क्यों, उनकी उतनी प्रसिद्धि नहीं हैं। संस्कृत की कथा को स्वीकार करने पर भी मळमंगलम् ने अपनी कविता में स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचय दिया है। कथा के मार्मिक प्रसंगों को उन्होंने अपनी स्वतंत्र कल्पना से और भी अधिक मार्मिक बना दिया है।

'राजरत्नावलीयम्' और 'कोडिय विरहम्' में मळमंगलम् ने अपनी स्वतंत्र कल्पित कथा का प्रयोग किया है। पौराणिक कथाओं से इनका संबन्ध नहीं है। 'रावण विजयम्', 'कामदहनम्' आदि पौराणिक कथाओं पर आधारित महत्वपूर्ण चम्पुओं के रचनाकारों का ठीक-ठीक पता नहीं लगा है।

कण्णश्श कृतियाँ—चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध अथवा पन्द्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तिरुवल्ला के निकट के निरणम् नामक स्थान पर तीन कवि हुए—माधव पणिक्कर, शंकर पणिक्कर और राम पणिक्कर। राम पणिक्कर अन्य दोनों के भानजे थे। इन तीनों के गुरु श्री करुणेशन के नाम पर ये 'कण्णश्शन्मार' कहलाये। माधव पणिक्कर की 'भगवद् गीता', शंकर पणिक्कर की 'भारत माला' और राम पणिक्कर की 'रामायण' 'महाभारत', 'भागवत', 'शिवरात्री महात्म्य' आदि कण्णश्श कृतियों में प्रसिद्ध हैं। निरणम् कवियों में श्री राम पणिक्कर ही सबसे मुख्य हैं। उनकी रामायण 'कण्णश्श रामायण' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तमिष् के छन्दों का प्रयोग है और शैली भी प्राचीन है। शैली की नवीनता और मलयालम छन्दों का प्रयोग होता, तो यह एषुत्तच्चन् की रामायण की तुलना की एक कृति हो जाती। भाषा के प्रवाह, गंभीर भावधारा और सुन्दर शब्द-चयन द्वारा कण्णश्श रामायण ने अपना एक ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है। 'भागवत' और 'महाभारत' में राम पणिक्कर ने संस्कृत व तत्वज्ञान का मणिकांचन संयोग किया है।

(च) विविध रचनाएँ—'चरित', 'सन्देश' और 'चम्पू' ग्रन्थों के अलावा 'आट्ट प्रकारङ्ङळ्'

'अनन्तपुर वर्णन' आदि अनेक रचनाएँ इसी मणिप्रवाल शैली मे मिलती हैं। मन्दिरों मे चाक्यारों के कथाप्रवचन 'कूत्तु' नाम से चलते थे, आगे चलकर उसमे चाक्यार के साथ नङ्डियार भी भाग लेती है और यह 'कूटियाट्टम्' कहलाने लगा। कूटियाट्टम् तथा इससे मिलते-जुलते अन्य अभिनयो के लिए विधि-विधानों का निर्धारण करते हुए 'आट्ट प्रकारम्', 'क्रमदीपिका' आदि नामों के अनेक ग्रन्थ तैयार हुए। ऐसे ग्रन्थो मे मणिप्रवाल शैली का प्रभाव कम है और विदूषकों की बोली मे ठेठ मलयालम का ही प्रयोग होता था। ऐसे मलयालम पद्यों के रचयिताओं मे कुलशेखर वर्मा के दरबारी कवि 'तोलन्' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

मलयालम् शब्दों को प्रमुखता देकर रचित मणिप्रवाल काव्यो मे एक है 'अनन्तपुरवर्णनम्', *जिसके कवि का ठोक पता नही है। तिरुवनन्त-* पुरम् की किसी देवपुरी के रूप मे कल्पना न करके शहर के यथार्थ रूप का चित्रण किया गया है, इसीसे यह काव्य अपनी स्वभाविकता के लिए प्रसिद्ध है।

II ठेठ मलयालम् शैली की रचनाएँ

(क) पाट्टु अथवा गीतकाव्य—*प्राचीन* मलयालम के 'पाट्टु' साहित्य का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। एक तरफ राजदरबारों में और पढे-लिखे लोगों के बीच मणिप्रवालम् काव्य का बडा मान हो रहा था, तो दूसरी तरफ खेतो-खलिहानो के किसान-मजदूर अपने ग्राम्य-गीतो को लेकर बढ रहे थे। सच कहा जाय तो इन्ही अपने सौन्दर्य जनसाधारण के जीवन का सही चित्र कर देनेवाली है। इन गीतो में सँपेरो का गीत, शाम सबेरे मगल, आदि के गीत और कुरवर् गीत धार्मिक विश्वासों की पृष्ठभूमि मे रचे हुए हैं तथा वडक्कन् पाट्टु और तेक्कन् पाट्टु वीर रसात्मक हैं।

(i) धार्मिक गीत परपरा—प्राचीन काल के सामाजिक जीवन में सपेरो के गीतों का धार्मिक महत्व माना जाता था। सपेरा और सपेरिन का यह गीत 'पुळ्ळुवर् पाट्टु' कहलाता है। 'वेलर्' जाति के लोग मत्र व जादू-टोने से बीमारियों का निदान करते हैं, इस अवसर पर गाये जानेवाले उनके गीत 'वेलर् पाट्टु' कहलाते हैं। पाणन् और पाणत्ती के 'जागरण गीत' तथा कुरवर् लोगों के महाभारत कथा पर आधारित 'कुरवर पाट्टु' भी इस परंपरा में विशेष उल्लेखनीय हैं। नपूतिरियो और उच्चवर्ग के लोगो ने भी मनोरजन व भक्ति का मिश्रण करके 'संघक्कळी के गीत', पूरप्पाट्टु, *कळ्ळुत्तु पाट्टु, तिरुवातिरक्कळी, ओणप्पाट्टु,* कोलटिप्पाट्टु आदि की रचना की है।

(ii) वीर गीत-परपरा—हर छोटी-बड़ी समस्या का हल तलवार की नोक से ही निकालनेवाले वीरों की एक परंपरा उत्तर केरल मे मिलती है। ऐसे वीरो के गीत प्रस्तुत करनेवाले 'वडक्कन पाट्टु' में आरोमल् चेवकर्, तच्चोळि ओतेनन, तच्चोळि चन्दु, पालाट्टु कोमन आदि वीरो तथा उण्णियार्चा, मातु आदि वीरांगनाओं की कथाएँ वर्णित हैं। ये केवल वीरगीत ही नहीं हैं, इनमें तत्कालीन समाज की रीति-नीति और उत्सव-त्योहारो का भी वर्णन हुआ है। वीररस के साथ शृंगार और करुण रस का भी परिपाक इन गीतों मे हुआ है। कृत्रिम अलकारों के बोझ से मुक्त इन गीतो मे केरलीय जन-जीवन का सच्चा प्रतिबिब मिलता है।

दक्षिण केरल के वीरगीतों को 'विल्लुप्पाट्टु' कहते हैं। पौराणिक और ऐतिहासिक कहानियों को आधार बनाकर 'विल्लुप्पाट्टु' की रचना हुई है। धनुषाकार बाजे की डोरी पीटते हुए उस ताल पर गायी जानेवाली 'इरविक्कुट्टि पिल्लै की कथा' सचमुच आकर्षक है। दक्षिण के ऐसे वीरगीतों में तमिष् का प्रभाव ज़रा अधिक है।

(ख) भक्ति परक काव्य ग्रन्थ: कृष्णगाथा—सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियों के दबाव से जो भक्ति धारा बह उठी, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पन्द्रहवीं सदी के मध्य में रचित यह ग्रंथ मलयालम साहित्य की उत्कृष्टता का परिचायक है। कृष्णगाथा के कवि श्री चेरुश्शेरी नंपूतिरी, यद्यपि मणिप्रवालम् काल में जीवित रहे, तथापि वे उस शैली के गुलाम नहीं बने। अधिक से अधिक संस्कृत शब्द मिलाकर मलयालम के अस्तित्व को मिटा देना उन्हें पसंद नहीं था। जनसाधारण के लिए मनोरंजक श्री कृष्णचरित को लेकर, जनता के बीच सामान्य रूप से व्यवहृत छन्दों में, सरस शैली में रचित यह ग्रंथ सचमुच अद्भुत है। संस्कृत तथा पुराणेतिहासों के प्रकांड पंडित श्री चेरुश्शेरी ने कम-से-कम संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर मलयालम छंदों में कृष्णगाथा की रचना की है, तो उसके पीछे का उद्देश्य मलयालम भाषा व साहित्य को संस्कृत की गुलामी से मुक्त करना ही रहा होगा। कृष्णलीलाओं का वर्णन करते हुए कवि स्वयं व्रज के गोप-बालकों और बालिकाओं में मिल जाते हैं और भगवान श्रीकृष्ण के साथ लीलाएँ करते हुए स्वानुभूति में लीन हो जाते हैं। कृष्णगाथा की सबसे बड़ी विशेषता उसमें आद्योपान्त प्राप्त होनेवाली कवि की स्वानुभूति है। कभी-कभी चेरुश्शेरी की स्वानुभूति महात्मा सूरदास की स्वानुभूतियों से भी कहीं रसमंडित, उच्च श्रेणी की मालूम पड़ती है।

हमने ऊपर मध्यकालीन मलयालम साहित्य को कुछ शीर्षकों-उपशीर्षकों में बाँधने का प्रयास मात्र किया है। अगर इस निबन्ध में उन-उन शीर्षकों के अन्तर्गत कविताओं की छींटें भी दी जातीं, तो चित्र का सही प्रारूप निकल सकता था। लेखक को खेद है कि विस्तार-भय से ऐसा नहीं किया जा सका।

राष्ट्रीयता के प्रतीक स्वरूप एक भाषा को माने बिना काम नहीं चल सकता है और यह भाषा देश या राष्ट्र की कोई भाषा होनी चाहिए। हिन्दी की प्रतिष्ठा सर्वत्र दीख पड़ती है। हमारा सब अन्तर-प्रांतीय काम-काज राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही हो सकता है।

—सुनीति बाबू

श्रीमती तुलसी जयरामन, एम. ए.,
आकाशवाणी, मद्रास

हिन्दी और तमिळ काव्यों में निरूपित गांधीवादी दृष्टि

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ। वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी की स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्ति के बाद मद्रास क्षेत्र में हिन्दी और तमिळ की तुलनात्मक साहित्य-सेवा कर रही हैं। सम्प्रति आकाशवाणी के मद्रास केन्द्र में हिन्दी-तमिळ अनुवादिका का कार्य सँभाल रही हैं।

"चल पड़े जिधर को डग, मग में
बढ़ चले कोटि पग उसी ओर
गड़ गयी जिधर भी एक दृष्टि
गड़ गये कोटि दृग उसी ओर।"

—सोहनलाल द्विवेदी

क्या केवल पग ही बढ़ चले? नहीं, कोटि-कोटि जनों के मन-मस्तिष्क भी उसी ओर बढ़ चले। यह है गांधीयुग की विशेषता। गांधीवाद एक विराट वटवृक्ष की भांति हमारे जीवन के हर पहलू पर छाया हुआ है। यद्यपि कुछ तीव्र प्रतिक्रियावादियों ने हमारे जीवन-चेतन पर बद्धमूल इस वृक्ष की जड को 'असग शस्त्र' लेकर विच्छिन्न करना चाहा, तथापि वे उससे एकदम अलग नहीं हो सके। आम तौर पर किसी भी भावना का या विचार-धारा का प्रभाव, किसी व्यक्तित्व का महत्व हमपर दो प्रकार से पड सकता है—एक अनुकूल रीति से काम करने की प्रेरणादायिनी शक्ति के रूप में, दूसरा, उसमें निहित कमी-बेशी को महसूस करता मन उसके विपरीत भी सोचने के लिए उन्मुख हो सकता है। गांधीवाद ने हमारे तमिप और हिन्दी कवियों पर अपना प्रभाव कम नहीं जमाया है।

भारत का स्वाधीनता-संग्राम एक महान

युगारंभ था, एक पवित्र दीर्घपर्व था। उस वक्त गांधीजी देश के कर्णधार थे। उनकी वाणी का, व्यवहार का, प्रार्थना-प्रवचनों का, 'हरिजन', 'यंग इंडिया' जैसी पत्रिकाओं का तथा उनके लेखन का हर हृदय पर अगाध प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। क्योंकि वे सबके लिए आत्मीय, आत्मनिर्भर, आत्मबली 'बापू' थे।

हिन्दी में प्रातःस्मरणीय मैथिलीशरणगुप्तजी और तमिल में महाकवि सुब्रह्मण्य भारती से लेकर आज के कुछ कवियों तक की बानगी इस दिशा में हम देखेंगे, 'सैटलाइट' की रफ़्तार में। कुछ कवियों को हमने कहीं अपनी नज़रों से छूटने दिया, तो यह कवि की नहीं, हमारी तेज़ रफ़्तार की कमी मानी जाएगी।

भारत में 'अपनी ज्वाला आप पिये, नवनील-कण्ठ की छाप लिये, ऊपर-नीचे सब झेलते हुए चले बापू!' उनकी दृष्टि को वैसे ही अपनी आत्मा में उतार लिया 'भारत-भारती' के कवि ने। 'नर हो, न निराश करो मन को' कहनेवाले, 'आँचल में है दूध, और आँखों में पानी' कहकर नारी की गरिमा बढ़ानेवाले ये गुप्तजी हैं। "मैं पुरुषार्थ का पक्षपाती हूँ" कहनेवाले लक्ष्मण में गांधीवादी दृष्टि ही तो दमकती है।

> 'निज सौध-सदन में उटज पिता ने छाया,
> मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।'

कहनेवाली 'साकेत' की सीता में गांधीयता ही तो है।

कहो, तुम्हारी जन्मभूमि का है कितना विस्तार? भिन्न-भिन्न यदि देश हमारा, तो किसका संसार!—यह है गुप्तजी की गांधीय दृष्टि, जो उनकी तूलिका के प्रायः सभी चित्रों में चमकती है। उनके अनुज सियारामशरण की कविताएँ भी गांधीवाद से प्रत्यक्ष प्रभाव लिये हुए हैं। वह युग ही ऐसा था, जिससे कतराकर चलना अस्वाभाविक और आत्मविभ्रम था।

तमिल के राष्ट्रकवि भारती जनमन की निरी कायरता को दूर भगाने के पक्ष में साक्रोश थे। गांधी का आत्मविश्वास, सत्कार्य में निर्भीकता आदि गुण समानधर्मी भारती की जीवट वाणी में मुखर है—

'अच्चमिल्लै अच्चमिल्लै अच्चमेन्बदिल्लैये!'

'भय नहीं, भय नहीं, भय नहीं कभी नहीं!' कहनेवाले कवि को जनता की कायरता पर क्षोभ होता है। 'नेंजु पोरुक्कुदिल्लैये' का गीत गानेवाले कवि की छटपटाहट प्रभावकारी है—

> सही न जाती व्यथा हृदय से
> अस्थिर दशा इनकी गुनने से
> सिपाही को देख तड़पते
> सेवक को लख घबड़ा जाते
> मीलों से बन्दूक देखकर
> भीतर घर के सब छुप जाते।

यह है गांधीवादी दृष्टि जो कहती है, 'मौत के सामने भी निर्भीक रहो।'

'मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक' कहकर वहाँ अपने प्राण-प्रसून को पाना चाहते हैं 'एक भारतीय आत्मा'। यहाँ बापू का जीवन-लक्ष्य ही तो बोल रहा है। 'मैं हिमालय

मे जाकर तपस्या नहीं करूँगा ; मुझे दर्देदिल के पास रहने दीजिए। जनता की सेवा मे ही मैं तत्पर रहूँगा। यह थी गाधीवाणी।

'मिट्टी के ही दीपक से रहता है तू ज्योतिष्मान्' कहकर 'गांव' की महिमा ठाकुर गोपालशरण सिंह ने गायी, पूरे गाधीवाद को आत्मसात् कर। 'गाधीय सेवा' शीर्षक कविता मे नामक्कल रामलिंगम पिल्लै बताते हैं कि गाधीमार्ग ही एकमात्र उपाय है मानव कल्याण के लिए। 'गाधी गाधी गाधी कहकर शख बजाएँ!'

> गाधि गाधि गाधियेन्र शगु ऊदुवोम्
> शोन्दिरक्कुम् उलगिनुक्कु सुगमेडुत्तु ओदुवोम्
> मान्दरुक्कुळ् कोपताप वादुसूदु मारवे
> गाधि सोन्न मार्गमिन्रि गति नमक्कुवेरिल्लै.

'चरखा-गीत' मे वे स्वदेशी वस्त्र पहनने की ओर जनता का मन आकृष्ट करते हैं। अहकार को नष्ट कर स्नेहिल मार्ग को अपनाने के लिए कहते हैं।

उस जमाने के विदेशी आतक में भी हम अहिंसा के इतने एकनिष्ठ पुजारी थे कि हिंसा को बरवरता मानते थे—

> 'कोन्रु वीऴ्त्तल् वीरमेन्नुम्
> कोच्चैमान कोळ्गैयै
> इन्रतोट्टु माट्रिविट्टु
> उणमै वीरम् कोळ्ळुवोम्।'

'युगवाणी' के कवि पत मे भी तो यही बात सुनेंगे—

> नहीं जानता युगविवर्त में
> होगा कितना जनक्षय
> पर, मनुष्य को सत्य
> अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय
> नव सस्कृति के दूत!
> देवताओं का करने कार्य
> मानव आत्मा को उबारने
> आये तुम अनिवार्य।

किन्तु वे ही 1988 मे क्या मांग रहे हैं धरणी से!

> रक्तदान का पुण्यपर्व यह
> भू की प्यास बुझाओ,
> तेरी हिंसा रहे अहिंसक
> जगजीवन के रण में....

आज की इस स्थिति में अगर बापू जीवित रहते, तो वे भी शायद 'गीता' के भक्त होने के नाते आक्रमणकारियो से अनासक्त हो लडने की प्रेरणा देते। अस्तु।

'नीरभरी दुख की बदरी' की सजल गायिका ने भी गाधीवादी दृष्टि लिये ही तो यों कहा होगा—

> कुशल नाविक! मत हिम्मत हार!
> सबल हाथो में दृढ पतवार!
> बन्धु! इतने साधन ले साथ
> नाव, पतवार, आत्मविश्वास
> भूल आशा को हो न निराश!
> सिन्धु देगा रत्नो का हार'

इधर तमिल कवि स्व० देशिक विनायकम पिल्लै विजय के लिए करुणाभाव, नेकी और क्षमाशीलता चाहते हैं—

> नेंजिर्करुणै निरैन्दवर्क्कु
> नेयम कोण्ड नेरियोर्क्कुं
> विंजुम् पोरुमै युडैयवर्क्कु
> वेल्लुम् पडैगळ् वेरुण्डो!"

निजनीड़ में निवासकर अपने बालविहगों के रक्षण में ही गांधीवाद जीवन सार्थकता नहीं मानता। इसी भावना को अपनाकर कवि 'नवीन' हमें ललकारकर जगाते हैं"—

पंख खोल! पंख खोल!
द्विज मनसिज पंख खोल!

अन्नकण चयन में ही निज त्वदीय चंचु पगी,
तृण-तृण के प्रेक्षण में संतप्त तव दृष्टि लगी।

ये न तव स्वभाव अरे!
इनका तू नहीं दास!

....हेर गगन! उन्मुख बन! अन्तर की ग्रंथि खोल!—पंख-प्रसारण गांधीवाद की विशेषता है–'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्'।

आधुनिक तमिल कवि सुरदा भी कहते हैं, मैं परिवार, घर-बार सब अपना मानूं, किन्तु मेरी जन्मभूमि! तुमपर कुछ विपत्ति पड़ी, तो मैं अपना सर्वस्व ठुकरा दूँगा—

उनक्केदुम् तींगु नेरिन्
उन् तुयर तुडेक्कवेंडित्
तनिक्कादल् मनैविमक्कळ्
सगलमुम् तुरप्पेन् नान्!

प्रातःस्मरणीय बुजुर्ग कवि योगी शुद्धानन्द भारती का जीवन ही गांधीमय है। भेदभाव की बीमारी से उत्पन्न विषमता दूर हटाने का उनका उपदेश उनकी रचनाओं के वर्ण-वर्ण में व्याप्त है।

नवीन विचारधाराओं के लिए प्रसिद्ध स्व. पुदुमैपित्तन की वेदना है—

हम वेद पढ़ेंगे व्यर्थ की बात करेंगे,
किन्तु एक कौर अन्न के लिए शंकर को बेचेंगे,
अहिंसा की कथा सुनाकर बापू का विक्रय कर
निज जीवन गुजारेंगे,
यह है भारत—अद्वितीय भारत!

यहाँ कवि को इसीलिए वेदना रही कि गांधी पर बोलनेवालों में गांधीवादी दृष्टि नहीं है। कर्मठता कहीं दूर, दिखावा अधिक महत्वपूर्ण रह गया है। मधुमधुर भावनाओं के कवि 'बच्चन' की दृष्टि देखिये। वे ऊपर जमी हुई बरफ़ को नीचे उतर आने के लिए कहते हैं।

स्फटिक निर्मल, और दर्पण स्वच्छ
हे हिमखण्ड शीतल और समुज्ज्वल
जब तलक गल पिघलकर
नीचे को ढुलककर
तुम न मिट्टी से मिलोगे,
तब तलक तुम
तृण हरित बन
व्यक्त धरती का नहीं रोमांच
हरगिज़ कर सकोगे।
और न उसके
हास बन, रंगीन कलियों
और फूलों में खिलोगे।
जड़ सुयश, निर्जीव कीर्तिकलाप,
मुर्दा विशेषण
का तुम्हें अभिमान, तो
आदर्श तुम मेरे नहीं हो।

इलाहाबाद की गरमी में पत्थर तोड़ती श्रमिका पर करुणार्द्र हुए पौरुष के कवि निराला। भिक्षुक में अभिमन्यु को पाने की उनकी दृष्टि वही है, जिससे बापू ने अछूतों में 'हरि-जन' को पाया। दीपशिखा-सी शान्त व्यथा की भूली हुई कथा को अपने अन्तर में छुपाये जलनेवाली दलित भारत की विधवा पर कवि क्या बोले, बापू ही तो आर्द्र हो उठे।

'मेरे नगपति! मेरे विशाल' के प्रसिद्ध गायक उज्ज्वल कवि व्यक्तित्व के धनी दिनकर पर हमारी दृष्टि अटकी है। कह सकते हैं कि

गाधीवाद पर उनके हृदय से निस्सृत अभिव्यक्ति की विविधता, समय की मांग के अनुसार अन्य कवियों में नहीं हुई।

'बोधिसत्व' का आह्वान करनेवाले और 'शबरी के जूठे बेरो से आज राम को नेम नहीं' कहनेवाले कवि को दुख है कि अहिंसावादी वे कैसे आज युद्धगीत गा सकेंगे!—

> हाय! मैं लिखूँ युद्ध के गीत
> बन्धु हो गयी बडी अनरीत
> कण्ठ उर-अन्तर के विपरीत
> देशवासी! जागो! जागो!

गाधी की रक्षा करने को गाधी से भागो!— यह गाधीवादी दृष्टि ही है, किन्तु देश की दशा विशेष से कवि विवश हैं—

> ...किसे लीलने को आयी यह लाल लपट है,
> गाधी पर यदि नही, और किसपर सकट है,
> सकुच गये यदि हम अहिंस
> हिंसा के हाहाकार से
> कौन बचा पायेगा
> गाधी को पशुओ की मार से?
> ....आज अहिंसा नहीं,
> कसौटी पर गाधी की आग है!

तमिल मे 'गाधीकथा' का बृहत् काव्य लिखनवाले जनकवि कोत्तमगलम सुब्बु मे भी हम यही दृश्य परिवर्तन पाते हैं। 'चीनी पताका' शीर्षक अपनी कविता मे कवि सौ सौ सौगन्ध खाकर देश रक्षा के लिए बीडा उठाते हैं—

> वीर भुजाओ! कसम तुम्हारी खाते हैं!
> सौगन्ध तुम्हारी!
> पावनी जननी की प्यारी
> स्वतन्त्रता के रक्षक हे
> वीर तुम्हारे भुजबल की
> हम खाते हैं सौगन्ध यहाँ!
> स्वतन्त्रता सग्राम लडकर
> पायी उस बापू के कर से
> मधुर पियारी स्वतन्त्रता री!
> प्यारे उस बापू की सौगन्ध!

'पथिक' खण्डकाव्य का सृजन ही रामनरेश त्रिपाठी के गाधीवादी प्रभाव का परिणाम है!—

> मार्गपतित असहाय किसी मानव का भार उठाके
> पीठ पवित्र हुई क्या, उसे सदन पहुँचाके!—
> "मेरी रचना अन्नप्राण मन की हो वाणी
> प्लावित करे धरा को बन गगा-कल्याणी!

'काव्य विभव ले अपना, जगपालन का वर देना' कहनेवाले गीतकार नरेन्द्रशर्मा मे भारती की ही वाणी गूँज रही है, जो यूँ बोल उठी—'एन्दन् पाद्टुत्तिरत्ताले वैयत्तैप्पालित्तिड वेण्डुम्।'

'गीत फरोश' के प्रसिद्ध कवि भवानी प्रसाद मिश्र का वह गीत भी मुझे गाधीवादी 'आत्म सम्मान' के महत्व का स्मरण दिलाता है। किशोर और तरुणो मे भावी भारत का चित्र देखनेवाले बापू की दृष्टि नागार्जुन मे अत्यत स्पष्ट है—

> तुम किशोर, तुम तरुण!
> तुम्हारी अगवानी मे सुरच रहे
> हम राजपथो की काई फिसलन
> खोद रहे जहरीली घासें
> पगडडियाँ निकाल रहे हैं
> गुम्फित कर रक्खी हैं हमने

ये निर्मल निश्छल प्रशांतियाँ
आओ, आगे आओ, अपना दाय भाग लो!
अपने स्वप्नों को पूरा करने की ख़ातिर
तुम्हें नहीं तो और किसे हम देखें बोलो!

"मुझे तुम भले ही मारो, किन्तु मेरे भीतर के 'गांधी' को कभी नहीं मार सकोगे"—यों कहा था बापू ने। भीतर की इसी सत्ता को पल-पल में पा रहे हैं कवि धर्मवीर भारती—

हाय! मैं नहीं
मुझमें एक वही तो है जो हर बार टूटा है,
हर बार बचा है।
मैंने नहीं, बल्कि उसने ही मुझे जिलाया
पीड़ा में, पराजय में, सुख की उदासी में,
लक्ष्यहीन भटकन में
मिथ्या की तृप्ति तक में—उसीने कचोटा है
उसीने रचा है। (1959)

कवि 'भारती' अन्तर में भासित अमर शक्ति को अपनी हर दशा के उत्तरदायी कह रहे हैं, तो तमिल कवि तुरैवन विराट हिमालय को ही अपने अन्तर में पाते हैं। यह गांधीवादी दृष्टि का एक और पहलू है—

है कहाँ हिमालय! है वह सब के अन्तर में
"है कहाँ वैरी, मिटाओ पलभर में"—
यह आवेश ही तो है हिमालय—
बन माना क्या गिरि को या
पाषाण खण्ड ही माना
नहीं, नहीं, पाषाण नहीं वह
कोटि कोटि भारतीयों का
झुण्ड ही तो है हिमालय
गरिमाएँ भारत की क्या मृत, तुम्हारे मत में?
नहीं, नहीं, महिमा के वे सभी यहाँ
बने हुए हैं अचल हिमालय, अजर हिमालय!

हर विषमता के बीच भी गांधी प्रेम और सहिष्णुता की मूर्त अभिव्यक्ति बनकर रहे। वस्तुतः, उसका मूल्य भी उन्हें चुकाना पड़ा। उसी 'ढ़ाई अक्षर' की बात कवि 'बच्चन' भी करते हैं—

क्या मुस्कानों के बचपन में
क्या अल्हड़पन के यौवन में
उदासीनता के मरघट की
और खिसकते चरण चरण में
श्रमसीकर के संघर्षण में
और थकन की मौन शरण में
क्या न ऋचाएँ, क्या न मंत्र है,
ढ़ाई-ढ़ाई अक्षरवाले?
क्या सब कुछ पोथी ही से सीखा जाएगा,
ओ मतवाले!

हिन्दी और तमिल के नये एवं तरुण कवियों को देखने पर लगता है कि गांधीवाद पर तमिल जनता की आस्था अधिक अचल है। देश की बदलती हुई दशा पर प्रभावित भावनाओं और विचारों को उन्मुक्त अभिव्यक्ति देने की निर्भीकता हम हिन्दी कवियों में पाते हैं। उदाहरण के लिए लीजिए—कवि बिजयचंद की 'बारूद' बोल रही है।—गांधीवादी अहिंसात्मक दृष्टि की यह भी तो एक प्रतिक्रिया है!—

तुम यह नहीं भूल जाओ
कि तुम्हारी यह प्यारी सुकुमारी शान्ति
मैंने अपने सीने में आग लगाकर
अपने आपको मिटा मिटाकर तुमको सौंपी थी
....गालियाँ दो,
बेशक, जरूर!
मगर मुझको नहीं, क्योंकि

बचे-खुचे गिनती के आदमखोरो के खिलाफ
अगर तुमको
कल दोबारा बन्दूक उठानी पड गयी, तो उसमे
फूलो का जीरा नहीं भरा जा सकेगा! —

किन्तु तमिल मे देखिए, चीनी आक्रमण के समय भी चीनी भगिनी को भारत की धरती शन्ति से समझा रही है। कवि वीरमेय्यप्पन का यह 'स्नेह-निवेदन' है—

प्रीत विमल की रीत गुनो री
समझ इसे तुम लेना प्यारी
स्नेह मुझे है सदा तुम्हारे बन्धुजनो पर
अपनो पर भी
सदा तुम्हारे सभी जनो पर....।"

इधर कवि दिनकर की ललकार सुनिए—

शान्तिवादियो!....
अब मत लेना नाम शान्ति का
जिह्वा जल जायेगी।
ले देकर जो एक शब्द है बचा, उसे भी
तुम बकते यदि रहे
धरित्री समझ नही पायेगी
शातिवाद का यह नवीन सारथी
तुम्हारा—नही शान्ति का सखा
हलाकू है, नीरो, नमरूद है—
ओर उडाये हैं इसने उज्ज्वल कपोत जो
उनके भीतर भरी हुई बारूद है।

इस प्रकार गाधीवादी दृष्टि से प्रभावित है हिन्दी वाणी, तो तमिल मे एक अटल एकलव्य-भक्ति पाते हैं, जो आज भी बापू की अहिंसा और सत्य पर विश्वास किये हुए है।

गीतकार उमाचन्द्रन में वही आस्था पाते हैं गांधीवाद पर—

उत्साह मन मे
सिधाई चिन्तन मे
जन्म हमारा श्रेष्ठ सेवा मे समर्पित
देश उन्नति के निमित्त
यह जीवन अर्पित

गीतकार 'गुहन' सवाल कर रहे हैं—

सजल कुसुम से पूछा था
सेवा का तुम अर्थ बताओ
कंपित मृदु पटलों से उसने
अश्रुमधु का इक कण टपकाया!
बदरिया से पूछा था
करुणा का क्या अर्थ होगा
आर्द्र हृदय तडपाकर उसने
गल गलकर बरसाया।
पूछा—'प्रभु' तुम कहो तो?
इसका कुछ अर्थ आज
टुकुर-टुकुर वह देख रहा था
खडा हुआ प्रतिमा-सम हँसता

गीतकार अय्यास्वामी की भारत जननी यूँ दिख रही है—

प्रशान्त करुणा रूपिणी हो
स्नेह की तुम पूजती विराजती,
अभिशप्त शत्रुओं के लिए
तुम आग बन प्रज्वलित होती!

हिन्दी में आजकल के गीत 'अग्निपथ-अग्निपथ-अग्निपथ' पर भी चल चुके हैं। निष्कर्ष यह कि गाधीवादी यह विवध दृष्टियाँ देश की, जनमानस की हर विधा के अनुसार युग-युग तक नया मोड पाती रहेंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह अमोघ वाणी है—

"कुछ कर्म तुम्हारे सचित कर
युग कर्म जगा, युग धर्म तना!
...युगनिर्माता युगमूर्ति तुम्हें
युग युग तक का युग नमस्कार!"

★

डॉ. हिरण्मय, एम. ए., पी-एच. डी.,
हिन्दी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय
मानस-गंगोत्री, मैसूर-6

कन्नड के तीन लोकगीत—उनमें निरूपित कृष्ण का स्वरूप

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ तथा विविध हैसियत से आपने मैसूर राज्य में सभा के कार्यों को आगे बढ़ाया। हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्ति के बाद लगातार दक्षिण व उत्तर की विविध सरकारी और गैरसरकारी हिन्दी-शिक्षा-साहित्य-संस्थाओं के सृजन-कार्यों में सक्रिय सहयोग देते आ रहे हैं। मैसूर प्रदेश के प्रथम हिन्दी शोधकर्ता तथा मैसूर विश्वविद्यालय के अनेक स्नातकोत्तर शोध-छात्रों के पथ-प्रदर्शक होने का भी श्रेय आपको प्राप्त है। संप्रति आप मैसूर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से संबद्ध हैं, हिन्दी रीडर हैं।

सारा विश्व 'धर्म-नीति का विश्वकोश' (Encyclopaedia of Religion and Ethics) के संपादक जैम्स हैस्टिंग्स महोदय का ऋणी है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही लोकसाहित्य के अध्ययन की महत्ता तथा आवश्यकता की ओर साहित्य के अध्येताओं का ध्यान आकृष्ट किया। वे लिखते हैं कि 'इतिहास किसी राष्ट्र के जीवन का लिपिबद्ध प्रमाण है, तो लोक-साहित्य उस राष्ट्र के प्रागैतिहासिक जीवन का परिचायक है।' लोकगीतों तथा लोक-साहित्य के अध्ययन तथा अनुसंधान का महत्व सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। इधर कुछ वर्षों से कन्नड के लोक-साहित्य के अध्ययन-अनुसंधान का भी थोड़ा-बहुत कार्य प्रारंभ हुआ है।

आधुनिक कन्नड के प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. शिवराम कारंत जी ने कन्नड के 'लोक-नाटक-साहित्य' का, जिसे 'यक्षगान' अथवा 'बयलाट' कहते हैं, एक ठोस विवेचन 'यक्षगान मत्तु बयलाट' नामक अपने ग्रंथ में प्रस्तुत किया है जिसपर उन्हें साहित्य अकादमी का राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया। यह अपने ही ढंग का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो लोक-साहित्य के अनुसंधित्सुओं के लिए प्रेरणास्रोत है। स्वर्गीय डॉ. बी. एस. गद्दगीमठ ने कर्नाटक विश्व-विद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत अपने शोध-प्रबंध 'कन्नड जानपद गीतगलु' में उत्तर-कर्नाटक के प्रदेशों में पाये जानेवाले लोकगीतों का बहुत सुंदर विवेचन किया है।

इसके अतिरिक्त, विगत कई वर्षों से कन्नड के अनेक साहित्यकारों ने पत्र पत्रिकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित अपने लेखों में कन्नड के लोक-साहित्य के स्वरूप, विस्तार तथा वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला है।

'होळ्ळिळय हाडुगळु', 'नाटपदगळु', 'गरतियर हाडु' मल्लिगेदण्डे', 'जीवनसगीत' आदि लोकगीतो के छोटे-बडे सग्रह प्रकाशित हुए हैं। इस दिशा मे मैसूर के श्री का र कृष्णस्वामी ने जो 'का र कृ' के नाम से प्रसिद्ध हैं, बडा स्तुत्य कार्य किया है। उन्होने 'जनपद साहित्य अकादमी' नामक अपनी एक प्रकाशन-सस्था स्थापित की है जिसने अब तक कन्नड के लगभग दो दर्जन लोकगीतो तथा लोक-कथाओ के सग्रह प्रकाशित किये हैं। साथ ही, उन्होने कन्नड के लोक-साहित्य के सरक्षण तथा सवर्धन को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर विगत कई वर्षों से कर्नाटक के गाँव-गाँव मे भ्रमण करके टेप-रेकार्डर द्वारा लोकगीत इकट्ठे किये और इनके आधार पर लोक-गीतो की वृहत् पाण्डुलिपियाँ तैयार की हैं। मैसूर विश्वविद्यालय के कन्नड विभाग की ओर से कन्नड जनपद सग्रहालय' नामक अध्ययन-अनुसधान केन्द्र स्थापित करने की योजना भी बनायी गयी है। इस प्रकार कन्नड के इस महत्त्वपूर्ण साहित्य के सम्यक् परिरक्षण तथा प्रकाशन के कार्य की बडी अच्छी भूमिका प्रस्तुत हो गयी है।

कन्नड साहित्य के आरभिक युग से आधुनिक काल तक के समूचे साहित्य पर सिंहावलोकन किया जाये तो एक महत्वपूर्ण बात की ओर हमारा ध्यान गये बिना नही रहेगा कि राम और कृष्ण कथाओ तथा इन दो महान चरित्रों के माध्यम से प्रवाहित विचार-धाराओ ने कन्नड भाषा तथा साहित्य को जितना प्रभावित किया है उतना शायद ही दूसरी किसी बात ने किया हो। इतना ही नही, कन्नड भाषी प्रदेशो का जन-मानस भी इन दो चरित्रो मे सर्वाधिक अनुप्राणित हुआ है। यही कारण है कि कन्नड के लोक-साहित्य मे इन कथाओ का विस्तार नाना रूपो मे सर्वत्र पाया जाता है। इस लघु-लेख में कन्नन के उन तीन लोक-गीतो को विशेषताओ पर प्रकाश डाला गया है जिनमे कृष्ण-चरित से सबधित कुछ सरस प्रसगो का रोचक वर्णन है। ये तीन लोक गीत हैं—(1) कृष्ण कोरवजि, (2) श्रीकृष्ण पारिजात तथा (3) देवगन्नेर ताना के नडदारू (गोपिका वस्त्रापहरण प्रसग)। इन गीतों मे वर्णित वस्तुओं का साराश इस प्रकार है.—

(1) कृष्ण कोरवजि—कन्नड मे कोरवजि उस जाति को कहते हैं जो शकुन विचारकर भविष्य-वाणी करके अपनी आजीविका चलाती है। इस गीत में कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह के पूर्व की एक सुदर घटना का वर्णन है। कृष्ण अपनी ही माया के बल से कोरवजि स्त्री का रूप धारण करके अपनी पीठ पर माया की बच्चो को बाधकर, *सिर पर सुनहरा इण्डुवे पर झल्ला रखकर* रुक्मिणी के महल के सामनेवाली सड़को पर शकुन सुनाने का ढिंढोरा पीटते हुए चलते हैं। जब कोरवजि के आने की सूचना मिलती है तब रुक्मिणी अपनी दासियो को भेजकर उसे अपने महल मे बुला लेती है और उसे बड़े आदर के

साथ सोने की चटाई पर बिठाकर उसका स्वागत करती है और परिचय पूछने के बाद शकुन विचारने की प्रार्थना करती है। शकुन विचारने के लिए क्या मेहनताना दिया जाय, इसपर दोनों में अत्यंत मनोरम संवाद चलता है। कोरवंजि एक ऐसी विलक्षण स्त्री हैं कि वह मोती, हीरा, नवरत्न, घोड़ा, ऊँट आदि कोई भी वस्तु भेंट के रूप में स्वीकार करने से इनकार करती है। वह कहती है कि यदि मैं तुम्हारे मन की बात बताऊँ और तुमने स्वप्न में जो बात देखी थी वह बताऊँ, तुम्हारी पहचान तुम्हें करा दूँ, कृष्ण के आगमन का मार्ग दिखाऊँ, तो तुम मुझे क्या दोगी? अंत में कोरवंजि की पीठ पर बंधी माया की बच्ची के लिए चांदी-सोने के खिलौने, कंगन, ज़री की साड़ी देने की बात ठहरायी जाती है। अब कुरवंजि शकुन विचार-कर कहती है—'मंगलवार को घर लीप-पोतकर, स्नान करके, गहने आदि से अपने को अलंकृत करके अपने स्वामी कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा करो।' तदनंतर कोरवंजि रुक्मिणी से हाथ आगे बढ़ाने को कहती है। रुक्मिणी ऐसा करने से इनकार करती है। तब कोरवंजि निश्चित रूप से कहती है कि हाथ देखे बिना शकुन नहीं विचारा जाएगा। आखिर लाचार होकर रुक्मिणी डरते-डरते अपना हाथ आगे बढ़ाती है। कोरवंजि रुक्मिणी का हाथ अपने हाथ पर रखकर कहती है कि निश्चय ही पूर्व दिशा की ओर गया हुआ तुम्हारा प्रियतम आएगा और आते समय तुम्हारे लिए हीरे-जवाहरात भी लाएगा। रुक्मिणी पूछती है कि मेरा प्रियतम आज आएगा या कल? कोरवंजि उत्तर देती है—'ज़रा विलंब होगा, पर तुम्हारा विवाह होगा ही। सुनो, तुम्हारे घर के सामने छप्पर लगेगा, तुम्हारे गले में मंगल-सूत्र बँधेगा।' ऐसा कहते-कहते कृष्ण अपना असली रूप दिखा देते हैं। रुक्मिणी लज्जा के मारे भागकर अपने कमरे में जा छिपती है।

उसके बाद कृष्ण, यह सोचकर कि स्त्रियों को लज्जित करना उचित नहीं, हठात् वहाँ से अपना रूप बदलकर चले जाते हैं। द्वारका पहुँचने के बाद कावेरी में स्नान करके, जरी की धोती पहनकर सिर पर किरीट धारण करते हैं। बाजे-गाजे के साथ कृष्ण की बारात आती है। बड़ी धूमधाम से रुक्मिणी-कृष्ण का विवाह संपन्न होता है। दोनों के मां-बाप विवाह में उपस्थित रहते हैं। गोपिकाएँ गान गाती हैं और उर्वशी, रंभा का नाच होता है। इस प्रकार विवाह-समारोह बारह दिन तक चलता है।

(2) दूसरे गीत 'श्रीकृष्ण पारिजात' के प्रारंभ में यदुकुल के स्वामी पद्मनाभ की स्तुति की जाती है और कृष्ण-गीत गाया जाता है। यह बताया जाता है कि सोलह हजार गोपियों पर कृष्ण का शासन चलता है। उसके बाद कृष्ण के यहां देवर्षि नारद आते हैं और स्वर्ग से लाया हुआ एक पारिजात फूल रुक्मिणी को अर्पित करते हैं। जैसे ही रुक्मिणी पारिजात फूल अपने सिर पर धारण करती है उसकी सुगंधि तीनों लोकों में फैल जाती है और सर्वत्र आनंद उमड़ने लगता है। इतने में महर्षि नारद कृष्ण की दूसरी पत्नी सत्यभामा के पास जाकर पारिजात फूल का समाचार सुनाते हैं। इसपर सत्यभामा बेहद नाराज़ हो जाती है। क्रोध के मारे वह अपने गहने उतार कर फेंक देती है और कहने लगती है—"पेड़ पर से कूद पड़ूँगी, कुएँ में गिरूँगी: पहाड़ की चोटी पर चढ़कर नीचे कूद पड़ूँगी और अपने

प्राण तज दूंगी।" सत्यभामा के रूठने की बात जानकर कृष्ण वहाँ पहुँचते हैं और उसे बहुत सान्त्वना देते हैं। वे कहते हैं कि तुम इतनी छोटी-सी बात के लिए इतना क्रोध क्यो करती हो? यदि तुम चाहो तो स्वर्ग का सारा पारिजात वन धरती पर उतार लाऊँगा। इतने मे फिर देवर्षि नारद वहाँ पहुँच जाते हैं और कहते हैं कि इन्द्र-लोक से मैं और एक पारिजात-फूल ले आया हूँ। यहीं पर प्रसग समाप्त होता है।

(8) तीसरे गीत 'देवगन्नेर' मे यों तो प्रसिद्ध 'गोपिका वस्त्रापहरण' प्रसग वर्णित है। किन्तु गोपिका शब्द के बदले 'देवकन्याएँ' शब्द हुआ है। इन देव कन्याओ की सख्या चौदह बतायी गयी है। प्रसग इस प्रकार है। चौदह देव-कन्याएँ स्नान के लिए चल पडती हैं। नदी के तट पर ये कन्याएँ अपनी साडियाँ तथा गहने उतारकर रखती हैं और अपनी सुध-बुध भूलकर स्नान करने लगती हैं। तब मायावी कृष्ण छिपे छिपे वहाँ आते हैं और अपनी लीला के लिए कन्याओं की साडियों तथा गहनों को चुराकर पेड पर चढ जाते हैं और मधुर-मधुर मुरली बजाने लगते हैं। जब बालाएँ स्नान समाप्त करके अपनी साडियाँ लेने आती हैं, तो क्या देखती हैं कि सब साडियाँ और गहने गायब हैं। वे परस्पर बतियाने लगती हैं—"क्या कोई चोर आया? कहीं आंधी तो नही आयी? कही बदर तो हमारी साडियों को नही उठा ले गये?" उसके बाद तट पर छोटे-छोटे पदचिह्न देखकर वे कहती हैं—"हमारे स्वामी कृष्ण तो नहीं आये?" अब उनके सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि कृष्ण के पास जाएँ कैसे? केले के पत्ते, पान आदि से अपने शरीर को ढककर एक कतार में सब बालाएँ कृष्ण के पास जाती हैं और साडियाँ लौटाने की प्रार्थना करती हैं। उत्तर में कृष्ण कहते हैं कि यदि तुम मेरी शरण में आओ और हाथ जोडकर नमस्कार करो तो साड़ियाँ-गहने लौटा दूंगा। तब बालाएँ एक हाथ ऊपर उठाकर नमस्कार करती हैं। इसपर कृष्ण कहते हैं—"दोनो हाथ ऊपर उठाकर नमस्कार करो।" कृष्ण की यह मांग सुनकर बालाएँ आपस मे कहती हैं—"क्या यह कृष्ण किसी माता के पेट से पैदा नहीं हुआ? क्या यह अपनी बहनों के साथ घर में बड़ा नही हुआ?" इतने मे कोई एक बाला कहती है—'यदि कृष्ण को शरम नहीं है तो हम क्यों शरमावें?" तब सब बालाएँ अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर कृष्ण को नमस्कार करती हैं। इस समय कुछ विलक्षण बात होती है। माया की हवा बहती है और बालाओं के बदन पर लगे हुए सब पत्ते नीचे गिर जाते हैं। यह देखकर ठहाका मारकर कृष्ण हँसते हैं। उसके बाद वे गहने और साडियाँ लौटा देते हैं। बालाएँ साडियाँ पहनकर, पानी से भरी गगरियाँ सिर पर रखकर चलने लगती हैं। इस समय कृष्ण और बालाओं के बीच मे बडा ही सरस सवाद चलता है जो इस प्रकार है—

कृष्ण—मैं तुम्हारे घर आऊँगा। मुझे दूध पिलाना पडेगा।

बालाएँ—जब तुम हमारे घर आओगे तब तुम्हें रास्ते में सांप डसेगा।

कृष्ण—साप के डसने से नही मरूँगा। तुम्हारी गोशाला मे आऊँगा, मुझे दही खिलाना होगा।

बालाएँ—जब दही लेने आओगे तब तुम्हें रास्ते में चीता खा डालेगा।

कृष्ण—मुझे देखकर चीता हिरन हो जाएगा। मैं तुम्हारे घर आऊँगा, मुझे घी देना होगा।

बालाएँ—जब घी लेने आओगे तब रास्ते में तुम्हें बिच्छू डंक मारेगा।

कृष्ण—बिच्छू डंक मारेगा तो मेरे पास मंत्र हैं।

इस प्रकार की सरस बातचीत के बाद कृष्ण गोकुल चले जाते हैं और सब बालाएँ नगर की ओर चल पड़ती हैं।

अंतिम छंद में कृष्ण को ढूँढ़ने के लिए बन में घूमती हुई बालाओं का वर्णन किया गया है।

कृष्ण-चरित्र से संबंधित उपर्युक्त तीनों लोक-गीत कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।

इन गीतों के रचनाकार तथा रचनाकाल के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इनमें प्रयुक्त भाषा के स्वरूप पर ध्यान दिया जाये तो ऐसा लगता है कि ये गीत न बहुत पुराने हैं न अत्याधुनिक। कम-से-कम दो-तीन शताब्दियों से इनका प्रचलन रहा होगा। श्री कृष्ण जन्माष्टमी तथा अन्य हर्षोल्लास के अवसरों पर सामूहिक नृत्य करते हुए बाजे-गाजे के साथ ये गीत गाये जाते हैं।

इन तीनों में वर्णित वस्तुएँ कृष्ण चरित्र से संबंधित हैं। जहाँ कृष्ण का महात्म्य-भाव तीनों में निरूपित हुआ है, वहाँ माधुर्य भाव की सरस व्यंजना हुई है। "कृष्ण कोरवंजि' गीत में रुक्मिणी-कृष्ण के विवाह के पहले दोनों के मिलन की सुंदर कल्पना है। शकुन विचारने के बहाने कृष्ण का रूप बदलकर रुक्मिणी के महल आना और रुक्मिणी का हाथ अपने में लेना, दोनों ऐसी बातें हैं जो अत्यंत रोचक तथा सरस हैं। दूसरे गीत में रुक्मिणी और सत्यभामा के बीच की सौतिया-डाह का मधुर वर्णन है। तीसरे गीत में गोपिकावस्त्रापहरण का प्रसंग वर्णित है जिसमें भक्ति के "सर्वार्पण" अथवा "शरणागति" भाव का बड़ा ही मोहक चित्र प्रस्तुत किया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि गीतों के रचनाकार या रचनाकारों ने जिस कुशलता के साथ प्रसंगों का वर्णन किया है उसमें कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पायी। इनमें कृष्ण-भक्ति के उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा के साथ-साथ मनोरंजन की सामग्री का समावेश है। और एक मजेदार बात यह है कि यद्यपि ये घटनाएँ गोकुल में घटती हैं, तो भी विवाह के पूर्व कृष्ण कावेरी नदी में स्नान करते हैं और गोपिकाएँ जिन पत्तों से अपने शरीर को ढक लेती हैं उनमें केले के पत्ते भी शामिल हैं!

भाषा की सरसता, कल्पना की सहजता, भाव-सौंदर्य, ध्वनि-माधुर्य, सभी दृष्टियों से ये गीत अनूठे हैं।

राजनीति से खिलवाड़ करनेवाले नेता आते और जाते रहेंगे, किन्तु भारतीय संस्कृति की प्रतीक हिन्दी, एकता का सूत्र बनानेवाली हिन्दी सदा अमर रहेगी।

—राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टंडन

श्री पी. के. कुंञिरामन्,
एम ए (हिन्दी, मलयालम), बी एड,
पय्यन्नूर कॉलेज, पय्यन्नूर (केरल)

मलयालम कविता में राष्ट्रीय चेतना

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपका व्यक्तित्व-गठन हुआ और विविध हैसियतों से केरल प्रदेश में सभा-कार्यों से आपका सपर्क आज भी चालू है। हिन्दी तथा मलयालम के खड-काव्यों पर आप शोध प्रबंध भी तय्यार कर रहे हैं। सप्रति, उत्तर मलबार के पय्यन्नूर कॉलेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

बीसवी शताब्दी के उदय ने भारत मे राजनैतिक जागरण का उद्घाटन किया था। बग-भग के आघात ने देश को ठोकर मार जगाया। अग्रजो की दमन-नीति ने जनता के हृदय मे असतोष की आग सुलगा दी। काग्रेस के नेतृत्व मे जनता उठ खडी हुई। हम देखते हैं कि उन दिनो भारत के राष्ट्रीय जीवन मे जागृति जो परिलक्षित हुई थी, सालो तक विविध रूप और भाव मे बनी रही। देश-भर में आग लग चुकी थी, सैंकडो देशाभिमानियों की आत्माहुति ने हविष का काम किया और देश को आजाद बना दिया। लेकिन यह जाग्रति केवल राजनतिक कार्यकर्ताओ के परिश्रम की ही देन नही है। इतिहास इसका साक्षी है कि जहाँ भी सैनिकों की 'असि' चमकती, वहाँ कलाकारों की 'मसि' अवश्य जादू भरती रही है। भारत के राजनैतिक और सामाजिक नवोत्थान मे भी यहाँ के कलाकारों की प्रतिभा का योगदान है। कवीन्द्र रवीन्द्र, इकबाल, मैथिलीशरण गुप्त, भारती, वळ्ळत्तोळ आदि देशभक्त कवियो की साहित्य-सेवा समय-समय पर देश-सेवा बन चमकी थी और राजनैतिक नेताओ की भुजाओ मे शक्ति भरती रही थी।

बगाल की राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत हो सारा देश जाग चुका था, मगर इस चेतना का स्पदन केरल मे जल्दी महसूस नही हो सका। इसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन सबसे मुख्य कारण राजनैतिक है। वर्तमान केरल उस समय तीन भागो मे विभक्त था और तीनो खण्डो मे तीन विभिन्न शासन-विधाएँ कायम थीं। कोची और तिरुविताकूर राजशासन के अधीन थे, तो मलबार,

जो मद्रास राज्य का भाग था, अंग्रेजी सत्ता के अधीन था। अतः मलबार में राष्ट्रीय चेतना की जो लहर उठी, केरल के अन्य भागों में फैल न सकी, फिर भी कवियों की वाणी एक हद तक केरल की सीमाओं तक पहुँच पाती थी और शायद इसीने बाद को केरल की जनता के हृदय में हलचल उत्पन्न कर दी थी। सारांश यह है कि केरल की राष्ट्रीय चेतना में यहाँ के कवियों की जो देन है, वह अधिक महत्व रखती है और उसी का विवेचन इस लेख का विषय है।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही केरल में राष्ट्रीय चेतना का लक्षण नजर आता है। मलयालम साहित्य में वह 'कवित्रय' का जमाना कहलाता है। ये तीनों कवि—वळ्ळत्तोळ् नारायण मेनोन, कुमारनाशान तथा उल्लूर परमेश्वर अय्यर—अनोखे प्रतिभावान थे और अपनी-अपनी दिशाओं में देश की महिमा का गान भी गाया था उन्होंने। इनमें वळ्ळत्तोळ् की कवि-प्रतिभा पूर्ण रूप से राष्ट्रीय भाव से अनुप्राणित हुई थी। और वे केरल के राष्ट्रीय कवि भी बन गये थे। अन्य समकालीन कवियों के समान वळ्ळत्तोळ् भी महाकाव्य की रचना में लगे हुए थे, मगर देश की पुकार ने उनके जीवन में एक नवीन दिशा का सूत्रपात कर दिया। पौराणिक कथावस्तुओं के आधार पर खण्डकाव्यों की रचना कर कवि ने प्राचीन संस्कृति की नई व्याख्या ही प्रस्तुत की और जन-मन में राष्ट्रीय जाग्रति भर देने की चेष्टा की। विदेशी सत्ता के अत्याचार से कवि के आत्माभिमान को चोट पहुँची तो वळ्ळत्तोळ् ने भारत के अतीत गौरव की गुण-गाथा से जनता की सोयी हुई आत्मा को जगाया। उन्होंने चेताया कि "हमारे पुरखों का रक्त किसी तरह की अवनति को, चाहे वह देवताओं के हाथों ही संभव क्यों न हो, बरदाश्त कभी नहीं करता था।"[1]

कवि की स्वतंत्र प्रतिभा यों नवीन आदर्श के उद्घाटन में लगी हुई थी कि गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन ने देश भर हलचल मचा दी। बापू के व्यक्तित्व से कवि इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बापू को अपना गुरु मान लिया। "जिस दिन महात्मजी को उन्होंने अपना गुरु मान लिया था, उसी दिन वळ्ळत्तोळ् भी मलयालम साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के प्रणेता बने।"[2] *उनकी वाणी आग का तेज और हवा का वेग* लिए पहले मलबार में फैली। चूँकि उसकी शक्ति ऐसी तीव्र थी, वह सह्याद्रि से टकराकर केरल भर में गूँज उठी। उन्होंने महात्माजी के व्यक्तित्व में बुद्ध, ईसा, कृष्ण, मुहम्मद, हरिश्चंद्र, और आचार्य शंकर के गुणों को समाहित पाया था और माना था कि गीता की जननी ही ऐसे सपूत को जन्म दे सकती है; हिमवान तथा विंध्याचल के बीच की पुण्यभूमि में ही ऐसे धम-व्रतीशेर दीख सकते हैं और ऐसे कल्पवृक्ष केवल गंगा के देश में ही फूल और फल सकते हैं।[3] वळ्ळत्तोळ् की वाणी में उत्सर्ग की प्रेरणा है। वे कहते थे कि 'भारत के नाम-श्रवण से हमारी छाती गर्व से फूल उठे और केरल के नाम-श्रवण से हमारी नस-नस में उष्ण रक्त उबल पड़े।'[4]

1. वल्लायुम देवकळ् पेट्टलुवतुम् क्षमिप्पोन्नल्लायिरुन्नु ह ह, भारत पूर्व रक्तम (शिष्यनुम मकनुम)
2. डा. चेलनाट्ट अच्युतमेनोन (मातृभूमि-अगस्त 1949)
3. "एन्टे गुरुनाथन"
4. "भारत मेन्नपेर केट्टालभिमान पूरितमाकण मंतरंगम्। केरलमेन्नु केट्टालो तिळक्कणम् चोर नमुक्कु ञरंपुकळिल्."

उनका झंडा-गीत "पोरा पोरा...." केरल के युव हृदय मे भारत-भारती का-सा समादर पा सका था। प्रो जोसफ मुण्डश्शेरी ने उनकी राष्ट्रीय कविताओं का मूल्यांकन कर सिद्ध किया था कि वे "केरल के भारती' थे।[1] उनकी देशीय कविताओ की भाव-गरिमा तथा शिल्प-सौन्दर्य कवि की अनोखी प्रतिभा की कीर्ति-पताका है और उनकी विशुद्ध देशभक्ति तथा आत्मीयता ने उनको मलयालम के प्रथम राष्ट्र-कवि का गौरव भी प्रदान कर दिया था।

जैसे-जैसे देश मे राष्ट्रीय जागृति का विकास हुआ वैसे ही धार्मिक व सामाजिक अधरूढियो के प्रति विद्रोह-भावना भी जन-मन में जागरित हुई। सकुचित जाति-मनोभाव के कारण कोई अस्पृश्य माने जाते थे, तो धार्मिक कट्टरता ने नारी को पराधीनता की बेड़ी में जकड़ रखा था। काम करनेवालों का कही आदर ही नहीं किया जाता, तो काम की महत्ता भी घटती जाती थी। कवि का सवेदनशील हृदय समाज के ऐसे पीडित-उपेक्षित व विवश प्राणियो के लिए दीनता से करुणार्द्र बना और ऐसे सामाजिक व धार्मिक अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने लगा। दीन जनता ने वळ्ळत्तोळ् की वाणी में मुक्ति की शख-ध्वनि सुनी। उनकी 'साहित्य-मंजरी' की कविताओ मे यही शंख-ध्वनि मुखरित है। यों "भारत की अतीत सस्कृति पर गर्व, वर्तमान दुर्दशा पर दुख, आदर्शमय भविष्य का संकल्प अपनी रचनाओं मे सजोकर उन्होंने जनता के हृदय मे देशप्रेम की ज्योति जगा दी।"[2]

वळ्ळत्तोळ् के समकालीन कवि कुमारनाशान का जन्म एक तिरस्कृत जाति मे हुआ था। उन्होंने समाज की अवहेला सही और वे तिरस्कृतों की आशा का शुक्रतारा बन चमके। वळ्ळत्तोळ् के समान वे भी आर्य-सस्कृति के उपासक थे, मगर सामाजिक कट्टरता ने उनको इतना निराश किया कि वे भगवान बुद्ध की करुणा के उपासक बने। समाज के पतित और उपेक्षितों के प्रति उनका हृदय सवेदनशील बना और उनके उद्धार का प्रयत्न कर उन्होंने एक महान राष्ट्रीय कर्तव्य का पालन किया। कुमारनाशान की राष्ट्रीय भावना मनुष्यों तक सीमित थी। मनुष्य जहाँ अपने ही जैसे मनुष्य को अछूत मानकर दूर भगा देते हैं, वहीं नरक का निवास है। कुमारनाशान ने इस अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठायी अपनी रचनाओं में और मिथ्याभिमानियों को चुनौती दी कि तुम इस अनीति का आप खातमा कर दो, वरना वह एक दिन तुम्हारा विनाश कर बैठेगी। उस अंधता का शिकार बन उनकी अंतरात्मा इतनी निराश हुई और चीत्कार कर उठती है कि यह देश और यहाँ की जनता पराधीनता के ही योग्य है। जो लोग जाति और धर्म के नाम पर आपस मे कट सकते हैं वे आजाद होके भी क्या करेंगे? इसे स्वतत्रता की निंदा मानना भूल होगी; इसे मानवतावादी कवि के आकुल अंतर का स्फोटन मानना चाहिए। वे स्वय स्नेह-गायक थे, मानवता के आराधक थे। उन्होंने स्वय मान लिया है कि स्वातत्र्य ही अमृत है; वही जीवन है, आत्माभिमानियो के लिए पराधीनता मृत्यु से भी भयंकर है। हाँ, यह तो सत्य है कि वे राजनैतिक स्वतंत्रता से बढकर सामाजिक अधरूढ़ियों से मुक्ति ही चाहते थे और उसी मुक्ति को मानव जाति के उत्कर्ष का उपाय मानते थे।

1 प्रो० मुण्डश्शेरी मनुष्यकथानुगायिकळ्

2. कैरलियुटे कथा' प्रो० एन कृष्णपिल्ला

महाकवि उल्लूर की प्रतिभा पुराणों की गहराई में गोता लगाकर अमूल्य मोतियों का चयन करती रही और उनका देशाभिमान यहीं तक सीमित भी रहता है। यों सन् 1930 तक मलयालम साहित्य में कवित्रय का ही बोलबोला रहा और उन्होंने साहित्य के रूप और भाव में नवीनता का सृजन कर जनता के मन में देश तथा संस्कृति के प्रति ममता उपजायी।

सन् 1930 से लेकर देश की राजनैतिक परिस्थिति करवट लेने लगी। असहयोग-आंदोलन की सफलता पर सन्देह किया जाने लगा। महायुद्ध की विभीषिका ने जन-मन को निराशा के गर्त में ढकेल भी दिया। अभावग्रस्त पीढ़ी साम्यवाद और समाजवाद के मोह में एकत्रित होने लगी। साम्राज्यवाद के साथ-साथ पूँजीवाद तथा ज़मींदारी के प्रति भी विद्वेष बढ़ने लगा। जनता के असंतोष ने साहित्य में स्थान पाया। राष्ट्रीयता का नया मूल्यांकन हुआ। वळ्ळत्तोळ् की साहित्य-सेवा कला-सेवा में परिणत हो चुकी थी और वे 'कथकली' के पुनरुद्धार में लग गये थे। कवित्रय के रिक्तस्थान को इटप्पल्ली, चङ्ङंपुषा तथा शंकरकुरुप आदियों ने ग्रहण कर लिया।

'इटप्पल्ली' और चङ्ङंपुषा वेदना के गायक बन साहित्य में आये। दोनों दरिद्र परिवार में जनमे थे और समाज के तिरस्कार के पात्र बन बढ़े हुए थे। 'इटप्पल्ली' का भावुक हृदय यह आघात संभाल न सका, असमय में ही टूट गया। जीवन के नग्न यथार्थ्य ने दूसरे को क्रांतिकारी बना छोड़ा। वेदना के आँसू क्रांति के स्फुलिंग बन फूटे। मनुष्यस्नेही कवि की राष्ट्रीयता ग़रीबों की झोंपड़ी की ओर मुड़ी। चङ्ङंपुषा ने दलित-पीड़ित मानवों के उष्ण निःश्वासों की, तप्त आँसुओं की व्याख्या कर पीड़ितों के हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला उकसायी। उन्होंने दिखा दिया कि 'रुलानेवाले गीत तलवार उठाने में भी समर्थ हो सकते हैं।'[1] हृदय की गहराई से निकलकर वे गीत हृदय के अतल को छूने लगे।[2] वे आज़ादी के उपासक थे और देश को आज़ाद करना भी चाहते थे; मगर अभावग्रस्त मानवों के आँसू उन्हें अधिक विचलित कर देते थे। क्योंकि वे पीड़ितों के गायक थे और जीवन-भर उन्हीं के गायक बन रहना चाहते थे। कवि का भी यह दावा था कि 'मैं शक्ति-भर भारत तथा केरल के जन-साधारण की उन्नति के लिए गाता रहा हूँ।'[3]

भारत की प्राचीन संस्कृति के गुणगान में उन्होंने 'कालिदास', 'वृन्दावन' आदि कविताएँ रचीं और ये कविताएँ उनकी विशुद्ध देशभक्ति की परिचायिका भी हैं। सीता और सावित्री की याद कर उन्होंने वर्तमान गुलाम भारत की माताओं की भर्त्सना की जो 'गुलाम कीड़ों' को दूध पिलाकर ज़िन्दा रखती हैं। 'यों चङ्ङंपुषा के राष्ट्रीय-व्यक्तित्व में एक आदर्शवादी तथा क्रांति का सम्यक् समावेश पाया जा सकता है।'[4]

महाकवि जी. शंकर कुरुप का काव्य-जीवन कवित्रय के ज़माने में शुरू होकर वर्तमान काल तक अक्षुण्ण बना रहा है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में शुद्ध राष्ट्रीयता के दर्शन किये जा

---

1. नागवल्लि आर. एस. कुरुप : चङ्ङंपुषा स्मारक ग्रंथ
2. 'Here are some poems which have come from the heart and go to the heart'—K.P.S.Menon
3. प्रो. जोसफ़ मुण्डश्शेरी : मनुष्य कथानुगायिकळ्
4. महाकवि 'जी' : चङ्ङंपुषा स्मारक ग्रंथ
5. महकवि 'जी': चङ्ङंपुषा' स्मारक ग्रंथ

सक्ते हैं। गांधीजी के नेतृत्व मे स्वतत्रता-सग्राम तथा समाज-सुधार का आन्दोलन जोर पकडने लगा तो उनके हृदय मे भी आदर्शोन्मुख देशीयता का विकास हुआ था।' गाधीजी को वे गुरु मानते थ और अहिंसा के प्रति उनके मन मे श्रद्धा थी। आजादी के बाद देश मे साप्रदायिक दगा शुरू हुआ तो उन्हें बडा दुख हुआ और एक दिन धार्मिक कट्टरता ने बापू का खून किया, तो मानवतावादी कवि का हृदय फट-सा गया और उस बरबरता की उन्होंने बडी निंदा भी की। देश विदेश में कहीं भी मानवता जब मारी या दबायी जाती थी, तो उनकी आत्मा कुंठित होती थी और उनका देश प्रम विश्व-बन्धुत्व में परिणत होने लगता था। पीडित जनता के प्रति उनके हृदय मे ममता थो और विलासिता पर अमर्ष। सचमुच, उनके गीतों में एक उत्तम देशाभिमानी के खून की गध भी है और एक आदर्श साम्यवादी के हृदय का स्पदन भी।"[1] आजकल जिस समाजवाद की रट लगायी जाती है, उस ओर कवि ने सन् 1985 में ही इशारा किया था और चेताया था कि भारत का भविष्य श्रमिको के हाथ मे रहेगा। उनकी यह भी आशा थी कि भारत की दीनता दूर होगी और लोक राष्ट्रो के बीच भारत की वाणी का महत्व भी बढेगा।

श्री शकरकुरुप मलयालम के छायावादी काव्य-धारा के प्रणेता हैं। भाव के साथ उनकी काव्य-शैली गहन तथा गभीर होती है। अत उनकी देशीयता का उचित मूल्याकन किया नहीं गया है। और शायद इसलिए, उनकी राष्ट्रीयता का जनता के बीच प्रचार भी न हो पाया है। दूसरी बात यह है कि वळ्ळत्तोळ की रचनाओ में जिस तरह भारत की आत्मा के दर्शन मिलते हैं बाद के किसी भी कवि की रचना मे पाये नहीं जाते। उनमें अधिकाश तो समस्या के किसी पहलू को ही देखा और अभिव्यक्त किया है। श्री ई एम एस ने एक बार लिखा था कि जिस तरह 1919 29 के भारत की आत्मा के दर्शन वळ्ळत्तोळ को रचनाओं में मिलते हैं, वैसे सन् 1930-33 के बाद किसी भी कवि की रचना में पाये नहीं जाते। इटप्पल्ली चड्ड्पुपा, 'जी' से लेकर आज तक जितने कवि हुए वे तत्कालीन समस्याओं के किसी पहलू की ही व्याख्या या समाधान में उलझे रहे और सपूर्ण समस्याओ की कलात्मक अभिव्यक्ति की ओर ध्यान ही दिया गया।"[1] पी भास्करन 'वयलार' ओ एन वी आदि की राष्ट्रीय रचनाओं के सम्बध में भी यही बात लागू की जा सकती है। 'वेण्णिकुलम' ने वळ्ळत्तोळ् का अनुकरण किया। उन्होंने सरल-कोमल पदावली को अपनाया और देशप्रेम के गीत गाये। क्राति से वे दूर रहे, मगर गाधीवाद की वर्तमान दुर्दशा पर दुखी भी दीखते हैं।

आजादी के बाद बडी तेजी से राष्ट्रीयता के मूल्याकन में परिवर्तन उपस्थित होन लगा है। नेताओ की अदूरदर्शिता तथा स्वार्थपरता ने गाधीवाद की शव-परीक्षा ही कर डाली है। स्वार्थी नेतागण समाजवाद का जाल बिछाकर आम-जनता को फ़ँसाये रखने के व्यर्थ प्रयास में लगे हुए हैं। सपन्न अधिक सपन्न तथा ग़रीब अधिक पीडित होते जा रहे हैं। भारत असतोष की ज्वालामुखी के मुँह मे है; सर्वनाश की सभावना है। नेताओ की अदूरदर्शिता के विष को फिर भी कुछ कवि अमृत में परिणत करने की चेष्टा करते

1 टी एन गोपीनाथन नायर मुलुकळ

1 वळ्ळत्तोळ स्मारकोपहारम ई एम एस

हैं। वे पीड़ित मानवता की सेवा में लगे हुए हैं और महाविनाश से समाज की रक्षा करना चाहते हैं। आधुनिक मानवतावादी कवियों में इटश्शेरी, वैलोप्पिल्ली, एन. वी. कृष्ण वारियर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आजकल राष्ट्रीय चेतना ने काव्य को छोड़ नाटक, कहानी आदि का सहारा लिया है, फिर भी इटश्शेरी जैसे कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना का आभास परिलक्षित है ही।

इटश्शेरी केरल के ग्रामीण जीवन के कवि हैं। खेतों के कीचड़ में आँसू का खून बहानेवाले श्रमिक, नारियल के रेशों के गढ्ढे में सड़नेवाली बहनें, काम की चक्की में पिसनेवाले मजदूर—इन सबकी वेदना इटश्शेरी की कविता में साकार बन जाती है। वे हृदय में सहानुभूति का अमृत लिये उनके पास पहुँचते हैं और समाज का ध्यान उनपर आकृष्ट करना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि मजदूरों के हाथ में सत्ता जब तक नहीं आती तब तक उन्हें मेहनत का फल प्राप्त नहीं होगा। इसलिए वे वेदना का घूंट पीकर आगे बढ़ने की उन्हें प्रेरणा देते हैं और उनके हृदय में शक्ति भर देने की चेष्टा करते हैं। उनकी कविता में सत्य की परुषता है, आत्मीयता की शक्ति है। रूढ़िवादिता की बांबी को तोड़कर वे नव-मानवता का उद्धार करना चाहते हैं। यों श्रमिक वर्ग की वेदना की व्याख्या कर युग के श्रेष्ठ मानवतावादी कवि बने हैं इटश्शेरी। इसी कारण से 'ग्रामीण जीवन के साधारण-से-साधारण काम करनेवाले श्रमिकों के जीवन की साहसिकता के वे गायक माने जाते हैं।'[1]

1. प्रो० सुकुमार अष़ीकोड : 'इता और कवि'

★

यद्यपि मैं गणतंत्र का मित्र तथा समर्थक हूँ, तथापि कभी-कभी चाहता ऐसा हूँ कि एनकेन प्रकारेण मेरे पास शक्ति होती कि कुछ समय के लिए मैं समस्त भारत का अधिनायक बन जाता। यदि ऐसा होता तो अनेक बड़ी योजनाएँ मैं कार्य-रूप में परिणत करता। उनमें प्रथम तथा महत्वपूर्ण काम समस्त भारत के लिए यह होता कि सब स्कूलों, कॉलेजों, सरकारी कार्यालयों तथा न्यायालयों में हिन्दी को कार्य का माध्यम बना दिया जाए।

—राइट ऑनरबल श्रीनिवास शास्त्री

※

यदि मुझे निरंकुश राजा की सत्ता मिले तो मैं अपने बालकों को विदेशी भाषा से मिलनेवाला शिक्षण तुरंत बन्द कर दूँ और यदि शिक्षकों और अध्यापकों को भी बरखास्त करना पड़े तो मैं उस हद तक जाकर भी उनसे परिवर्तन कराऊँ। पाठ्यपुस्तकें तय्यार हो जाएँ, तब तक की प्रतीक्षावाली बात मैं कभी नहीं स्वीकारूँ। माध्यम-परिवर्तन के साथ ही पाठ्यपुस्तकें अपने-आप तय्यार होनी शुरू हो जायँगी। —महात्मा गांधी

श्री मल्लिश्शेरी करुणाकरन्, एम. ए.
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, नेहरू आर्ट्स कॉलेज
कांञङाड़ (केरल)

गोर्की, प्रेमचंद और तकषी का आख्यायिका-साहित्य ~

एक तुलनात्मक अध्ययन

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपका व्यक्तित्व-गठन हुआ और इस बात का वे गौरव भी मानते हैं। हिन्दी सेवा में दशकों को पार करके वर्तमान में उत्तर मलबार के एक कॉलेज का हिन्दी विभाग संभाल रहे हैं। आपको हिन्दी, मलयालम, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्यों के अध्ययन का शौक है।

संत अगस्तिन ने एक बार कहा था कि भूत, वर्तमान और भविष्य, इस प्रकार तीन काल-विभाजन उचित नहीं। जो हैं वह केवल तीन प्रकार के वर्तमान काल हैं। एक वर्तमान वह जिसका हम स्मरण करते हैं, दूसरा वह जिसका हम अनुभव कर रहे हैं और तीसरा वह जिसकी हम कल्पना करते हैं। यह 'त्रिकाल'-व्याप्त वर्तमान श्रेष्ठ कलाकारों के संबंध में सोलहों आने सच है। अगस्तिन के सुर में गोर्की का सुर भी मिलता-सा लगता है। उन्होंने कहा, "अतीत और वर्तमान—हमें इन दो वास्तविकताओं से भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना है, हमें एक अन्य तीसरी वास्तविकता से भी परिचित होना है—भविष्य की वास्तविकता से। जैसे भी हो, इस तीसरी वास्तविकता को हमें अपने सामान्य व्यवहार का अंग बनाना है।" वर्तमान ही तो निखरी वास्तविकता है। अगस्तिन के "त्रिकाल-व्याप्त वर्तमान" और गोर्की की "त्रिकाल-व्याप्त वास्तविकता" कला के क्षेत्र में सार्थक है। इस प्रकार के त्रिकालदर्शी महान आख्यायिकाकारों में से हैं गोर्की (रूसी), प्रेमचन्द (हिन्दी) और तकषी (मलयालम)। वे अपने-अपने कार्यक्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में शायद न आवें, तो भी श्रेष्ठ उपन्यासकार अवश्य हैं। उनकी महानता और समानता इस बात में है कि उनके अपने सोद्देश्य और व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण हैं।

भूत और वर्तमान की वास्तविकता के साथ भविष्य की वास्तविकता का चित्रण करना और उसके लिए उत्तेजित करना समाजवादी यथार्थवाद का मूलमंत्र है। इसलिए क्रांतिकारी और संघर्षमय जीवन के बीच जीवन का सच्चा प्रतिबिंब इस कला-सिद्धांत का उद्देश्य है। याने मानव-जीवन और संस्कृति के संबन्ध में स्वस्थ और आशावादी दृष्टिकोण इसका मुख्य तत्व है। गोर्की इस समाजवादी यथार्थवाद के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं।

प्रेमचन्दजी पर गांधीवादी यथार्थवाद का प्रभाव है। यह प्रभाव उनके साहित्य पर राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से हुआ। गांधीजी के गाँव संबन्धी विचार ने उनको बहुत आकृष्ट किया था, और उनके सारे उपन्यासों में किसी-न-किसी रूप में मुख्य समस्या गाँव की है। अतः यथार्थवाद पर आधारित गांधीवादी आदर्श उनका रचना-सिद्धांत रहा।

तकषी में ऐसा कोई राजनीतिक सिद्धांत देखने को नहीं मिलता। एक बार 'तलयोड' (खोपड़ी) नामक उनके उपन्यास की आलोचना करते हुए के. बालकृष्णन ने कहा था कि अब हमारे लेखक सच्चे समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करने लगे हैं। तकषी ने इसका खंडन किया है। सिद्धांत-ग्रहण में गोर्की के आदर्श-पुरुष लेनिन थे और प्रेमचन्दजी के गांधीजी। मगर तकषी के ऐसे कोई आदर्श पुरुष नहीं। यह उनपर पड़े राजनीतिक सिद्धांतों के प्रभाव का फल है।

गोर्की का काव्य-सिद्धांत समाजवादी यथार्थ-वाद है। उनकी 'चेलकश', 'मकरचुद्र', 'मालवा' आदि रचनाओं के आधार पर उनपर रूमानी यथार्थवाद का आरोप हुआ है। मगर ये उनकी प्रारंभिक रचनाएँ हैं। 'चेलकश' में एक चोर की कहानी है, 'मकरचुद्र' में एक बूढ़ा कंजर है और 'मालवा' में एक आवारा औरत की कहानी है।

प्रेमचंद ने कहा कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। उनका यह आदर्शवाद गांधीवादी समाजवाद है। समाजवाद तो मार्क्स के आदर्शों पर आधारित है। इसलिए इस अर्थ में गांधीवाद और समाजवाद दोनों आदर्शवाद ही हैं। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर और उनका आश्रम गांधीजी और उनके ट्रान्सवाल, नेटाल और गुजरात के आश्रमों की याद दिलाते हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास गांधीवाद का आदर्श प्रतीक है। यद्यपि प्रेमचन्दजी पर गांधीवाद का प्रभाव है फिर भी वे समाजवाद के औचित्य को भी स्वीकार करते हैं। 'गोदान' में पहुँचते-पहुँचते वे पूरे यथार्थवादी बन गये हैं।

तकषी ने तो वयलार की घटना पर 'तलयोड' में तीव्र जोश के साथ जनता की क्रांति-भावना का यथार्थवादी चित्रण किया है। फिर भी उन्होंने अपने को किसी भी दलबंदी के सिद्धांतों से जकड़ने से इनकार कर दिया। सच तो यह है कि मलयालम साहित्य में जीवन को किसी भी वादविशेष से जोड़कर किसीने कोई भी जीवन-व्यापक उपन्यास नहीं लिखा।

ये तीनों लेखक अपने समय के तारीखमुक्त सच्चे इतिहासकार हैं। युग की समस्याओं को उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से अत्यन्त कौशल

के साथ उभारकर विराट सामाजिक चेतना को अनुप्राणित किया। गोर्की ने कथा-साहित्य का एक बड़ा भाग युग को गढ़नेवाली घटनाओं और प्रसगों से भर दिया है।

गोर्की को साहित्य-रचना की प्रेरणा सीधे समाज से मिली। उनका युग गहरी निराशा का था। उनको जीवन के मार्ग पर अनगिनत बाधाएँ और मौत के खौफनाक खतरे उठाने पड़े थे। अत्याचारों की क्रूरता उस समय का स्थायी भाव था। इसलिए वे एक प्रतिक्रियावादी बन गये।

प्रेमचन्द में समय का पूरा प्रतिबिंब है। इनमें भारत की मूक जनता की आह है। गरीबों से सहानुभूति और भारतीय सस्कृति का अभिमान उनकी आख्यायिकाओं का ताना-बाना है। उनके अधिकाश उपन्यासो मे एक-न-एक गाधीवादी चरित्र है और समस्याओं का अतिम उत्तर उनके हाथों में है।

जनजीवन ही तकपी का भी प्रेरणास्रोत है। मगर वे समस्या का समाधान प्राय. अछूता ही छोड़ देते हैं। प्रेमचन्द का बलराज और तकपी का मोहनन् आनेवाली क्राति की झलकें हैं और लेखक उन्हें वही छोड़ देते हैं।

गोर्की की मुख्य कृति उनकी 'माँ' है, प्रेमचन्द की 'गोदान' है और तकपी की 'चेम्मीन'। ये तीनों अपने-अपने रचयिताओं के जीवन-युग और कला की प्रतिनिधि-रचनाएँ हैं। माँ निलोवना, होरी और करुत्तम्मा निष्ठावान हैं। वे कर्तव्य और प्रेम के सम्मिश्रण हैं। तीनों जीवन की ऊँचाई को स्पर्श करना चाहते हैं। मगर न माँ को सुख मिलता है, न होरी को, न करुत्तम्मा को संघर्ष ही उनके जीवन का अविच्छिन्न अंग है। उनकी आशा पूरी नहीं होती। फिर भी वे अपने जीवन-आदर्शों के प्रति एकनिष्ठ हैं, यद्यपि करुत्तम्मा अतिम निमेष में फिसल जाती है। उनकी आदर्शनिष्ठा के कारण उनके जीवन की ट्राजडी होती है। हम यह देखते हैं कि माँ निलोवना में बाधाओं को कुचलने की वृत्ति है, होरी और करुत्तम्मा में तिल-तिल गलकर मरनेवाली मूकयातना है।

'माँ' गोर्की की प्रतिभा और कलात्मकता की परिचायक है। उसका सघर्ष बुनियादी उद्देश्य और आदर्श का है। उनकी पहली आख्यायिका 'फोमा गोरदीयेव' है। वह जीवनी-रूपक उपन्यास है। उसमें सामूह्यश्रम की शक्ति की घोषणा है। उसमें पूंजीवादी व्यवस्था का पोल खोलकर दिखाया गया है। उनकी और एक बड़ी आख्यायिका 'दि आर्तामानोवस' (The Artomonovs) है। यह एक सौदागर परिवार के एक उत्साही परिश्रमी किसान द्वारा उसकी स्थापना से लेकर उसकी वृद्धि, बाद के नैतिक पतन और क्रांति मे उसके नाश तक रूसी जीवन के सौ वर्ष का इतिहास है। इस परिवार के बहाने गोर्की ने पूंजीवाद के जन्म, विकास और पतन का सैद्धातिक विश्लेषण किया है। हिन्दी मे "तीन पीढ़ी" नाम से यह उपन्यास अनूदित किया गया है। उनका अतिम उपन्यास 'क्लिम सैम्गिन की जीवनी' 1927 में प्रकाशित हुआ। यह चार खण्डो की एक बृहत् आख्यायिका है। इसमें 1877 से 1917 तक के रूसी समाज का विशाल चित्रण है। इसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य की

आलोचना की गयी है, नारी-समस्या पर प्रकाश डाला गया है। वैविध्यपूर्ण विशालता इसकी खास विशेषता है।

उनकी सभी रचनाओं का मुख्य केन्द्र यही है कि इनसान जिस पीड़ित अवस्था में पहले रहा था अब उस अवस्था में नहीं रहेगा, और अधिकार दिये नहीं जाते, लिये जाते हैं।

प्रेमचन्द का पहला उपन्यास 'प्रतिज्ञा' है और दूसरा 'वरदान'। इन दोनों में त्रिभुजमुखी प्रेम है। इस तरह का प्रेम उनके शेष उपन्यासों में, नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यास अधिकतर समस्या प्रधान हैं। 'सेवासदन' में नारी-समस्या है। 'प्रेमाश्रम' में ग्राम तथा विधवा की, 'निर्मला' में अनमेल विवाह की, 'ग़बन' में स्त्रियों की आभूषण-लालसा की, 'गोदान' में समूचे भारतीय ग़रीब जनता के संपूर्ण जीवन की समस्याएँ हैं। 'रंगभूमि,' 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' भी उनके ख्याति-प्राप्त उपन्यास हैं। 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि में हर जगह यह भी पाते हैं कि साम्राज्यवाद की भारी मेशिनरी किसानों और मजदूरों को पीसने के लिए है। 'मंगलसूत्र' उनका अंतिम उपन्यास है। वह अपूर्ण है। 'मंगलसूत्र' यदि पूरा होता तो शायद वह 'गोदान' से भी सुन्दर और गहरा होता।

'तोट्टियुटे मकन्' द्वारा तकषी ने कहानी के क्षेत्र से आख्यायिका के क्षेत्र में पदार्पण किया। सर. सी. पी. रामस्वामि अय्यर की गिरफ़्तारी से बचने के लिये भूगर्भ में रहते समय इसकी रचना हुई थी। आलप्पुषा के भंगियों के गंदे और दर्दनाक जीवन की यह रामकहानी है। कला की दृष्टि से अन्य रचनाओं से यह श्रेष्ठ है। 'रण्डिडङ्ङषी' (दो सेर धान) कुट्टनाड के भूमिहीन किसानों के जीवन का जीता-जागता चित्र है। लेखक ने अपनी आत्मा के निचोड़ के तौर पर इसको उदात्त बनाया है। कुट्टनाड के हरिजन खेत-मजदूरों के आचार-विचार, दुख-दर्द, आशा-निराशा और हँसी-खुशी की भावभीनी तस्वीरों से यह उपन्यास भरा है। तकषी का राजनीतिज्ञ और साहित्यकार इसमें अपने पूरे जोर पर है। कहा गया है कि समूचे मलयालम साहित्य से अगर दस उपन्यास चुन लिए जाएँ तो उनमें 'रण्डिडङ्ङषी' का स्थान अवश्य होगा। यह उपन्यास अंग्रेज़ी, चेक और रूसी भाषाओं में तथा भारत और पाकिस्तान की करीब सभी भाषाओं में अनूदित किया गया है। उनका 'तलयोड' एक राजनीतिक उपन्यास है। वयलार में पुलीस द्वारा किये गये अत्याचारों की हृदय-विदारक कहानी को एक राजनीतिज्ञ के धर्मरोष से तकषी इसमें प्रस्तुत करते हैं। एक सेनापति ने अपनी बहादुरी के प्रतीक के तौर पर उसकी गोली के शिकार एक आदमी की खोपड़ी अपने मकान के दालान की दीवार पर रखी। इस घटना से कथा शुरू होती है। इस उपन्यास की रचना में कला है, मगर यथार्थवाद की अति है। उनका सबसे बड़ा उपन्यास 'एणिप्पटिकल्' (सीढ़ियाँ) सम-सामयिक समस्याओं का एक दर्पण है। उसमें युगीन राजनीतिक मंत्रणाओं और अधःपतनों का सजीव चित्र है। 'अनुभवङ्ङल् पालिच्चकल' और 'एणिप्पटिकल्' 'चेम्मीन' के बाद की रचनाएँ हैं और कला की दृष्टि से उसके समकक्ष हैं।

तकपी ने अभी तक लगभग बीस उपन्यास और अठारह कहानी संग्रह प्रकाशित किये हैं। अधिकांश रचनाओं की दस-पन्द्रह आवृत्तियां तक हुई हैं।

अन्य लेखकों का प्रभाव इन प्रतिभावाले लेखकों पर कहां तक पड़ा है इसपर यहां विचार नहीं किया जाता। मधुमक्खी सैकड़ों फूलों से मधु एकत्रित करती है। वह मधुमक्खी के छत्ते में रहकर एक खास तरह का मधु बन जाता है। अब वह मधु, मक्खी का अपना है। प्रतिभावान लेखकों की रचनाओं की भी यही स्थिति है।

तीनों लेखकों ने मामूली जीवन की घटनाओं को लेकर कथावस्तु का निर्माण किया है। कहानी कहने का ढंग स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। गोर्की बीच में रुककर कभी-कभी राजनीतिक गति-*विधियों की व्याख्या देते हैं। मगर यह गोर्की की* अपनी कला है। उनका अपना एक उद्देश्य है। प्रेमचंद बीच में धर्म की या नीति की व्याख्या करते हैं, मगर यह अधिकतर संक्षेप में हैं। उनकी यह व्याख्या कहावत के ढांचे में ढल जाती है। इसलिए वह कथा को रोचक बनाती है। इस प्रकार बीच में आकर अपने पात्रों के मनोगत भावों की व्याख्या करने का आरोप तकपी पर भी है। गोर्की की कथा आदि और अंत में सुगठित रूप से चलती है। मगर मध्य में जरा कुण्ठित-सी रहती है। तकपी की कुछ आख्यायिकाओं में कथा का अंत जरा धीमा-सा लगता है। उनकी अधिकांश आख्यायिकाओं के मध्य और अंत के बीच में लंबे अरसे का अंतर होता है। प्रेमचंद की कथावस्तु अधिकांश में एक ही गति से चलती है। गोर्की की कथा में आक्रोश अधिक है, प्रेमचंद में संवेदना; और तकपी में आक्रोश भी है और कभी संवेदना भी, मगर धीमे स्वर में। घटना-वैचित्र्य उन तीनों की खूबी है।

वे तीनों जनता के कलाकार हैं। यद्यपि प्रेमचंदजी में मध्यवर्ग के कुछ पात्र भी हैं। उनमें ध्वनियों और संकेतों से आधुनिक चित्रकला के समान चरित्र-चित्रण करने की अद्भुत क्षमता है। उनके पात्र शोषित, उत्पीड़ित और जर्जर हैं। सब संघर्ष के बीच चक्कर काटते हैं। उनमें आत्मबल के साथ कमजोरियां हैं, असंगतियां हैं, दुर्बलताएं हैं, नैतिक त्रुटियां हैं। वे कभी अपने आदर्श से गिर जाते हैं, कभी उनकी आत्मा चीत्कार कर उठती है और धनिकों तथा अफ़सरों के प्रति *विद्रोह करने लगती है। 'गोदान' में धनिया* कहती है—"ये हत्यारे गांव के मुखिया हैं, गरीबों को चूसनेवाले। सूद-ब्याज, ड्योढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो गरीबों को लूटो।" 'मां' में उसके नायक पावेल व्लासेव उसकी मां और उसके साथियों के हृदय में भी इस प्रकार की विद्रोह की चिनगारियां सुलग रही हैं। तकपी की 'तलयोड', 'रण्डिडङ्ङपी' आदि रचनाओं में भी यह गूंज है। धनी पात्रों का चित्रण प्रेमचंद ने किया है, इस ढंग से कि उनके दोषों पर हमारी दृष्टि जाती है, मगर उनपर घृणा पैदा नहीं होती। गोर्की के चित्रण में शोषकों के प्रति विद्वेष की कटुता है और उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करने की तीव्र बुभुक्षा है। तकपी में यह किसी मुकाम पर पहुंचते दिखाई नहीं देता। गोर्की की आख्यायिकाओं में श्रम के सजीव चित्र हैं। प्रेमचन्दजी में हम

श्रमरत मानव के चित्र नहीं देखते। हाँ, एक अपवाद हमें 'गोदान' की घनिया के चित्र में मिलता है। तकषी की 'तोट्टियुडे मकन' 'रण्डिडङ्ङ्षी', 'चेम्मीन' आदि में श्रम के अच्छे चित्र हैं। इन तीनों के पात्रों के अनुभव लेखकों के अनुभव हैं, अपनी अनुभूतियाँ हैं। गोर्की के पात्र क्रांतिभावना से छटपटाते हैं, प्रेमचंद के पात्र सामाजिक और नैतिक बंधनों से चंचल हैं और तकषी के पात्र आर्थिक जटिलताओं के पचड़े में हैं। उनके पात्र व्यक्ति नहीं, जाति पात्र (types) हैं। गोर्की के पात्र सामूहिक रूप से समूह के लिये काम करते हैं। उनमें व्यक्ति का अलग व्यक्तित्व नहीं। प्रेमचंद के अधिकांश पात्र टाइप होते हैं। कुछ पात्र ऐसे भी हैं जो व्यक्ति बनकर समूह को उस प्रतीक में ढालना चाहते हैं—'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर जैसे। तकषी के पात्र भी अधिकांश में टाइप हैं। मगर उनके चेम्मीन की नायिका व्यक्ति हैं, टाइप नहीं।

आख्यायिकाओं में घटनाओं और प्रसंगों को अनुरूपत जीवन्त, प्रखर और मूर्त बनाने में कथोपकथन का महत्वपूर्ण स्थान है। गोर्की और प्रेमचंद इस कला के पारखी हैं। गोर्की का संवाद कहीं-कहीं लंबा है। 'बुढ़िया इज़रगिल', 'माल्वा' तथा 'चेलकश' में नाटकों के-से लंबे संवाद मिलते हैं। प्रेमचंद की कला कथोपकथन में तेज़ है और वह पात्र की इयत्ता के अनुकूल है। तकषी में कथोपकथन अपेक्षाकृत संयमित है।

लेखकों पर देश-काल की छाप पड़ती है। गोर्की पर रूस की क्रांति की तीनों दशाओं का प्रभाव पड़ा। ये तीनों दशाएँ हैं संघटनकाल, संघर्षकाल और निर्माणकाल। गोर्की इन तीनों कालों में जीवित थे और उन सब की छाप उनकी कृतियों पर है। प्रेमचंद तो भारत के स्वतंत्रता-संग्राम के संघटनकाल में ही जीवित थे। इसलिए संघर्ष और निर्माण की छाप उनपर नहीं पड़ी। *तकषी भारत की इन तीनों दशाओं के अनुभवी हैं,* मगर देश की उथल-पुथल में गोर्की का-सा संबंध तकषी का बहुत कम रहा। यह फ़रक रचनाओं में भी लक्षित है।

गोर्की के शब्दों में साहित्य का उद्देश्य "मनुष्य को अपने-आपको समझने में सहायता देना, अपने में विश्वास को बढ़ाना, सत्य की (वास्तविकता की) उपलब्धि करना, लोगों की नीचता से लड़ना, उनकी अच्छाई को ढूँढ़ना और उनके दिलों में शर्म, क्रोध और साहस को जगाना है। यह सब इसलिए करना है कि वे उदात्त और दृढ़ हों और अपने जीवन को सौन्दर्य की पवित्र भावना से प्रेरणा दे सकें।" समाजवादी दृष्टिकोण से की गयी यह परिकल्पना अपने-अपने दृष्टिकोण में प्रेमचंदजी और तकषी का भी साहित्यिक उद्देश्य है। उनका सामाजिक उद्देश्य समाज का नव-निर्माण है। निर्माण की यह भावना गोर्की में ध्वंस की, प्रेमचंद में शांतिपूर्ण परिवर्तन-प्रक्रिया की होती है। तकषी में तो किसी भी प्रकार से परिवर्तन की आकांक्षा है। तकषी की यह आकांक्षा ध्वंस के अंकुर की दशा तक आकर रह जाती है।

शैली लेखक के व्यक्तित्व की छाप है। गोर्की, प्रेमचंद और तकषी बहुत ही सरल, सच्चे और सीधे हैं। उनकी शैली भी सादी स्पष्ट और सरल है। उनका विचारपक्ष अपने ढंग

का अनोखा है। भावपक्ष और कलापक्ष में वे टॉलस्टाय जैसे कला-मर्मज्ञों से बहुत पीछे हैं। फिर भी अपनी कृतियों को रोचक और बोधगम्य बनाने में वे आसान हैं। उनकी भाषा जनता की भाषा है। गोर्की की भाषा के संबंध में टॉलस्टाय का कहना है, "शब्द तो थोडे हैं, लेकिन भाव का आधिक्य है।" प्रेमचंद और तकपी मे भी गागर मे सागर भरने की भाषा-कुशलता है। गोर्की और प्रेमचंद अपनी भाषा में कहावत और मुहावरो का कुशलता से प्रयोग करते हैं। प्रेमचदजी की भाषा तो स्वयं कहावत और मुहावरों को गढनेवाली है। स्वत स्फुरित अलकारों का वह खजाना है। तकपी में अलकार कम हैं। कहावतों का तो सर्वथा अभाव है।

श्रेष्ठ कलाकार मानवतावादी हैं। मगर गोर्की का अपना एक विश्वमानव है जो सारी दुनिया के श्रमजीवियो का प्रतीक है। उनका कहना है कि मनुष्य अपने-आपका विधाता है। यहाँ तक कि ईश्वरीय शक्ति भी उसके सामने घुटने टेकती है। 'माँ' में शईब्रन कहता है, "पावेल! कोई नया विश्वास ढूंढना पडेगा, एक ऐसे ईश्वर को खोज करनी होगी जो मनुष्य का मित्र हो।" मार्क्सवाद की आत्मा यहाँ मुखरित है। मगर प्रेमचद पर गाधीवाद का प्रभाव ही अधिक पड़ा है। भारत के 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' वाले सिद्धात की गूँज उनमें है। उनकी राय में समाज की उन्नति और विकास व्यक्ति-मानव की श्रेष्ठता में होता है। यही कारण है उनके प्रत्येक उपन्यास मे गांधीवाद के प्रतीक की तरह एक पात्र है, 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशकर जैसे। गोर्की की मानवता मे श्रमिक की स्वर्णिम भविष्य की आस्था है। प्रेमचंद मनुष्य मात्र की महानता पर विश्वास रखते हैं। तकपी की मानवता साहित्य-परक सीमा के बाहर बहुत कम आती है।

गोर्की की कला पर यह आरोप लगाया गया है कि उनके सवाद लबे और थकानेवाले होते हैं। उनमें शब्द-चमत्कार अधिक है। प्रेमचंद के उपन्यासो मे पात्रों और घटनाओं की बहुलता है। इसलिए कथानक कभी-कभी सुघटित नही होता। गोर्की के अतिम उपन्यास 'क्लिम सैमगिन की जीवनी' में भी पात्र-बहुलता है। इसमें पाँच सौ चरित्र हैं, तकपी में भी कुछ ऐसे पात्र हैं जिनके न रहने पर भी कथानक को कोई हानि नही होगी। कुछ लोगो का कहना है कि तकपी मे भावतीव्रता की कमी है। इस कार्य मे एम. टी. वासुदेवन नायर की कला अधिक श्रेष्ठ है। तकपी के कथानक के निर्वाह में कभी-कभी आकस्मिकता है और कभी लंबे अरसे का अंतराल है। यहाँ उनकी कला कुण्ठित हो जाती है। मलयालम में केशवदेव का कथा-निर्वाह बड़ा ही कलापूर्ण और प्रभावोत्पादक है।

गोर्की के समकालीन बुनिन, आन्द्रेयेव, कुप्रिन आदि लेखकों की कृतियाँ बहुत रोचक और कलापूर्ण हैं। मगर उनमे गोर्की की-सी नवीनता नहीं। वे समय की समस्याओं पर ध्यान नहीं देते थे। वे उन्नीसवीं सदी के समीक्षात्मक यथार्थ-वाद को माननेवाले थे। उस समय यूरोप में प्रचलित प्रतीकवाद रूसी कथाक्षेत्र में अत्यंत व्यापक था। धार्मिक या रहस्यवादी भावना, अंतर्मुखी व्यक्तित्व, कल्पना की प्रचुरता आदि उनकी कृतियों के मुख्य लक्षण थे। डोस्टरवस्की और टॉलस्टाय तो मनुष्य पर दया दिखाने की शिक्षा दे रहे थे। गोर्की ने कहा, 'दया क्या है?'

दया से मनुष्य का पतन होता है, हमें मनुष्य का आदर करना चाहिए।'

उपरोक्त लेखक और गेगोल, पुश्किन, तुर्जिनेव चेखोव आदि महान लेखकों के प्रयत्न से रूसी साहित्य का प्रभाव विश्व के और छोर तक व्याप्त हुआ था। इस वातावरण में गोर्की ने समाजवादी यथार्थवाद का अपना अलग रास्ता खोल दिया।

प्रेमचंद के पूर्व 'परीक्षागुरु' से लेकर कुछ मौलिक आख्यायिकाएँ रची गयी थीं। मगर अनूदित आख्यायिकाओं की संख्या अधिक थी और वे विशेष महत्व की नहीं थीं। हिन्दी उपन्यास की प्रौढ़ता प्रेमचंद के हाथों आयी। उनके पहले केवल कौतूहल की सृष्टि होती थी। हिन्दी उपन्यास को मानव-जीवन के निकट लाने का प्रयत्न प्रेमचंद ही ने किया है। उनके समकालीन महान उपन्यास लेखकों में जयशंकरप्रसाद का नाम बहुत ऊँचा है। यद्‌यपि किशनचंदर, राहुल सांकृत्यायन आदि की ख्याति भारत के बाहर भी हुई है, फिर भी भारत के उपन्यास का प्रतिनिधित्व विश्व में प्रेमचंद ही कर रहे हैं।

अप्पु नेडुङ्ङाडी, चंदुमेनोन और सी. वी. रामन पिल्लै मलयालम आख्यायिकाओं के आदि प्रवर्त्तक हैं। उनके बाद कई वर्षों तक मलयालम आख्यायिकाओं की कोई निश्चित लीक नहीं थी। मगर आधुनिक काल में बषीर, तकषी, केशवदेव, पोट्टक्काट, उरूब आदि प्रतिभावान उपन्यासकार हुए हैं। उनका जमाना मलयालम आख्यायिका-साहित्य का सुवर्णकाल कहा जा सकता है। 'चेम्मीन' के पहले इन पाँच लेखकों के दस-पंद्रह संपूर्ण उपन्यास निकले हैं। जो भी हो, चंदुमेनोन और सी.वी. का क्रांतदर्शित्व इनको नहीं मिला है। इनके उपन्यासों के रूपपक्ष के लिए वे शायद यूरोप के ऋणी हों, मगर भावपक्ष में वे भारतीय हैं और मौलिक हैं।

तकषी की 'चेम्मीन' और 'रण्डिडङ्ङषी' भारत की क़रीब सभी भाषाओं में और यूरोप की मुख्य भाषाओं में भी अनूदित हैं। आज विश्व में मलयालम् उपन्यास का प्रतिनिधि लेखक तकषी है।

ये महान लेखक मानव मनोजगत के बड़े ही अनुभवी मर्मज्ञ हैं। फिर भी वे कभी भी आधुनिक मनोविज्ञान के कुटिल जाल में नहीं पड़ते। फ्रोयिड का पल्ला पकड़कर उनमें न तो अंद्रेयजीद जैसे फ्रेंच उपयासकारों की वासनाजन्य प्रेम की अराजकता ही है और न अगम्य-गमन की कथाओं की बदबू है। गोर्की की 'माल्वा' में उच्छृंखल प्रेम है। प्रेमचंद जी की 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' में त्रिभुज प्रेम है। मगर ये उनकी प्रारंभिक रचनाएँ हैं। प्रेमचंद जी में तो दम्पतियों के आदर्शप्रेम के ही अधिक चित्र हैं। तकषी के प्रेमचित्रण भी मर्यादित हैं।

गोर्की श्रमिक जनता के नेता थे, साम्यवादी समाज के निर्माता थे और जनता के वास्तविक जीवन को कलारूप देनेवाले सच्चे कलाकार थे। प्रेमचंदजी आधुनिक खड़ीबोली के निर्माताओं में हिन्दी आख्यायिका साहित्य को एक नया मोड़ देनेवाले जनता के कलाकार थे। उन दोनों की मृत्यु 1936 में हुई। इस समय तकषी ने अपने साहित्य की रचना आरंभ की थी। उनका पहला कहानी-संग्रह 1935 में निकला। तकषी अब भी अपने विकास के पथ पर हैं। प्रोफ़सर जोसफ़ मुण्डश्शेरी के शब्दों में वे प्रतिभा को नव नवोन्मेष शालिनी बनाते रहनेवाले मलयालम आख्यायिका-साहित्य के अकेले लेखक हैं।'

★

श्री एम के भारती रमणाचार, एम ए,
हिन्दी रीडर, गवर्मेंट कॉलेज,
कोलार (मैसूर)

शूर्पणखा उर्फ़ चंद्रनखा

वाराणसी हिंदू विश्वविद्यालय मे हिन्दी की स्नातकोत्तर शिक्षा पाने के बाद (1944) बेंगलोर व मैसूर क्षेत्रो मे सभा तथा मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति की, विविध हैसियतों से आप लगातार सेवा करते आ रहे हैं। अपने प्रदेश की सरकारी और ग़ैर सरकारी विविध सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक तथा साहित्य-सस्थाओ मे भी सक्रिय हिस्सा ले रहे हैं। सप्रति सरकारी कॉलेज, कोलार मे आप हिन्दी रीडर हैं। कन्नड और हिन्दी मे अनेक पुस्तको के रचयिता तथा पत्र सपादक भी हैं।

रामायण के आधिकारिक कथा-प्रवाह मे जबर्दस्त मोड राम-वनवास और सीतापहरण के रूप मे दो बार आ जाते हैं। पहले मोड का कारण मथरा है। यदि मथरा कैकेयी देवी मे सवति-मात्सर्य की आग न सुलगाती और रामवनगमन रूपी वर माँगने के लिए प्रेरणा न देती, तो रामायण की कथा का विस्तार अयोध्या से पचवटी तक न हो पाता। न राम, सीता, लक्ष्मण, न भरत आदि दशरथ के परिवार में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्तियों के गुण शील-चारित्र्य की सम्यक् अभिव्यक्ति ही हो पाती। इस मोड ने राम को अलौकिक त्यागवीर सिद्ध किया।

दूसरा मोड सीतापहरण रूप मे आया है। सीता के सौंदर्य का वर्णन करके उसे अपहृत करने की प्रेरणा देनेवाली शर्पणखा है। शूर्पणखा के मन मे राम लक्ष्मण दोनों से प्रतिशोध लेने की दावाग्नि सुलग रही थी। न केवल राम लक्ष्मण ने उसके प्रणय-प्रस्ताव को ठुकराया था, बल्कि उसका अग-भग करके सदा के लिए विकृत कर दिया था। यदि सती सीता का अपहरण हो जाय, तो विरहाकुल होकर दोनो प्राणत्याग देंगे, जो शक्ति से न हो पाएगा, उसे युक्ति से साधा जा सकेगा—ऐसा विचार कर रावण को सीतापहरण की प्रेरणा शूर्पणखा देती है।

शूर्पणखा का प्रवेश पचवटी मे हुआ है। फिर यहाँ यह देखना है कि यदि शूर्पणखा राम लक्ष्मण को न देखती, देखकर कामातुरा न होती, तो प्राय तेरह वर्ष का वनवास जिस प्रकार अनायास और अकटक बीता, उसी प्रकार और एक वर्ष बीत जाता। "तेरह वर्ष व्यतीत हो गये मानों कल

की बात।" इस प्रकार राम-लक्ष्मण के मन में अयोध्या लौट जाने के समय को निकट आते हुए देख उत्साह उमड़ रहा था। सोचते थे यदि इसीको जीवनसंग्राम कहते हैं तो इसमें सुनाम कर लेना कितना सहज है। पर सहसा शूर्पणखा के आगमन से अप्रत्याशित घटनाएँ घटीं। प्रारंभ में शूर्पणखा की कामुकता और निर्लज्जता से कुछ-कुछ मनोरंजन कर लेने पर भी जब उसकी ओर से सीता के प्राणों पर आक्रमण होते देखा, तो विवश होकर निष्ठुर और क्रूर दोनों को बनना पड़ा। उसका निरोध अंग-भंग करके करना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि पहले खर-दूषणादि चौदह सहस्र राक्षसों से लोहा बजाना पड़ा। अपनी प्यारी सीता को खोकर तरसना पड़ा। उसकी खोज में लंका तक आना पड़ा। बीच में किष्किंधा में, सुग्रीव से मैत्री बढ़ाकर, वालि का संहार करके, हनुमान के उपकार से सीता का संदेश पाकर समुद्र पर सेतुनिर्माण करके रावण पर धावा बोलना पड़ा। इस प्रकार कथाप्रवाह में दूसरा जबर्दस्त मोड़ लाने का श्रेय शूर्पणखा को मिलता है।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार एक बार शूर्पणखा पंचवटी में दोनों भाइयों को देख लेती है और काममोहिता हो जाती है वह राक्षसी। तुलसीदास जी ने इस प्रकार काममोहित होना दुष्ट स्वभाव का लक्षण माना है—

"सूपनखा रावन कै बहिनी।
दुष्ट हृदय दारून जस अहिनी॥
पंचवटी सो गई एक बारा।
देखि विकल भई जुगल-कुमारा॥"

अधिकतर समस्त राम-साहित्य में ऐसा ही वर्णन हुआ है। पर 'अध्यात्म रामायण' में कुछ विस्तारपूर्वक पूर्वपीठिका बाँधी गयी है। एक बार गौतमी नदी के तट पर अंकित कमल, वज्र तथा अंकुश युक्त चरणचिन्हों को देखकर ऐसे लक्षणोपेत पुरुष के सौंदर्य की कल्पना करके, उसे देख लेने के कुतूहल एवं आतुरता से उन चरण-चिन्हों का अनुसरण करते-करते पंचवटी आ जाती है—

एकदा गौतमीतीरे पंचवट्याः समीपतः।
पद्मवज्राङ्कुशाङ्कानि पदानि जगतीतले॥
दृष्ट्वा कामपरीतात्मा पादसौंदर्य मोहिता।
पश्यन्ती सा शनैरायाद्राघवस्य निवेशनम्॥

अर्थात्—अध्यात्म रामायण में पंचवटी आने के पूर्व शूर्पणखा के मन में सौंदर्य के अनुमान से जनित 'काम परीतात्मा' का अंकन हुआ है, सो भी पदचिह्न को अंकित देखकर। आधुनिक कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने अपने खण्ड काव्य पंचवटी में शूर्पणखा के काममोहित या मदनातुरा हो जाने का कारण प्राकृतिक सन्निवेश को माना है। बाह्य प्रकृति मानव प्रकृति पर प्रभाव डाल देती है और मानव-स्वभाव में छिपी हुई प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त कर देती है। चारु चंद्र की चंचल चाँदनी में पर्याप्त उद्दीपक सामग्री थी। एकांत ने उस सामग्री की रही-सही कमी को दूर किया। सुंदर तपस्वी के समान धनुर्धारी हो कुटीर के बाहर बैठे हुए यौवन को देखने पर शूर्पणखा का मन कामातुर हो उठा, तो अत्यंत सहज दिखाई पड़ता है।

कन्नड के स्वनामधन्य कवि कु. वें. पु. (के. वी. पुट्टप्प) के "रामायण दर्शनम्" महाकाव्य में

शूर्पणखा—जिसे वे चन्द्रनखा कहते हैं—के आगमन के पूर्व राम का मन सहज ही किसी अनिष्ट की संभावना से आशंकित अंकित किया है और पर्णकुटीर में संध्या काल में सीता सहित राम अकेले हैं। ऋषि-मुनियों को सतानेवाले राक्षसों का पता लगाने व्यर्थ भ्रमण करते हुए लक्ष्मण कुटीर से दूर एक टीले पर बैठे श्रम दूर कर रहे हैं। तब तक एक 'वियच्चार योषिता जो नय-विनय सौंदर्य सद्गुणादि के अवतार-सी लग रही है, आसमान से कुटीर के सम्मुख आती हुई चित्रित है।

'वाल्मीकि रामायण' तथा उसका अनुसरण करनेवाले 'रघुवंश', 'उदारराघव' आदि में सर्वप्रथम वह राम से मिलती है और रामचन्द्रजी के द्वारा "कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे" कहने पर छोटे भाई लक्ष्मण को देखकर उसीपर अनुरक्त हो जाती है। पर 'पंचवटी' में सर्वप्रथम लक्ष्मण ही से मिलती है। लक्ष्मण को वाग्विदग्धा शूर्पणखा मनवाने में असमर्थ हो जाती है। उपोदय के साथ साथ सीताजी से जगाये गये रामचन्द्र कुटीर के द्वार पर मूर्तिमान श्यामाभ्र बन दिखाई पड़ते हैं। शूर्पणखा उस कमनीयता पर अपने को न्योछावर करने उद्यत हो जाती है। इसी रूप में 'भट्टिकाव्य' में वर्णन आया है। उस काव्य के अनुसार लक्ष्मण राम के गुणोत्कर्ष का उल्लेख करके उसे राम के पास भेज देते हैं। 'रामचरित-मानस' के अनुसार युगपत् दोनों भाइयों को देखकर विकल हो जाती है।

अपने राक्षसी रूप में न आने पर भी 'वाल्मीकि रामायण' की शूर्पणखा अपना परिचय सही-सही देती है और अपने आगमन के उद्देश्य को भी स्पष्ट कर देती है। उसका यहाँ तक विचार है कि सीता राम के योग्य वधू नहीं है।

"विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव।"

इसीलिए अपने को जो राम के 'अनुरूप' है 'भार्यारूप' में देखने की सलाह देती है। 'नृसिंह पुराण' के अनुसार अपनी योग्यता का उल्लेख करके राम को प्रलोभन भी देती है—"अतीव निपुणा चाहं रतिकर्मणि" 'राघवीय' की शूर्पणखा अपने को 'रति' और राम को 'काम' कहकर अपनी 'मदनव्यथा' व्यक्त करती है। 'उदार राघव' की शूर्पणखा अत्यन्त वाग्विदग्धा है। वह सूर्यवंश एवं पुलस्त्यवंश को परस्पर विवाह-योग्य बताकर शीघ्र ही गांधर्व विवाह कर लेने का प्रस्ताव करती है। 'पंचवटी' में ऐसा प्रस्ताव लक्ष्मण से है। उदार राघव की शूर्पणखा राम को रावण की सहायता दिलाने का आश्वासन देती है। मानवी रूप में रह कर सीता की परिचर्या करते रहना भी स्वीकार करती है। वहीं 'रामायण-मंजरी' में सीता को त्याग देने के लिए आग्रह करती है। 'पद्मपुराण' में सीता त्याग की जगह सीता-भक्षण का प्रस्ताव करती है। 'पंचवटी' एवं 'रामचरित मानस' में राम और लक्ष्मण दोनों से ठुकराये जाने पर सीता की ओर झपटती है। 'वाल्मीकि रामायण' में भी ऐसा ही वर्णन आया है। पर 'रामायण दर्शनम् में सीता-भक्षण' का या सीता पर झपटने का भी उल्लेख नहीं है।

समस्त राम-साहित्य में राम और लक्ष्मण की शूर्पणखा के प्रणयनिवेदन का तिरस्कार करने में एक ही प्रकार की युक्तियाँ उल्लिखित हैं। राम को दी गयी युक्ति का उल्लेख हो चुका है। लक्ष्मण अपने को दास कहकर वंचित करते हैं—

"सुन्दरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।
पराधीन नहिं तोर सुपासा॥"

इसपर जब नहीं मानती है, तो 'भट्टिकाव्य' के अनुसार 'चौदह वर्ष' तक अर्थात् अपने मुनिव्रत की अवधि समाप्त होने तक प्रतीक्षा करने के लिए कहते हैं। 'रघुवंश' और 'उदार राघव' में लक्ष्मण उसे 'पूज्या' अतएव 'त्याज्या' कहकर पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। पर 'रामचरित मानस' में लक्ष्मण उसकी निर्लज्जता से खीझकर कह उठते हैं।

"....तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई" ऐसी बातों को सुनकर वाल्मीकि रामायण की शूर्पणखा सत्य मानती है—

"इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी।
मन्यन्ते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा॥"

तात्पर्य यह है कि राम-साहित्य भर में शूर्पणखा कामातुरा, छिछोरी, कुलटा, स्वैरिणी और निर्लज्जा के रूप में चित्रित की गयी है। अतएव इस प्रसंग में कवियों ने भरपूर व्यंग्य और हास्य का समावेश किया है।

इस प्रकार शूर्पणखा के चरित्रांकन में मूलभूत एकता के होते हुए भी उसपर युग की छाप अलग-अलग दिखाई देती है। जहाँ वाल्मीकि रामायण, उदार राघव आदि की शूर्पणखा भोली-भाली और सत्य-भाषिणी है, वहीं रामचरित मानस पंचवटी आदि में वह अनृत भाषिणी, षड्यंत्रकारिणी और प्रगल्भा है।

शूर्पणखा के इस चरित्रांकन से स्पष्ट हो जाता है कि उसका विरूपीकरण क्यों करना पड़ा। कहा गया है कि उत्तम वर्गवालों को वाग्दंड, मध्य-वर्गवालों को वित्तदंड और अधमों को देहदंड देना धर्मसम्मत है। जो नारी पर-पुरुषों से बारी-बारी से निस्संकोच काम-तृप्ति की याचना करें और अपनी इच्छा को ठुकराये जाते देखकर सीता को उसका कारण मानकर उसपर झपटने लगे और पशुबल से प्यार पाने की उम्मीद रखकर घोषणा करे कि—

"अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीं।
त्वया सह चरिष्यामि निस्सपत्ना यथा सुखम्॥"

वह स्त्री अवश्य अधम वर्ग की है और देहदंड ही उसके लिए योग्य है। अलावा इसके आत्मरक्षा के लिए भी अंगभंग कर देना अनिवार्य बन जाता है।

वाल्मीकि रामायण में राम की आज्ञा पाकर लक्ष्मण तलवार से शूर्पणखा के कान और नाक काट डालते हैं। 'नृसिंह पुराण' में राम की आज्ञा 'पत्र' के रूप में है जिसमें लिखा रहता है कि शूर्पणखा की नासिका काटी जाय। 'प्रसन्न राघव', 'भट्टिकाव्य', बालरामायण और 'चम्पूरामायण' में नृसिंह पुराण के अनुसार केवल नाक के कट जाने का उल्लेख है, पर 'मानस', 'पंचवटी', 'रामायण दर्शनम्' आदि में वाल्मीकि रामायण के अनुसार नाक और कान—दोनों के काटे जाने का। किंतु 'उदारराघव', 'महावीर चरित' और 'अनर्घ राघव' में नाक, कान और ओंठ के कट जाने का वर्णन है। 'रामकथा', 'कंब रामायण', 'आनंद रामायण' आदि में इन तीनों के साथ स्तनों के भी कट जाने का जिक्र है।

'रामायण दर्शनम्' में शूर्पणखा—चंद्रनखा का विरूपीकरण सहसा अनिरीक्षित भाव से हो जाता है। राम से तिरस्कृत होकर चंद्रनखा निराश खड़ी रहती है, तब तक कुटीर में लक्ष्मण

प्रवेश करते हैं। उन्हें देखकर, उनके सौंदर्य से अभिभूत होकर उसपर झपटती है। घोर तपोव्रत-धारी लक्ष्मण उस स्त्री को रोकने के उद्देश्य से हाथ हिलाकर हट जाने का सकेत करते हैं। हाथ मे तलवार रहती है। तब तक निकट आयी हुई उस स्त्री क नाक-कान छिल जाते हैं।

'रामचरित मानस' मे शूर्पनखा के अग-भग को न केवल उसकी कुलटा-वृत्ति का उचित दड माना है, बल्कि इसे रावण को चुनौती भी माना है।

"लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहूँ मनो चुनवती दीन्हि॥"

विरूपीकृत शूर्पणखा पहले खर-दूपणो को उकसाती है, जो चौदह हजार राक्षसी सेना लेकर आक्रमण करते हैं और युद्ध मे मारे जाते हैं। तब शूर्पणखा रावण क दरबार मे विलपती-कलपती जा पहुँचती है और रावण को सीतापहरण के लिए प्रेरित करती है। वाल्मीकि जी ने पूरे एक सर्ग में शूर्पणखा की डाँट डपट का वर्णन किया है। 'अध्यात्मरामायण में इस अवसर पर राजनीति का उपदेश और रावण के दौर्बल्य का विश्लेपण है। वहाँ शूर्पणखा कहती है—

"चार चक्षुर्विहीनस्त्व कथ राजा भविष्यति।
जनस्थानमशपेण मुनीना निर्भय कृतम्॥
न जानासि विमूढस्त्वमतएव मयोच्यते॥"

'मानस' मे भी इस प्रसग मे राजनीति शास्त्र का उपदेश देकर शूर्पणखा खरदूपणादि के मारे जाने का समाचार सुनाती है और "सुनि दससीस जरे सब गाता।"

इस प्रकार राम-साहित्य में सीतापहरण का कारण शूर्पणखा विरूपीकरण को ही माना है।

'बालरामायण' में शूर्पणखा अयोध्या के निकट वनवास के पूर्व ही राम-लक्ष्मण द्वारा तिरस्कृत एव विघ्न हो जाती है और सीधे रावण के पास आकर प्रतिशोध लेने के लिए उकसाती हुई कहती है कि परम सुदरी सीता की माँग तुम्हारे लिए करने गयी, तो मेरी यह दुर्दशा हुई। तब रावण कहता है, "दाशरथि विनाशाय कारण-द्वयी सपन्ना सीता शूर्पणखा च।"

जैन रामायणो में शूर्पणखा के विरूपीकरण का उल्लेख नहीं है। गुणभद्र के उत्तर पुराण मे सीता-हरण के पूर्व सीता के सतीत्व की परीक्षा लेने रावण शूर्पणखा को वाराणसी भेज देता है। 'पउमचरिय' में इस घटना का वर्णन लोक-प्रचलित धारणा के विपरीत ढग से हुआ है। वहाँ चद्रनखा (शूर्पणखा) लक्ष्मण पर आसक्त नहीं होती, पर लक्ष्मण ही चद्रनखा के सौंदर्य से पराभूत होकर, राम की आँख बचाकर सीधे वन जाता है और व्यर्थ ही उस चद्रनखा की खोज विरहाकुल हो करने लगता है। 'पद्मचरितम्' में लक्ष्मण के विरह का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है—

"पुनरालोकनाकाक्षी विरहादाकुलोऽभवत्।
अटवीं पादपद्माभ्या बभ्रामान्वेपणातुर॥"

जैन रामायणो मे शूर्पणखा अथवा चद्रनखा का परिचय सविस्तार मिलता है। वह शबूक की माँ है, जिसका वध अनजाने ही लक्ष्मण द्वारा हो जाता है। वह रावण की बहन है और उसका विवाह विद्याधरवशी राजकुमार खरदूषण से हुआ रहता है। वह बडी चतुरा और कामरूपिणी भी मानी गयी है।

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाड मे शूर्पणखा का परिचय किंचित् मिलता है। वह रावण की

बहन है जिसका विवाह दानवेन्द्र विद्युज्जिह्व से हो जाता है। पाताल की विजययात्रा के अवसर पर रावण अश्मनगर के युद्ध में अपने बहनोई का संहार कर देता है। शूर्पणखा के द्वारा भर्त्सित होकर रावण चौदह हज़ार राक्षसी सेना को खर के नेतृत्व में उसके अधीन करके जनस्थान भेज देता है। खर उसका मातृश्वसेय अर्थात् मौसेरा भाई है। दूषण भी उसका भाई है। एक जगह उल्लेख आया है कि "भ्रातरौ खर-दूषणौ"।

इसके अतिरिक्त न वाल्मीकि रामायण में न अन्य किसी जैन या जैनेतर रामायणों में शूर्पणखा या चंद्रनखा का विशेष परिचय मिलता है। कतिपय संस्कृत नाटक साहित्य में राम-निर्वासन के अवसर पर शूर्पणखा का उल्लेख मिलता है। 'रामायण मंजरी' में वह कैकेयी के रूप में राम-निर्वासन का कारण बनता है। 'महावीर चरित' में शूर्पणखा मंथरा बन जाती है और विवाह के अवसर पर कैकेयी का एक जाली पत्र ले जाकर मिथिला से ही राम को वन भेज देने में कृतकृत्य हो जाती है। 'आश्चर्य चूड़ामणि' में सीतापहरण के बाद स्वयं सीता बनकर वह राम से बातें करती रहती है। तात्पर्य यह है कि नाटक-साहित्य में अद्भुतरस के निरूपण के लिए भरपूर शूर्पणखा का उपयोग हुआ है।

जो हो, राम-साहित्य में सीतापहरण के पूर्व बवंडर-सी आनेवाली शूर्पणखा सहसा अगोचर हो जाती है। क्या वह राम-रावण युद्ध के अवसर पर जीवित नहीं रही? रही हो तो क्या उसका उसपर कोई असर नहीं पड़ा? पड़ा हो तो कैसे और उसकी प्रतिक्रिया क्या थी? इन सब बातों में सभी राम-साहित्य मौन है। पर कन्नड़ के महाकवि कु. वें. पु. ने अपने 'रामायण दर्शनम्' में सहज कल्पना के सहारे चंद्रनखा के संबंध में मानव बुद्धि ग्राह्य रूप ब्योरा देने में सफल प्रयत्न किया है।

चन्द्रनखा लंका पर बीती विपत्परंपरा से व्यथित एवं जर्जरित हो जाती है। एक बार पश्चात्ताप से प्रदग्ध होकर वह एकांत में रावण से मिलने अंतःपुर में प्रवेश करती है। पुत्रशोक से विदीर्ण, स्वजननाश से परिलप्त, राष्ट्रनाश से किंकर्तव्यविमूढ बनकर रावण लेटा है। चन्द्रनखा उसके चरणों में अपना माथा लगाकर सिसकती हुई बैठ जाती है। रावण से पूछे जाने पर कारण देते हुए कहती है—

"मैं बड़ी पापिनी, पश्चात्ताप कर रही।
आप चली आई कर लेने प्रायश्चित्त को॥"

फिर रावणेश्वर से प्रार्थना करती है कि मैथिली को लौटा देने की अनुमति दें, ताकि अपने हाथ से जो आग सुलगा चुकी है, उसे अपने हाथ से ही बुझा सके। यद्यपि प्रारंभ में रावण उसकी बात टाल देता है और कहता है कि उसकी सुलगायी आग अब बुझाए नहीं बुझेगी, क्योंकि वह दावानल बनकर प्रज्वलित है और लंका के सर्वस्व स्वाहा हो जाने के बाद ही बुझ पायेगी। तब भी चंद्रनखा सीता को लौटा देने के लिए रावण को मना लेती है, क्योंकि स्वयं रावण के हृदय में अशोकवन में रहनेवाली सीता के प्रति काम-तृष्णा बुझ गयी है। पर रावण उस अवसर पर और ही कुछ संकल्प करता है। वह चाहता है कि

युद्ध में राम को जीतकर लाना चाहता है और अपने सतीत्व के बल पर रावणेश्वर को हर रीति से पराजित करनेवाली "देवी" के चरणों में भेंट चढाना चाहता है। पर देव उसके प्रतिकूल है। उसका मनोरथ पूर्ण नही होता।

खैर, 'रामायण दर्शनम्' मे कवि द्वारा रामसाहित्य की कमी दूर कर देने का सफल प्रयत्न हुआ है। कामचारिणी, मदनविह्वला चद्रनखा, पश्चात्तापिनी बनकर सबके सहानुभूति प्राप्त करनेवाली बन जाती है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण मे शूर्पणखा के अगले जन्म का उल्लेख है। राम से तिरस्कृत होकर शूर्पणखा पुष्करक्षेत्र मे घोर तप करती है। ब्रह्मदेव के प्रत्यक्ष होने पर राम को पति रूप मे पाने की अपनी इच्छा प्रकट करती है। ब्रह्मदेव कहते हैं कि इस अवतार मे राम एक पत्नीव्रतधारी हैं, अतएव वह अगले जन्म मे पति के रूप में पा सकेगी। इस वरदान से सतुष्ट होकर वह अपने शरीर को अग्नि मे होम करके अगले जन्म मे कुब्जा बनकर कृष्णावतारी राम को पति के रूप मे पाती है।

यद्यपि इस वृत्तांत का अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता है, रामायण में जब वैष्णवी भक्तिभावना का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ा, तब इस वृत्तात को प्रेरणा मिली होगी। कारण यह कि राम की प्रतिज्ञा थी, अपनी शरण मे चाहे जिस किसी भाव से आये हो, उसको अभय देना अपना व्रत है। तब शूर्पणखा का त्याग कैसा युक्तियुक्त है! कामातुरता से ही सही उनकी शरण तो आयी थी। अतएव अगले जन्म मे कुब्जा के रूप मे उसके स्वीकार करने की कल्पना जागृत हुई होगी।

अत मे इतना और कहना चाहते हैं कि शूर्पणखा का स्मरण भारतीय जनता का एक वर्ग अभिमान और पूज्य भाव से करता आ रहा है। 'कोचिन ट्राइब्स एड कस्टम्स' नामक ग्रथ में अनंतकृष्ण अय्यर ने बताया है कि मलयाली नत्तु-स्त्रियाँ शूर्पणखा की सतान मानी जाती हैं और नीलगिरि मे अब तक शूर्पणखा की पूजा की जाती है।

★

विदेशी भाषा के माध्यम ने जिसके जरिये कि भारत म उच्च शिक्षा दी जाती है हमारे राष्ट्र को हद से ज्यादा बौद्धिक और नैतिक आघात पहुँचाया है। जिन विषयो को सीखने मे मुझे चार साल लग गये अगर अग्रेजी के बजाय गुजराती मे मैंने पढा होता तो उतना मैंने एक ही साल मे आसानी से सीख लिया होता। इस अग्रेजी माध्यम ने मेरे और मेरे कुटुबियो के बीच जो कि अग्रेजी स्कूलो मे नही पढे थे, एक अगम्य खाई खडी कर दी है।

—महात्मा गाधी

श्री ति. शेषाद्रि, एम. ए.,
99, भारती रोड, मदुरै-11

कम्बन् की कवि-दृष्टि

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ। मदुरै क्षेत्र के स्कूलों में हेडमास्टरी करते समय भी आप सभा के विद्यालयों का शिक्षा-संस्कार भूले नहीं और न हिन्दी का ही आँचल छोड़ा। मद्रास विश्वविद्यालय से हिन्दी की स्नातकोत्तर शिक्षा पाने के बाद एक लंबे अरसे से आप मदुरा कॉलेज के हिन्दी विभाग को सँभालते आ रहे हैं। मातृभाषा तमिल तथा हिन्दी में आप समान सृजन-प्रतिभा रखते हैं। अनुवाद की दिशा में आपकी तमिल-सेवा उल्लेखनीय है। तुलसी के "मानस" का तुलनात्मक कथावाचन आपका प्रिय शग़ल है।

भावेक्षण में विचित्र तथा अतिशय (अन्यों के लिए असुलभ) पैनाई तथा भावव्यंजना में विदग्धता ही कवि को अन्यों से पृथक करती है। कवि में वैज्ञानिक भी है और दार्शनिक भी। यह सभी भाषाओं के सभी कालों के कवियों के लिए सामान्य गुण है। तब क्या आश्चर्य है कि सभी कवियों में, गहरे पैठकर देखते वक्त, कई साम्य अनायास दिखाई देते हैं, जो तुलनात्मक अध्ययन-कर्ता को आनन्दविह्वल कर देते हैं। इस लघु लेख में कम्बन और तुलसी का एक भाव-साम्य, उस भाव के साथ अभिव्यंजना-विशेषता में देखने का प्रयास किया जाता है।

शृंगार रस रसों का राजा कहा गया है। प्रेमचंद ने तो यहाँ तक कह दिया कि शृंगार ही सत्य है। जो हो, उसके वर्णन में कवियों ने तब से अब तक अपनी कलमें तोड़ दी हैं। आज भी उससे न कवि, न पाठक ही बाज आते देखे जाते। विषय ही ऐसा है।

सीता-राम का पूर्व मिलन तुलसी और कम्बन दोनों के लिए प्रिय विषय है। रामचंद्र ने सीताजी को देखा और सीताजी ने भी अपने भावी पतिदेव कुँवर राम को देखा। देखना माने अपनी आँखों द्वारा परस्पर इंद्रियग्राह्य बना लेना। "अण्णलुम् नोक्किनाळ् अवनुम् नोक्किनान्"—प्रभु ने भी देखा; उसने भी देखा। इस शब्द प्रभु में कम्बन का श्रीरामचंद्र के प्रति गौरव बुद्धि परिलक्षित है। यही नहीं, साहित्य में स्त्रियों का जल्दी प्रेमवश हो जाना स्वाभाविक समझा जाता है, चाहे प्रत्यक्ष जीवन का यथार्थ कुछ भी हो। अतः रामचंद्रजी का देखना मानों एक कृपा-प्रसाद हुआ। 'उसने भी' में विशेषता है। ऐसा जिस किसीका भी मुख देखनेवाली युवती नहीं थी वह! अच्छा, इससे भी गहरा कोई कारण और है क्या? हाँ, है—भारत में आर्य विश्वास यह है कि विवाह जन्म-जन्मांतर से लगातार क्रम से आनेवाला बंधन है। अतः कम्बन ने साफ़

कहा, "मुन्बु पिरिन्दवर कूडिनाल्"—पहले जुडे थे, बीच में पृथक हुए, अब मिलते हैं—तो कौन क्या प्रश्न कर सकता है? "पेशवुम् वेण्डुमो?" का अर्थ—राम-सीता अब क्या बोलें! या इसमे बोलने को (पूछने या समाधान करने को) क्या है? तुलसीदास का भी वही प्रश्न है—"प्रीति पुरातन, लखै न कोई!" कोई न प्रश्न करे!

तब उसका फल क्या हुआ?

"मारिल्पुक्किदयमेय्दिनार!"

राम ने सीता के अदर प्रवेश किया और सीता ने राम के अदर प्रवेश किया। यो प्रवेश कर दोनो ने यह पाया कि अपने अपने ही स्थान पर आ गये हैं। सो कैसे? सीता जी के मन मे तो राम थे और रामचद्रजी के मन मे सीता थी। यह प्रवेश तो स्वाभाविक ही है!

इसी भाव को लेकर आगे एक घटना बताते हैं, दोनो कवि। रामचद्र जी ने सीता जी के (दिल के) अदर प्रवेश किया। सीता जी की शिकायत है (कम्बन के शब्दो में) कि वह चोर है जिसने मेरे अदर प्रवेश किया। रामचद्र जी पर अपराध लगाना तुलसीदास जी को मानो उचित नहीं लगता। किसीको अन्दर खीच लाओ, फिर किवाड बद करो तुम्ही, और शोर मचाओ तुम्हीं कि चोर है चोर है! उनका कहना है "लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हे पलक कपट सयानी!" अब कहिये कि सीता सयानी हैं कि राम चोर हैं? आकर्षण का जोर तो परस्पर है।

जो हो, बात साफ है दोनो कवियो मे कवि तथा सामाजिक प्राणी नेता का सघर्ष है।

कम्बन को भी अदर घुसने देकर—खीच लाकर पलक किवाड बद करने का भाव लुभाने से दूर रह नही सका। लेकिन वह इस भाव का अन्यत्र सरस वर्णन करते हैं।

श्रीरामचद्र जी मिथिला नगरी की विशाल वीथियों की सैर करते आ रहे थे। तब युवतियों ने उन्हें देखा। स्त्री, पुरुष सभी ने देखा। मत्र-मुग्धवत् हुए उनकी चेष्टाओं का वर्णन कम्बन सविस्तार करते हैं।

एक युवती का हाल सुनिये—

மைக்குழற் கூந்தற் செவ்வாய்
வாணுதலொருத்தி யுள்ளம்
நெக்கனளுருகி யின்றாள்
நெஞ்சிடை வஞ்சன் வந்து,
புக்கனன் போகா வண்ணம்
கண்ணெனும் புலங்கொள் வாயில்
சிக்கென வடைத்தேன் தோழி
சேருது மமளி யென்றாள்

मैक्कुळड् गून्दर्चेंव्वाय् वाणुदलोरुत्ति युळळम्
नॆक्कनळुरुहु हिन्राळ् नॆञ्जिडै वञ्जन् वन्दु,
पुक्कनन् पोहावण्णम् कण्णेनुम्पुलगोळ वायुम्
शिक्कॆन वडैत्तेन् तोषि शेरुदुममळि येन्राळ् ॥

काली केशराशि, लाल मुख, तलवार सा ललाट वाली एक (युवती) का दिल मोम बन गया। वह पिघल रही है। सवेदन के मारे सखी से कहती है—वह वचक दिल के अदर आकर घुस बैठा है। मैंने आँख रूपी किवाड को झट बद कर लिया। चलो सखि! शय्या पर चलें।

ऐसी सतही सचेतना कवि दृष्टि मे ही सजीव उभर सकती है।

★

डॉ. देवेश ठाकुर
हिन्दी विभाग,
रामनारायण रुइया कॉलेज, बंबई

मानवतावादी आदर्श के आख्याता : आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

निबंध, समीक्षा, कविता, आख्यायिका आदि बहुमुखी विधाओं के प्रति सर्जन प्रतिभा रखनेवाले आप हिन्दी के उदीयमान साहित्यकार हैं। हिन्दी भाषी होने पर भी अहिन्दी प्रदेश में हिन्दी प्राध्यापन कार्य आपको इष्ट है। संप्रति बंबई के रामनारायण रुइया कॉलेज में हिन्दी विभाग से आप संबद्ध है।

आज की संघर्ष बहुल सामाजिक परिस्थितियों ने मानव-जीवन के मध्य बड़ी विषमताएँ उत्पन्न कर दी हैं। एक ओर व्यक्ति अपनी दिन प्रति दिन बढ़ती हुई बौद्धिकता से आक्रान्त है और दूसरी ओर व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य विभेद की खाइयों का निरन्तर विस्तार हो रहा है। आज का व्यक्ति-समाज वस्तुतः एक विचित्र-सी मनःस्थिति का शिकार होकर रह गया है। उसने एक ओर अपने बुद्धि-बल से अपने जीवन की सुविधा के लिए अतुल साधनों को आविष्कृत कर लिया है और दूसरी ओर इन साधनों के असम वितरण ने एक बड़े वर्ग को शोषण की अतिशय कठिन स्थिति में फँसाकर रख दिया है। परिणाम स्वरूप उदात्त प्रवृत्तियों के विस्तार के अवकाश धूमिल हो गये हैं और व्यावहारिक जीवन के मध्य सर्वत्र कटुता व्याप्त हो गयी है।

ऐसी कठिन स्थिति में साहित्यकार का दायित्व भी बढ़ जाता है। यह ठीक है कि साहित्यकार अपने युग का व्याख्याता होता है। लेकिन समर्थ साहित्यकार केवल व्याख्याता होकर ही नहीं रह जाता, वह समाज के निदेशक का कार्य भी करता है और समाज के निदेशक साहित्यकार का स्वस्थ, रचनात्मक और व्यापक दृष्टि से आपूर्ण होना आवश्यक है। आज की युगीन परिस्थितियों ने जब मनुष्य-मनुष्य के मध्य विभेद की तीव्र भावना उत्पन्न कर दी है, तब प्रतिबद्ध साहित्यकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह समाज में मानव के महत्व की प्रतिष्ठा करते

हुए मानव-मानव के मध्य उत्पन्न हुई संधियों में आस्था, विश्वास और सहयोग का पराग भरे और इस सम्पूर्ण सृष्टि में सम्पूर्ण मानव जाति के लिए उत्थान और प्रगति का पथ निर्देशित करे।

योरोपीय साहित्य में व्यक्ति की प्रतिष्ठा के प्रयत्न उन्नीसवीं शती में ही आरम्भ हो गये थे। कार्लाइल, रस्किन, रूसो, मॉन्टेग्यू, वॉल्टेयर, न्यूमैन, एमर्सन, हैनरी डेविड, गोर्की, टॉलस्टॉय, दॉस्तावस्की और आगे चलकर बर्ट्रेण्ड रसैल आदि की रचनाओं ने मानव की प्रतिष्ठा की यह अनुगूंज ही विशेष रूप से व्याप्त हुई परिलक्षित होती है। व्यक्ति के महत्व-स्थापन के इसी आदर्श को साहित्य और दर्शन में मानववाद की संज्ञा दी गयी है।

आदर्श-स्थापना के संदर्भ में हिन्दी साहित्य में मानवतावादी दृष्टि को विशेष महत्व मिला है। यद्यपि युगीन परिस्थितियों के अनुकूल अन्य प्रवृत्तियों और आदर्शों को भी समर्थ साहित्यिकों द्वारा यथेष्ट अभिव्यक्ति मिली है, फिर भी उदात्त मानवीयता से उनकी दृष्टि सदा सम्पृक्त रही है और इसीसे आधुनिक हिन्दी साहित्य में मानवतावादी आदर्श का अजस्र प्रवाह प्रवाहित हुआ लक्षित होता है। हिन्दी साहित्य के नव्यतम काल-खंड (1946 के उपरान्त) में यह मानवतावादी प्रवृत्ति मानववादी आदर्श की पीठिका पर ही विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई है और इस मानववादी प्रवृत्ति को उदात्त सामंजस्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है।

हिन्दी [illegible] में व्यक्तित्व के महत्व की स्थापना [illegible] तर्कपूर्णता और आस्था के साथ द्विवेदीजी कर सके हैं, शायद उस प्रकार और उस मात्रा में अभी तक अन्य कोई नहीं कर सका है। उनका मनुष्य की जीवनी-शक्ति में बड़ा विश्वास है। उनके अनुसार मनुष्य ने निरन्तर संघर्ष करके इस सृष्टि में अपना विशेष स्थान बनाया है। आज की सृष्टि उसीकी दुर्दम जिजीविषा का परिणाम है। और यह जिजीविषा पवित्र और शाश्वत है।[1] मनुष्य इस जिजीविषा के कारण ही महान नहीं है, बल्कि वह इसलिए भी महान है कि उसमें मनुष्यता है। ऐसी मनुष्यता जो उसे पशु से अलग कर देती है। अपनी इसी मनुष्यता के कारण मानव आराध्य है। द्विवेदीजी के अनुसार साहित्य और राजनीति का लक्ष्य मनुष्य की इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति होना चाहिए।[2] उन्हें भारतीय जीवन-दर्शन पर अटूट आस्था है। वे उसमें समस्त मानव जाति का कल्याण करने की सामर्थ्य पाते हैं। साथ ही वे यह भी लक्ष्य करते हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में अब तक की हमारी समस्त उपलब्धियाँ मनुष्य की अद्भुत बुद्धि की कण-मात्र हैं। मनुष्य इन सबसे बड़ा है और उसमें अनन्त संभावनाएँ छिपी हुई हैं।[3] साहित्य का उद्देश्य भी मनुष्य समाज के मध्य उदात्त आदर्शों की स्थापना करना होना चाहिए—ऐसे आदर्शों की स्थापना करना जिससे समूची मनुष्यता (मनुष्य जाति) लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न

---

1 अशोक के फूल, पृष्ठ 15

2 अशोक के फूल, पृष्ठ 43.

3 अशोक के फूल, पृष्ठ 49

करे, कोई किसीका आश्रित न हो, कोई किसीसे वंचित न हो।[1] वे साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। उनकी स्थापना है कि जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।[2] वे चाहते हैं कि सम्पूर्ण मानव-जाति का सर्वांगीण विकास हो। दीर्घकाल से ज्ञान के आलोक से वंचित मनुष्यों को हम ज्ञान दें। शताब्दियों से गौरव से हीन इन मनुष्यों में हम आत्म-गरिमा का संचार करें। अकारण अपमानित इन मूक नर कंकालों को हम वाणी दें। और यह काम साहित्य के द्वारा ही हो सकता है।[3] उनकी स्थापना है कि साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित-साधन करता है या नहीं। जिस बात को कहने से मनुष्य पशु सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता, वह त्याज्य है।[4] उनके अनुसार सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना का नाम ही साहित्य है।[5] और साहित्य से उनका आशय मनुष्य की सब प्रकार की सात्विक चिन्तन धारा से है।[6] मनुष्य-जाति में एकता स्थापित करने में साहित्य कला और विज्ञान का बड़ा योग होता है। मनुष्य जब

1. अशोक के फूल, पृष्ठ 60.
2. अशोक के फूल, पृष्ठ 168.
3. अशोक के फूल, पृष्ठ 178.
4. अशोक के फूल, पृष्ठ 179.
5. कल्पलता, पृष्ठ 185.
6. कल्पलता, पृष्ठ 189.

संस्कार-जन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमण कर देता है तो उसमें मनुष्य की विराट एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। यह अतिक्रमण साहित्य द्वारा बड़ी सहजता से किया जा सकता है। द्विवेदीजी मानव के मंगलमय भविष्य की चिन्ता से चिन्तित हैं।[1] साहित्य मानव में उदात्त प्रवृत्तियों को विकसित करता है। मानव-हित का विरोधी साहित्य उनकी दृष्टि में साहित्य ही नहीं है।[2] व्यक्ति निरन्तर श्रेष्ठता प्राप्त करे, इसके लिए उनकी दृष्टि में व्यक्ति का संवेदनशील बनना, अज्ञान-मूलक संस्कारों से मुक्त होना तथा पशु-सहज धरातल से ऊपर उठकर सुसंस्कृत बनना आवश्यक है। "ततः किम" में भी उन्होंने मानववादी दर्शन के विषय में विचार किया है। आज समाज में बुद्धि तत्व ने उत्पात मचा रखा है। इसकी अतिशयता ने मनुष्य को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। द्विवेदीजी में इस बुद्धि तत्व को संतुष्ट करने की व्यथा भरी हुई है। इसकी संतुष्टि में ही मानव का कल्याण निहित है। उन्होंने जोर देकर मनुष्य जाति के उन्नयन और कल्याण की बात बार-बार कही है। मानव की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने एकाधिक बार इस बात पर जोर दिया है कि यह कार्य साहित्य के द्वारा सहज रूप से सम्भव है। उनके अनुसार साहित्य साधन है, मनुष्य साध्य। साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है। ...." इस

1. साहित्य का मर्म, पृष्ठ 39.
2. विचार और वितर्क, पृष्ठ 85.
3. विचार और वितर्क, द्रष्टव्य पृष्ठ 68-87.
4. विचार और वितर्क, 64-64.

युग में साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो।"[1] मानव धर्म में भी उनकी मानववादी दृष्टि स्पष्ट लक्षित होती है। उनका कथन है कि मनुष्य एक है और इसीलिए मूल मानव-धर्म भी एक है। मानव जाति के लिए एक धर्म की योजना इस युग की आवश्यकता नही, वरन् युग का अनुभूत सत्य है। इस सत्य को समन्वय के आदर्श द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। समन्वय का अर्थ यह है कि हम मनुष्य की मूल एकता को स्वीकार करें और उस विशाल मानवतावाली दृष्टि को अपनाएँ जो समग्र मनुष्य जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार की कुशिक्षा, कुसंस्कार और अभावो के बन्धन से मुक्त करके उसे जीवन की उच्चतर चरितार्थता की ओर ले जाने का प्रयास कर रही है।[2]

आचार्य द्विवेदीजी की यह मानववादी दृष्टि उनके निबन्धो की ही आधार नही है, बल्कि उनकी औपन्यासिक कृति "वाणभट्ट की आत्मकथा" मे भी अपनी सम्पूर्ण सकलशीलता के साथ प्रकट हुई है। भट्टिनी द्वारा जातिवाद के विरोध में मानववाद की ही प्रतिष्ठा का प्रयास है।[3] वह मानव कल्याण की सदेशवाह लगती है। उसके प्रत्येक प्रयास में मनाव की मगल कामना और उसके प्रति अपार सवेदना लक्षित होती है। बाण-भट्ट के प्रति उसके अगाध स्नेह और सम्मान का भाव है। उसके इस कथन मे इसी मानववादी आदर्श की ध्वनि निहित है—"भट्ट, तुम इस भवकानन के पारिजात हो। तुम इस मरुभूमि के निर्झर हो। तुम्हारी वाणी मेरी जैसी अबलाओं मे भी आत्मशक्ति का सचार करती है। तुम्हारी छाया पाकर अबलाएँ भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती हैं।....एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती है। एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़कर अशान्ति का कारण और क्या हो सकता है।"[1]

वस्तुत द्विवेदी जी का सम्पूर्ण साहित्य मानव-वादी दृष्टि से लिखा गया साहित्य है। उसमे मनुष्य के प्रति, उसकी मनुष्यता के प्रति और इस प्रकार से सम्पूर्णालोक के प्रति आस्था और मगल की कामना स्पष्ट और सहज रूप से व्यक्त हुई है। उनमें सयम भी है और औदार्य भी। मनुष्य की शक्ति में उनका अमिट विश्वास है। और इसीलिए उनके सपूर्ण साहित्य मे मनुष्य की महत्ता परिलक्षित होती है। यह ठीक है कि वे आदर्शवादी दृष्टि को लेकर चले हैं, लेकिन उनका आदर्शवाद सृष्टि के निरन्तर विकास की प्रक्रिया पर आधारित और इसीलिए तर्कसगत और व्यवहार्य है।

इसी संदर्भ मे उन्होने उदात्त मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा का भी प्रयत्न किया है। व्यक्ति को अधोगामी प्रवृत्तियो का संस्कार करने के लिए उन्होने अपने साहित्य मे उन उच्चतर विचारों को अभिव्यक्ति दी, जो व्यक्ति की सवेदना का सस्पर्श कर, उसकी सात्विक प्रवृत्तियो को जागृत होने की प्रेरणा देते है। उनका कथन है कि 'आज हमे ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो हमारे युवकों मे मनुष्यता के लिए बलि होने की उमग पैदा करे, अन्याय से जूझने का उन्माद पैदा करे और अपने अधिकारो के लिए मिट जाने के अकुठ

1 विचार और वितर्क, पृष्ठ 71

2 कुटज, पृष्ठ 93

3. वाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ 278

1 वाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ 279-280

साहस का संचार करे।[1] आज की साहित्यिक कृतियों के अम्बार में वे उन्हीं रचनाओं को प्रगतिशील मानने को तैयार हैं जिनमें नये सिरे से संसार को उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प है।[2] वे उस शिक्षा को निरर्थक मानते हैं जो दूसरों के शोषण में, अपने स्वार्थ साधन में ही अपनी चरम सार्थकता मानती हो। वे चाहते हैं कि साहित्यकार अपने महान उद्देश्य के अनुकूल बनाकर ही लेखन कार्य में रत हो।[3] आज के संघर्षशील और शंका तथा सम्भ्रम के कोहरे से आक्रान्त विश्व में वे प्रेम, त्याग और मंगलकारी ज्ञान की प्रतिष्ठा चाहते हैं। उनकी दृष्टि में प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है और मनुष्य मात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बनानेवाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है और इनपर आधारित साहित्य ही संसार को नया प्रकाश दे सकने में समर्थ हो सकता है।[4] अपने देश के साहित्यकारों से उनका अनुरोध है कि वे अपने देश को समस्त गुण दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो इस जीर्ण देश में ऐसे नवीन अमृत का संचार करे कि वह एक दृढ़ चेता व्यक्ति की भांति संसार से घृणा और अन्याय को मिटा देने के लिए उठ खड़ा हो।[5] द्विवेदी जी के चिन्तन का उदात्त स्वरूप उनकी सामान्य मानव संस्कृति की कल्पना को लेकर है। उनकी स्थापना है कि ज्यों-ज्यों विज्ञान विभिन्न जातियों को परस्पर लाता जाएगा, त्यों-त्यों हम सामान्य व्यापक सत्य को पाते जाएँगे।[6] और

1. अशोक के फूल, (सावधानी की आवश्यकता) पृ. 44
2. अशोक के फूल, (सावधानी की आवश्यकता) पृ. 45
3. अशोक के फूल, (सावधानी की आवश्यकता) पृ. 50
4. अशोक के फूल, (सावधानी की आवश्यकता) पृ. 51
5. अशोक के फूल, (आपने मेरी रचना पढ़ी ?) पृ. 52
6. अशोक के फूल, (भारतीय संस्कृति की देन) पृ. 78

जब द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति का आधार लेकर सामान्य मानव संस्कृति की बात कहते हैं तो इसमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं खोजी जानी चाहिए। क्योंकि वे भारतीय संस्कृति के केवल उसी अंश को ग्रहण करने की बात कहते हैं जो मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित और अग्रसर करने की क्षमता से युक्त हैं।[1]

द्विवेदी जी की मानववादी दृष्टि उदात्त मानवीयता से ही समन्वित होकर व्यक्त हुई है। एक कुत्ता और एक मैना (अशोक के फूल, पृष्ठ 142-147) तथा 'जीवेम शरदः शतम्' (कुटज, पृष्ठ 81-88) में एक ओर कवीन्द्र रवींद्र के प्रति उनकी निष्ठा व्यक्त होती है और दूसरी ओर पशु-पक्षियों के प्रति उनकी संवेदनशीलता भी। इन दोनों लेखों में मानवतावादी रवीन्द्रनाथ के प्रति उनकी असीम आस्था स्वयं उनकी उदार मानवीय दृष्टि की द्योतक बनकर प्रस्तुत हुई है। वे निष्ठा और साथ ही संयम के आदर्श के पक्षपाती हैं। वे इन्हें रूढ़ियाँ नहीं मानते, बल्कि उनके अनुसार ये मनुष्य के दीर्घ आयास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ आयास से ही पाये जा सकते हैं।[2] वे इस बात से भी विज्ञ हैं कि मनुष्य का इतिहास उसकी गलतियों का इतिहास है, लेकिन साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि मनुष्य अपने चिंतन के सात्विक अंश के कारण बराबर अपनी गलतियों पर विजय पाता आ रहा है।[3]

1. अशोक के फूल, (भारतीय संस्कृति की देन) पृ. 80
2. अशोक के फूल, (मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है) पृष्ठ 170
3. अशोक के फूल, (मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है) पृष्ठ 160

आज के संघर्षपूर्ण युग में व्यक्ति शस्त्र-अस्त्रों को जो बढावा दे रहा है, आचार्य द्विवेदी जी उसका विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में यह पशुता की निशानी है, उसकी बाढ को रोकना मनुष्यता का तकाजा है। मनुष्य में जो घृणा है, जो अनायास बिना सिखाये आ जाती है, वह पशुत्व की द्योतक है और अपने को संयत रखना दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है।[1] लेकिन ऐसा कहते हुए वे आत्मा के हनन का उपदेश नहीं देते। वे व्यक्ति के सम्मान की प्रतिष्ठा के लिए उसमें शौर्य-धैर्य, साहस-सत्व और धर्म की आवश्यकता अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं।[2] वे स्वीकार करते हैं कि अन्याय का विरोध और बर्बरता का उन्मूलन हमारा प्रथम कर्तव्य है। किन्तु साथ ही हमें उन मानवीय मूल्यों को भी नष्ट नहीं होने देना चाहिए जो हमारी दीर्घकालीन संस्कृति के मनोहर परिणाम हैं।[3] 'मानव धर्म' (कुटज, पृष्ठ 95 100) में उन्होंने मानवीय उदात्तता को खुलकर चर्चा की है। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार पुष्प के सामंजस्य, सौंदर्य और सुगन्ध उसका अन्तर्निहित सत्य है, जो यथासमय अवश्य प्राप्त है, उसी प्रकार मनुष्य की धर्म-बुद्धि और उसकी सहज सौन्दर्य-प्रेरणा उसका अन्तर्निहित सत्य है। वह एक-न-एक दिन अवश्य प्राप्त होगी....मनुष्य में सांस्कृतिक समन्वय बुद्धि, अहिंसा और मैत्री पर आधारित धर्म बुद्धि और सौन्दर्य के सम्मान पर आधारित कलात्मक अभिरुचि निरन्तर विकसित होती जा रही है। युद्ध और शोषण के कोलाहलों के भीतर मानवता की देवी चुपचाप किन्तु निश्चित गति से विजय की यात्रा की ओर बढ रही है।[1] आज संसार में व्याप्त हिंसा की भावना को वे जीवन का मूल स्वर नहीं मानते। उनकी स्थापना है कि मूल स्वर प्रेम का है, आत्म-दान का है, दलित द्राक्षा के समान अपने आपको निचोडकर महा अज्ञात की तृप्ति-साधना का है। सारी धरित्री इसका सबूत है, चराचर में व्याप्त व्याकुल मनोवेदना इसका समर्थन करती है।[2] यहीं पर यह भी द्रष्टव्य है कि द्विवेदीजी मानव मात्र के प्रति इस उदात्त भाव की अभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति के परिवेश में ही करते हैं। उनकी दृष्टि में यह हमारी संस्कृति का ही प्रताप है कि हम सब प्रकार से मानवता, समता और स्वाधीनता के आधार पर संसार को नया प्रकाश देने के अधिकारी हैं और मनुष्य को नयी संस्कृति देने के संकल्प के उचित पुरस्कर्ता हैं। आज संसार को इसीकी आवश्यकता है।[3]

अपने निबन्धों की भाँति द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की आत्मकथा (उपन्यास) में सात्विक और उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। वे सत्य को आत्यन्तिक कल्याण या साधन मानते हैं। उनके अनुसार 'सत्य इस समाज व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है।....देखी-सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिसमें लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता

1 कल्पलता (नाखून क्यों बढते हैं), पृष्ठ 7
2 कुटज, (राष्ट्रीय संकट और हमारा दायित्व) पृ 11
3 कुटज (राष्ट्रीय संकट और हमारा दायित्व) पृ 18

1 कुटज (मानव धर्म) पृष्ठ 99 100
2 कुटज (आत्मा का संदेशवाहक वसन्त) पृष्ठ 120
3 विचार और वितर्क (आधुनिक लेखकों का उत्तरदायित्व) पृष्ठ 233

है।....लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता वही सत्य है।[1]....इसी प्रकार प्रस्तुत कृति में हर्षवर्धन के काल के परिवेश में धार्मिक सहिष्णुता की प्रतिष्ठा के पीछे भी लेखक की उदारवादी दृष्टि ही प्रधान रही है। भट्टिनी तथा निपुणिका के चरित्रों में भी द्विवेदीजी की नारी के प्रति अपार संवेदना और साथ ही सम्मान-भावना देखी जा सकती है। वस्तुतः उनका संपूर्ण साहित्य व्यक्ति की चारित्रिक उदात्तता का प्रतिष्ठाता बनकर प्रस्तुत हुआ है। इसी सात्विक दृष्टि के कारण हिन्दी साहित्य में उनका योग सदा स्मरणीय रहेगा।

1. बाणभट्ट की आत्मकथा पृष्ठ 101-102

*

भविष्य में हिन्दी आनेवाली नवीन चेतना की सांस्कृतिक भाषा होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। अंग्रेजी में बौद्धिक सक्रियता और बौद्धिक आलोचना के तत्व हैं। मगर सांस्कृतिक अर्थ में वह अंतर्राष्ट्रीय नहीं है। इस दृष्टि से विश्व की भाषा होने की संभावना अकेली हिन्दी में ही है। हिन्दी में जो ध्वनि-संगति है, जो शांति की सूक्ष्म झंकारें परिव्याप्त हैं, जो पवित्रता है, वे बेजोड़ हैं। भावी मनुष्यत्व के तत्वों से हिन्दी परिपूर्ण होगी।

—सुमित्रानन्दन पंत

*

राजभाषा विधेयक में उत्तर प्रदेश द्वारा केन्द्र तथा बिहार जैसे राज्यों से हिन्दी में पत्र-व्यवहार के अधिकार को तो मान्यता और अनुमति दी गयी है। परन्तु तमिलनाडु को, जहाँ तमिल बोली जाती है, केन्द्र या पड़ोस के तमिलराज्य पांडिचेरी से तमिल में पत्र-व्यवहार करने का अधिकार नहीं दिया गया है। दुख की बात है कि द्राविड मुन्नेट्रकषगम ने भी विधेयक में इस तरह की धारा के लिए माँग नहीं की।

—तमिल साप्ताहिक "शंकोल" का संपादकीय अंश

*

सिर्फ दक्षिण के सदस्य ही हिन्दी का विरोध करते हों ऐसी बात नहीं है। केन्द्रीय सरकार के सभी राजपत्रित अधिकारियों का मंत्रियों पर यह दबाव रहा है कि अंग्रेजी नहीं हटे। केन्द्रीय सरकार का कोई भी विभाग हिन्दी में काम-काज करना नहीं चाहता है। अंग्रेजी नहीं समझ सकनेवालों को हीन या पिछड़ा हुआ समझने की हमारी गुलाम मनोवृत्ति ज्यों की त्यों प्रत्युत पूर्वाधिक दृढ ही हुई है।

—लोकमान्य द्वारा संस्थापित मराठी दैनिक "केसरी" का संपादकीय अंश

डॉ॰ चावलि सूर्यनारायण मूर्ति,
एम ए, पी-हेच डी,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जैन कॉलेज, मद्रास-61

हिन्दी और तेलुगु के राम-साहित्य में भाव-समानता के कतिपय स्थान
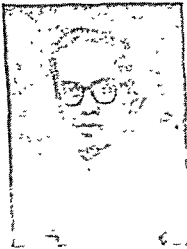
सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ। वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर हिन्दी उपाधि प्राप्त करने के बाद सागर विश्वविद्यालय से आपने पी हेच डी (हिन्दी) की उपाधि हासिल की। मातृभाषा तेलुगु तथा हिन्दी मे तुलनात्मक अनुशीलन प्रतिभा के साथ हिन्दी मे कविता एकाकी नाटक आदि विधाओ मे स्वतत्र सृजनात्मक कुशलता भी अपनी विविध कृतियों दवारा आपने प्रदर्शित की है। आपका साहित्यकार विकासशील ही नही अपितु मद्रास-केन्द्र म साहित्यानुशीलन करनेवाले एक युवा-मण्डल के गठन मे भी दत्तचित्त है। सम्प्रति आप स्थानीय जैन कॉलेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

भारतीय वाङ्मय मे वाल्मीकि कृत रामायण ऐसा सर्वप्रथम काव्य है जिसने समूचे भारत को समान रूप से प्रभावित किया जिसके परिणाम-स्वरूप सब भारतीय भाषाओ में उसके आधार पर विपुल राम साहित्य का निर्माण हुआ। भारतीय भाषाओ के इस राम साहित्य पर उस सस्कृत राम-साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव पडा जो वाल्मीकि के उत्तर काल में विभिन्न साहित्यिक विधाओ में लिखा गया। सस्कृत राम साहित्य में राम का जो रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया, उसने देशी भाषाओ के कवियों को आकृष्ट किया और उन्होंने अपनी-अपनी भावना और आवश्यकता के अनुसार उसे अपने साहित्य मे चित्रित किया। इस चित्रण मे यद्यपि देश, काल और धार्मिक परिस्थितियों के कारण थोडा बहुत अतर पाया जाता है, किंतु फिर भी वाल्मीकि रामायण में प्रतिपादित मूलरूप सर्वथा अक्षुण्ण रहा है। अस्तु।

हिन्दी और तेलुगु के मध्यकालीन राम-साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि जहाँ हिन्दी रामसाहित्य पर, जिसके सार्वभौम भक्तकवि गोस्वामी तुलसीदास थे, अध्यात्म रामायण का सर्वाधिक प्रभाव पडा है वहाँ तेलुगु के रामसाहित्य ने वाल्मीकि रामायण

का अनुसरण अधिक किया। किंतु यह निर्विवाद है कि दोनों का मूल स्रोत वाल्मीकिकृत रामायण ही है। इस छोटे-से लेख में उन कतिपय स्थानों का निर्देश किया जा रहा है, जिनमें दोनों भाषाओं के कवियों के भाव और वर्णन-शैली की समानता मिलती है।

(1) शिव-धनुर्भंग के समय रामचरितमानस में पृथ्वी, शेष, कमठ, दिग्गज आदि को संबोधित करते हुए लक्ष्मण कहते हैं :—

> दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला।
> धरहु धरनि धरि धीरन डोला।
> राम चहहिं संकर धनु तोरा।
> होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥

तेलुगु की रंगनाथ रामायण में विश्वामित्र कहते हैं—(मूल का स्वानुवाद)

> हर का चाप चढ़ाते हैं राम बाहु बल से
> चौंको मत पृथ्वी ! मन में, रहना धीरज से।
> शेषनाग ! विचलित मत होना अधीरता से
> सावधान दिग्गज ! कमठ! रहो तुम स्थिरता से ॥

दोनों कवियों के इस भाव का मूलस्रोत हनुमन्नाटक है जिसमें लक्ष्मण कहते हैं—

> पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां
> त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
> दिक्कुंजराः कुरुत तत्तितये दिधीर्षां
> रामः करोति हर-कार्मुकमाततज्यम् ॥

(2) केवट-प्रसंग में तुलसी और तेलुगु की कवयित्री मोल्ला में भावसमानता पायी जाती है। राम लक्ष्मण और सीता के साथ गंगा के किनारे पहुँचते हैं और गुह से नाव लाकर नदी पार कराने को कहते हैं तो रामचरितमानस का गुह कहता है—

> चरन कमल रज कहुँ सब कहई।
> मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥
> छुअत सिला भइ नारि सुहाई।
> पाहनतें न काठ कठिनाई।
> तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई ॥
> बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥

* * *

> बरु तीर मारहु लखन पै जब
> लगि न पाय पखारि हौं ॥
> तब लगि न तुलसीदास नाथ
> कृपाल पारु उतारि हौं ॥

केवट की यह दृढ़ भक्ति देखकर राम उसे चरण धोने की अनुमति देते हैं तो—

> केवट राम रजायसु पावा।
> पानि कठवता भरि लेइ आवा ॥
> अतिआनंद उमगि अनुरागा।
> चरन सरोज पखारन लागा ॥

इस प्रसंग में मोल्लरामायण में कहा गया— 'सुना जाता है कि राम के चरणों की धूल के स्पर्श से पत्थर स्त्री में बदल गया है। अब उसके लगने से मेरी नाव की न जाने क्या गति होगी' यों सोचकर गुह ने राम के चरण धोये। इन दोनों का मूलाधार अध्यात्म और आनंद रामायणों में मिलता है। अध्यात्म रामायण में कहा गया है—

> क्षालयामि तव पाद-पंकजम्
> नाथ दारुदृषदोः किमंतरम्।
> मानुषीकरण-चूर्णमस्ति ते
> पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥
> पादांबुजं ते विमलं हि कृत्वा
> पश्चात् परम् तीरमहं नयामि।
> नोचेत्तरी सद्युवती मलेन
> स्याच्चेद्वि-यो विद्धि कुटुंबहानिः ॥

रामचरितमानस में राम की वन यात्रा मे ग्राम वधूटियाँ सीता से राम और लक्ष्मण के साथ उनके सबध के बारे मे प्रश्न करती हैं—

राज कुँवर दोउ सहज सलोनें ... ...
कोटि मनोज लजाव निहारे।
सुमुखि कहहु कोआहि तुम्हारे।

तब सीता सकोच के साथ उत्तर देती है—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नामु लखनु लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन बिधु अचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।
खजन मजु तिरीछे नयननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सियँ सयननि॥

तेलुगु में घरणि देवुल रामय्य मत्री कृत दशावतार चरित्र के रामावतार वर्णन मे इसी प्रकार का भाववर्णन मिलता है। (मूल का स्वानुवाद)

सखी! उठाकर अपना सिर देखो तो
क्या लगते ये तेरे कौन? कहो तो
जब यों पूछा था मार्ग की स्त्रियो ने
बतलाया यो तब उनको सीता ने,
"स्वर्णिम शरीर के य देवर मेरे"
"तो कौन दूसरे लगते वे तेरे?"
हुई भूमिजा लज्जित तब यह सुनकर
और खड़ी मौन रही सिर अवनत कर॥

लज्जा के इस अनुभाव-वर्णन के द्वारा सीता का उत्तर ध्वनित हो गया। इन दोनों का मूल स्रोत हनुमन्नाटक है जिसमें कहा गया है—

1. पथि पथिकवधूभिः सादर पृच्छमाना
जो रूकुवलयदलनील कोऽयमार्ये तवेति।
देशी भसतविकसितगड व्रीडविभ्रांतनेत्र
उन्होंन अपांयनमयती स्पष्टमाचष्ट सीता॥

सुवेलाचल पर वानरो से परिवेष्टित राम का चित्र 'मानस' में इस प्रकार वर्णित है—

प्रभुकृत सीस कपीस उछगा
बाम दहिन दिसि चाप निषगा।
दुहुँ कर कमल सुधारत बाना
कह लकेस मत्र लगि काना।
बड भागी अगद हनुमाना
चरन कमल चापत बिधि नाना।
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन
कटि निषग करबान सरासन॥

यह चित्र थोडे अतर के साथ रगनाथ रामायण मे इस प्रकार वर्णित है—

इद्रनील मणिनिभ राम मृगाजिन पर
बायी करवट लेटे कपोल रखकर।
बायें कर राजसी ठाठ से झुककर
सूर्य के सदृश सुकठ की जाँघो पर॥
पवनज दाब रहे ये श्रीरामचरण
लेकर अपनी जाँघो पर प्रमुदित मन।
रामकरागुलियाँ अगद सहलाते
नलनील जाबवान आदि यश गाते॥

अध्यात्म रामायण मे इस प्रसग मे राम के द्वारा रावण के छत्र किरीट आदि को बाण से मार गिराने का वर्णन है। तुलसीदास और रगनाथ ने भी उसका वर्णन किया और साथ-साथ उसकी भूमिका के रूप में राम के वीरतापूर्ण उपर्युक्त चित्र का भी वर्णन किया है जिसमें थोडे अतर के साथ दोनों की भाव समानता दिखाई पड़ती है।

विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये काव्यो मे हिन्दी मे केशवदास की रामचद्रिका और तेलुगु में रामभद्र कवि का "रामाभ्युदयमु" उल्लेखनीय हैं। काव्यरूप दोनो के समान हैं।

दोनों कवियों में भक्ति की अपेक्षा साहित्यिक दृष्टि प्रधान है। दोनों में अपना पांडित्य-प्रकर्ष दिखाने का हौसला ही अधिक है। यह बात उनके प्रयुक्त विभिन्न छंदों, कविसमयोचित वर्णनों आदि से व्यक्त होती है। इस क्षेत्र में इन दोनों कवियों ने आलंकारिक शैली का ही अधिक प्रयोग किया है। अलंकारों को संयोजित करने के लिए इन्होंने बहुत प्रयत्न किया जिससे कृत्रिमता अधिक आ गयी है। इससे इनके काव्य पाठकों के हृदय को प्रभावित करने में असमर्थ रह गये। किन्तु प्रबंध निर्वाह की दृष्टि से रामभद्र कवि को केशव की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। रस परिपाक की दृष्टि से भी रामभद्र कवि के वर्णन अधिक सफल हैं।

अब सांस्कृतिक दृष्टि से तुलना करने पर विदित होता है कि दोनों भाषाओं के रामकाव्यों में प्रतिबिंबित संस्कृति एक ही है यद्यपि देश और कालगत थोड़ा बहुत अंतर है। इसका प्रमाण विवाह, मृत्यु, कार्यारंभ आदि अवसरों पर किये गये आचार-वर्णन में मिलता है।

ज्ञान और भक्ति वैदिक संस्कृति के सर्व प्रधान अंग हैं। इनका रूप हिन्दी राम-काव्यों में जैसा पाया जाता है वैसा तेलुगु राम-काव्यों में भी मिलता है, यद्यपि उनके परिमाण में अंतर है। दोनों में कोई तात्विक अंतर नहीं है। राम के सगुण और निर्गुण दोनों रूप हिन्दी राम-काव्यों के समान तेलुग में भी गृहीत हैं, यद्यपि निर्गुण की अपेक्षा सगुण को अधिक महत्व दिया गया है। तेलुगु रामसाहित्य में 'दशरथ' राम का जैसा चित्र वर्णित है, वैसा वर्णन निर्गुण राम का नहीं मिलता, यद्यपि उसका भी अभाव नहीं है। रंगनाथ रामायण में अतिकाय जब राम से युद्ध करने जाता है, तब राम के निर्गुण रूप का ही गूढ़ शब्दों में वर्णन करता है। विशुद्ध भक्ति की दृष्टि से तेलुगु के राम दास और त्यागराजु तथा हिन्दी के तुलसीदास एक ही कोटि के हैं। उनकी भक्ति या दार्शनिक मान्यताओं में कोई अंतर नहीं है। तीनों की भक्ति सगुण रूप की दृष्टि से प्रधानतः दास्य भक्ति है और निर्गुण रूप की दृष्टि से राम "विधि हरि शंभु नचाव निहारे" परब्रह्म हैं।

दोनों भाषाओं का रामसाहित्य उद्देश्य और वस्तु-प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से एक-दूसरे का पूरक है। तेलुगु में मानवीय धरातल पर से राम को देखा गया है, तो हिन्दी में अतिमानवीय धरातल से देखा गया है। किंतु दोनों में प्राप्त राम-तत्व अभिन्न है। तेलुगु में साहित्य-सौंदर्य प्रधान है, तो हिन्दी में आध्यात्मिक चिंतन।

*

अंग्रेज़ी सिर्फ़ इस कारण से ही संपर्क भाषा नहीं बन सकती है कि वह सबसे अधिक शिक्षित यानी संपन्न वर्गों को एक सूत्र में बाँधती है। उनकी यह एकता न तो उनके लिए, न ही जनता के लिए किसी तरह का हित साधन कर सकेगी; क्योंकि इससे वे जैसी कि आज स्थिति है, बाकी लोगों के लिए ईर्ष्या के पात्र और रोष के साधन-भर बनकर रह जाएँगे।

—अंग्रेजी साप्ताहिक "लिंक" से उद्धृत

डॉ॰ एन. चन्द्रकान्त मुदलियार,
एम ए, पी-ह्वेच डी,
दक्षिण मडल क्षेत्रीय अधिकारी (गृह-मत्रालय),
शास्त्री भवन, मद्रास-6

तमिल साहित्य पर जैनों का प्रभाव

पजाब के स्वराज्यपूर्व आर्यसमाजी वातावरण में आपको हिन्दी और सस्कृत की उच्चतम शिक्षा हासिल करने का मौक़ा मिला। साथ ही आपने व्यक्तित्व-गठन मे स्वदेशी चैतन्य का भी विशेष हाथ रहा। अध्ययन-काल मे सालो तक कारावास जीवन इसका प्रमाण है। स्नातकोत्तर शिक्षा के बाद आपने वारणासी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-ह्वेच डी (हिन्दी) की उपाधि प्राप्त की और दक्षिण तथा उत्तर के विविध कॉलिजो म हिन्दी और तमिल के प्राध्यापक रहे। फिर मद्रास और केन्द्र सरकार की हिन्दी शिक्षा-योजनाओं में आपकी सेवाओं का स्वागत हुआ। सम्प्रति, आप भारत सरकार के गृहमत्रालय के अतर्गत दक्षिण मण्डल के हिन्दी अधिकारी हैं।

जैन धर्म अनेक नामो से विख्यात है। आर्हत, निगन्थ, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि जैन धर्म के दूसरे नाम हैं। जैन धर्म मे उनके उपास्य देव को अर्हत् कहते हैं। अर्हत् को माननेवाले आर्हत अर्थात् जैनी हैं। ऋषभ देव से लेकर महावीर पर्यन्त 24 तीर्थंकर हुए। ये जैन धर्म में उपास्य देव माने जाते हैं। इन तीर्थंकरो ने कैवल्य पाया था। कालान्तर में जैन धर्म दिगम्बर, श्वेतांबर और स्थानकवासी के भेद से विभाजित हुआ। स्थानकवासी अपने मन्दिरो में जैन आगमो की पूजा करते हैं। स्थानकवासी और श्वेताम्बर उत्तर भारत मे फैले हुए हैं। तमिल प्रदेश में विद्यमान जैन दिगम्बर-पथ के हैं।

जैन धर्म से पहले वैदिक धर्म का प्रचार था। कौरवों और पाण्डवों के महाभारत युद्ध में ऋषि, मुनि और वेदो के विद्वान नष्ट हुए। वेदो के रहस्य को समझनेवाले बहुत कम रह गये। परिणामत, लोग वेदों का अर्थ मनमाना लगाने लगे। 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' कहकर वेद के नाम से हिंसा होने लगी। यज्ञ-याग मे पशुओ की बलि दी जाने लगी। मद्य और मास का प्रयोग मत्रपूर्वक पुरोहित करने लगे। इस प्रकार के अनाचार को दूर करने के निमित्त आचारप्रधान जैन धर्म का प्रारम्भ हुआ। भूतदया, सत्य और अहिंसा का पालन और अध-विश्वासो का खण्डन आदि सरल बातों का जैन

धर्म ने व्यापक प्रचार किया। वैदिक धर्म के अनुयायी वेदों से विमुख होकर जैन धर्म के आचार को अपनाने लगे और सर्वत्र 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'आचारः परमो धर्मः' का प्रचार हुआ।

जैन धर्म का व्यापक प्रचार और प्रभाव 18-वीं शताब्दी तक रहा। छठी शताब्दी के लिच्छवी और वैशाली राजाओं के द्वारा जैन धर्म को बड़ा संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सुप्रसिद्ध राजा बिम्बसार अन्तिम तीर्थंकर महावीर के शिष्य थे। नंद वंश के राजा और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म के अनुयायी थे।

जैन धर्म का प्रचार करनेवाले तीर्थंकर थे। उनकी संख्या 24 है। उनके नाम ऋषभदेव, अजितनाथ आदि हैं। पार्श्वनाथ और महावीर अन्तिम तीर्थंकर हैं। इन्हीं तीर्थंकरों ने जैन धर्म का व्यापक प्रचार किया। तीर्थंकरों के बाद गौतम इन्द्रभूति, सुधर्म, शम्भुस्वामी, विष्णुनन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु आदि मुनियों ने तीर्थंकरों के प्रचार-कार्य को आगे बढ़ाकर जैन धर्म को भारतव्यापी बनाया।

जैन धर्म में नौ प्रमुख तत्व माने गये। जैन धर्म के तत्वों की व्याख्या तमिल भाषा के मेरु-मंथरपुराण में की गयी है। वे नौ तत्व जीव, पुद्गल, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष हैं। वैदिक धर्म के समान आत्मा से भिन्न परतत्व के समान किसी अन्य तत्व को जैन धर्म में नहीं माना गया है। सांसारिक बन्धन से मुक्त आत्मा ही अर्हत् कहलाता है। जैन अर्हत् की उपासना करते हैं। कैवल्य या मोक्ष पाने में सम्यक ज्ञान, सम्यक दृश्य और सम्यक आचार साधन हैं। ये ही जैन धर्म रत्नत्रय कहलाते हैं।

तमिल के अधिकांश काव्य जैनों से रचे गये हैं। जैन महाकाव्यों में जीवकचिन्तामणि सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। जैन धर्म के सिद्धान्त और आचार-विचार का सांगोपांग परिचय जीवक-चिन्तामणि से प्राप्त है। इस काव्य के छन्द, शैली और विचारों का उत्तरकालीन वैष्णव महा-कवि कम्बर और शैव कवि शेक्किषार आदि पर प्रभाव पड़ा है। जैन धर्म के बोधगम्य रत्नत्रय के बारे में जीवकचिन्तामणि के रचयिता तिरुत्तक्क-देवर का कथन है—

மெய்வகை தெரிதல் ஞானம்,
விளங்கிய பொருள்கள்
தம்மைப் பொய்வகை
இன்றித் தேறல் காட்சி
ஐம்பொறியும் வாட்டி
உய்வகை உயிரைத் தேயா
தொழுதல் ஒழுக்கம்,
மூன்றும் இவ்வகை நிறைந்த
போழ்தே இருவினை
கழியும் என்றான்.

—इसमें सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् जीवन (आचरण) का उल्लेख किया गया है। यह भी बताया गया है कि इन तीन तत्वों को पूर्णतया पाने पर ही जन्म-मरण के बंधन टूटेंगे और मोक्षदशा प्राप्त होगी।

जैन धर्म में पाँच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। इन पांचों का सम्यक पालन करना प्रत्येक जैन मुनि का आवश्यक कर्तव्य है। भारतीय जनता के लिए ये पाँच तत्व नवीन नहीं हैं। योगदर्शन में पतंजलि मुनि ने इन पाँचों का उल्लेख कर इसका अभ्यास योगी के लिए अनिवार्य बताया है।

इन पाँच व्रतों के बारे में जैन महाकाव्य जीवक-चिन्तामणि में इस प्रकार कहा गया—

ஐவகை பொறியும் வாட்டி,
    ஆமையான் அடங்கி
ஐந்தின் மெய்வகை
    தெரியுஞ் சிந்தை விளக்கம்
நின்றெரிய விட்டுப்
    பொய் கொலை களவு காமம்
அவா இருள் புகாது
    போற்றிச் செய்தவம
முளித்த சிலக்கலை
    கதிர்த் திங்கள் ஒப்பார்.

संन्यासियो के लिए अनिवार्य बताये गये पाँच महाव्रतो के साथ जैन गृहस्थों (श्रावक) के लिए मासत्याग, मद्यत्याग, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना तथा गुरु और आचार्य का उचित सम्मान करना आदि पाँच बातें आवश्यक बतायी गयी हैं।

जैन धर्म तमिल प्रदेश मे प्रविष्ट होने का वृत्तान्त इस प्रकार है'—

मौर्य सम्राट के शासन-काल में मगध में बारह वर्षों का घोर अकाल पडा। अकाल के कष्ट से बचने के निमित्त मुनि भद्रबाहु अपने 12 हज़ार जैन साधुओं को लेकर दक्षिण आये। मैसूर प्रदेश के श्रवणबेळगोळ नामक स्थान मे भद्रबाहु और अन्य मुनि रहने लगे। उस समय तमिल प्रदेश मे चोल और पाडिय राजाओ का शासनकाल था। मुनि भद्रबाहु ने अपने साथी विशाख मुनि को तमिल प्रदेश भेजकर चोल-पाडिय देशों में जैन धर्म का प्रचार कराया। तमिल प्रदेश में जैन धर्म का व्यापक प्रचार होने का प्रमाण शिलप्पधिकारम्, मणिमेखलै, तेवारम्, दिव्यप्रबन्धम्, पेरिय पुराणम्, तिरुविळैयाडल् पुराणम और जीवकचिन्तामणि से प्राप्त है। जैन धर्म के तमिल प्रदेश में प्रचार होने के अनेक कारण हैं। उनमें मुख्य कारण जैन धर्म के उदार सिद्धांत हैं।

जैन धर्म के अनुसार कोई जन्म से उच्च या नीच नहीं माना जाता है। सम्मान का कारण उनका गुण और कर्म है। किसी भी कुलोत्पन्न व्यक्ति का सर्वोच्च अर्हत् दशा को प्राप्त कर सकना जैन धर्म मे अंगीकृत सिद्धान्त है।

अरगलच्चेप्पु नामक जैन नीति-ग्रन्थ का कथन इस प्रकार है:—

'பறையன் மகனெனினும்
காட்சியுடையான்
இறைவன் என உணரப் படும்.'

—अंत्यज का पुत्र भी यदि सद्विचार और सदाचार से सम्पन्न हो, तो वह अर्हत् भगवान के समान ही पूजार्ह माना जाएगा।

जैन धर्म की जातिभेदरहितता का असर उत्तरकालीन तमिल साहित्यो पर पड़ा और कवियो ने यह कहना शुरू कर दिया—

'சாதி இரண்டொழிய வேறில்லை'

—दो ही जातियाँ हैं—पुरुष और नारी;
इनको छोडकर और कोई जाति है नहीं।

जैन धर्म के समत्व-भाव का प्रभाव शैव कवि तिरुमूलर पर भी पड़ा था। वे कहते थे:—

'ஒன்றே குலம் ஒருவனே தேவன்'

—एक ही कुल है और देवता भी एक ही है।

जैन लोग अन्नदान, आश्रयदान, औषधदान और ज्ञानदान पर ज़ोर देते थे। वे स्वयं चारो प्रकार के दानों के द्वारा तमिल जनता की सेवा करने लगे। कालान्तर मे इसका भी प्रभाव तमिल साहित्य पर पडा। गरीबो को विद्या का दान करना सर्वश्रेष्ठ दान कहा जाने लगा—

'அங்கோர் ஏழைக்கு எழுத்தறிவித்தல்'
'எழுத்தறிவித்தவன் இறைவனாவான்' आदि।

—(जहाँ भी हो, ग़रीब छात्र को विद्या सिखाना उत्तम धर्म है।' विद्या सिखानेवाले ईश्वर-तुल्य हैं।)

जैनों ने तमिल भाषा और साहित्य की बड़ी सेवा की है। तमिल भाषा और साहित्य पर जैनियों का अमिट प्रभाव पड़ा। जैन जहाँ जाते वहाँ की स्थानीय भाषा का सम्यक् अध्ययन कर उस भाषा के माध्यम से अपने सिद्धान्तों का जनता में प्रचार करते थे। यह प्रचार का सर्वोत्तम साधन रहा है। भारत में आये ईसाई पादरियों ने भी इसी मार्ग को अपनाकर ईसाई धर्म को भारतव्यापी बनाया। जैनियों के प्रचार से तमिल भाषा का स्वरूप परिवर्तित हुआ। अगात जैन संस्कृत और प्राकृत के विद्वान थे। जैन धर्म के दार्शनिक तत्वों को तमिल के माध्यम से समझाते समय संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तमिल में हुआ। इस मिश्रण के परिणामस्वरूप ही कालान्तर में मणि प्रवाल-शैली का उदय हुआ। भाषा के परिवर्तन के क्षेत्र में जैनियों का महान प्रभाव पाया जाता है। जैनियों का प्रभाव केवल भाषा तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु साहित्य के नाना क्षेत्रों—व्याकरण, कोश, काव्य, पुराण, नीति-ग्रन्थ, टीका के क्षेत्रों में भी पाया जाता है।

जैन नीतिग्रन्थों में नालडियार सर्वप्राचीन और मुख्य माना जाता है। तमिल में सर्वसम्मानित तिरुक्कुरल के समान नालडियार भी सम्मानित है। इसमें चार सौ पद्य हैं। यह एक ही जैनमुनि की कृति नहीं है। अनेक जैन मुनियों की फुटकल रचनाओं को विषयवार संगृहीत एवं सजाया गया है। इस ग्रन्थ के महत्व से प्रभावित होकर डा. पोप ने इसे अंग्रेजी में अनूदित कर विश्व में प्रचार किया। नालडियार में मानव-जीवन के लक्ष्यभूत विविध पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम की विवेचना है। जैन गृहस्थ-धर्म की अपेक्षा संन्यास-धर्म का ही समर्थन करते हैं। अतः नालडियार में सर्वप्रथम संन्यास और वैराग्य की व्याख्या है। इस ग्रन्थ में गृहस्थ-धर्म को निम्न बताया गया है। क्षमा, दानशीलता, सत्य का आचरण, परनिन्दा और परदारगमन से दूर रहना आदि सार्वजनीन सदाचारों की व्याख्या कर संसार की अशाश्वतता-असारता समझाने का प्रयास किया गया है।

नालडियार का एक पद्य है—

அறிமின் அறநெறி அஞ்சுமின் கூற்றம்
பொறுமின் பிறர்கடுஞ்சொற் போற்றுமின்
வெறுமின் வினைதீயார் கேண்மை
எஞ்ஞான்றும்
பெறுமின் பெரியார் வாய்ச்சொல்.

—सदा धर्म को जानो। यम से डरो। सहनशील बनो। वंचना का त्याग करो। दुष्टों से दूर रहो। सत्संगति पाओ।

तमिल प्रदेश में प्रयुक्त "शैव" पद शैवधर्म तथा निरामिष भोजन को बताता है। तमिल प्रदेश में निरामिष भोजन का व्यापक प्रचार हुआ। इसका मूल कारण जैनियों के अहिंसा-प्रचार का प्रभाव उत्तरकालीन सभी शैव एवं वैष्णव संतों पर पड़ा। यद्यपि ये दोनों धर्म आमिषवर्जन पर पहले ही से ज़ोर देते थे, फिर भी जैनियों की अहिंसाव्रत से मिली-जुली आचार-संहिता का प्रचार परवर्तियों के लिए अनुकरणीय रहा।

प्रशस्त जैन काव्य हैं शिलप्पधिकारम, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि, कुण्डलकेशी और वलैयापति। कुण्डलकेशी और वलैयापति को छोड़कर शेष तीन महाकाव्य प्राप्य हैं। जीवक-चिन्तामणि में जीवक के वृत्तान्त और उनके महत्व-

पूर्ण कार्यों का वर्णन है। इसके रचयिता जैनमुनि तिरुत्तक्कदेवर हैं। जी यू पोप ने जीवकचिन्तामणि के बारे मे कहा है कि यह तमिल काव्यों में सर्वश्रेष्ठ है एव विश्व-महाकाव्यो मे इसका स्थान महत्वपूर्ण है। बाद के तमिल कवियों को चिन्तामणि उदाहरणात्मक एव मार्गप्रदर्शक रहा। रामायण के लेखक महाकवि कवर ने कहा है—"मैंने चिन्तामणि काव्य सागर मे एक डुबकी भर ली है। इसीसे मेरे महाकाव्य का सौंदर्य बढ गया है।" इस वचन से कम्बर ने स्पष्ट घोषित किया है कि उनकी काव्यरचना मे चिन्तामणि पथप्रदर्शक रहा। उत्तरकालीन कवियों के लिए चिन्तामणि पथप्रदर्शक तो रहा, किन्तु कोई कवि उसकी शैली को अपनी काव्यकृतियों मे पा न सके। इस काव्य का रचनाकाल दशम शतक है। सस्कृत के क्षत्रचूडामणि और गद्यचूडामणि नामक काव्यों के आधार पर जीवकचिन्तामणि की रचना हुई है।

'जीवक का बाल्यकाल कृष्ण के बाल्यकाल के समान है। जीवक का जन्म नगर के बाहर श्मशान में हुआ। नगर के एक वणिक ने उसका गुप्त रूप से पालन-पोषण किया। जीवक ने तारुण्य प्राप्त कर विरोधी का नाश किया। अनेक राजकुमारियों से जीवक का विवाह हुआ। जीवक सगीत में निपुण था। सासारिक सफलता के पश्चात् बुद्ध और महावीर के समान वह भी सन्यासी हो गया।' महाकवि जैन साधुवर तिरुत्तक्क देवर द्वारा रचित जीवकचिन्तामणि काव्य का यही कथा-सार है।

सासारिक मोहबन्धनों से लोगों को मुक्त करने का महान प्रयास जैन मुनियो ने किया है। इस लक्ष्य में जैन धर्म सफल हो सका। इस तत्व को समझाने के लिए नाना नीतिग्रन्थों और काव्यों की रचना तमिल मे हुई। शिलप्पधिकारम् चिन्तामणि से पुराना है। वह इलगो नामक जैन मुनि से रचित है। इन काव्य का प्रेरणास्रोत सस्कृत काव्य होने पर भी इसकी रचना तमिल के वातावरण में हुई। नगर-वर्णन और प्रकृति वर्णन आदि तमिल प्रदेश का है। चिन्तामणि काव्य का गठन वृत्त नामक छन्द में हुआ है। इसके प्रवर्तक तिरुत्तक्क देवर माने जाते हैं। कम्बर आदि उत्तरकालीन कवि देवर के छन्दों से बहुत प्रभावित हुए।

शैव काव्यों मे शेक्किपार का पेरियपुराणम् महत्वपूर्ण है। जैनों के 63 सतों का जीवनचरित ख्यातिपूर्ण है। तिषष्ठिशलाका पुरुषों की कथाएँ अतीव आकर्षक होती हैं। उनसे प्रभावित होकर तमिल जनता जैनधर्म के अनुयायी बनने लगी। इसे रोकने के लिए शेक्किपार ने 63 शैव सतो का चित्ताकर्षक वर्णन कर तमिल जनता को शैवधर्म की ओर आकृष्ट किया। वस्तुत इसकी रचना अनपाय चोलन को जैन बनने से रोकने के लिए हुई थी, क्योंकि चिन्तामणि काव्य की सरसता से राजा लोग प्रभावित हो गये थे। इस प्रकार शैव काव्यो पर भी चिन्तामणि का प्रभाव पाया जाता है।

सस्कृत काव्य मे जिस प्रकार देश वर्णन, नगर-वर्णन, नदी एव पर्वत आदि का वर्णन होता है, उसी प्रकार तमिल काव्य में सर्वप्रथम जैन कवि देवर ने किया है। शेक्किपार ने इसीके अनुकरण पर अपने पुराण मे ईश्वरवदना के पश्चात् पृथक देश-वर्णन और नगर वर्णन किया है।

कविचक्रवर्ती कम्बर ने भी तिरुत्तक्क देवर से प्रभावित होकर नदी वर्णन, देश-वर्णन, नगर-वर्णन

राज्य-वर्णन के भेद से अलग-अलग वस्तु-चित्रण किया है। मानी हुई बात है कि महाकवि कंबर चिन्तामणि के छंद से और विचारों से भी प्रभावित हुए। उदाहणार्थ—

சாதலும் பிறத்தல் தானும்
தம்வினைப் பயத்தினுகும்.

—मरना और जन्म लेना अपने-अपने कर्म के अनुसार होते हैं।

चिन्तामणि के इसी आशय को कंबर ने भी अपने ढंग से तीनों लोकवासियों के लिए लागू बताया है—

தோன்றலும் இறத்தல் தானும்
துகளறத் துணிந்து நோக்கின்
மூன்றுலகத் தினோர்க்கு
மூலத்தே முடிந்தவன்றே.

इस प्रकार कई उदाहरण हैं कि कम्बर अपने पूर्ववर्ती जैन कवि से बहुत प्रभावित हुए।

तमिल साहित्य पर जैनों के प्रभाव को विस्तार से जानने के लिए विशेष अध्ययन एवं प्रस्तुतीकरण अपेक्षित है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि भाषा-साहित्य, आचार-विचार, उपासना और सेवा-समता के क्षेत्रों में जैनों का प्रभाव अब भी स्पष्ट है, जो एक युगान्तर का निर्माता एवं मार्गदर्शक रहा है।

★

भारत के लिए एक संपर्क-भाषा का होना आवश्यक है और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। हमें यह देखना है कि हिन्दी भाषियों पर अंग्रेज़ी लादी न जाए। आगामी 10 वर्षों में मैसूर के छात्र हिन्दी भाषियों से बढ़िया हिन्दी जान जाएंगे। —निजलिंगप्पा

स्वाधीनता का अर्थ सिर्फ शासन-मुक्ति ही नहीं, अपने देश की ज़बान को भी बिना रुकावट के इस्तेमाल करने की क्षमता होनी चाहिए। कुलवधू के रहते परवधू को रसोई का काम देना नाजायज़ है। नियम के मुताबिक तथा आत्ममर्यादा के नाते स्वाधीन भारत के लिए हिन्दी ही देश-भर की राष्ट्रभाषा होनी चाहिए और उसके माध्यम से संपूर्ण भारत की शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। —श्री बहुल चन्द्रवर्रा (असम)

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी देश की एकता में अधिक-से-अधिक सहायक होगी— इसपर तो दो मत हो ही नहीं सकते। —पंडित नेहरू

डा० एस एम. रामचन्द्रस्वामी,
एम ए, पी-एच डी.,
हिन्दी विभाग, गवर्मेंट कॉलेज, हासन (मैसूर)

हिन्दी और कन्नड राम-काव्यों में रावण

वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी और अंग्रेजी की स्नातकोत्तर शिक्षापूर्ति के बाद मैसूर विश्वविद्यालय से हिन्दी म आपने पी-एच डी उपाधि हासिल की। आपने डेक्कन कॉलेज पूना मे भाषा विज्ञान का विशेष अध्ययन भी किया है। सम्प्रति, सरकारी कॉलेज, हासन (मैसूर) के हिन्दी विभाग के प्रधान हैं।

हिन्दी साहित्य में रामकथा के प्रादुर्भाव के लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व ही कन्नड में रामकाव्यों का प्रणयन हो चुका था। पर सन् 1560 ई तक के कन्नड रामकाव्य वैदिकेतर अर्थात् जैन-परंपरा के हैं। ये ग्रन्थ पूर्ववर्ती प्राकृत कवि विमलसूरी व गुणभद्राचार्य की कृतियो पर आधारित हैं और तदर्थ इन्हें प्राकृत के वैदिकेतर रामकाव्य परंपरा का ही बढ़ावा मान सकते हैं। जैनधर्म के प्रचारार्थ रचित होने के नाते ये परंपरागत रामकाव्यो से भिन्न हैं क्योंकि इनमे जैन मत के सिद्धान्तो के अनुकूल मूल रामकथा में परिवर्तन किये गये हैं। रावण पात्र की दुरन्त कल्पना और पापियों के प्रति अहिंसा तत्व से प्रेरित अनुकंपा की प्रवृत्ति इन काव्यो की विशेषता है जो कन्नड रामकाव्यो को बहुत दूर तक प्रभावित करने में समर्थ हुई। भारत के किसी भी आधुनिक भाषा-साहित्य में इस प्रकार जैन-रामकाव्यो की उपलब्धि नही होने के नाते यह स्वीकार करना पडता है कि कन्नड जैन-रामकाव्य कन्नड साहित्य की अपनी विशेषता है।

हिन्दी साहित्य में सन् 1500 ई पूर्व कोई रामकाव्य प्राप्त नहीं होता। हिन्दी के पूर्ववर्ती अपभ्रंश-साहित्य मे रामकाव्य उपलब्ध होते अवश्य हैं, पर वे वैदिकेतर जैन परंपरा के हैं और हिन्दी राम साहित्य को उन्होने कभी प्रभावित नहीं किया। भक्ति से स्फुरित होने के कारण हिन्दी रामकाव्य अधिक प्रभावित हैं अध्यात्म रामायण से और रामलीला के लिए उपयुक्त बनाने हिन्दी

रामकथाकारों ने अपने काव्यों को रोचक संवादों से सजाया, संस्कृत दृश्य-काव्य 'प्रसन्न राघव' व 'हनुमन्नाटक' के अनुकरण पर। इस तरह हिन्दी के रामकाव्य वैदिकेतर रामकथा परंपरा के प्रभाव से मुक्त रह गये। यही कारण है कि मध्ययुगीन हिन्दी रामकाव्यों के पात्रों में परिवर्तन आदर्शोन्मुख तक ही सीमित है और पात्र परंपरागत ही अधिक हैं।

लोक हृदय को अनुप्राणित कर, जन-जीवन को चित्रित करनेवाली वाल्मीकि प्रणीत रामायण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड बन गयी है। आदि-काव्य की इस प्राणवत्ता का रहस्य उसकी अनुपम तथा स्वाभाविक चरित्रचित्रण-कुशलता में निहित है। रामायण में निरूपित ये भव्य पात्र विभिन्न देशों के, विभिन्न कालों के, विभिन्न मनोवृत्तियों के कवियों द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रित हुए हैं। भारतवर्ष के दो समुन्नत भाषा-साहित्यों—हिन्दी तथा कन्नड—में चित्रित रावण का पात्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

राक्षस रावण :

त्रेतायुग में इस नाम का आतंक प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी मृत्यु से किसी भी प्रकार कम न था। बल्कि मृत्यु को भी ललकारनेवाले वीराधि-वीर भी रावण का नाम सुनते ही थर्राते हुए उसकी शक्ति के समक्ष नाक रगड़ने को तैयार हो जाते। क्योंकि वह काल का भी काल था, आग को भी जला सकता था और मौत को भी मृत्यु के मुख में डाल सकने की क्षमता रखता था। यदि वह क्रोध में भर जाता तो अपने वेग से वायु की गति को भी रोक लेता तथा अपने तेज से सूर्य और अग्नि को भी जलाकर भस्म कर सकता था।[1] श्रीरामचन्द्र की भी उपेक्षा करनेवाला समुद्र, जिसकी उत्ताल तरंगें सदा ऊपर-नीचे होती रहती हैं, रावण को देखकर भय के मारे स्तब्ध-सा हो जाता था।[2] जिस स्थान पर वह ठहरता या भ्रमण करता था वहाँ वृक्षों के पत्ते तक नहीं हिलते थे और भय से नदियों का पानी भी स्थिर हो जाता था।[3]

साक्षात् दैवशक्ति संपन्न पंच तत्वों की यह स्थिति हो तो इन्द्रादि अष्ट दिक्पालों की कौन पूछे? रावण के प्रति अपराध करके इन्द्र, यम, कुबेर और विष्णु भी चैन से नहीं रह सकते थे।[4] वह देवताओं, दानवों, नागों तथा यक्षों से भी भयभीत होना नहीं जानता था।[5]

रावण का जन्म ब्रह्मर्षि पुलस्त्य के कुल में हुआ था। माता कैकसी की प्रेरणा से भाई कुबेर का अनुकरण कर रावण ने घोर तपस्या की। अपने तपः प्रभाव से उसने ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर एक नहीं असंख्य वरों को प्राप्त किया था। उसने अपनी भक्ति से कैलासपति शंकर को संतुष्ट कर उनकी असीम कृपा के पात्र बनने का सौभाग्य अर्जित किया था। भक्ति में उसकी समानता करनेवाले व्यक्ति नहीं थे। साथ ही वह शास्त्र-संपन्न पंडित था; शस्त्र-ज्ञान में तो अद्वितीय ही था।

"रावण का सुन्दर सुकुमार मुखमण्डल, सुन्दर

1. रामायण: 3-31-6. 7.
2. वही: 1-15-10.
3. वही: 3-48-9.
4. वही: 3-31-5.
5. वही: 6-110—14-5-6.

भौंहों, मनोहर त्वचा और ऊँची नासिका से युक्त था ; कांति, शोभा और तेज के द्वारा चन्द्रमा, सूर्य और कमल को लज्जित करता था। किरीटों का समूह उसे जगमग बनाये रहता था। उसके अधर तांबे के समान लाल थे। वह मनोहर और सुन्दर था तथा मुस्कुराकर मीठी-मीठी बातें किया करता था।"

उसकी कांति आँखों को चकाचौंध करनेवाली थी। देव-दानवों में किसीमें रावण का महाद्भुत तेजस नहीं था। अपने दोनों हाथों से समस्त पृथ्वी को उठाकर आसमान में रख सकता था वह रावण। कैलासपर्वत को ही जड़सहित उखाड़कर उठा देने का साहस उसका ही था।

रावण के समान वैभवशाली राजा दूसरा नहीं हुआ। अपने पराक्रम से त्रिभुवनों को जीतकर उनकी अतुलनीय संपत्ति से लंका को भर दिया था उसने। उसके शासनकाल में स्वर्णनगरी लंका धन-धान्य से भरपूर हो, कला, समृद्धि एवं शोभा में स्वर्गलोक का तिरस्कार करती थी। वचन-कोविद और व्यवहार-कुशल रावण समस्त राज-नीति का ज्ञाता एवं अध्येता था। धर्म का मूर्तिस्वरूप रावण समस्त प्रकार के बलों का आश्रयदाता था। वह गुरु व देवताओं का सत्कार करता था, याचकों को दान देता था, भृत्यों का भरण-पोषण करता था और आप भी सकल भोगों का उपयोग भी करता था।

संक्षेप में कहा जाय तो रावण अग्निहोत्री, महातपस्वी, वेदान्तवेत्ता तथा यज्ञ-यागादि कर्मों में शूर, परम कर्मठ था। अपने भाई की मृत्यु पर विभीषण के विलाप से रावण की प्रतिष्ठा का और उसके स्थानमानों की कल्पना सहज ही की जा सकती है—

"आज शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ इस वीर रावण के धराशायी होने से सुन्दर नीति पर चलनेवाले लोगों की मर्यादा टूट गयी, धर्म का मूर्तिमान विग्रह चला गया, सत्व के संग्रह का स्थान नष्ट हो गया, सुन्दर हाथ चलानेवाले वीरों का सहारा चला गया, सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ा, चन्द्रमा अंधेरे में डूब गया, प्रज्वलित आग बुझ गयी और सारा उत्साह निरर्थक हो गया। रणभूमि की धूल में राक्षसशिरोमणि रावण के सो जाने से इस लोक का आधार और बल समाप्त हो गया। अब यहाँ क्या शेष रह गया ?"[1]

महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत रामायण में राक्षसराज रावण की यही भव्य कल्पना है। उन्होंने अपनी रामायण में श्रीरामचन्द्र जैसे नायक, लक्ष्मणदेव जैसे अनुनायक तथा सीतादेवी जैसी नायिका की परिकल्पना करके समस्त काव्य को—आदिकाव्य को—अपूर्व महिमा से मण्डित करने का सौभाग्य अर्जित किया है। उन्होंने वीरवर हनुमान के चरित्रचित्रण से अपने काव्य की रुचिरता बढ़ा दी। ऐसे महान् पात्रों की पंक्ति में प्रतिनायक के रूप में वाल्मीकि महर्षि ने प्रतिष्ठित किया दैत्येश्वर रावण को। उपर्युक्त पात्रों के चरित्रावलोकन में उन्होंने जो समग्रता दर्शायी है वही रावण के स्वभावचित्रण में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुई है। इस पात्र-सृष्टि में दर्शित उनका कल्पना-वैभव वास्तव में अप्रतिम एवं सराहनीय कहा जा सकता है।

1 वही . 6-111-84, 7.

1. रामायण : 6-101-6, 7, 8.

राक्षसेश्वर रावण यदि अपनी अभूतपूर्व गुण-संपत्ति का सदुपयोग करता तो अवश्य ही एकमेव लोककल्याणकारी सिद्ध होता। पर रावण की कर्मठता यशोलिप्सा से प्रेरित और कामुकता से उत्तेजित थी। अतः रावण ने त्रिलोकों को त्रस्त करने में ही उपयुक्तता मान, अपनी शक्ति का ह्रास ही किया। उसने यक्ष, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, सुर, नर और नागों को पीड़ित करने में अपने पराक्रम का दुरुपयोग भी किया। इसीसे उसका शौर्य हिंस्रवुद्धि से कलुषित हो गया और साहस दुस्साहस में परिणत भी हुआ।

रावण का दौर्जन्य, अत्याचार, परपीडन, हिंसा और क्रौर्य यहीं तक सीमित न रहकर हेय व असंस्कृत परस्त्री-अपहरण तक पहुँच गया था। अपनी चिरअतृप्त कामवासना की तृप्ति के लिए इधर-उधर से बहुत-सी सुन्दर स्त्रियों को वह हर लाया था।[1] इस क्षेत्र में रावण की दृढ़ धारणा यह थी—

"परायी स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात्कार-पूर्वक उन्हें हर लाना यह राक्षसों का सदा ही अपना धर्म रहा है—इसमें संदेह नहीं है।"[2] यौवन के रहते सुखोपभोग करते रहने की कामुक बुद्धि उसकी थी। कामांधता में राक्षस रावण को मात करनेवाला ढूंढ़ने पर भी कोई पौराणिक पुरुष प्राप्त नहीं होता।

रावण में वास्तविक वीरता के स्थान पर कुटिलता का आधिक्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। बहन के अपमान का प्रतीकार करने रावण खुले आम राम पर आक्रमण कर सकता था। पर शूर्पणखा की बातों में आकर स्त्रैण रावण ने वीरों के लिए अनुचित कार्य स्त्री-चौर्य करने में लज्जा का अनुभव भी नहीं किया, वह भी यति-रूप धारण करके। हर लाने पर सुंदरियों के मन को मुग्ध करने के लिए रावण धन, कनक, यौवन, तपश्शक्ति आदि सभी साधनों से काम लेता था। पर सीता को वह उपर्युक्त किसी भी मार्ग से जीत न सका। अतः उसने माया का आश्रय लिया। सुन्दरियों को किसी भी तरह वश करने के लिए उसमें निहित स्त्री-व्यामोह को कपट, कुटिलता व कुतंत्र रंच मात्र भी हेय नहीं लगे।

रावण जितना कामान्ध और छली था उससे भी अधिक मूर्ख था। वह बड़ा हठी और अभिमानी था। वह किसीको भी अपने समकक्ष शक्तिवाला मानने के लिए तैयार नहीं था। अपनी इच्छा के विरुद्ध सम्मति देनेवालों के प्रति वह अविश्वास और क्रूरता से व्यवहार करता था। आप्तों के हित-वचन उसके लिए कोई भी मूल्य नहीं रखते थे। सीतापहरण जैसे कुकर्म से रावण को बचाने के लिए मारीच ने अधर्म की भीति दिखायी, सीता जी के पातिव्रत्य की महिमा बतायी और राम-लक्ष्मण के पराक्रम का भय भी दिखाया। पर रावण ने उसकी एक न मानी। मारीच की बलि देकर उसने सीता का अपहरण किया और उन्हें लंका के अशोकवन में रखा। माता कैकसी, सहधर्मिणी मंदोदरी, भाई विभीषण, प्रिय कुंभकर्ण, राजनीतिविशारद शुक-सारण, आप्त माल्यवान सभी ने श्रीराम के हाथों में सीता को सौंपने की सलाह वात्सल्य से, प्रेम से, क्रोध

1. रामयण 3-47-28
2. वही 5-20-5

से, प्रत्यक्ष रूप से, परोक्ष रूप से और नाना रीति से दी। पर रावण ने किसीकी एक न मानी। और अन्त तक रावण मे कोई भी परिवर्तन न हुआ। न उसके हृदय मे पश्चात्ताप ही उपजा, न उसने प्रजा की हिताकाक्षा ही की। किसी भी परिस्थिति मे अपना अपराध स्वीकार नहीं करने की हठवादिता उसकी अपनी ही विशेषता थी।

रावण ने अपने शास्त्रज्ञान, भक्ति, तपश्शक्ति व पराक्रम का दुरुपयोग भी किया। कोई भी सद्गुण, धर्म या नीति रावण को अपने दुष्टसकल्प से विचलित नहीं कर सका। मन्दोदरी, विभीषण आदि प्रियजनों की आँखों के सामने ही रावण ने अधोगति को प्राप्त किया। सम्पूर्ण लोगो को भयभीत करनेवाले रौद्र राक्षस रावण के मारे जाने पर देवताओं को महान् हर्ष हुआ—

"देवताओं को बडी शाति मिली, सपूर्ण दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं—उनमे प्रकाश छा गया, आकाश निर्मल हो गया, पृथ्वी का कपन बद हुआ, हवा, स्वाभाविक गति से चलने लगी तथा सूर्य की प्रभा भी स्थिर हो गयी।"[1]

रावण के दुर्गुण उसके कार्यकलाप की भाति विस्तृत और विशाल थे, राम से टकराने योग्य तीव्रता थी उसमें। इसी कारण से रावण की पात्र कल्पना भी वाल्मीकि के काव्य-वैभव का एक उत्कृष्ट एव ओजस्वी दीप्तिमान् सोपान कहा जा सकता है। इतने विराट कुत्सित गुणों के बीच रावण मे एक सद्गुण भी था। सीता का अपहरण कर लका में ले जाने पर भी उसने उनपर अत्याचार नही किया। रसिक रावण को स्त्री-सुख का अच्छा परिचय था। वह जानता था कि अनगसुख स्त्री की इच्छा और सहयोग पर निर्भर है। अत भोगी रावण ने रामध्यान में मग्न मलिनवसना एवं अश्रुनयना सीता की इच्छा नहीं की। राम को विस्मृत कर लकेश्वर पर रीझनेवाली सीता को उसने चाहा और निरतर इसीकी ओर रावण यत्नशील रहा। साथ ही सभव है कि अन्य स्त्रियो की अपेक्षा सीतादेवी के प्रति उस राक्षस का प्रेम उत्तम रीति का रहा हो। सीता के अनिन्द्य सौंदर्य के कारण रावण के मन में सीता के प्रति प्रेम के साथ साथ अतिशय गौरव भी उपजा हो। इसीसे प्रेरित हो उसने सीता से धूर्त व्यवहार करने का किंचित प्रयत्न भी नहीं किया। सीता जी के कठोर वचन सुनकर भी उसने क्रूरता नहीं दिखायी। रावण के इस गुण-विशेष के कारण ही सीता जी प्रण, प्राण और शील के साथ श्रीराम से फिर मिल सकी। जैसा हर लाया वैसे ही बलात् उनसे भोग की भी रावण यदि इच्छा करता तो सीताजी के लिए अपने प्राणत्याग के सिवा दूसरा मार्ग ही नही रहता। वाल्मीकि ने रावण के पात्र की कल्पना में उसके इस मनोधर्म को स्पष्ट व्यक्त करके परिस्थिति को सहजता से चित्रित करने का यत्न किया है।

इसका अर्थ यह नहीं कि वाल्मीकि ने रावण को कई पाश्चात्य दु खान्त नाटकों [Tragedy] के नायकों की भाँति दुरन्त नायक [Tragic Hero] के रूप में चित्रित किया है। ऐसे दुरन्त नायक सकलगुणसपन्न होने पर भी किसी एक दुर्गुण अथवा गुणाभाव से पथभ्रष्ट हो जीवन के भवर मे फ़सकर नष्ट हो जाते हैं। शेक्सपियर कवि के

1 रामायण 6-109-22

हैम्लेट, मेकबेथ आदि पात्र ऐसे ही दुरन्त नायक हैं। वाल्मीकि का रावण ऐसा दुरन्त नायक नहीं; कवि ने रामायण में रावण के जीवन को चित्रित करने का यत्न नहीं किया है, जैसा शेक्सपियर ने अपने दुरन्त नायकों में किया है। यह सत्य है कि शेक्सपियर के दुरन्त नायकों के प्रति जैसे हमारी सहानुभूति जगती है वैसे ही रावण के प्रति भी हमारी करुणा अल्प मात्रा में जाग्रत होती है; पर यह उसके असंख्य सद्गुणों के बीच किसी प्रबल दोष से नष्ट को प्राप्त करने के कारण नहीं। इस कारण की खोज के लिए हमें यह समझना होगा कि परस्त्री-अपहरण रावण के जीवन की किसी विषघड़ी का दुष्कृत्य मात्र नहीं था। मनोदौर्बल्य की सुप्तप्रज्ञा के हेय कार्य के लिए संज्ञाप्राप्ति के बाद पश्चात्ताप करना भी रावण का स्वभाव नहीं था। वाल्मीकि ने अनेक पात्रों से बारबार रावण को उपदेश दिलाया है और रावण को इन सब की अवहेलना करते हुए भी चित्रित किया है। स्वभाव के जाल से अपने-आपको मुक्त करने में असमर्थ जीव की विवशता को चित्रित कर कवि ने पात्र के प्रति सहृदय की सहानुभूति जगायी है।

"पापानां वा शुभानां वा
वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण
न कश्चिन्नापराध्यति॥"[1]

जीवन के प्रति वाल्मीकि महर्षि का सदा यही दृष्टिकोण रहा है। उनकी सीता, उनके राम सभी इसी तत्व का प्रतिपादन करते हैं। रावण के लिए भी कवि 'कार्यं कारुण्यमार्येण' कहने के लिए प्रस्तुत हैं। रावण को भी कवि ने दयार्द्र दृष्टि से देखा है; फलस्वरूप उनसे चित्रित रावण हमारी दया के पात्र हैं। वास्तव में कवि-कौशल की गरिमा भी इसी में निहित मानी जा सकती है। पर यह स्पष्ट है कि कवि के लिए राम रावण से अधिक महान् नहीं, प्रत्युत अधिक प्रिय भी हैं, सत्यतर भी हैं। रावण के प्रति अनुकंपा दर्शाते समय हम राम के व्यवहार से असन्तुष्ट नहीं होते। किसी भी परिस्थिति में रावण की दुष्टता व नीचता में हम संदेह नहीं करते।

भक्तकवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति के प्रचार के लिए रामचरितमानस को सृजित किया है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए गोस्वामीजी ने मानस में आदर्श चरित्रों को प्रतिष्ठित किया। अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने रावण को तामस गुण का पात्रत्व प्रदान किया। परन्तु गोस्वामीजी ने कविसहज सहानुभूति और उदारता से इस पात्र को चित्रित नहीं किया। तुलसी बाबा का जीवनदर्शन तो प्रसिद्ध है ही—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि वैरी सम
जदपि परम सनेही॥"[1]

श्रीराम के परम वैरी का वैभवपूर्ण चित्र वे कैसे उपस्थित कर सकते थे। अतः राम-द्वेषी रावण के प्रति भक्तकवि ने उपेक्षा व उदासीनता ही दिखायी। इसी कारण से मानस के रावण में वह वैभव और तीव्रता नहीं आ सकी जो रामायण के रावण में सहज ही प्राप्त होते हैं।

कवि द्वारा निष्पक्ष विवेचन न होने से मानस में रावण के चरित्र का क्रमिक विकास

1. रामायण: 6—113—45

1. विनयपत्रिका: 845

अंकित नहीं है। रावण के पौलस्त्यज होने की सूचना गोस्वामीजो ने भी दी है। पर उसके दिग्विजय का उल्लेख केवल चार दोहों में करके कवि ने रावण के अत्याचारों का विस्तृत वर्णन ही प्रस्तुत किया है। इससे रावण का लोक-कंटक रूप तो स्पष्ट हुआ ही, भगवान के अवतार की अनिवार्यता भी सिद्ध हुई। मानस में रावण के आतंक का वर्णन तो पाया जाता है—

"चलत दसानन डोलति अवनी।
गर्जत गर्भ स्रवहि सुर रवनी॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा।
देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥"[2]

पर उसके तेजोदीप्त रूप के अंकन का अभाव है।

श्रीराम के समकक्ष प्रतिनायक मे वांछित तथा रामायण के रावण मे विद्यमान दीप्ति, ऐश्वर्य, शक्ति एवं शौर्य का मानस के रावण मे नितांत अभाव है। हाँ, उसकी शृंगारिकता, रसिकता एवं भावुकता की ओर प्रासंगिक संकेत तो मानस मे मिल ही जाता है। मानस मे रावण राजनीतिज्ञ कम है और अभिमानी अधिक। पर उसका रणकौशल *कवि द्वारा स्वीकृत हुआ है। मानस का* रावण महान् बलशाली के रूप में भी सामने आता है। पर सबसे अधिक वह इंद्रियलोलुप, क्रोधी और महान् हठी के रूप मे ही चित्रित है।

गोस्वामीजी ने मानस में रावण को प्रच्छन्न रामभक्त के रूप में भी दर्शाया है। शूर्पणखा से राम लक्ष्मण की वीरता का वर्णन सुनते वह संकल्प करता है—

"सुर रंजन भंजन महि भारा।
जो भगवन्त लीन्ह अवतारा॥

2. मानस 1—181—5, 6

तो मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥"[1]

भक्ति के अन्य सभी साधन रावण के लिए अलभ्य थे। अत उसने अन्त तक श्रीराम का घोर विरोध किया—'कहाँ रामु रन हतौं प्रचारी'[2] श्रीराम के हाथ से मृत्यु प्राप्त करने के हेतु ही रावण ने प्रभु से विरोध किया और अन्त मे रामबाण से मारे जाने के कारण उसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई—"*तासु तेज समान प्रभु आनन*"[3]। परन्तु तुलसी के राम का प्रत्यक्ष विरोधी होने के कारण, उन्होंने रावण की भक्ति की कहीं भी प्रशंसा नहीं की, वरन् मानस भर मे उसकी कटु आलोचना को विस्तार ही दिया है। नीच, खल, अधम आदि कटु संबोधन भी उसके लिए कवि की बुद्धि ने ग्रहण किये हैं।

"उनका रावण उनके पूर्व के रावणों से अधिक अभिमानी और हठी है। वह मारीच, शुक, विभीषण, माल्यवंत, प्रहस्त और कुंभकर्ण के परामर्शों एवं अपनी पत्नी मंदोदरी की बराबर की गयी प्रार्थनाओं पर किंचित् भी ध्यान नहीं देता। *निस्संदेह इस समस्त अपमानता का एक* पूर्ण कारण यह प्रतीत होता है कि यह सभी मतकारी एक विशिष्ट दार्शनिक राग अलापते है।.... परन्तु इस समस्त अभिमान, दुराग्रह और दंभ के होते हुए भी इस रावण मे एक बात आश्चर्यजनक है, वह है उसकी चतुरता और वाक्-

1 मानस 3-22-3, 5
2 वही 6-103-3
3 वही 6-103-5

पटुता, आत्मविश्वास और विनोद-प्रियता। किन्तु खेद है कि हमारा कवि अपने नायक के प्रति उत्कट भक्ति के कारण इस वीर चरित के साथ पर्याप्त न्याय नहीं करता है।............स्पष्ट ही इन स्थलों पर भक्त तुलसीदास के आगे, कलाकार तुलसीदास भाग खड़े हुए हैं।"[1]

केशवदास-कृत 'रामचन्द्रिका' में रावण का चरित्र परंपरागत है। वाल्मीकि और तुलसी के रावण की भाँति केशव का रावण भी शक्तिशाली और पराक्रमी है। अपने आतंक से समस्त लोकों को त्रस्त करनेवाला है। मानस के रावण की भाँति वह अहंकारी और हठी भी है। स्पष्ट रूप से विचार के साथ कहा जाय तो केशवदास ने रावण के चरित्र में किसी भी प्रकार की विशेषता का समावेश नहीं किया है।

काव्य में उपेक्षिता उर्मिला को प्रधानता देने हेतु मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत का प्रणयन किया। उन्होंने उर्मिला को ही नायिका के रूप में स्वीकृत किया और इसे निभाने स्थानैक्य व घटना-ऐक्य की आयोजना भी साकेत में की। परिणाम स्वरूप रावण के चरित्र का उद्घाटन करने में सहायक कथा केवल कथित होने से इस पात्र का विकास बिलकुल नहीं हो सका। कवि का अपना उद्देश्य भी न कथा के इस भाग को अंकित करने का था और ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें न रावण आदि पात्रों के चरित्रावलोकन कराने में ही रुचि थी। हाँ, बुद्धिवादी युग के मानवतावादी कवि होने के नाते गुप्तजी ने तुलसीदास की भाँति रावण आदि को भाग्य से राक्षस न मानकर कर्म से दानव माना है। अंततोगत्वा साकेत में जब नायक के रूप में परंपरा से गृहीत राम को ही स्थान प्राप्त नहीं हुआ है, तो प्रतिनायक रावण की स्थिति की कल्पना हम सहज ही कर सकते हैं।

कन्नड-जैन-रामकाव्यों में अधिकांश काव्य विमलसूरी की परंपरा के हैं। रामकाव्यों के इतिहास में प्रथम बार विमलसूरी ने दुरन्त रावण की कल्पना कर अपने 'पउम चरिउ' को एक अत्युत्तम व श्रेष्ठ कलाकृति के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया। इनकी परंपरा को अपनानेवाले सभी कन्नड रामकथाकारों ने विमलसूरी के अनुकरण पर रावण को एक दुरन्त नायक के रूप में चित्रित किया। उन सबके प्रतिनिधि हैं कवि नागचन्द्र। नागचन्द्र (अभिनव पंप) ने अपने 'रामचन्द्रचरित पुराण' में रावण के पात्र में विमलसूरी की दुरन्त कल्पना को विस्तृत कर सरस बनाया।

'पंप रामायण' में नायक-अनुनायक से अधिक साहित्य-सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला पात्र प्रतिनायक रावण का है। लक्ष्मण वासुदेव हैं, तो रावण प्रति वासुदेव हैं। काव्य का बहुत बड़ा भाग उसके अतिसाहस विजयोत्सव की कथा से भरा पड़ा है। इस काव्य में रावण की पात्ररचना में एक सहज ही अपूर्वता पायी जाती है।

विद्याधरों के प्रसिद्ध तोयदवाहन के वंश में रावण का जन्म हुआ। इसके वंशज पाताल लंका में राज करते थे। रावण राक्षस नहीं था; उसके पूर्वजों में एक का नाम अवश्य राक्षस था; अतः उस राक्षस के वंशज राक्षस कहलाये। रामायण के रावण की भाँति इस रावण के न दस

1. डॉ० माताप्रसाद गुप्त: तुलसीदास: पृष्ठ 287.

सिर ही थे, न बीस भुजाएँ ही। न इस रावण का आकार ही भयोत्पादक या भीषण था। पंप-रामायण के रावण के पिता थे रत्नश्रव और माता कैकसी। जन्म के बाद रावण को भीम राक्षस नामक पूर्वज से प्राप्त नवमुखवाला रत्नाभरण पहनाया गया जिसमे उसका मुख प्रतिबिंबित होने से उसका नाम दशमुख पड़ा। दशग्रीव, दशकठ, दशकंधर आदि उसी शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं। रावण सकल-शास्त्र-सपन्न बना और तपोनिष्ठ हो उसने अनेक विद्याओ की सिद्धि प्राप्त की। अपने बलपराक्रम से रावण ने खोयी पाताल लका पर फिर से अधिकार किया। सुरसगीतक पुर के राजा मय ने अपनी पुत्री मदोदरी का विवाह रावण से किया।

अपने शक्ति-सामर्थ्य से रावण ने इन्द्र, वरुण आदि दिक्पालो और सहस्रबाहु आदि राजाओं को परास्त कर, उन्हें अपने अधिकार में कर लिया था। इस तरह पौरुष व साहस मे रावण अपना प्रतिद्वन्दी नही रखता था। उसकी वीरता के गौरव को बढ़ाने के लिए रावण मे असंख्य सद्गुण मौजूद थे। महावीर जिन मे उसकी पूर्ण भक्ति थी। अपने राजप्रासाद में ही उसने 'जिनपूजा' के लिए शांतिजिन मदिर की स्थापना की थी। राम-लक्ष्मण को परास्त करने के लिए बहुरूपी विद्या की प्राप्ति हेतु शांतिजिन पूजा में मग्न रावण, अंगदादि वानरो द्वारा मन्दोदरी तथा अन्य अन्त.पुर की स्त्रियो पर अत्याचार होते देखकर भी ध्यान विमुख न हुआ। यह उसकी भक्ति एवं दृढ़ इच्छाशक्ति का परिचायक है। कैलासस्थित जिनालय मे रत्नराशियो से पूजा करने के कारण और जिनस्तोत्रमाला के मधुर गान से संतुष्ट करने के कारण आदिशेष ने पाताललोक से आकर रावण को शत्रुविजयी शक्तायुध प्रदान किया। दिग्विजय के समय राजा मरुत को यज्ञ के लिए पशुवध में निरत देख रावण ने उसे रोककर अहिंसाव्रत का पालन किया। उसकी धर्मनिष्ठा के लिए इससे बढ़कर कौन-सा उदाहरण चाहिए?

गुरुजनों से रावण सदा विनम्र व्यवहार करता था। माहिष्मतीपुर के राजा सहस्रबाहु और विजयार्धपर्वत के नरेश इन्द्र को परास्त करके रावण ने इन्हें अपने कारावास मे डाल दिया था। पर इनके पिता के आकर प्रार्थना करने से उनकी बात मानकर राजाओ को मुक्त कर दिया। हराए गये नळकूबर से अपने पुत्र इंद्रजीत से भी अधिक प्रीति का व्यवहार करके उसने उसे अपने परिवार में मिला लिया। उसी तरह राजा वरुण को परास्त करने पर भी उससे अच्छा व्यवहार करके उसका राज्य लौटा दिया। इस प्रकार विजित राजाओ के राज्यों को लौटाकर, उनसे नाता जोड़कर, उन्हें अपने आश्रित वर्ग मे सम्मिलित करके रावण ने अपनी कुशल राजनीतिज्ञता का परिचय दिया था।

रावण का अत.पुर काफी बडा था। उससे प्रसन्न हो अनेक राजाओ ने अपनी पुत्रियों का विवाह किया था। रावण ने कभी मोहवश हो किसी परस्त्री का बलात् हरण नही किया। उसने अनन्तवीर्य मुनि से परागनाविरतव्रत लिया था। और वह कठोरता से उसका पालन करता था। विद्याशक्ति से निर्मित 'वज्रसाल' नामक

क़िले को नहीं तोड़ सकने के कारण रावण दुर्लंघ्यपुर के राजा नळकूबर को परास्त करने में असमर्थ रहा। जब वह दुर्ग को बेधने का उपाय सोच ही रहा था तो उससे मोह रखनेवाली नळकूबर की पत्नी उपरंभा ने रावण के पास दूती भेजी। विभीषण की सलाह से कपट प्रेम दिखाकर उसने उपरंभा से दुर्ग को जीतने का रहस्य जान लिया। नळकूबर को परास्त करने के बाद उपरंभा के प्रस्तुत होने पर रावण ने उससे यह कहकर कि "आप निजकुलाचार को ध्यान में रखकर शील परिपालन कीजिए; आप विद्यादान प्रदान करके मेरी गुरु बन गयी। अन्यथा न मानकर नळकूबर के साथ सुख से रहें।" उस राजमहिषी की वासना को दूर करके उसने चरित्र-शुद्धि का उद्देश दिया। स्वयं ही रीझकर अपने-आपको अर्पित करनेवाली सुन्दरी को ग्रहण न करके, उसके शील के साथ अपने शील की भी रक्षा करना सदा सन्मार्गावलम्बी से ही संभव है, अन्यों से नहीं। रावण का यह संयम सराहनीय है।

रावण को अपने विद्यावल से चन्द्रहास नामक अद्वितीय खड्ग प्राप्त हुआ था। उसके 'पुरातन पुण्यफल' से रावण की आयुधशाला में 'सुदर्शन चक्र' का भी आविर्भाव हुआ। रावण के अप्रतिम शौर्य-साहस व साधन-संपत्ति का वर्णन राम-लक्ष्मण से करते हुए जांबुनद ने उसे अजेय घोषित किया—

"बल से, विद्यावल से, मनोवल से कोई भी राजा रावण को जीतना नहीं जानता; अमरेन्द्र के लिए भी दशकंधर अलंघ्य-विक्रांत-तुंग है।"[1]

यह सब कुछ होने पर भी विधि के सामने किसका चलता है? "जानकी के निमित्त दाशरथी के हाथों लंकानाथ की मृत्यु निश्चित है, "ज्योतिषियों से विभीषण ने यह भविष्य जानकर विधिनियम को भंग करने के लिए दशरथ व जनक के वध का यत्न किया। प्रसिद्ध है कि 'कारणविघटन ही कार्यविघटन है।" नारद से यह भेद जानकर, "कालवंचन ही कार्यसिद्धि" नियम के अनुसार दोनों राजा छिप गये। विपरीत विधि की रावण पर यह प्रथम विजय थी।

शंभुकवध के उपरान्त राम-लक्ष्मण को मारने के लिए रावण दंडकारण्य पहुँचा। यहाँ से विधि की जीत और रावण की हार क्रम से स्पष्ट होती गयी। राम के संग विचरनेवाली सीता को देख रावण का मन चंचल हुआ। उस समय अवलोकिनी विद्या ने राम-लक्ष्मण को 'कारण-पुरुष' घोषित कर उनसे वैर न ठानने की चेतावनी दी। पर कर्मविपाक से रावण उसे नहीं मान सका। उसी विद्या की युक्ति से राम के सहायतार्थ लक्ष्मण को भजकर रावण ने सीता का हरण किया और उन्हें लंका के प्रमदवन में रखा। उससे रावण का परांगनाविरत व्रत भंग हो गया। उसकी चिंता व कातरता बढ़ी। रावण के प्रलोभन में न आकर इधर सीताजी ने उसको धिक्कारा। विधि के लेख के अनुसार यह सभी कुछ घटित हो रहा था।

राम और लक्ष्मण ने रावण के साहस-वैभव की कथा सुनी। पर लक्ष्मण उससे प्रभावित न हुए। अपने को अमर माननेवाले रावण ने किसी जैन-मुनि द्वारा सिद्धशैल को उठानेवाले व्यक्ति से

---

1. "वलद भुजवलद विद्या
वलद मनोवलद वलिपनिम् नृपर आगृम्
गेल्ल् अरियम् दशकंधरन्
अलघ्य विक्रांत तुंगन्अमरेन्द्रधम्। —पंप रामायण

अपने मरण की भविष्यवाणी सुनी। जाम्बूनद आदि की परीक्षा मे सिद्धशैल को अनायास उठाने में लक्ष्मण सफल हुए। खेचर रावण ने भूचर राम और लक्ष्मण मे उसका विरोध करने के धैर्य, साहस व महत्वों की कल्पना तक नही की थी। साथ ही अपने आप्तवर्ग के हनुमान को विरोधी-पक्ष में सम्मिलित होने की सभावना तक नही की थी। विधि ने रावण के इन दोनो विश्वासों को मिथ्या सिद्ध किया। प्रमदवन में सीता का रुदन सुन रावण को धर्म और नीति के उपदेश देनेवाले विभीषण को भी लंका त्यागना पडा।

इस प्रकार पग-पग पर विधि की जीत होती गयी। कुभकर्ण और रावण के पुत्र इद्रजी व मेघवाहन युद्ध में बदी बना दिये गये। लक्ष्मण को परास्त करने बहुरूपिणी विद्या की प्राप्ति के लिए रावण ने उपासना की। विद्या देवता ने राम-लक्ष्मण को छोड़कर अन्यों को समाप्त करने का वादा किया। विधि की इस प्रतिकूलता से रावण दिङ्मूढ हो गया।

रावण के जीवन के अतिम दृश्य तथा विधि-विलास के अतिम दुखद सन्निवेश का कवि ने मर्मस्पर्शी ढंग से वर्णन प्रस्तुत किया है। अंतिम-युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पहले रावण सीता से मिलने गया। रावण ने सीता से बहु-रूपिणी विद्या की सिद्धि से अपने को अजेय घोषित करके राम को त्याग कर अपनी बन जाने की प्रार्थना की। सीताजी अत्यन्त दीनता से करुणाजनक व मर्मबेधी स्वर में रघुनदन के प्राण रहते रावण से अपने शरीर का स्पर्श न करने की बात कहकर मूर्छित हो गयी। रावण की आँखें अब खुल गई; अपने अपराध का ज्ञान हुआ। रावण के मन मे विरक्ति जाग्रत हुई। उसने अपने कुकर्मों की निंदा स्वतः की। उसने सीता का गुणस्तवन किया और उन्हें अपने प्रिय से अलग कर दुख पहुँचाने के लिए खेद प्रकट किया। राम-लक्ष्मण को युद्ध मे परास्त कर, उन्हें बन्दी बनाकर अपने पापकर्मों के प्रायश्चित स्वरूप रावण ने उन दोनो राजकुमारो को अपने हाथो सीताजी को सौपने का निश्चय किया। उसकी सहज उदात्तता का यही उदाहरण पर्याप्त है। पर अब युद्ध स्थगित कर सीता का समर्पण अभिमानी रावण के लिए असहनीय था। अन्त में अभिमानघन, साहसी रावण अपने ही बल के भरोसे अतिम साँस तक लडते-लडते लक्ष्मण के बाण से मारा गया। उसकी वह सात्विक इच्छा अपूर्ण रह गयी।

लक्ष्मण के हाथो से ही रावण की मृत्यु निश्चित हुई थी; रावण-वध के लिए ही लक्ष्मण का जन्म हुआ था। यह विधि का नियम था। विभीषण द्वारा नियोजित जनक-दशरथ-वध की असफलता कर्मवश अपने सहज स्वभाव के विरुद्ध रावण के मन मे सीता के प्रति मोह का उदय, अवलोकिनी देवता, हनुमान, विभीषण आदि हितैषियो के उपदेश का रावण द्वारा निराकरण, विधि-विलास के वे मुख्य चरण हैं जिनकी योजना से विधि रावण को नष्ट करने मे सफल हो गई।

कवि नागचन्द्र ने अपने 'रामचन्द्रचरित-पुराण' मे रावण के दुरन्त-दुखद अन्त का मनोहर चित्रण किया है। रावण सकल सद्गुण और

महान् पौरुष, वैभवों का आगार था। कर्म-विपाक से विधि के जाल में फँसकर, क्षणिक चित्त चंचलता के वशवर्ती हो अपने को बचाने में विफल होकर उसने अपने जीवन की नियति के आगे बलि चढ़ा दी। दुरन्त रावण की यह परिकल्पना कन्नड साहित्य के लिए नागचन्द्र की अमर देन है।

नागचन्द्र के रावण के दुरन्त पात्र की कल्पना ने परवर्ती कन्नड साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। सन् 1580 ई. के लगभग कवि नरहरि के विरचित परंपरागत कन्नड रामकाव्य 'तोखे रामायण' के रावण पर भी यह प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यों तो यह काव्य वाल्मीकीय रामायण का कन्नड अनुवाद है; किन्तु नागचन्द्र के 'पंप रामायण' की देखादेखी कवि नरहरि ने रावण के स्वभाव-चित्रण में परिवर्तन उपस्थित किया है। यह रावण राम का परमात्मा रूप में होना अच्छी तरह जानता था। अपने अपराध का उसे ज्ञान था। पर उनकी शरण में जाना अपने आत्मसम्मान के लिए कलंक भी मानता था। अतः वह अन्त तक युद्ध करते राम के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसने मरते समय श्रीरामचन्द्र की स्तुति कर शांति से प्राण त्याग दिये। युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पहले उसने अपने भण्डार का सारा धन प्रजा को बांट दिया और उसे विभीषण की आज्ञाकारिणी बनी रहने का उपदेश दिया। इस तरह से 'तोखे रामायण' का रावण अधिक मानवीय भी है।

कन्नड साहित्य के अर्वाचीन युग में महाकवि कुवेंपु ने 'श्रीरामायणदर्शनम्' के प्रणयन से इस साहित्य-परंपरा को अक्षुण्ण रखा है। 'दर्शनम्' के रावण ने भी रामायण के रावण की भांति अपने वज्रोपम पराक्रम से त्रिभुवनों को विजित किया था। पर रावण का अप्रतिम पराक्रम उसके जीवन का एक मुख था। उसे हम रावण का एक गौण गुण कह सकते हैं। रावण के पराक्रम, शौर्य व भीम साहस के पीछे प्रेरक शक्ति बनकर काम करती थी उसकी वासना। रावण के पात्रत्व का आधार यह वासना ही है। यही उसके जीवन की पतवार है। इसी तरह की वासना रामायण के रावण में भी मिलती है। वाल्मीकीय रावण का जन्म काम से हुआ था, उसीसे वह पला और उसीसे चिर भी हो गया। दर्शनम् के रावण ने भी उसीसे जन्म लिया, विकसित हुआ, पर उसीसे मुक्त हो गया। दोनों में यही अन्तर है।

रावण ने स्वयं स्वीकार किया[1] है कि स्त्रैणता को साथ लेकर ही उसका जन्म हुआ था। यह उसके जन्म की दुर्बलता थी। इस दुर्बलता को जीतने रावण ने कितने ही व्रतों का पालन कर अपनी इन्द्रियों का दमन किया। पातिव्रत्य पर विश्वास करके उसने मुग्धबुद्धि से पत्नीव्रत के पालन में युवावस्था को बिताया। कामिनी की इच्छा करने से पूर्व ही कामिनी ने रावण की इच्छा की। रावण के अनुपम गुणों पर रीझकर उससे प्रसन्न होनेवाली नारी भला कौन न थी? प्रख्यात पतिव्रताओं की परीक्षा भी रावण ने ली। पर सभी रावण पर रीझ उठीं जिससे पातिव्रत्य के प्रति रावण का विश्वास मिट गया। वह मन्मथ

1. श्रीरामायणदर्शनम् : पृष्ठ 223

रुचि के रसातल में कूद पड़ा ; काम के प्रवाह मे बह गया।

स्त्री के प्रति गौरवभावना के नष्ट होते ही रावण के मन मे नारी को लेकर विकृत कामभाव तीव्र होता गया।[2] औचित्यानौचित्य पर ध्यान न रख, पापपुण्यों की परवाह न कर, रावण मनचाही सुन्दरियो को हर लाता था। असख्य ऋषि-पत्नियो का उसने अपहरण किया जिनमें से धान्य-मालिनी उसकी प्यारी उपपत्नी बन गयी। रावण को अटल विश्वास हो गया कि विश्व में उसका तिरस्कार करनेवाली स्त्री है ही नही।

पहले से रावण सीता पर मुग्ध था ही ; पर धनुर्भंग न कर सकने से उसे सीता पत्नीरूप से प्राप्त न हो सकी। अब तो पतिव्रताओं के अस्तित्व पर ही उसका विश्वास मिट चुका था। ऐसी स्थिति मे चन्द्रनखा की प्रेरणा से उसने सीतापहरण का निश्चय किया। उसके विकृत मन ने इस हेयकार्य के लिए राजकीय कारण भी प्रस्तुत किये। चन्द्रनखा के अपमान में दाक्षिणात्यों के प्रति औत्तरेयो का अपमान देखा। राम को निस्तेज करने का राजकीय तर्क प्रस्तुत करके सीतापहरण को उचित ठहराया। रावण के मन मे इस समय धर्माधर्म का प्रश्न ही नही उठता था।[3]

दर्शनम् के रावण ने भी कष्ट से सीतापहरण किया ; पर सीता जी को अपने वश मे करने के लिए उसने छल या माया का अवलंब नहीं लिया। दस महीनों तक स्वेच्छा से सीता के अपने ऊपर रीझने की प्रतीक्षा की। कपट, कुटिलता, कुतन्त्र या किसी भी अन्य उपाय से उसने सीता के सहवास की इच्छा नहीं की। अपने अनुचर दुर्मतसिद्ध, कपटकोविद व कठोरमति शार्दूल की मायासृष्टि से सीता जी को भयभीत व निराश कर अपने वश् करने की सलाह[1] का रावण ने तिरस्कार कर दिया।

वास्तव में रावण का विश्वास था कि अन्य स्त्रियो की भांति सीता जी उसकी वशवर्तिनी हो जाएंगी। पातिव्रत्य में रावण के विश्वास को बनाये रखनेवाली नारी से उसका पाला नही पड़ा। सीता जी से तिरस्कृत[2] हो जाने पर रावण उन्हें बल का भय दिखाता है[3] और मरणोपरान्त भी सीता के साथ चितारोहण करने का अपना दृढ़ निश्चय भी व्यक्त करता है। अब असहाय सीता जी को मरण भी भयानक लगता है। पर त्रिजटा सीता जी को समझाती है—

"मैं उसे अच्छी तरह पहचानती हूँ। बल से हर लाने पर भी बलात्कार से स्त्रीसंग करनेवाला पशु रावण नही है। कामुक होने पर भी स्वयं न रीझनेवाली स्त्री का वह स्पर्श भी नही करेगा; कठोर होने पर भी वह असंस्कृत नहीं है। मर्यादा की उपेक्षा कर नारी से मिलनेवाला कायर भी वह नही है। वह सदा पौरुषशाली रहा है।"[4]

2. वही - पृष्ठ 224

3 वही - पृष्ठ 215

1. श्रीरामायणदर्शनम् पृ 619

2. वही पृ 495

3 वही पृ 493

4 ………………बल्लेनानातनम् बलदिनेब्ळेनदोडम् बलदोब्ळुडोडवेरेवनितु पशुमात्रनल्लु कामुकनप्पोडम् मेच्चि बगे सोल्लरन्नल्लदेये सोकनावोगम् : कठिणना-दोडमसस्कृतनल्ल नारियम् मीरि कूडुव पेडियल्लु : पौरुषशाली तानावगम्।

—श्रीरामायण दर्शनम् : पृ. 493

त्रिजटा की इस संस्तुति से सहज ही रावण के काम की मिति, नीति की दृढ़ता, संस्कृति की गहराई और पराक्रम की सीमा की कल्पना की जा सकती है।

सर्वनाश की ओर अग्रसर इस रावण के उद्धार के लिए मारीच, विभीषण, उसकी कुमारी बाला, चन्द्रनखा और मन्दोदरी ने दत्तचित से यत्न किया।[1] पर रावण ने उन सबको कुलद्रोही, गृहवैरी, राजद्रोही आदि ठहराकर उनका तिरस्कार कर दिया।[2]

रमायण के रावण में अन्त तक कोई भी विकास परिलक्षित नहीं होता। किसीके उपदेश से उसका बुद्धि-परिवर्तन संभव नहीं। किसी भी कटु अनुभव से उसको ऐहिक भोगासक्ति घटती नहीं। वह जीवन से कोई भी पाठ नहीं सीखता। पर 'दर्शनम्' का रावण उसके हिताकांक्षियों के क्षेमकातर हृदयांतराल से निसृत प्रार्थना के फलस्वरूप बदल जाता है। पहले पहल सौंदर्य के लिए जिस सीताजी पर वह मुग्ध था वे ही अन्त में आत्मा का उद्धार करनेवाली देवता, पुण्यमाता[3] बन गयी। सीता के प्रति रावण की कामदृष्टि व कामातुरता अन्त तक पूर्ण रूप से मिट जाती है और कामांध रावण महान् साधकवरेण्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[4]

अपने अपराध से अवगत होने पर और हृदय-परिवर्तन के बाद भी, सीताजी को माता मानते हुए रावण ने हठ[5], क्षात्रतेज व अभिमान की रक्षा के लिए उन्हें अशोकवाटिका में ही रखा था। उसका उद्देश्य यह था—

"सीताजी ने मुझे परास्त कर दिया। अत रण में राम को परास्त कर उन्हें सीताजी को उपहार के रूप में अर्पित करूँगा।"[1]

अब रावण को केवल रणविजय में रुचि नहीं थी; सीता के शुभोदय के लिए युद्ध में विजयी बनना चाहता था।

अपने इस महोद्देश्य का पता रावण श्रीराम को देना नहीं चाहता था। क्योंकि—"श्रीराम को अपने हृदय-परिवर्तन का पता नहीं लगाना ही वीरता की दीक्षा है। मेरे कहने पर भी विश्वास करे कौन[2]? दूसरों को बताने से कायरता के सिवाय और कोई प्रयोजन मुझे दीख नहीं पड़ता।"[3]

रावणत्व को पूर्ण रूप से मिटाने के लिए रावण के अहंकार का नाश अनिवार्य था। उसकी आँखों के सामने ही मेघनाद तथा अतिकाय का वध, धान्य-मालिनी की मृत्यु, स्वर्ण नगरी लंका का नाश हुआ था। धर्माधर्म विवेक की प्राप्ति के बाद, सीता के प्रति हृदय-परिवर्तन हो जाने पर विधि-विलास से, अपनी ही दुर्बलता की माया से ग्रसित हो शुष्क हठ के अभिमान से प्रेरित रावण ने युद्ध ठान लिया। उसके लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई भी मार्ग न था। अतः त्रिभुवनों में कभी न सुने, न देखे युद्ध में राम को परास्त करने का प्रयत्न किया गया। राम से संचालित ब्रह्मास्त्र को हृदय में प्रविष्ट होते हुए देखकर रावण ने उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर पकड़ लिया, क्योंकि रावण की

1. वही : पृ. 470 और 497
2. वही : पृ. 570
3. श्रीरामायणदर्शनम् : पृष्ठ : 778.
4. वही—पृष्ठ : 745-47
5. वही—पृष्ठ : 470

1. वही—पृष्ठ : 707
2. वही—पृष्ठ : 779
3. वही—पृष्ठ : 779-80

दृष्टि में 'राघव की मूर्ति' उसमें प्राणरूप में विराज रही थी। 'शत्रु पकड़ा गया!' चिल्लाते हुए रावण हृदयस्थित ब्रह्मास्त्र के साथ लंका पहुँच गया। अपने पलंग पर लेटकर मंदोदरी से रावण ने अपने वक्ष से ब्रह्मास्त्र को खींच निकालने की प्रार्थना की। मंदोदरी द्वारा उस अस्त्र के निकाले जाने से उस ब्रह्मबाण मे प्राण-रूप से स्थित श्रीरामचन्द्र ने रावण के प्राणों को ग्रहण किया और रावण की आत्मा को मुक्ति प्रदान की।

रावण परम भक्त व श्रेष्ठ ज्ञानी था, किन्तु विश्वास की शिथिलता से जन्मजात वासनाप्रवाह में बहकर, हेयकर्म में कुछ समय तक निरत रहा। पतिव्रताओं की अधिदेवता सीताजी की दृढता से प्रभावित, असख्य हितैषियो की हितोक्तियो व प्रार्थना से प्रोत्साहित रावण धीरे-धीरे परिवर्तित हो गया। असख्य कटु अनुभवों से जर्जरित उसके हृदय मे वैराग्य तथा विवेक का उदय हुआ। फिर भी विधि की यच्छेच्छा व अपने मिथ्या-अभिमान से प्रेरित श्रीरामचन्द्र से अन्त तक युद्ध करके इस साधकवरेण्य ने मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

'दर्शनम' का रावण आधुनिक बुद्धिवादी युग के मानवतावादी कवि की सहानुभूति व करुणा का पात्र है। लोककंटक इस दुर्दान्त दैत्य रावण के चरित्र को सहृदयता से चित्रित कर कवि कुवेंपु ने इसी साहित्य-सहृदय की अनुकंपा के योग्य बना दिया है। साथ ही दैत्य संस्कृति और राक्षसों के पारिवारिक जीवन के यथार्थ-चित्रण से राक्षस-राज को समझने की पूर्ण दृष्टि प्रदान कर चिर-काल से निंदित इस पात्र के प्रति पूर्ण न्याय भी किया है।

'दर्शनम्' का रावण दुरंत नायक नहीं है। शेक्सपियर के हैमलेट, मेकबेथ और पंपरामायण के रावण की भांति 'दर्शनम्' का रावण नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता। वह तो धीरे-धीरे परिवर्तित होकर महान साधक बन जाता है और अपना उद्धार कर लेने मे पूर्ण सफलता प्राप्त करता है।

★

अंग्रेजी के माध्यम बनने से न केवल व्यक्ति की, बल्कि पूरे राष्ट्र की चेतना विभक्त हो जाती है और उसमे "बाबू माइन्ड" की भावना आ जाती है। उस शिक्षा को प्राप्त कर हमने चिंतन और तर्क पर बल देने के बजाय रटने पर बल दिया। वस्तु, ज्ञान और सत्य को प्राप्त करने के स्थान पर हमने कुछ शब्द-समूहो पर अधिकार कर लिया। इसने विचारो की मौलिकता और हमारी मातृभाषाओ के साहित्य पर बुरा प्रभाव डाला।

—डॉ० राधाकृष्णन (राधाकृष्णन शिक्षा आयोग, प्रतिवेदन पृष्ठ 317)

श्री रा. वीऴिनाथन्
सहसंपादक, तमिल साप्ताहिक "कल्कि",
मद्रास-81

तमिऴ का रंगमच

सभा की शिक्षा-दीक्षा के माध्यम द्वारा हिन्दी और तमिल में उन्नततम मौलिक-सृजन-कुशलता प्रदर्शित करनेवाले विद्वानों में आपका नाम उल्लेखनीय है। उपन्यास, गल्प, नाटक, निबन्ध प्रभृति साहित्य की विविध विधाओं की आपकी दर्जनों रचनाएँ हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी अनुवाद-प्रक्रिया भी विस्तारकामी है। सर्वश्री प्रेमचंद, सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा आदि प्रगल्भ हिन्दी आख्यायिकाकारों की अधिकांश कृतियों से तमिल-भारती को अलंकृत करने का विशेष श्रेय आपको प्राप्त हैं। तदर्थ तमिल लेखक-संघ द्वारा आप अभिनंदित भी हो चुके हैं। संप्रति आप प्रशस्त तमिल साप्ताहिक "कल्कि" के संपादन-विभाग से संबद्ध हैं।

रविवार का दिन था। कार्यालय में छुट्टी थी। मैं दोपहर के वक़्त घर पर बैठा अखबार पढ़ रहा था। उस समय अड़ोस-पड़ोस के बच्चे हमारे आंगन में आये। मेरी मुन्नी भी अपनी खिलौनों की टोकरी लेकर उन बच्चों के झुंड में शामिल हो गयी। थोड़ी देर बाद देखता क्या हूँ कि बच्चों के बीच में एक विवाहमंडप सजाया जा रहा है। गुड्डे-गुड़ियों की शादी करने का प्रबन्ध हो रहा है। कोई लड़का शहनाई बजाता है, कोई लड़की भोजन तैयार करती है। चावल और दाल, चीनी और गुड़ के लिए वहाँ कोई मगजपच्ची नहीं होती। मिट्टी और कंकड़ ही चावल और दाल, चीनी और गुड़ की स्थानपूर्ति कर रहे हैं!

भोजन करते हुए समधिनों के बीच उपालंभ के गीत, जिसे तमिल में 'एशल' कहते हैं, ज़ोर-शोर से गाये जा रहे हैं। दूलहा और दुलहन का विवाह इस धूमधाम से मनाया जा रहा है कि क्या कहूँ! मैं अपलक नेत्रों से खेल का वह दृश्य देखने लग गया और यह भूल गया कि वह बच्चों का खेल है! मेरी आँखों के सामने से गुड्डे-गुड़िये और बच्चे ओझल हो गये। सचमुच की शादी का दृश्य उभर आया। इसमें विशेषता की एक बात यह थी कि सचमुच की शादी भी बच्चों की उस नकली शादी के सामने फीकी जान पड़ने लगी। मेरे दिल ने कहा, 'वाह! खेल में भी कैसी तन्मयता है!'

तमिल के रंगमंच पर कुछ लिखने का विचार

मेरे मन मे आया, तो बच्चों के खेल का यही दृश्य मेरी आखों के सामने नाच उठा और रंगमंच व नाटक का प्रादुर्भाव कब और कैसे हुआ होगा? इस बात का उत्तर ढूंढने मे मुझे अधिक माथा-पच्ची नही करनी पड़ी।

समस्त जीवराशियों मे जैसे पेट की भूख विद्यमान है, वैसे ही खेल की भूख भी विद्यमान है। हम देखते हैं, पालतू कुत्ता हमे काट खाने को दौडता है, पर दांत नही गडाता। पालतू बन्दर ऐसे-ऐसे खेल दिखाता है और मनुष्य की ऐसी नक़ल उतारता है कि हम देखकर दंग रह जाते हैं। दूसरों की नक़ल उतारने की यह प्रवृत्ति केवल प्राणियो या छोटे बच्चों में ही नहीं, बल्कि बडे-बूढ़ों मे भी है। यही प्रवृत्ति पीछे चलकर नाटक का स्वरूप धारण कर विकसित हुई है—यही मेरी विनम्र धारणा है।

यह कहने की आवश्यकता नही है कि तमिल भाषा और साहित्य प्रागैतिहासिक काल से ही विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर चुका है।

दक्षिण की मधुरा नगरी तमिल का विकास-केन्द्र थी। पांडिय राजाओ ने तमिल की श्रीवृद्धि करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। भाषा की उन्नति को ख्याल में रखकर सघम् की स्थापना की तथा कविश्रेष्ठों और महान आचार्यों की सभा बुलायी। सघम् ने तमिल की साहित्य-धारा को तीन अंगों मे विभाजित किया और प्रत्येक विभाग की पुष्टि मे खासा ध्यान दिया। वे तीनों अंग 'इयल्', 'इशै' और 'नाटक' नाम से प्रसिद्ध हैं। गद्य-पद्य-मय साहित्य को 'इयल्' कहते हैं। सगीतप्रधान पद्य को 'इशै' कहते हैं। नाटक तो सबकी जानी हुई चीज है।

संघम् ने नाटक को जब साहित्य का प्रमुख अंग मान लिया तो आसानी से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस प्रागैतिहासिक काल ही में नाटक का कैसा विशिष्ट स्थान रहा है और नाटक के विकास मे संघम् ने कैसा ध्यान दिया है!

पर प्राचीन काल का कोई नाटक ग्रन्थ अब उपलब्ध नही है। अगर कुछ उपलब्ध होता है तो बस, इतना ही कि 'शिलप्पधिकारम्' 'जीवक-चिन्तामणि' जैसे महान काव्यों मे प्राचीन नाटकीय ढंग या रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनका अवलोकन करने पर इस बात का पता चलता है कि एक जमाने मे तमिल का रंगमंच और नाटक साहित्य उन्नति के शिखर पर रहे होंगे। कंबरामायण में भी नाटकीय संवाद और अनुपम दृश्य देखने को मिलते हैं।

संघम् काल के ग्रन्थो में नाटक के कुछ लक्षण-ग्रन्थों का नामोल्लेख मात्र मिलता है। 'मुरुनल' 'शयन्दम्', 'शेयिट्रियम्', 'गुणनूल' जैसे कुछ लक्षण-ग्रन्थ दो हज़ार वर्षों के पहले के माने जाते हैं। शिलप्पधिकारम् के टीकाकार अडियार्कु नल्लार ने 'भरतम्', 'अगत्तियम्' जैसे लक्षण-ग्रन्थों का उल्लेख किया है। अपने समय में उन्होने माना है कि 'भरत सेनापदीयम्', 'मतिवाणर नाटक तमिऴ् नूल' आदि रहे हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य ग्रन्थो की रचना पहले होती है और लक्षण-ग्रन्थो की रचना बाद को होती है। प्राप्त लक्षण-ग्रन्थों द्वारा इस बात का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि तमिल भाषा में

नाटक-ग्रन्थों की संख्या कितनी रही होगी और उनकी कैसी श्रेष्ठ दशा रही होगी।

नाटक तो देखने की वस्तु है। इसीलिए उसका दूसरा नाम दृश्य काव्य है। चोल देश के शिलालेखों से पता चलता है कि नाटक खेलनेवालों को जागीरें प्रदान की जाती थीं। राजराज चोल की विजय-यात्रा के उपलक्ष्य में 'राजराज विजयम्' नाम का नाटक उस ज़माने में तंजौर के मन्दिर में खेला जाता था। शिलालेख हमें यह भी बताता है कि मन्दिरों और राजमहलों के आश्रय में रहकर नाटक ने कहाँ-कहाँ कैसी-कैसी उन्नति की थी।

तमिल नाटक का प्रारंभिक रूप कैसा था, और होते-होते उसका विकास कैसे हुआ—इसका सिंहावलोकन नहीं, विहंगावलोकन करें।

खेल के प्रति स्वभाव ही से सुननेवाले मनुष्य से चुप नहीं रहा गया तो उसने चमड़े के पुतले बनवाये और सफ़ेद परदे के पीछे से उन्हें नचाने लगा। उसके इस खेल में ऐतिहासिक व पौराणिक कहानियाँ ही काम में आयीं। आदमी परदे के पीछे खड़ा होता और रामायण, महाभारत जैसी कहानियों को लोकगीत के छंदों में बद्ध कर गाता हुआ नचाता था। यह निळलाट्टम् या छाया-नाट्य के नाम से मशहूर हुआ। आज यह खेल नष्टप्राय हो गया है।

विकास-शील संसार ने धीरे-धीरे इसमें सुधार लाना शुरू किया। मिट्टी और चीथड़ों से सुन्दर-से-सुन्दर पुतलियाँ बनने लगीं। उन्हें लोग खूब सजाकर बत्ती की रोशनी में नचाने लगे। इसमें भी नचानेवाले परदे के पीछे रहते हैं और पुतलियाँ परदे के आगे। पुतलियों को नचाते समय उन्हें भी परदे के पीछे पुतलियों के नाच के अनुसार नाचना पड़ता है। हरिश्चन्द्र जैसी कहानियाँ इस पुतली नृत्य में बहुत ख्याति प्राप्त कर लोक-रंजक बनी थीं। यह 'बोम्मलाट्टम' नाम से मशहूर है। इसे पुतली-नाच कह सकते हैं। आज भी कुंभकोणम मणि अय्यर जैसे कलाविद इस कला के भरण-पोषण में स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं।

उपरान्त उसके, मनुष्य ने देखा कि प्राणविहीन पुतली को नचाना भी क्या है? तो वह स्वयं स्वाँग रचकर नाचने-खेलने लगा। यह 'कूत्तु' या 'नौटंकी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इतनी भी कथा-वस्तु या तो पौराणिक होती थी या ऐतिहासिक। निळलाट्टम्, बोम्मलाट्टम् जैसे पुतली-नाचों ही की तरह ये 'कूत्तु' भी पद्यमय ही रहते थे। गद्य का कहीं भी नामोनिशान नहीं था। प्राचीन काल का सारा साहित्य पद्य-मय ही रहता था। गद्य का कहीं भी नामोनिशान नहीं था। प्राचीन काल का सारा साहित्य ही जन-पद्यमय था तो नाटक के भी पद्यमय होने में आश्चर्य क्या? कूत्तु खुले मैदानों में, सड़क-गलियों में, मन्दिरों के प्रकारों में खेले जाते थे। न जाने, ये खेल कितने हज़ार साल पुराने थे! आजकल भी गाँवों में इस ग्रामीण नृत्य-नाटकों का प्रचलन है; ये सब खेल पामर-रंजक माने जाते हैं।

कुछ ऐसे नृत्य-नाटक भी हैं, जो पंडित-रंजक माने जाते हैं। उनमें मेलट्टूर भागवत-मेला सबसे प्रसिद्ध है। ये भी गीत-नाट्य ही हैं।

पर इसमे एक विशेषता यह है कि इसमे उच्च श्रेणी के कर्नाटक सगीत तथा भरत नाट्य का सहारा लिया जाता है। साहित्य के स्तर से भी इसका कम श्रेष्ठ स्थान नहीं है।

यह तो सर्वविदित है कि कर्नाटक सगीत के त्रिमूर्तियो में सत त्यागराज का प्रमुख स्थान है। उनकी शिष्य परपरा इस कला की पुष्टि में आज भी सराहनीय कार्य कर रही है। इसकी भी कथावस्तु पौराणिक व ऐतिहासिक पुट लिये हुए है। एक और तरह का नृत्य नाटक होता है, जो कुरवजि कहलाता है।

'कुरत्ति' बजारो की जाति की स्त्री होती है। बजारिन लोगो को उनका भविष्य बताने में चतुर होती है। एक नायिका का हृदय एक धीरोदात्त नायक से या स्वय भगवान से लग जाता है और वह विरह में तडपने लगती है। तब कुरत्ति आकर उसकी हस्त रेखा देखती है, भविष्य बताती है और प्रेमी से मिलने का मार्ग भी दर्शाती है। यह नृत्य नाटक भी गीतमय ही होता है। 'कुट्रालक्कुरवजि' मशहूर गीति नाट्य है। आजकल इस कुरवजि का भी पुनरुद्धार हो रहा है।

अब तक जो नाटक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे तीन सौ साल के पहले के नहीं हैं। वे सब पद्यमय नाटक ही हैं। हरिश्चन्द्र, रामायण, महाभारत आदि पर कई नाटक पद्य रूप में मिलते हैं। कोवलन् कदै, वल्लित्तिरुमणम् अल्लि अरशाणि, नन्दनार, नल्लतगाळ वगैरह नाटक उस जमाने मे अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। सुनते हैं कि गद्य को अभिनेता अपने अपने प्रतिभा और वातावरण के मुताबिक बोलता था। केवल कवि के रचे गीत-साहित्य को सुमधुर कठ से गाता था। इस कारण से नाटक के उस जमाने के सवाद लिख-बद्ध उपलब्ध नहीं होते।

पर, यहाँ पर एक और बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। गोपालकृष्ण भारती के 'नन्दनार' तथा अरुणाचल कविरायर के 'राम नाटक कीर्तनै' का तमिल प्रदेश मे बडा मान है। इनमे समस्त कथोपकथन गीतमय शैली में है। ये दोनों अत्युत्तम गीत-नाट्य के रूप में सुप्रसिद्ध हैं।

दक्षिण में 'हरिकथा कालक्षेपम्' के नाम से एक और कला विकसित हुई है। उसमे कथा-वाचक अपने अभिनय, गायन, सवाद आदि द्वारा लोगों को मतमुग्ध-सा कर देते हैं। अग्रेजी में जिसे 'मोनो एक्टिंग' कहते हैं, उसकी झलक हमे इस हरिकथा में मिलती है। 'रामनाटक कीर्तनै' और 'नन्दनार' ने इस कला के पनपने मे खूब हाथ बँटाया है। 'नन्दनार' तो रगमच मे भी सफल प्रयोग सिद्ध हुआ है। आज भी हरिकथावाचक इन दोनो ग्रन्थो से पूरा फायदा उठाते हैं। इससे भी इन दोनों ग्रन्थों की लोकप्रियता का पता चल सकता है।

अभी पचहत्तर साल पहले से तमिल रगमच का नया युग प्रारभ होता है। कालिदास, भवभूति, शेक्सपियर जैसे महान नाटककारो की कृतियो के अनुवाद हुए। पर वे रगमच पर खेले जाने योग्य साबित नहीं हुए। इस काल मे स्वर्गीय सुन्दरम् पिल्लै, वि गो सूर्यनारायण शास्त्री प्रभृति ने नाटक की बडी सेवा की है।

सुन्दरम पिल्लै का 'मनोन्मणीयम्', सूर्यनारायण शास्त्री के 'रुपावती' और 'लीलावती' आदि साहित्यिक महत्व रखनेवाले उत्तम नाटक-ग्रन्थ हैं। 'नाटकवियल्' नामक सूर्यनारायण शास्त्री का लक्षणग्रन्थ भी अत्युत्तम ग्रन्थों में से है।

सन् 1891 ई. में तूत्तुक्कुडि के शंकरदास स्वामी ने नाटक-संसार में पदार्पण किया। उन्होंने करीब चालीस नाटक लिखे और अनेक भूमिकाओं में अभिनय भी किया। इनका अनुकरण कर नाटक रचना करनेवाले तथा रंगमंच की उन्नति में हाथ बँटानेवाले थे अप्पावु पिल्लै, शिवषण्मुखम पिल्लै, मुत्तुस्वामी कविरायर तथा भास्करदास। शंकरदास स्वामी के हाथों रंग-मंच पर गद्य-पद्य इन दोनों का संतुलन हुआ; पात्रों का परिमार्जन हुआ। इसी कारण से श्री शंकरदास स्वामी आधुनिक तमिल नाटक और रंगमंच के प्रधान आचार्य माने जाते हैं।

रंगमंच को सुधार कर सुन्दर दृश्यपटों (सीन्) से सजानेवाले तथा दृश्यों का सुरम्य संगठन करनेवाले थे तंजाऊर के गोविन्द स्वामी राव। इनका अनुकरण कर अनेक नाटक-कंपनियों की स्थापना हुई। इन प्राचीन कंपनियों में कल्याणराम अय्यर कंपनी, नारायणस्वामी पिल्लै कंपनी, रामुडु अय्यर कंपनी, 'रावण' गोविन्दस्वामी नायुडु कंपनी, ए. स्वामी नायुडु कंपनी, 'वल्लि' वैद्यनाथ अय्यर कंपनी, 'अल्लि' परमेश्वर अय्यर कंपनी, पी. एस. वेलुनायर कंपनी, कन्हैया नायुडु कंपनी, मदार साहब कंपनी, गोलडन कंपनी आदि सुविख्यात हैं। कुछ ऐसी कंपनियाँ भी थीं, जो केवल स्त्रियों द्वारा संचालित थीं। उनमें बालामणि कंपनी, बालाम्बाल् कंपनी, राजांबाल कंपनी तथा अरंगनायकी कंपनी विख्यात हैं। प्रायः इन सभी कंपनियों के आचार्य और मार्गदर्शक स्वामी शंकर दास ही थे।

इन नाटक कंपेनियों में पी. एस. वेलु नायर की कंपनी का तो नाम आज भी लोगों की ज़बान पर है। कारण, श्रीमती के. बी. सुन्दराम्बाल्, स्वर्गीय एस. जी. किट्टप्पा जैसे रंगमंच के उज्ज्वल तारों का उद्गम-स्थान उपरोक्त कंपनी ही था। रंगमंच व सीन् की सजावट में कन्हैया कंपेनी ने उस ज़माने में कमाल कर दिया था। 'दशावतारम' और 'कृष्ण लीला' नाटकों में चित्र-पट-का सा भ्रम उत्पन्न करने का श्रेय उन्हींका है।

एक ज़माना वह था, जब कि अच्छे कुलीन लोग नाटकों में भाग लेना क्या, देखना भी हेय समझते थे। अगर किसीने भाग लिया तो वह चरित्रहीन समझा जाता था, नफ़रत की नज़र से देखा जाता था। अतः कोई उच्च कुलवाला नाटकों में भाग नहीं लेता था।

अतः उस ज़माने में एक ऐसा दल था, जो नाटक को ही अपने जीवनोपार्जन का ज़रिया मानता था। उस दल का समाज में कोई स्थान नहीं था और वह अत्यंत अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता था। पम्मल संबन्ध मुदलियार ने इस विषय में एक क्रांति खड़ी कर दी। उन्होंने लगभग नब्बे नाटक रचे हैं। वे केवल नाटक-रचयिता ही नहीं थे, वरन् अच्छे कलाकार और अभिनेता भी थे। उन्होंने सुगुण विलास सभा के नाम से एक अमेच्यूर सभा की स्थापना की तथा प्राचीन परिपाटी को तोड़-फोड़कर स्वयं अनेक भूमिकाओं में भाग लिया। संबन्ध मुदलियार ने उच्च कुल में उत्पन्न होकर जज जैसे उच्च पदों में रहते हुए भी कट्टरपंथी उस ज़माने में अनेक नाटकों में अभिनेता बनकर भाग लिया तो लोग

चकित रह गये। उनकी सुगुण-विलास सभा के नाटको मे भाग लेनेवालों में स्वर्गीय आर. के. षण्मुखम् चेट्टियार, एस सत्यमूर्ति, सी. पी. रामस्वामी अय्यर, वि वि श्रीनिवास अय्यंगार आदि प्रमुख थे। स्वर्गीय सत्यमूर्ति तो ऐसे कलाविद् थे कि तमिल, सस्कृत और अग्रेजी नाटकों मे भी भाग लेते थे और दर्शकों का दिल लुभाते थे।

सबन्ध मुदलियार के नाटको में भाग लेने को उस जमाने मे कोई स्त्री तैयार नही होती थी। कोई पेशेवर स्त्री तैयार भी होती तो उसका अभिनय काफी सतोषजनक नहीं होता था; अत. उन्हें अपने कुछ पुरुष साथियो को ही 'स्त्री' बनाना पड़ा, याने स्त्रियो का वेष धारण कर अभिनय-योग्य बनना पड़ा। श्री रगवडिवेलु जैसे पुरुष स्त्रियो का वेष धारण कर रगमच पर आ जाते, तो स्त्रियां तक उनकी वेष-भूषा और अदा-विधा देखकर दग रह जाती थी। रगवडिवेलु के देहावसान के बाद के. नागररत्नम् ने उनकी भूमिकाओं में बडे उत्तम ढंग से काम किया। वडिवेलु नायकर भी स्त्री-पात्रों में रंगवडिवेलु के समान ही फबते थे।

संबन्ध मुदलियार की सुगुण विलास सभा की देखा-देखी, कुभकोणम् में वाणी विलास सभा, त्रिची मे एफ़. जो. नटेश अय्यर की रसिक रंजनी सभा, तंजाऊर मे सुदर्शन सभा, कुमर गान सभा, सेक्रेटेरियट पार्टी आदि अनेक अमेच्यूर सभाओ ने रगमच की स्तुत्य सेवा की। संबन्ध मुदलियार के नाटकों का सिरमौर 'मनोहरा' है। तमिलनाड में कहीं कोई ऐसा रंगमच नही होगा, जहां कम से कम एक बार 'मनोहरा' नाटक न खेला गया हो।

मदुरै नगरी की एक विशेषता यह रही है कि जैसे वह तमिल का विकास-केन्द्र बनी थी, वैसे ही रंगमंच के लिए भी उसकी देन अनुपम है। मदुरै ओरिजिनल बायस् कंपनी ने ऐसे-ऐसे मशहूर अभिनेता तैयार किये कि आजकल के सिनेमा ससार को उनका चिरऋणी बनना पड़ेगा। शकरदास स्वामी द्वारा संचालित तत्व मीनलोचनी सभा, बाल मनोरंजनी सभा आदि से भी अद्वितीय अभिनेता तैयार हुए। टी. के एस. ब्रदर्स जैसे अभिनेता उन्हीकी देन हैं।

नवाब राजमाणिक्कम् की मदुरै देवी बालविनोद सभा के भगवद्-भक्ति से ओतप्रोत नाटक रगमंच को बोलपट से भी आकर्षक बना देते थे। रंगमंच नवीनतम साधनो से चालित होता था।

स्वतन्त्रता सग्राम में भी रंगमंच का स्तुत्य हाथ रहा है। 'कदरिन् वेट्रि', 'देशभक्ति', 'देशक्कोडि' जैसे नाटक लोगो के दिलों में देश प्रेम की भावना को उमडानेवाले सिद्ध हुए हैं। इन नाटको के रचयिता थे, ते. पो. कृष्णस्वामी पावलर। आप शतावधानी थे। पावलर बायस नाटक कपनी नाम से आपकी अपनी भी एक कपनी थी। यह कंपनी वेंबली प्रदर्शिनी में भाग लेने गयी और काफी ख्याति प्राप्त कर लौटी।

नाटक कपेनियों के बढते-बढ़ते नाटकों की भी मांग बढना स्वाभाविक है। अत ऐसे कितने ही लेखक उत्पन्न हुए, जिनके सुन्दर नाटक तमिल भाषा के साहित्यभडार को संपन्न-समृद्ध करते हैं। कुछ लेखकों को तो मंच का भी काफी अच्छा खासा अनुभव था। इस कारण उनके नाटक मंच पर खेलने में अत्यंत सफल सिद्ध हुए

हैं। ऐसे, मंच का सूक्ष्म ज्ञान रखकर लिखनेवाले लेखकों में श्री वे. स्वामीनाथ शर्मा का नाम आदर से लिया जा सकता है। आपने अनेक नाटकों में किसी न किसी भूमिका में भाग लेकर अपने सुन्दर अभिनय का भी परिचय दिया है। स्वर्गीय वरकवि अ. सुब्रह्मण्य भारती ने पौराणिक पृष्ठ-भूमि में मंच के योग्य कई नाटक लिखे थे। नाटक के क्षेत्र में अर्वाचीन लेखकों और ग्रन्थों का भी बड़ा हाथ है। उनकी सूची देने लगें तो फिहरिस्त हनूमान की पूँछ की तरह बढ़कर लंबी हो जाएगी। वास्तव में उसके लिए एक अलग इतिहास ही लिखना होगा। पर इतना निश्चय है कि पौराणिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में नाटक-रचना हुई है और हो रही है। तमिल के रंगमंच ने उन्हें लेकर अनेक प्रयोग कर स्तुत्य श्रेय पाया है।

यहाँ कुछ नाटकों का जिक्र मात्र कर दिशा-संकेत करने का प्रयास कर रहा हूँ।

टी. के. एस. ब्रदर्स ने अनेक नाटक सफलता पूर्वक प्रस्तुत किये हैं। उनमें श्री अरु. रामनाथन लिखित 'राजराज चोलन' ने तहलका ही मचा दिया था। टी. के. षण्मुखम ने 'औवैयार' नाटक में औवै की भूमिका में ऐसा सजीव अभिनय किया है कि वे 'औवै षण्मुखम' के ही नाम से अब पुकारे जाते हैं। औवैयार तमिल संघम काल की कवयित्री थीं, जिनके प्रताप से चेर, चोल, पांडिय अपने वैमनस्य भूल चुके थे। उन्होंने कई नीतिपूर्ण पद्य रचे और अपने ज़माने की लोकप्रिय, समादृत विदुषी भी थीं।

तमिल के हास्य-अभिनेता एन. एस. कृष्णन की अपनी एक नाटक-मंडली थी। हास्य-संवादों द्वारा उन्होंने स्तुत्य समाज-सुधार किया है। उनके कई हास्य-प्रधान और समाजसुधारक नाटकों में 'एण्बदुम् अरुपदुम्' (80 व 60) एक उत्तम नमूना है।

द्राविड मुन्नेट्र कळ्ळकम् के सर्वेसर्वा स्वर्गीय अण्णादुरै की कलम से 'वेलैक्कारि', 'ओरिरवु' जैसे उत्तम नाटक निसृत हुए हैं। स्वर्गीय कल्कि ने उन्हें तमिल के 'बर्नाड शॉ' की उपाधि से विभूषित कर उनकी नाटक-सेवाओं की प्रशस्ति फैलायी है।

अब के तमिलनाडु के मुख्य मंत्री श्री मु. करुणा-निधि के प्रास-अनुप्रास युक्त लच्छेदार संवादों ने लोगों को उनके पीछे पागल ही बना दिया है। 'वेल्लिक्किषमै' उनके आधुनिक नाटकों में से एक है। अण्णादुरै और करुणानिधि, दोनों अच्छे अभिनेता भी हैं। राजनीति के चंगुल में फ़ँसे रहने के कारण कहीं-कहीं अपने पक्ष के प्रचारक बन जाते हैं—इस त्रुटि को त्रुटि कैसे कहा जाए, जबकि अन्य दल भी इसी नीति का अनुकरण करते हैं।

श्री ई. वे. रा. के 'पहुत्तरिवु' (विवेकवादी) आन्दोलन में भाग लेनेवाले अभिनेता हैं श्री एम. आर. राधा। सच पूछा जाए, तो वे बहुत ही अच्छे अभिनेता हैं, पर दलीय प्रचार से छूट नहीं पाते। यही इनकी कमज़ोरी है।

द्राविड कळ्ळकम और द्राविड मुन्नेट्र कळ्ळकम् ने श्री एम. जी. रामचन्द्रन, एस. एस. राजेन्द्रन जैसे अभिनेताओं को इसी बल पर अपना नेता बना लिया है।

श्री एस वी सहस्रनामम के सेवा-स्टेज ने सुप्रसिद्ध लेखक श्री बि एस. रामय्या, ति. जानकी रामन जैसों के सुन्दर नाटको को प्रस्तुत किया है। श्री बि.एस. रामय्या के 'तेरोट्टि महन', श्री ति. जानकीरामन के 'वडिवेलु वाद्यार' महाकवि भारती के 'पाचालि शपथम्' जैसे नाटकों से आपने स्वय यश कमाया है और सबधित लेखकों को भी यश का भागी बनाया है।

तिरुवल्लिक्केणी फ़ाइन आर्ट्स ने 'आनन्दविकटन' के भूतपूर्व सपादक स्वर्गीय देवन के प्राय. सभी उपन्यासों के रंगमचीय नाटक प्रस्तुत किये हैं। 'तुप्परियुम शाबु', (जासूस शाबु), 'कल्याणी' जैसे नाटक इसकी उपलब्धियों मे से हैं। श्री एस नटराजन नाटक-निर्देशक की हैसियत से ही नही, अच्छे अभिनेता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। शांबु की भूमिका मे उन्होंने ऐसा पात्र-चित्रण उपस्थित किया कि वे 'शांबु नटराजन' ही कहलाये।

सुप्रसिद्ध नाटक और सिने अभिनेता श्री मनोहरन् नेशनल थियेटर्स नाम से एक नाटक-मंडली स्थापित कर तमिल रगमंच एवं नाटक की अतुल सेवा कर रहे हैं। रावण की गाथा को लेकर 'लकेश्वर' शीर्षक से एक नाटक प्रस्तुत किया है। उसमे वे लंकेश्वर की भूमिका में अभिनय करते हैं, जो उनकी प्रशस्ति-स्मारक सा बन गया है। चाणक्यर, द्रोणर, शूरपद्मन्—सबमे इनकी मडली ने कमाल किया है। सबमे श्री मनोहरन् ही प्रधान नायक की भूमिका लेते हैं। असल में इनकी मडली द्वारा अच्छे-अच्छे नाटककार उभर आते हैं।

सिनेमा के सुप्रसिद्ध अभिनेता शिवाजी श्री गणेशन ने भी शिवाजी नाटक मन्ड्रम नाम से एक नाटक-मंडली की स्थापना करके सुन्दर नाटक प्रस्तुत किये हैं। 'वियत्नाम वीडु' ने इनके नाम में चार चाद लगाये हैं। 'वीर पांडिय कट्टबोम्मन' की भूमिका में श्री गणेशन का अभिनय देखते ही बनता है।

बर्नाड शा की परंपरा में 'चो' नाम के नवयुवक नाटककार अपनी निर्भीकता के लिए प्रसिद्ध हैं। विवेका फ़ाइन आर्टस् इनकी मित्र-मंडली है। इनके सभी नाटक चोखे-चुभते व्यंग का पुट लिये होते हैं। राजनीति और शासन में जो कमी-त्रुटि दृष्टिगोचर होती है, उसकी निष्पक्ष आलोचना इनकी खूबी है। 'मन एक बंदर है', 'संभवामि युगे युगे' 'मुहम्मद बिन तुगलक', 'एन्ड तणियुम् इंद सुतन्तिर दाहम्'—आदि इनकी उपलब्धियाँ शीर्ष-स्थानीय हैं।

मोटे तौर से इनका जिक्र यहाँ पर हुआ। स्थानाभाव और मेरे ज्ञानाभाव के कारण, न जाने क्या-क्या छूट गये हों!

यह तो हुई दृश्य-काव्य की बात। आकाशवाणी के प्रोत्साहन से बाल-नाटकों का भी सृजन अब जोरों पर हो रहा है। पर, इधर कुछ समय से आकाशवाणी के सामने ऐसा अकाल उपस्थित हो गया कि मंचीय नाटको को तोड़-मरोड़कर बढावा देने का प्रयास कर रही है। खंड-खड करके धारावाही नाटक प्रसारित करने की भी परपरा अपना रही है। विज्ञ जन जानें, यह बहाव कहाँ ले जाएगा?

नाटक-लेखन को बढ़ावा देने के उद्देश्य से तमिल के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'आनन्दविकटन' ने एक स्पर्धा चलायी थी। उत्तम नाटकों को चुनकर पच्चीस हज़ार रुपयों की बड़ी रक़म पुरस्कार में बांटी भी थी। इससे नाटक-रचना करनेवाले लेखकों में तो नया उत्साह पाया गया।

पर प्रकाशक....

नाटक-साहित्य का प्रकाशन करते हुए डरते हैं और कहते हैं कि नाटक-साहित्य की खपत ही नहीं होती है। इस कारण से नाटक-साहित्य ग्रन्थबद्ध रूप में तमिल में विरला ही मिल पाता है।

बोलपट के प्रारंभ की अवस्था में लोगों के दिल में यह डर समा गया था कि नाटकों का अंत निकट आ गया है। पर हुआ वह नहीं। नाटक तो अब एक ऐसा स्रोत या उत्स हो गया है, जहां से सिनेमा के लिए नये-नये अभिनेता और अभिनेत्रियां तैयार होकर जा रही हैं व अच्छे नाटक सिने-जगत् का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

नाटकों के विकास में सिनेमा के नवीनतम साधनों ने खूब हाथ बंटाना शुरू किया है। इस वजह से रंगमंच की खासी अच्छी उन्नति हो हुई है।

बोलपट के कितने ही सुप्रसिद्ध अभिनेता अपनी-अपनी मंडली कायम कर रंगमंच के विकास में सहयोग देने लगे हैं। स्त्रियां भी अब प्रचुर मात्रा में नाटकों में भाग लेने लगी हैं। अलावा इनके, अमेच्यूरों की ऐसी-ऐसी नाटक-मंडलियां क्रियाशील हैं, जो पेशेवरों से इस कला में होड़ लगाती हैं।

नाटकों की जब मांग बढ़ती है, तब नाटक-सृजन का कार्य बढ़ना भी स्वाभाविक ही है। अतः आधुनिक युग में नाटकों का खूब सृजन हो रहा है। रंगमंच नये-नये प्रयोगों का केन्द्र-बिन्दु हो रहा है। मंच सजाने में नवीन से नवीन साधनों का उपभोग किया जा रहा है।

तमिल के रंगमंच की यह श्रीवृद्धि इस बात का द्योतक है कि संसार के रंगमंच में उसे अपना अलग गौरवमय स्थान प्राप्त होगा।

★

हम परिवर्तन से नहीं डरते; हम चाहें या न चाहें, परिवर्तन होगा ही। देश के 70 विश्वविद्यालयों में से 85 ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो। इन 85 विश्वविद्यालयों में से 15 में तो क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों की संख्या 80% है। 17 विश्वविद्यालयों ने तो स्नातकोत्तर स्तर पर भी क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा की अनुमति दी है। —डॉ. त्रिगुणसेन

डॉ. जी. वी. सुब्रह्मण्यम, एम ए, पीएच डी.,
वरिष्ठ प्रवक्ता, स्नातकोत्तर अध्ययन एव अनुसधान विभाग,
द भा हि प्र सभा, मद्रास 17

तेलुगु का आदि-कालीन साहित्य–संक्षिप्त परिचय

आध्र विश्वविद्यालय मे स्नातकोत्तर हिन्दी अध्ययन पूरा करने के बाद आप उसी विश्वविद्यालय के प्रथम पी-एच डी (हिन्दी) उपाधिधारी भी बने। सप्रति, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विश्वविद्यालय विभाग म प्राध्यापन करते हुए डी लिट् की उपाधि के लिए आवश्यक शोध कार्य में भी सलग्न हैं। आपकी मातृभाषा तेलुगु है और विशेष आस्था आलोचना के प्रति है।

आंध्र व त्रिलिंग :

ई सन् 692 के आसपास उद्योत नामक प्राकृत-कवि ने अपने "कुवलयमाला" ग्रथ मे उल्लेख किया है—

"पिय महिला सगामे सुन्दर गत्तेय भोयणे रोद्दे
अट्टु पट्टु रटुम भणते आध्रे कुमारो
सलोयति ॥"

"सुदरागनाओं तथा रणरग को समान रूप से प्रेम करनेवाले, एव सुदर व सुदृढ शरीरवाले, भोजन-पटुता रखनेवाले आध्र के नवयुवकों को "अट्टु पुट्टु रट्टु ' कहते हुए लेखक ने देखा है।"

यही अब तक प्राप्त प्रथम साहित्यिक उपलब्धि है जिसमे आंध्र-जाति के गुण-स्वभावो का उल्लेख पाया जाता है। 234 ई मे शिवस्कदवर्मा नामक पल्लव युवराजा ने प्राकृत-शिलालेख मे आध्रा-पथ का उल्लेख किया है।

आध्र-देश को "त्रिलिंग देश" भी कहते हैं। राजशेखर नामक संस्कृत कवि ने अपने "विद्धसाल भाजिका" नामक नाटक मे "त्रिलिग देश" का उल्लेख किया है। राजशेखर ई 880-920 के आसपास का राजा था। मार्कंडेय पुराण और वायुपुराण मे भी त्रिलिंग शब्द उल्लिखित हुआ है। नन्नय्या ने अपने भारत में "तेलुगु" शब्द का प्रयोग किया है। तमिल साहित्य के अत्यत प्राचीनतम लक्षण-ग्रथ "अगत्तियम" में "कोंगणम् कोल्लम्, कन्नडम् तेलुगम्" नामक सूत्र का उल्लेख मिलता है। "अगत्तियम्" की रचना करीब पाँचवीं सदी की थी। कहने का तात्पर्य यह है कि आध्र जाति को "तेनुगु", "तेलुगु", "आध्र" इन तीनो नामों से अत्यत प्राचीन काल से अभिहित किया जाता था।

आंध्र साहित्य का आविर्भाव :

आध्र साहित्य के आविर्भाव के मूलप्रवर्तक

चालुक्य राजा माने जाते हैं। 624 ई. में चालुक्य वंशज कुब्जविष्णुवर्द्धन से लेकर ई. 1118 तक चालुक्यों का शासन अप्रतिहत रीति से विराजमान रहा। इनके समय में ही आंध्र संस्कृति व साहित्य न सिर्फ अंकुरित हो उठे, बरन् विभिन्न दिशाओं में इनका शोभा-संवर्द्धन तथा सर्वतोमुखी विकास भी हुआ। इसी वंश के ख्यातिलब्ध राजा राजराज नरेंद्र ने श्री महाभारत का आंध्रीकरण करने की प्रार्थना अपने आस्थानस्थ कवि नन्नय्या से की। उनकी प्रार्थना मानकर भारत के आंध्रीकरण में संलग्न हुए, जिसके द्वारा आंध्र-साहित्य का अंकुरार्पण संभव हो सका।

नन्नय्या :

नन्नय्य तेलुगु के आदि कवि माने जाते हैं। वे अपने समय में स्वयं क्रांतिदर्शी कवि थे। जब विद्वत्-समाज में देशी भाषाओं में ग्रंथ-प्रणयन करना हेय माना जाता था, राजा राजनरेंद्र से पर्याप्त प्रेरणा पाकर नन्नय्य ने प्रथमत: देशी भाषा तेलुगु में ग्रंथ-रचना का उपक्रम किया था। नन्नय्य के इस नवीन प्रयोग के मूल में अन्य कारण भी निहित थे। उनके समय में बौद्ध, जैन तथा शैव धर्म जन-सामान्य के आदर पात्र बने। राजा राजराज नरेंद्र ने सनातन वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने का संकल्प किया। इसका एक मात्र उपाय था देशी भाषाओं में वैदिक साहित्य का अनुवाद कर, प्रचार करना। श्रीमद्भारत पंचम वेद भी कहा जाता है, अतएव राजराज नरेंद्र की दृष्टि-प्रथमत: भारत के आंध्रीकरण पर पड़ी, उसके आंध्रीकरण के हेतु उन्होंने नन्नय्य से आग्रहपूर्वक अनुरोध किया, जिसके फलस्वरूप तेलुगु में साहित्य का सूत्रपात हुआ।

और भी अन्य कारण था। नन्नय्य के इस प्रयत्न के पूर्व दक्षिण की अन्य भाषाओं में संस्कृत भारत का अनुवाद करने के कई सफल प्रयत्न हुए थे। कन्नड में "विक्रमार्जुन विजय" के नाम से पंप-भारत की रचना हुई। तमिल में भी "वेण्बा" गीतों के द्वारा महाभारत का अनुवाद हुआ।

नन्नय्य केवल कवि ही नहीं, साथ ही साथ महान् वैयाकरण तथा लाक्षणिक भी थे। उन्होंने स्वयं अपने को "विपुल-शब्द-शासक" कहा था। उनकी "आंध्र शब्द-चिंतामणि" तेलुगु भाषा का प्रथम व्याकरण है, जो संस्कृत में रचा गया है। उक्त व्याकरण-ग्रंथ के कृतित्व की प्रामाणिकता के संबंध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। कतिपय समालोचक इसे नन्नय्य की रचना नहीं मानते हैं।

भारत का अनुवाद करते समय नन्नय्य के सम्मुख तेलुगु भाषा का कोई निश्चित रूप विद्यमान नहीं था, अतएव शिष्ट तथा अशिष्ट पदों का विवेचन करने का भारी प्रयास स्वयं उठाया है। उन्होंने भाषा के स्वरूप-निर्धारण में जो आदर्श रखे हैं, वे भी स्वनिर्मित रहे। उनके कथनानुसार "जो कविता हृद्य, अपूर्व, सुग्राह्य तथा अघ-निबर्हण का उपकरण बन सकती है, वही सच्ची व उत्तम कविता है।" (आ. महाभारत 1-1-30)

उन्होंने अपनी काव्य-शैली का खुद विवेचन किया है। उनके शब्दों में अपनी शैली "प्रसन्न कथा-कलितार्थ-युक्ति" "अक्षर-रम्यता" (अक्षर रमणीयता), "नाना-रुचिरार्थ-सूक्ति" इत्यादि तरल तत्वों से संपृक्त है। यह सच ही है, शब्दों की रमणीयता को और प्रसादपूर्ण शैली को अपनी रचना में अंत तक अक्षुण्ण रखने का यथोचित प्रयास किया है। नन्नय्य ने श्रीमद् भारत

का अनुवाद किया है, यह कहने से तात्पर्य यह नहीं है कि मूल कृति के प्रत्येक शब्द का अनुवाद कर दिया है। जहाँ मूल की अपेक्षा भाव के सौंदर्य-वर्द्धन करने की संभावना प्रतीत हुई, किसी सकोच के बिना वहाँ कलात्मक सौंदर्य बढाने का सफल प्रयास किया।

पावुलूरि मल्लन्न

नन्नय्य के उपरात श्री पावुलूरि मल्लन्न उल्लेखनीय कवि हैं, इन्होंने "सार सग्रह-गणित" नामक सस्कृत-गणित-शास्त्र-ग्रथ का अनुवाद किया है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह अत्यत महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके कुछ गणितो से तत्कालीन सामाजिक आचार-व्यवहारों का परिज्ञान भी प्राप्त होता है।

नन्नेचोड्डु :

साहित्यिक कृतित्व की महत्ता के आधार पर यदि हम परख लें, तो नन्नय्य के समकक्ष रखने योग्य कवि हैं नन्नेचोड्डु। विद्वज्जनो में मतैक्य के अभाव के कारण इसमें पर्याप्त वाद-प्रतिवाद भी हुआ कि नन्नेचोड्डु को ही तेलुगु साहित्य के आदि कवि का सम्मान मिलना चाहिए।

सचमुच नन्नेचोड्डु ने अनेक विषयों में अपनी मौलिकता का दर्शन किया। इनके कृतित्व से ही आध्र-प्रबधो मे इष्ट-देवता-प्रार्थना, पूर्व-कवि-स्तुति, कुकवि-निंदा, आत्म-निवेदन, कृतिपति-प्रशसा, षष्ठ्यत आदि का समावेश करने की परपरा शुरू हुई। नन्नय्य अपने ग्रंथारभ मे केवल वाल्मीकि और व्यास के नामो को लेकर, उनकी प्रशसा से संतुष्ट हुए। मगर नन्नेचोड्डु कालिदास, भारवी, उद्भट, बाण इत्यादि संस्कृत कवि श्रेष्ठो की प्रशंसा पृथक-पृथक पद्यों में करके, परवर्ती कविगणों के लिए उत्कृष्टतम आदर्श बना।

नन्नेचोड्डु ने अपनी कविता को स्वयं वस्तु-कविता की संज्ञा दी है। आंध्र के मूर्द्धन्य समालोचक अमरेशम राजेश्वरशर्मा के अनुसार "वस्तु कविता का अर्थ होता है प्रकृति का वास्तविक चित्रण। वस्तु कवि का अर्थ भी प्राकृतिक शोभा का काव्य के अंतर्गत सहज ढंग से करनेवाला है। आंध्र के "विमर्शकाग्रणी" वेदम वेंकटराय शास्त्री के शब्दों में "प्रबध काव्य विभिन्न प्रकार के होते हैं, जिनमें महाकाव्य कथावस्तु की प्रधानता लेकर चलता है। प्रबंध-काव्य के उपयुक्त कथावस्तु को ग्रहण कर, जो कविता रची जाती है, उसीको वस्तु-कविता कहते हैं।" नन्नेचोड्डु के समय में वस्तु कविता अत्यत ख्याति अर्जित कर चुकी है। कर्नाटक के महान कवि पंप, नागवर्मा आदि ने अपनी अपनी कविताओं को वस्तु-कविता की संज्ञा से अभिहित किया।

नन्नेचोड्डु ने "कुमारसंभव" की रचना की नन्नय्य और नन्नेचोड्डु की भाषा में बड़ा अंतर है। नन्नय्य की भाषा संस्कृत-निष्ठ होते हुए भी माधुर्य-गुण से ओतप्रोत है। कहीं भी जटिलता नही आने दी नन्नय्य ने। नन्नेचोड्डु की भाषा में दुरूह प्रयोग इतने अधिक हैं, जिनके कारण भाषा मे सहजता शिथिल हो गयी।

वेमुलवाड भीम कवि :

वेमुलवाड भीमकवि की ख्याति साहित्यिक ग्रंथो की अपेक्षा उनकी समयस्पूर्तिजन्य आशु

कविता के कारण आंध्र-जनता में अधिक हुई। इनका व्यक्तित्व इतना संदिग्ध रहा कि इनके जीवन-वृत्त के संबंध में विभिन्न खोजों के उपरांत भी विद्वज्जन एक मत पर नहीं पहुँचे हैं। किंवदंतियों के आधार पर ये शताधिक ग्रंथ-प्रणेता थे, किंतु उनसे रचित माने जानेवाला ग्रंथ एक भी आज उपलब्ध नहीं है। इनके नाम के साथ प्रथम लाक्षणिक ग्रंथ "कविजनाश्रय" का कृतित्व भी कतिपय समालोचक जोड़ देते हैं।

मल्लिकार्जुन पंडिताराध्य :

ये शैवधर्म के कट्टर अनुयायी थे, अतएव तत् प्रचारार्थ इन्होंने "शिवतत्वसार" नामक शतक की रचना की। शतक साहित्य आंध्र की अतिरिक्त विशेषताओं में एक है। शतक प्रायः सौ पद्य-वाली छोटी-सी पुस्तिका होता है, प्रत्येक पद्य के अंत में आद्योपांत एक ही "मकुट" (टेक) चलता है। शतक के लिए उपर्युक्त दो लक्षण अनिवार्य हैं, किंतु पंडिताराध्य ने अपने शतक में इस परिपाटी का पालन नहीं किया है। यह भी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार तेलुगु का आदिकालीन साहित्य भी राजाश्रयों में आविर्भूत तथा पल्लवित हुआ है। यहाँ हिन्दी साहित्य की भाँति वीर-रस-प्रसविनी रचनाएँ नहीं हुईं, वरन् उद्भव से ही प्रबंध-काव्य आंध्र-साहित्य में लक्षित होते हैं। आंध्र के आदिकालीन साहित्य का संचालन करनेवाली एकमात्र शक्ति और प्रभाव है धर्म। उद्भव से ही भाषा प्रांजल, संस्कृत-निष्ठ तथा परिमार्जित रही। नन्नय्य ने जिस भाषा-स्वरूप का दिशा-निर्देशन किया, वही भाषा आज भी आंध्र-साहित्य में प्रयुक्त हो रही है, अल्प परिवर्तनों के साथ।

*

किसी भी विश्वविद्यालय को प्रादेशिक भाषाओं के स्थान पर किसी एक विषय या सभी विषयों के लिए हिन्दी माध्यम चुनने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।

—डॉ० राधाकृष्णन

शिक्षा में क्षेत्रीय भाषाओं का सहारा लेने से हमारी शिक्षानीति को "भारतीय" बनाया जा सकता है। अभी तक हमारी शिक्षाप्रणाली की जड़ें विदेश में हैं और हम वे जड़ें भारत में कहीं लगाना चाहते हैं। क्षेत्रीय भाषाएँ अपनाने से शिक्षा का स्तर ऊँचा हो सकेगा। विश्वविद्यालय और समाज निकट आयेंगे। इसीसे शिक्षा में भारतीयता का समावेश होगा।

—डॉ० डी. एस. कोठारी

डॉ० एस. वसंता, एम ए, पी-एच डी.,
कनिष्ठ प्राध्यापिका, स्नातकोत्तर अध्ययन एव अनुसधान विभाग,
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

नयी कविता में दुरूहता

वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय मे स्नातकोत्तर हिन्दी शिक्षा पूर्ण करने के बाद वहीं से हिन्दी मे आपने पी एच डी, की उपाधि भी पायी। तत्पश्चात मद्रास के "महिला ईसाई महाविद्यालय" में हिन्दी प्राध्यापिका रही। सप्रति दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विश्वविद्यालय विभाग मे आप प्राध्यापिका हैं।

प्रस्तुत शीर्षक पर विचार करते समय, यह प्रश्न अवश्य उठता है कि 'नयी कविता' किसे कहते हैं। विषय, भाव अथवा शैली की दृष्टि से प्रयोगवाद, नयी कविता, प्रपद्यवाद, ठोस कविता, अगली कविता आदि की कोई निश्चित सीमा-रेखा दिखाई नही देती। इस सम्बन्ध मे कई कवि एव आलोचकों के मत द्रष्टव्य हैं। सुप्रसिद्ध आधुनिक कवि अज्ञेय को कई आलोचक प्रयोगवादी मानते हैं; परन्तु अन्य आलोचक उन्हें नया कवि मानते हैं। अज्ञेयजी स्वय लिखते हैं—"प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नही हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। अत हमे प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।"[1] परन्तु इस सम्बन्ध में डा० जगदीश गुप्त कहते हैं कि, "मैं अज्ञेयजी को आचार्यश्री की तरह केवल प्रयोगवाद का पुरोहित मात्र कहकर नही रह सकता, क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि नयी कविता और नये कवि के स्वरूप 'सगठन एव शक्ति-सचय मे उसका अद्वितीय योग रहा है। 'आत्मनेपद' से उनके मानसिक सघर्ष का पर्याप्त परिचय मिलता है। वे स्वय भले ही कहें कि नयी कविता ने द्विवेदी-युग के गुप्त और छायावाद के निराला की तरह कोई शलाका-पुरुष पैदा नही किया, परन्तु उन्हें मैं निस्सकोच नयी कविता का शलाका-पुरुष कह सकता हूँ।"[2] डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, मे जो विवेचना प्रस्तुत की है, उसके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वे भी प्रयोगवाद एव नयी कविता को अलग नहीं मानते। अत यही निष्कर्ष निकाला है कि प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद, नयी कविता, ठोस कविता, अगली कविता (अकविता भी) एक

1 दूसरा सप्तक—भूमिका पृष्ठ 6

2. नयी कविता—सयुक्ताक—5-6, डॉ० जगदीश गुप्त का सम्पादकीय पृष्ठ 2-3

ही प्रवृत्ति के अनेक नाम हैं। नयी कविता दिशागम्य है। अतः उसकी सीमा-रेखा बांधना कठिन होने के साथ-साथ समीचीन भी नहीं है।

आजकल नयी कविता की दुरूहता की शिकायत सर्वत्र सुनाई पड़ती है। यह शिकायत कुछ अंश तक सत्य है। इसकी दुरूहता के अनेक कारण हैं। कुछ अंश तक परिस्थितियाँ इसके लिए उत्तरदायी हैं। भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद राजनीतिक क्षेत्र में एक लक्ष्य नहीं रहा। जितने राजनीतिक नेता हैं, उतने लक्ष्य हो गये हैं। क्रांतिकारिता, खान-पान से लेकर, अर्थ-व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था तक, जीवन के सभी पहलुओं में व्याप्त है। व्यक्ति की आदर्शवादिता पर बल देना तथा सामाजिक हित की भावना को प्रश्रय देना दोनों ही समाप्त हुए हैं। व्यक्ति की विलक्षणता को दिखाना तथा असामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करने का फ़ैशन चल पड़ा है। कवि अनुभूति को छोड़कर, विलक्षणता दिखाकर, पाठकों को आकृष्ट करने में उद्यत हुआ है। इसके कुछ अपवाद हो सकते हैं। परन्तु ऐसे कवि भी अनेक मानसिक उलझनों से ग्रसित हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० दिनकरजी लिखते हैं कि 'पश्चिम के आधुनिकतावादी वैयक्तिकता की साधना में इतनी दूर चले गये हैं कि अब वहाँ वैयक्तिक बहक भी कला मानी जाती है।'[1] यहाँ ध्यान देने की बात है कि भारत में भी कई कवि इसका अन्धानुकरण करने लगे हैं।

कवि तथा कविता पर सामाजिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा है। समाज में उलझन जितनी मात्रा में है, उतनी मात्रा से कविता दुरूह होगी। कविता के सम्बन्ध में जान प्रेस का मत द्रष्टव्य है—"The obscurity of much contemporary verse, far from being wild by the arrogant caprice of the individual poet, faithfully mirrors the uncertainity of a whole age."[2]

अर्थात्, समसामयिक कविता में अधिकांश दुरूहता, कवि के मनचाहे ढंग से रचना करना या उसकी धृष्टता से दूर है, परन्तु वह एक पूरे युग की अनिश्चितता को प्रतिबिंबित करती है। इस सम्बन्ध में जान प्रेस, 'पोप' तथा 'एजरा पाउण्ड' की तुलना करते हुए लिखते हैं कि दोनों का दृष्टिकोण एक था, परन्तु अपने समय की परिस्थितियों ने पोप को दुरूह बनने से बचा लिया, परन्तु पाउण्ड के समय की परिस्थितियों ने दुरूहता में योगदान दिया। पोप में धार्मिक विश्वास था और वह उस समाज में रहता था, जो कवि का आदर करता था। ये दोनों 'पाउण्ड' के सम्बन्ध में नहीं थे।

नयी कविता की दुरूहता के कई मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं। नयी परिस्थितियों के कारण कवि के मन में अगणित उलझनें उत्पन्न हुई हैं। कहीं उनका दोहरा व्यक्तित्व है, तो कहीं कुंठित। अन्यत्र वैयक्तिकता, निर्लिप्तता तथा तटस्थता की भावना है। व्यक्तित्व के खोखलेपन की अभिव्यक्ति जब कविता में होती है, वह दुरूह लगती है। इस सम्बन्ध में श्रीराम नागर लिखते हैं कि, "यांत्रिक सभ्यता के विकास तथा आर्थिक विषमताओं के कारण, मनुष्य के व्यक्तित्व के दो रूप दिखाई देते हैं। एक तो

1. शुद्ध कविता की खोज—उदयाचल प्रकाशन, प्रथम संस्करण पृष्ठ 229.

2. The created shade. o.u.p.

यह जिसके द्वारा वह अपने को बाहर दिखाकर दूसरों को प्रभावित करने का यत्न करता है और उसका वह भीतरी रूप है जो बाहर से सर्वथा भिन्न है।"[1]

इस सम्बन्ध में श्री गजानन मुक्तिबोध का भी कथन द्रष्टव्य है—"इन दोनों भावनाओ द्वारा (मानव मुक्ति और मानव गरिमा) सचालित प्रतिक्रियाएँ किसी लेखक को अपने व्यक्तित्व के अंग के रूप में प्राप्त होती हैं, उसे संघर्षों और तनावों की दुनिया मे प्रकृत रूप से पहुँचा देती हैं। ये सघर्ष और तनाव उसे बहुधा अन्तर्मुख बना देते हैं, और दुखी हुई आत्मा के आत्मनिवेदन की वृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। दूसरे, ये संघर्ष की सीमा में ही नहीं रहते, किन्तु इन दो उपर्युक्त वृत्तियों और पेचीदगी की भावना के मिले-जुले रूप में भी प्रकट होते हैं। कभी वे आत्मद्वंद्व का रूप लेते हैं, कभी बाहरी यथार्थ को मोडने की आकांक्षा बनते हैं, कभी मात्र निराशा का पुंज बनते हैं, किन्तु वस्तुतः ये संघर्षों और तनावों से उत्पन्न विभिन्न सम्मिश्रित भावस्थितियाँ हैं।[2] यह कभी उसकी सामर्थ्य को भी कम करती हैं, यहाँ तक कि उसके अपने अनुभवों, उसकी अपनी गहन भावनाओं, उसकी अपने संघर्षों के मनोवैज्ञानिक महत्व को उचित रूप से आक नहीं पाती।"[3] मुक्तिबोध की इस विवेचना से कतिपय तथ्य सामने आते हैं, स्वभावत. भाव का असंतुलन हो होगा, और पाठक को ऐसा अनुभव होता है कि कवि का कोई निश्चित भाव नहीं है। कवि क्या कहना चाहता है, यह समझ मे नहीं आएगा। यह इसलिए है कि कवि जो कहना चाहता है, उस कुछ भिन्न कह डालता है। विभिन्न सम्मिश्रित भावस्थितियाँ होने पर उनमें से मूलभाव को पहचानना कठिन हो जाता है। कवि कला के क्षेत्र मे अनुत्तरदायी हो जाता, तो अभिव्यक्ति में कमी आ जाएगी। कथ्य और कथन में खाई बन जाती है। जीवन-मूल्यों के प्रति कवि की सहकारिता मे कमी मानसिक द्वन्द्व और अनिश्चय के कारण हैं। संक्रान्तियुग के परिवर्तनों को देखकर कवि दिग्भ्रमित हुआ है। अतः भावना, जीवन के पुराने मूल्य, नये मूल्य—तीनों तीन दिशाओं में खींचते हैं। उनकी अभिव्यक्ति जब कविता मे होती है, तब वह दुरूह लगती है।

आधुनिक कवियों का कलासंबन्धी दृष्टिकोण भी कविता में दुरूहता का एक मुख्य कारण है। अज्ञेय ने लिखा है—"मेरा आग्रह है कि कवि अपना अनुभूत ही लिखे।"

प्रपद्यवादियों ने अपने प्रयोग के जो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, उनमे भाव की अपेक्षा शिल्प की नवीनता पर बल दिया है। अज्ञेय ने अन्यत्र अपने इस उपर्युक्त कथन का निराकरण करते हुए लिखा है, "अपने ही भावो के निर्व्यक्तीकरण की चेष्टा के बिना काव्य निज आत्मनिवेदन है और सब होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की अभिधा के योग्य नहीं है, सार्वजनिकता की कसौटी पर खरा नही उतरता।"[5] अज्ञेय ने अन्यत्र लिखा है कि काव्य का रस कवि मे या कवि के जीवन में अथवा अनुभूति मे या किसी शब्द-विशेष में नही है, वह काव्य रचना की

1 हिन्दी की प्रयोगशील कविता और उसके प्रेरणास्रोत

2 नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध

3 भग्नदूत, पृष्ठ-252

4 चिन्त्य की भूमिका—पृष्ठ-8

चमत्कारिता की तीव्रता में है।"[1] एक ओर अज्ञेयजी आत्मानुभूति पर बल देते हैं, दूसरी ओर चमत्कारिता पर बल देते हैं। इन दोनों कथनों में असंतुलन है। जब कवि के मन में अपना दृष्टिकोण ही निश्चित नहीं है, तब कविता का दुर्बोध होना स्वाभाविक है। धर्मवीर भारती जी ने भी लिखा है, "जब कवि जीवन का आस्वादन करता है, तो उसे ऐसे कितने ही स्पंदन मिल जाते हैं, जिनके लिए उसे एक नयी अभिव्यंजना की खोज करनी पड़ती है।"[2] शमशेर बहादुर के निम्नलिखित कवितांश से यह स्पष्ट हो जायगा—

"तू मेरी बेबस बाँहों पर रखकर ओह,
जो कुछ है [न से
जो कुछ है
खो
खो
खो
ओ शीरीं! ओ लैला! ओ हीर!
— जा
— जा
— जा"[3]

कवि अपने भावों को अभिव्यक्त नहीं कर पाते।

नयी कविता में अवचेतन मन की अभिव्यक्ति भी दुरूहता का एक कारण है। आधुनिक कवि चेतन मन की अभिव्यक्ति कम तथा अवचेतन मन की अभिव्यक्ति अधिक करता है। इस सम्बन्ध में श्रीगोविन्ददास शर्मा "रजनीश" लिखते हैं—'आधुनिक काव्य में तर्कसिद्धि के द्वारा अभिव्यंजना न होकर उद्बोधक प्रतीकों द्वारा भावाभिव्यंजना का प्रयत्न हुआ है।....मानवचरित्र आज स्थूल इकाई न होकर अवचेतन प्रतिक्रियाओं का विशृंखल समूह मात्र रह गया है। इसलिए नये कवि पात्र को महत्व न देकर, खण्डचित्र को महत्व देते हैं।"[4]

अवचेतन मन में भावों का ऐसा दौरा होता है कि बीच में कुछ भावों की कड़ियाँ अभिव्यक्ति के पहले ही लुप्त हो जाती हैं। अतः पाठक को उन कड़ियों को जोड़ना पड़ता है।

अन्तर्मन की वेदना एवं असफलता के कारण भी नयी कविता में दुरूहता आ गयी है। जब अन्तर्मन में अनुभूति तीव्र होती है, तब कवि कुछ कहने के लिए आतुर होता है, परन्तु स्पष्ट कह नहीं पाता। इससे कविता दुरूह लगती है। अशोक वाजपेयी के सम्बन्ध में कीर्ति चौधरी लिखती हैं—"अपनी कविताओं में वे क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं होता, पर कुछ कहने का उतावलापन अवश्य रहता है।"[5]

अपने इस कथन की पुष्टि में, अशोक वाजपेयी की एक कविता उद्धृत की है—

"मेरे जन्म से पहले मर गयी थी
वेदनाओं की बूढ़ी दुनिया
और मैंने बचपन से आज तक
इस रंगारंग दुनिया के समान होने की
कथाओं के आखिरी हिस्से
मैंने कभी नहीं चाहा कि इसे बचाऊँ।"[6]

1. त्रिशंकु—पृष्ठ-42
2. दूसरा सप्तक—पृष्ठ-158 तथा 159
3. डॉ. त्रिलोकनारायण दीक्षित द्वारा अपने निबन्ध 'नयी कविता की काव्यकला' से उद्धृत।
4. 'नयी कविता और प्रकृति' शीर्षकवाला निबन्ध आजकल-मई 63, पृष्ठ 18
5. धर्मयुग, मई 1967, पृष्ठ 18
6. धर्मयुग—मई 1967, पृष्ठ 18

शायद कवि लुप्त जीवनमूल्य एवं उनके अवशेष रूप-स्थित निरर्थक विधि-विधानों की ओर संकेत करते हैं। परन्तु स्पष्ट नहीं हैं। किन्तु जैसे चौधरीजी कहती हैं, कवि में कुछ कहने का उतावलापन अवश्य है।

दार्शनिक उलझनों के कारण भी छायावादोत्तर काव्य मे अनेक स्थानो पर दुरूहता आ गयी है। इसके मूल मे सामाजिक सास्कृतिक परिस्थितियाँ हैं। प्राचीन काल मे, हर व्यक्ति के लिए एक निश्चित धर्म और कर्म माना गया था। पाप-पुण्य के मानदड निर्धारित थे। परन्तु आधुनिक युग में जीवन न इतना सपाट है, न इतना सरल है। अत यह कहना कठिन है कि किसका क्या कर्म है और पाप-पुण्य क्या है। उन्नीसवीं सदी मे जब सहगमन की प्रथा कानून से बन्द हो गयी, तब धार्मिकों ने उसे अधर्म माना। परन्तु अब कट्टर धार्मिक भी यह नही कहेगा कि पति की लाश के साथ पत्नी को जीवित जला दिया जाय। प्राचीन काल मे लडना क्षात्र-धर्म माना जाता था। परन्तु परमाणु-बम के युग मे युद्ध करना धर्म है या अधर्म है, यह प्रश्न उठता ही है। मनुष्यजाति आज दिङ्मूढ होकर चौराहे पर खड़ी है। इस युग की परिस्थितियाँ पहले से आमूल परिवर्तित हैं। आज निस्सदेह जीवन बहुमुखी हो गया है। क्या करना चाहिए, क्या नही करना चाहिए, क्यों करना चाहिए, क्यो नही करना चाहिए, इनपर एक-दो नहीं, कई मत हैं। किसी एक मत या पहलू को पकड़कर उसपर बल देना ऐसा ही है, जैसे छः अधो ने हाथी को छूकर, खंभा, सुपड़ा इत्यादि कहा है। इस प्रकार आधुनिक जीवन मे दार्शनिक उलझनें बहुत हैं। उनकी अभिव्यक्ति जब काव्य मे होती है तो दुरूहता का आगमन अनिवार्य एवं अपरिहार्य हो जाता है। इसका उत्तरदायी न कवि है, और न पाठक, वरन् आधुनिक युग की परिस्थितियाँ हैं। धर्मवीर भारती की कनुप्रिया इसका ज्वलन्त उदाहरण है—

"और तुम्हारे माथे पर पसीना है
और होंठ काँप रहे हैं
और तुम चौंककर जाग जाते हो
और तुम्हें कोई भी कसौटी नही मिलती
और जुए के पासे की तरह तुम
निर्णय को फेंक देते हो,
जो मेरे पैताने है वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने है वह अधर्म
बैसाखियाँ लिये हुए इतिहास अपने
पग-चिह्न बना रहा है
तुम्हारे श्लोकों से अभिमन्त्रित गाण्डीव
गले हुए सिवार-सा उभर उतर आया है
और तुम उदास हो।"[1]

वस्तुस्थितियो के प्रति विद्रोह भी आधुनिक कविता की दुरूहता का एक मुख्य कारण है। युग की परिस्थितियो के कारण, व्यक्ति (कवि) भी वस्तु-स्थितियो से असतुष्ट है। वह हर प्रचलित बात पर झुंझलाता है। परन्तु वह उसके स्थान पर अपनी कोई धारणा या अपना मूल्य देने में असमर्थ है। अतः वह अपनी झुंझलाहट को ही अभिव्यक्ति करता है, जो अस्पष्ट है। पाठक के सामने यह प्रश्न उठता है कि 'यह झुंझलाहट क्यों? परन्तु कविता से उसका उत्तर नहीं मिलता। अजित कुमार अग्रवाल को कविता

1 धर्मवीर भारती की नयी कृति 'कनुप्रिया' का अतिम और भाग नयी कविता—अक-4 पृष्ठ 76

'परिव्रज्या' इसके उदाहरण के रूप में उद्धृत की जाती है—

"अध पका नीम
पत्ते रोशनी भरे
विरक्ति पर कलंक
कौवों के ये घोंसले।"[1]

'परिव्रज्या' में रोशनी भरे विरक्ति-विपर्यय-बोध को सूचित करती है। 'कलंक कौवों के घोंसले' शायद समाज के वे नियम हैं जिनके कारण व्यक्ति निराश, कुंठाग्रस्त या कलंकित हो जाता है।

आधुनिक कविता की दुरूहता के कवि का व्यक्तित्व एवं कलासम्बन्धी मान्यताएँ महत्व-पूर्ण कारण हैं। भौतिकवाद का मूल दर्शन काल्पनिक आदर्शवाद का पलायन बनकर मनमाने स्वप्न गढ़ते जा रहे हैं, जिनके कारण आज के साहित्य, कला और कविता में अस्वस्थ, नीरस, निराशावादी प्रवृत्तियाँ भी विकसित होती जा रही हैं। फलस्वरूप कृतियों में उलझन, अनास्था आत्मपीडन और विद्रूप की प्रवृत्तियाँ उभर आती हैं।

आधुनिक युग के परिवेश में प्रेषण अधिक कठिन हो गया है, और कवि पर प्रेषणीयता का महान भार पड़ रहा है। युगीन परिस्थितियों के कारण कवि की भावना न निश्चित है, न टिकाऊ है। भावना स्वयं कवि को व्यक्त नहीं है। वह उसके अव्यक्त मन में छिपी है। कुछ सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण तथा कुछ जीवन की चिन्तनशीलता के कारण पूरी बारी स्पष्ट रूप से बाहर नहीं आती।

आधुनिक कविता को अस्पष्ट बनाने में प्रतीकों का बहुत बड़ा हाथ है। आधुनिक कवि विज्ञान से, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से या नये राजनीतिक वादों से भी प्रतीक चुन लेता है। उदाहरण के लिए मलयज की कविता 'अस्तित्व की चुनौती' में—

"...भव्य कलाकृति अफ्रोडाइट की
रख दी गयी है म्यूज़ियम में"[2]

नये कवि की भावना उलझी होने के कारण, उसकी सही अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। अतः प्रेषण में कमी आती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक कारणों से नयी कविता में दुरूहता आ गयी है। इनमें से मनोवैज्ञानिक कारणों एवं परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है। अनेक स्थानों पर दुरूहता अपरिहार्य हो गयी है। कई स्थानों पर नये प्रयोगों के मोह के कारण दुरूहता आ गयी है। संक्षेप में, अधिकांश नयी कविता दुरूह है।

1. नयी कविता—अंक-1, पृष्ठ 52 तथा 52

संसार में भारत को छोड़ कर किसी भी देश में शिक्षा का माध्यम विद्यार्थी की भाषा से अलग नहीं है। इस लज्जा-भार का अंत ही भारतीय मेधा के विजय-अभियान का आरंभ होगा।
—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

श्री बालशौरि रेड्डी,
वडिवेलुपुरम, मद्रास 33

सूर और पोतना

सभा की शिक्षा दीक्षा का प्रभूत सबल लेकर हिन्दी लेखन क्षेत्र मे आपका आना हुआ। तेलुगु संस्कृति और साहित्य-वैभव के सफल हिन्दी रूपातरकार के रूप मे हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा करते हुए आपने हिन्दी उपन्यास व नाटक विधाओं मे अपनी मौलिक सृजन-कुशलता का भी परिचय दिया है। आपकी चद रचनाएँ सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हुई हैं। दक्षिण के इन हिन्दीतर युवा हिन्दी लेखक की प्रतिभा विकासकामी है जो आशावह है। श्री रेड्डी सप्रति, बहुभाषाओं मे मद्रास से प्रकाशित "चन्दमामा" मासिक के हिन्दी सस्करण के सपादक हैं।

तेलुगु वाङ्मय मे महाभारत के पश्चात् पोतना-कृत महाभागवत का नाम आदर के साथ लिया जाता है। महाकवि तिक्कना तेलुगु साहित्यरूपी नभोमण्डल के भासमान भास्कर हैं, तो शीतल सुधांशु पोतना हैं। उनकी कविता की माधुरी पर मुग्ध हो करुणश्री ने महाकवि को सबोधित करके प्रश्न किया है—'हे पोतना, तुम्हारी कविता मे यह मधुरिमा कहाँ से आ गयी है? क्या तुमने काव्य का प्रणयन करते समय अपनी लेखनी को शहद-चाशनी में तो नहीं डुबोये रखा? वरना, ऐसा माधुर्य भला कैसे सभव है?'

इसी भाँति हिन्दी साहित्यरूपी गगन-मण्डल के सूर्य माने जानेवाले सूरदास की कविता के सबध मे भी नाभादास ने अपने 'भक्तमाल मे' लिखा है—

"'सूर' कवित्त सुनि कौन कवि,
जो नहिं सिर चालन करै।"

सूरदास की कविता निस्सदेह वर्णन के बाहर है। यही कारण है कि 'सूर तीन गुन धीर' वाली उक्ति उनके प्रति सटीक बैठती है। पद-रचना में सूरदास बेजोड थे। उन्होंने प्राय: जीवन के प्रत्येक अग का अपनी कविता में स्पर्श किया है। सूरदास का हिन्दी वाङ्मय मे जो स्थान है, वह तेलुगु मे पोतना को प्राप्त है। अलावा इसके दोनो ने भागवत का रूपातर अपनी-अपनी भाषा मे किया है। दोनों भक्त थे। अत. दोनों की कविता मे विषयसाम्य के साथ-साथ भाव-साम्य, उक्तिवैचित्र्य, भौतिक जीवन व जगत् के प्रति दृष्टिकोण आदि में भी समानता पायी जाती है।

पोतना राम के उपासक थे, जब कि सूरदास कृष्ण के। यद्यपि पोतना के गुरु चिदानंद योगी

थे, तथापि काव्यरचना करने की प्रेरणा उन्हें सहज ही प्राप्त हुई, जब कि सूरदास को उनके गुरु आचार्य वल्लभ ने जनता की भाषा में भागवत प्रस्तुत करने का आदेश दिया।

भागवत की रचना के मूल में पोतना का जो उद्देश्य था, उन्होंने स्वयं व्यक्त किया है—

पलिकॅडिदि भागवतमट
पलिकिंचॅडिवाडु रामभद्रुंडट
ने पलिकिन भवहरमगुनट
पलिकॅद वेरोंडु गाथ पलुकग नेला!

अर्थात्—मेरे मुँह से स्वयं रामचंद्रजी भागवत प्रकट कराएँगे, सुनते हैं कि भागवत की रचना करने पर मुझे भव-बंधनों से मुक्ति प्राप्त होगी। ऐसी स्थिति में भला, मैं दूसरी कथा या काव्य क्यों सुनाऊँ?

पोतना ने भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ही भागवत की रचना की। एक दूसरे छन्द में भी उन्होंने इस आशय को स्पष्ट व्यक्त किया है—

ऑनरन् नन्नयादि कवुलीयुर्विन् बुराणावलुल
तॅनुगुन् जेयुचु मत्पुराकृत शुभोदय्व दानेट्टि दो
तेनुगुन जेयरु मुन्नु भागवतमुन् दीनिन्
दॅनिगिंचिना

जनन्येंबु सफलंबु जेसेद पुनर्जन्म

अर्थात्—लेकण्डगान् यह मेरे लिए बड़े भाग्य की बात थी कि मेरे पूर्व नन्नय आदि कवियों ने पुराणों का तेलुगु में रूपांतर किया, पर भागवत का अनुवाद नहीं किया। इसका अनुवाद करके मैं अपने जन्म को सफल बनाऊँगा, याने पुनर्जन्म से मुक्ति पाऊँगा।

पोतना गृहस्थ थे। खेती करके अपनी जीविका चलाते थे। दरिद्र-जीवन व्यतीत करते हुए भी सदा प्रसन्न थे। उन्होंने राजा-महाराजाओं को अपनी कृति समर्पित कर धन, कनक, वस्तु एवं वाहन पाने की अपेक्षा अपने आराध्य देव श्रीरामचन्द्र के चरणों में समर्पित किया। रायकोंडा राज्य के राजा सर्वज्ञ सिंह ने उक्त काव्य के कृतिभर्ता होने की यथाशक्ति कोशिश की, यहाँ तक कि दण्ड के बल पर काव्य को पाना चाहा, किंतु पोतना की भक्ति की शक्ति के समक्ष उन्हें झुकना पड़ा।

"बाल रसाल साल........" तथा "इम्मनु जेश्वराधमुल........" नामक छन्दों में पोतना ने स्पष्ट बताया है कि मैं अपनी कोमल काव्य-कन्या को उन दुष्ट राजाओं के हाथों में समर्पित करने की अपेक्षा जंगलों में रहकर खेती करके कंद-मूल-फल खाना कहीं उत्तम समझूँगा। अलावा इसके उन राजाओं से धन-संपत्ति व नगर पाकर यमराज की यातनाएँ भोगने की अपेक्षा मैं अपनी इच्छा से श्रीहरि के चरणों में यह काव्य समर्पित करता हूँ।

सूरदास ने भी तन्मय होकर अपने काव्य का सर्जन किया है। सूरदास ने जहाँ पद-शैली में अपना काव्य प्रस्तुत किया, वहाँ पोतना ने प्रबंध-काव्य की शैली में। पोतना के समक्ष काव्य के लक्षणों के निर्वाह का प्रश्न था, जब कि सूर उन्मुक्त होकर अपने हृदय को प्रकट कर सकते थे। उन्होंने गीत-काव्य की उस शैली को अपनाया जिसे कृष्णचरित के गान में पूर्वी दिशा में जयदेव, विद्यापति आदि ने प्रचलित की थी।

वास्तव में सूरदास ने श्री वल्लभाचार्य की आज्ञा से श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में

गाया। पर उन्होंने भागवत के समस्त स्कंधों का विशद वर्णन नहीं किया, बल्कि केवल दशम स्कंध का विस्तारपूर्वक चित्रण किया है। शेष स्कंधों की कथा को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। जनसाधारण मे सरस भक्तिभाव को जगाने के लिए युगानुरूप गेय पद-शैली अधिक उपयुक्त थी। साधारण जनता को गीतों के माध्यम से ही गहन एवं गूढ़ विषयों का बोध कराया जा सकता था।

पोतना शिव-केशव या हरि-हर में कोई भेद न मानते थे, वे समदर्शी थे। उन्होंने ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार किया। वल्लभ संप्रदाय के अनुरूप बालकृष्ण उनके उपास्य देव थे। अतः सूर ने बालकृष्ण का मनोमुग्धकारी वर्णन किया है। बाललीलाओं के वर्णन में सूर ने वात्सल्य रस की जो धारा बहायी, वह अनिवर-साध्य है। सूरदास बालकृष्ण के वर्णन मे कहते हैं—

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन में,
नैन निरख छबि छाई
कुलहि लसति सिर स्याम सुभग अति,
बहुविधि सुरग बनाई।
मानों नव घन ऊपर राजत,
मघवा धनुस चढ़ाई।

....

खंडित वचन देत पूरन सुख,

....

घुटरन चलत रेनु तन मंडित,
सूरदास बलि जाई।

सूर तथा पोतना दोनों अपने-अपने आराध्यों के प्रति निष्ठावान थे। यह निष्ठा कैसी प्रगाढ थी, उन्हीं के शब्दों में सुनिए:

मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै
जैसे उड़ि जहाज को पंछी,
फिरि जहाज पर आवै।

....

जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो,
क्यों करील फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि,
छेरी कौन दुहावै॥

पोतना में भी यही समानांतर भाव पाता है। यह पोतना की भक्ति का उदाहरण भी कहा जा सकता है—

"मंदार मकरंद माधुर्यमुन देलु
मधुपबु वोवुने मदनमुलकु,
निर्मल मदाकिनी वीचिकल दूगु
रायंच जनुने तरंगिणिलकु
ललित रसाल पल्लव खादियै चॊक्कु
कोयिल सेरुने कुटजमुलकु,
पूर्णेन्दु चन्द्रिका स्फुरित चकोरकं
बरुगुने सांद्र नीहारमुलकु,
अंबुजोदर दिव्य पादारविंद
चिंतनामृत पान विशेषमत्त,
चित्त मेरीति नितरंबु जेर नेर्चु
विनुत गुणशील माटलु वेयुनेल।"

अर्थात्—क्या मंदार पुष्पों के मकरंद का पान करनेवाला भ्रमर नीम के वृक्षों की ओर भटकेगा? अर्थात्, कभी नहीं। गंगा जल की तरंगों पर विहार करनेवाला राजहंस क्या छोटी-मोटी नदियों की लहरों पर तैरना पसंद करेगा? मृदुल रसाल के पल्लवों को चखनेवाली कोयल कहीं साधारण वृक्षों पर बैठना पसंद करेगी? पूर्ण चन्द्र की शीतल किरणों का आस्वादन लेनेवाला चकोर क्या ओस

की बूँदों पर आसक्त होगा ? इसी प्रकार भगवान श्री विष्णु के चरणारविंदों के चिंतनामृत का पान कर यह मन आनन्दविभोर हुआ, तो अन्य विषयों पर कैसे आसक्त होगा ? कभी नहीं ।

सूर तथा पोतना के भक्तिभाव में भी अंतर है । सूर ने अपने काव्य में जहाँ वात्सल्य और सख्य भाव का पोषण किया, वहाँ पोतना ने सेव्य-सेवक-भाव को अनुप्राणित किया । इनके मनोनीत भावों का स्पष्ट एवं विशद चित्र प्रह्लाद, ध्रुव, गजेन्द्र, अंबरीष इत्यादि उपाख्यानों में प्रतिबिंबित है । आपने मूल भागवत की कथा को ग्रहण कर संदर्भानुसार काव्य को संक्षिप्त एवं व्यापक बनाने का प्रयास किया है । अपने प्रिय स्थलों के विस्तार में पोतना ने पूर्ण स्वतंत्रता ली है । यही कारण है कि मूल भागवत में जहाँ 20,000 श्लोक हैं, वहाँ तेलुगु भागवत 30 हज़ार पद्यों से सुशोभित है । सुदामा चरित्र, रुक्मिणी विवाह, उषा-अनिरुद्ध का परिणय, वामन चरित्र, कालीय-मर्दन, गोपियों का वस्त्रापहरण, रास-लीला, कंस-वध, भ्रमरगीत, नरकासुर तथा बाणासुर की कथाएँ, उद्धव-प्रसंग, मार्कंडेयोपाख्यान इत्यादि विषय अत्यंत रोचक बन पड़े हैं । ये उपाख्यान मूल कथा के अंग होते हुए भी स्वतंत्र उपाख्यान-जैसे प्रतीत होते हैं । प्रत्येक उपाख्यान एक स्वतंत्र खण्डकाव्य का सा आनंद देता है ।

पोतना-काव्य भक्तिभाव के साथ संपूर्ण काव्य-रस से ओतप्रोत है । काव्य के तीनों—ओज, प्रसाद एवं माधुर्य-गुणों से युक्त पोतना-कृत भागवत आन्ध्र के घर-घर में पढ़ा व पारायण किया जाता है । भाषा और शैली के प्रयोग में पोतना ने मध्यम मार्ग को ग्रहण किया है । प्रौढ़ समासों के प्रयोग के साथ ठेठ तेलुगु शब्दों का भी समान रूप में प्रयोग किया है । कथा-प्रसंगों को देशीय व स्थानीय रूप देने में पोतना को जो सफलता प्राप्त हुई है, वह पाठक को आश्चर्य-चकित किये बिना नहीं रह सकती ।

पोतना लौकिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन को अधिक पसंद करते थे । वे अपने आराध्य से निवेदन करते हैं—

> नीपाद कमल सेवयु
> नीपादार्च कुल तोडि नेटपमुनु नितां
> तापार भूतदयनुगु
> तापस मंदारनाक दयसेय गदे ।

—हे परमात्मन, मुझे ऐसा वर प्रदान कीजिए जिससे मैं सदा-सर्वदा आपके चरण-कमलों की सेवा करता रहूँ । आपके चरणों की अर्चना करनेवालों के साथ मैत्री करूँ और स्नेह-दया का भाव रखूँ ।

सूरदास भी सदा अपने प्रभु के चरण-कमलों की वंदना में ही निमग्न दिखाई देते हैं—' चरन कमल बंदौं हरिराई । ' साथ ही सूर में शरणागत भक्ति का भाव भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है—

> मेरी तो गति पति तुम अनतहि दुख पाऊँ
> हौं कहाय तिहारो अब कौन को कहाऊँ !
> ....
> अंबा फल-छाँडि कहा सेवर को धाऊँ
> सागर की लहर छाँडि खार कत अन्हाऊँ
> सूर कूर आंधरो मैं द्वार परयो गाऊँ !

पोतना और सूर प्रायः एक ही शताब्दी में वर्तमान थे, उनकी काव्यगत विशेषताओं में अधिकांश साम्य दिखाई देने पर भी दृष्टिकोण में अंतर भी दिखाई देता है ।

(1) ये दोनों कवि अपने युग के प्रतिभाशाली कवि थे और अपने युग पर पर्याप्त प्रभाव डाला ।

(2) दोनो ने स्वतंत्र रूप से काव्य की रचना की।

(3) दोनो अपने उपास्य देव की लीलाओ के गुणगान मे तल्लीन थे, किंतु जहाँ सूर अपने इष्टदेव के साथ खेला करते थे, वहाँ पोतना अपने आराध्य के चरणों के पास पड़े रहने मे ही गौरव का अनुभव करते थे।

(4) दोनो का काव्यगत विषय एक था। तथापि उपासना-पद्धति, व्यावहारिक जीवन, समाज के प्रति दृष्टिकोण तथा जीवन-निर्वाह के मार्ग भिन्न दिखाई देते हैं।

(5) दोनो ने भाषा तथा शैली की दृष्टि से सरलता एवं सरसता को प्रधानता देने का प्रयास किया।

(6) दोनो युगप्रवर्तक कवि थे।

अंतर—

(1) सूर को काव्य की रचना मे अपने गुरु वल्लभाचार्य ने प्रवृत्त किया, जब कि पोतना को अपने आराध्य देव से प्रेरणा प्राप्त हुई।

(2) सूरदास कृष्ण के रूप-माधुर्य के उपासक थे और वे बालकृष्ण मे ब्रह्माण्ड को देखा करते थे। पोतना कृष्ण को गुण-निधान मानते थे। उनके कृष्ण वीर, लोकरक्षक भी हैं।

(3) सूर की गोपिकाएँ ज्ञान और भक्ति—दोनों मार्गों का ज्ञान रखती हैं, जब कि पोतना की गोपिकाएँ केवल आध्यात्मिक रूप की प्रतीक हैं।

(4) पोतना एक आदर्श गृहस्थ थे, जब कि सूर भावुक भक्त एवं संत थे।

(5) सूर जहाँ केवल कृष्ण के ही अनन्य उपासक थे, वहाँ पोतना द्वैत व अद्वैतवाद से भी प्रभावित थे।

(6) सूर ने कृष्ण की बाललीला एवं रास-लीलाओं को अधिक प्रधानता दी, जब कि पोतना ने जीवन के विविध पक्षों का व्यापक रूप प्रस्तुत किया।

(7) पोतना को जीवन के संघर्षों के बीच से गुज़रना पड़ा। सर्वज्ञ सिंह नामक राजा ने उनकी कृति का भर्ता बनने के विचार से पोतना पर अत्याचार भी किया, पर सूरदास समरस जीवन व्यतीत कर गोलोकवासी हुए।

(8) दशमस्कंध के वर्णन मे सूर ने जो प्रतिभा दिखाई, वह पोतना मे पायी नही जाती।

(9) पोतना ने महाकाव्य के समस्त लक्षणों से अपने काव्य को पूर्ण बनाया। नव रसों का दिग्दर्शन एवं प्रतिपादन सप्तम स्कंध मे प्रह्लाद के प्रसंग में जिस खूबी के साथ किया, वह उनको एक महान कवि के आसन पर बिठाने के लिए पर्याप्त है।

(10) अनुवाद करते समय पोतना ने कठिन स्थलों की व्याख्या करके विषय को सरल एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया, साथ ही नीरस घटनाओं को सरस बनाकर काव्य का महत्व बढाया है।

(11) दर्शनसंबंधी विषयों को साधारण जनता की समझ मे आने लायक जिस रूप में पोतना ने प्रस्तुत किया वह अद्भुत है।

(12) पोतना ने भक्ति के साथ शृंगार रस के वर्णन मे भी अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है।

सत्यभामा के चित्रण में पोतना ने जिस कुशलता का परिचय दिया, वह अद्वितीय है। पोतना की सत्यभामा कोमलांगी, भीरु, नाजुक स्वभाववाली है। फिर भी नरकासुर पर जिस निपुणता के साथ आक्रमण किया और युद्ध किया, सत्यभामा के उस स्वरूप का वर्णन पोतना के शब्दों में पढ़ते ही बनता है।

पोतना रूप-कल्पना में ही नहीं, अपितु भाव-चित्रण में भी अद्वितीय हैं। शृंगारिक चेष्टाओं के चित्रण में भी सहजता का परिचय दिया है। कुब्जा और कृष्ण, उषा और अनिरुद्ध, रुक्मिणी और कृष्ण की केली-क्रीड़ाओं के प्रसंग पोतना के वैविध्यपूर्ण शृंगार के उत्तम उदाहरण हैं।

इसी प्रकार गोपिकाओं की चित्तवृत्तियों के चित्रण में—उनके सरस-सल्लाप, अन्यापदेश, अनुनय-विनय, प्रणयकोप, रूठना, मनाना आदि रोचक प्रसंग हृदय को पुलकित कर देते हैं।

पोतना और सूर अपनी-अपनी भाषाओं में सहज कविता के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं।

★

क्या इंग्लैंड में पाठ्य पुस्तकों की रचना करके तदुपरान्त विश्वविद्यालयों को शुरू किया गया था? भारत में अंग्रेज न आते तो क्या हम अज्ञानी बनकर ही रह जाते? पाँच हजार सालों की हमारी सांस्कृतिक प्रगति की कोई अस्मिता नहीं है? मुझे इसका दुख नहीं है कि अंग्रेजों ने हमें गरीबी दी, मुझे वह बात शोचनीय लगती है कि अंग्रेजों ने हमारे आत्म-विश्वास को कचोटा है और हमारे वास्तविक अंतर्बाह्य विकास को धक्का पहुँचाया है।

—र. र. दिवाकर

हिन्दी अब केवल हिन्दी-भाषियों की भाषा नहीं रह गयी है। राष्ट्रभाषा के नाते अब सबका उसपर अधिकार है। सब उसकी सेवा के अधिकारी हैं। प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति में वह रस लेना चाहती है! प्रदेश-प्रदेश में जाकर वह जनता की सेवा करना चाहती है और एकता का भाव फैलाना चाहती है। —रामेश्वर दयाल दुबे

मुझे उस अंग्रेजी की आवश्यकता नहीं जो मुझे मेरे भाइयों से बेगाना करे, मेरे 90 प्रतिशत देशवासियों को अपनी जन्मभूमि में विदेशी बना दें और स्वयं एक विशेष शोषक वर्ग की समृद्धि की निशानी बनी रहे। —डॉ. त्रिगुण सेन

श्री जनार्दन पल्लूर
हिन्दी प्राध्यापक, विवेकानंद कॉलेज,
मद्रास

वाणी की प्रतिमा— वाङ्मय-मंदिर में

सभा की शिक्षा दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ। कन्नड संस्कृत तथा हिन्दी की उच्च शिक्षा पाने के बाद आपने कन्नड भाषी होने पर भी तमिलनाडु को अपना कार्यक्षेत्र चुना और गत तीन दशकों से विभिन्न हाईस्कूल कॉलेजों में हिन्दी अध्यापन करते आ रहे हैं। संप्रति आप विवेकानंद कॉलेज मद्रास में हिन्दी विभाग से संबन्ध हैं। कन्नड तथा हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य तथा संस्कृति विषयक आपके दर्जनों समीक्षात्मक निबंध प्रकाशित हो चुके हैं। बहुभाषा विद्वान होने के नाते अनुवाद प्रक्रिया के प्रति भी आपकी विशेष अभिरुचि है।

भारतीय जनता प्रतिमोपासक होने के कारण अपख्यात है। परंतु कल्पनाशील मानव किसी-न किसी रूप में प्रतिमोपासक है ही। दर्शन-शास्त्र और विज्ञान तो इस समूचे जगत को ही एक प्रतिमा क्रिया घोषित करते हैं। तात्विक दृष्टि से देखने पर भाषा भी मानव जाति से निर्मित विस्मयकारी प्रतिमा प्रपंच है।

'प्रतिमीयते अनेन'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतिमा शब्द का अर्थ होता है शिला, काष्ट, धात्वादि से निर्मित चक्षुरिंद्रियग्राह्य प्रतिरूपक या शिल्प। यही प्रचलित अर्थ भी है। परंतु इसका प्रयोग इससे कहीं व्यापक अर्थ में भी हुआ है। कौषीतकी में नृत्य, गीत, वादय भी शिल्प में परिगणित हुए हैं—'त्रिवृदवै शिल्प, नृत्य गीत वादितम्।' वस्तुत, यह मनोलोक से—भाव बुद्धि से संबन्धित शिल्प है। अस्तु यदि अमूर्त भावगम्य नृत्य गीत-वाद्यों को शिल्प (प्रतिमा) मान लें, तो भाषा को भी शिल्प या प्रतिमा मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, प्रत्युत मानवहृदय की सूक्ष्म अनुभूतियों, विचारों और कल्पनाओं को सांकेतिक प्रतीकात्मक रूप से रूपायित करनेवाली यह भाषा मानव जाति का सर्वोत्कृष्ट शिल्प है, प्रतिमा है।

शब्द, प्रतीक, भाषा आदि का शिल्पी बुद्धि है। बुद्धि शिल्पी को इस दिशा में प्रेरित करनेवाली है प्रज्ञा—

"आत्मबुद्ध्या समेत्यार्थान्,
मनोयुंक्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहंति,
स प्रेरयतिमारुतम्॥"

यों प्रत्येक शब्द एक संकेत है। संकेत का अगला रूप ही प्रतीक है, प्रतीकों का विकसित रूप है प्रतिमा। इन्हीं उत्कृष्ट प्रतीकों और प्रतिमाओं से उत्तम वाङ्मय का सृजन होता है। वाणी की अनन्य उपासना से ही कवि वह वरदान प्राप्त करता है, जिससे वह स्थायी मूल्यवाले वाङ्मय का सृजन करता है।

भारतीय मनीषियों ने वाणी को वाङ्मय मात्र की अधिष्ठात्री देवी के रूप में देखा है। शब्द-शिल्पियों ने इस वाणी की असंख्यक प्रतिमाएँ वाङ्मय-मंदिर में प्रतिष्ठित की हैं। इन्हें किसी की प्रतिकृति नहीं समझनी चाहिए। क्योंकि प्रतिकृति केवल मूर्त वस्तुओं की होती है। अमूर्तों की नहीं, परंतु अमूर्त को जनसाधारण के अनुभव की परिधि में लाने के लिए उसे कुछ न कुछ मूर्त रूप देना ही पड़ता है। चित्रकार जब आँधी को रेखाओं के जाल फैलाकर पकड़ रखने का प्रयत्न करता है, तब उसे मूर्त वस्तुओं पर पड़नेवाले आँधी के विविध प्रभावों के रेखांकन का सहारा लेना पड़ता है, वाताहत वृक्षों की दबी-झुकी शाखाओं, तांडवरत सागर के तरंगाघातों, अंतर पिशाचों की तरह अंतरिक्ष में चक्कर खानेवाली घास-फूसों, धूल और तिनकों के स्तूप खड़ा करनेवाले वात्याचक्रों, दुश्शासन की तरह खुले में वस्त्रापहरण करनेवाले चंडवात के हाथ से अपना वस्त्र बचाती ग्रामबाला की छुई-मुई-सी सूरत आदि के अंकन द्वारा ही उस अरूप आँधी को रूपायित कर सकता है। अतः यह आन्धी की प्रतिकृति नहीं, प्रतिमा कहलायेगी। कवि भी शब्दों की पकड़ में न आनेवाली अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को प्रतिमारूप में अवतरित करता है। ऊपर से असंगत-से लगनेवाले इन रूपों के अन्तर्निहित सुसंगति को प्राप्त करने पर ये प्रतिमाएँ पाठकों में उस मूलानुभूति और दर्शन को प्रेरित करती हैं। जब कोई मूर्त से चिपककर अमूर्त की—संकेतित तत्व की—उपेक्षा करता है, तभी अनर्थ होता है, ऐसे जड़ मतिवाले के लिए प्रतिमा भार बनती है। वाणी की इयत्ता का निर्देशन करते हुए बसवेश्वर जी ने इसी तथ्य को प्रकट किया है—

> "मातु केट्टल्लदे तानाग बारदु, कूडल संगम देवा, मातिंद बर्क भवभार घोर"

[जब तक बात नहीं बिगड़ती, आत्मबोध नहीं हो सकता, बात बिगड़े बिना, मिटे बिना टिकी रहे तो संसार भारी बने, घोर बने।]

रूढ़ शब्द या वचन, अर्थ-बोध के पथ पर एक सीमा तक ही जा सकते हैं। निर्दिष्ट सीमा में पहुँचते ही अन्तरिक्ष यान की भाँति अग्र भाग को आगे लक्ष्य की ओर बढ़ाकर ये रुक जाते हैं, मिट जाते हैं।

'यतो वाचो निवर्तन्ते मनसा सह' (जहाँ से वचन मन के साथ लौट पड़ते हैं) यह उपनिषद् वाक्य भी इसी शाब्दी मिति की ओर संकेत करता है। अतः प्रतिमाओं के मूल्यांकन में उनके प्रत्येक अंग का विश्लेषण या अर्थ ढूँढना निरर्थक है।

सरस्वती, वाणी, भारती जैसे शब्द अपने आप में ही एक-एक प्रतिमा हैं। 'सरस्वती' शब्द एक ओर सरणशीलता, निरंतर गतिमयता, प्रासादिकता (बहुता पानी निर्मला) निर्मलकारिता व्यंजित करता है, तो दूसरी ओर रसमयता, आनंद के अन्न से चित् की पोषणकारिता द्योतित करता है। संभवतः इसी कारण से वैदिक वाङ्मय

में सरस्वती का पट वाग्देवी और नदी, दोनों तत्वों के ताने-बाने से बुना गया है—

"पावका न सरस्वती वाजभिर्वाजिनीवती"

[सरस्वती हमें पावन बनानेवाली, अन्नदात्री, तदेक चित्त से उपासना करनेवालों को उन्नत फल देनेवाली है।]

"चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ..."
"महो अर्ण सरस्वती प्रचेदयति केतुना,
धियो विश्वा विराजयति"

[सूनृत, अर्थात् सत्यवाक् को प्रेरणा देनेवाली, सुमतियों को प्रचोदित करनेवाली सरस्वती अपनी कृतियों से सारस्वत महानदी को प्रवाहित करती, समस्त ज्ञान को द्योतित करती है।]

इन वैदिक सरस्वती-स्तुतियों ने आगे के अनेक कवियों की कल्पनाओं के पर लगा दिये हैं। प्राचीन कन्नड के एक कवि नागवर्मा ने श्लिष्ट शब्दों के द्वारा सरस्वती की प्रतिमा में नदी और वाग्देवी, दोनों का साधर्म्य दिखाते हुए प्रार्थना की है—

"सतत गभीर वृत्ति, उदारता, जगदेक जीवन स्थिति, अतिप्रासादिकता, रसभाव विलासिता, कविप्रतीति, सेव्यता-जैसे गुणों के कारण सरस्वती-नदी से साधर्म्य रखनेवाली वाग्देवी सरस्वती हमारे अनुकूल रहकर हमें निर्मल बनाएँ।" यहाँ 'जगदेक जीवन स्थिति' यह विशेषण विशिष्ट अर्थवत्ता के कारण महत्वपूर्ण है। सरिता निरन्तर बहती जलधारा की एक ही स्थिति को प्राप्त किए हुए है। वैसे ही वाङ्मय भी ऊपर से निरंतर परिवर्तनशील होने पर भी अन्तर से एकमेव मूलभूत जीवन स्थिति को—उसके चिरंतन शाश्वत स्वरूप को चित्रित करता है। दूसरे शब्दों में, जीवन की गति-विधियों का समग्र चित्र ही साहित्य है—वही सरस्वती है। वह सर्वशुक्ला है—शुद्ध सात्विक है। काव्यारंभ में कवि ने उससे प्रार्थना की है कि उसे मन-वचन की प्रासादिकता रागद्वेष से मुक्त चित्तवृत्तियों की अनाविल स्थिति प्राप्त हो।

"यस्ते स्तन शशयो यो मयो
भूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि
यो रत्नधा वसुविध सुदत्र
सरस्वति तमिह धातवे क."

[मात सरस्वति! अपने उन-आनंदमूल, सद्वस्तु-प्रद, संपत्ति के आकर भाग्यदायक स्तनों को हमारे पोषण के लिए खोलो'] जैसे शिशु जननी के पाँवों से लिपट कर स्तन्य के लिए मचलता है, वैसे वैदिक ऋषि कवि ने शिशुवत् माता सरस्वती से अपनी आत्मा की तुष्टि और पुष्टि के लिए विद्या, कला और ज्ञान के स्तन्य माँगा है। "साहित्य चैव संगीत सरस्वत्या स्तनद्वयम्' भी यहाँ स्मरणीय है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने वाणी के स्त्री या मातृरूप की जो कल्पना की उसका सुन्दर, विशद विकास आगे के भारतीय साहित्य में हुआ। आगे वह चतुर्भुजा, कुंदेंदुशंख स्फटिक मणि निभा, श्वेतांबरा, स्फटिक मणिमयी, अक्षमाला तथा पुस्तक धारिणी, हंससनाथिनी, श्वेतपद्मासनी, वीणावादिनी, वरदा के रूप में अंकित हुई। पौराणिक कल्पना के अनुसार वह श्रीमन्नारायण के नाभिकमल में आविर्भूत चतुर्मुख ब्रह्मा की आत्मजा भी है और अर्धांगिनी भी। परा, पश्यन्ती आदि चतुर्विध वाक् भी जो ब्रह्म या ज्ञान से निष्पन्न होने पर भी स्वयं 'ब्रह्म'

की द्योतिका है नर-नारायण के नाभि मण्डल से ही उत्पन्न होती है।

कुंदेंदुशंख स्फटिक तुषारादि वर्ण या दीप्ति सादृश्य के उपादानों से उसकी सर्वशुक्लता का बोध होता है। यह शुभ्रता ज्ञानस्वरूपिणी वाणी की सात्विकता और निर्मलता का प्रतीक है। वह 'गुहायां निहित' आत्मतत्व को प्रकाश में लानेवाली ज्योतिर्मय देवता है, आत्माभिव्यंजन का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। अनुभूति और अभिव्यक्ति वाणी के दो अंग हैं। अनुभूति शुद्ध सात्विक ज्ञान है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए वाक् को इंदु, शंख, तुषार जैसे कान्तियुक्त होना चाहिए, शब्द को स्फटिकवत, सारभूत और पारदर्शक होना चाहिए, शैली को कुंद पुष्पवत्, विकसनशील सरस और आह्लादकर होना चाहिए। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ये, चार वाक्प्रकार या चार वेद ही उसकी चार भुजाएँ हैं। वाणी के हाथ की स्फटिक मणिमयी अक्षमाला की परिकल्पना को विकसित करते हुए एक प्राचीन कन्नड कवि ने लिखा है—

"नीरजात विस्तरिसिद
अण्डमुमं मणिमालेयागि बि-
स्तरिसि हस्तदिं पिडिदु
तन्न सरणवुगुवर्गे लेसुमं
प्रेरिसलोसुग जपिसुतिर्पळिरुळ्
पगलावळोर्वळा भारति नम्म
जिह्वेयोळनाविळंदिदिरुतिर्के संततम्।

[शरणागतों के प्रति वात्सल्यमयी माता भारती, ब्रह्माण्ड के इन असंख्यक तेजोगोलों को मणिमाला के रूप में गूँथकर, अपने हाथ में उसे दिनरात फेरते हुए यह जप रही है कि मेरी शरण में आनेवालों के सर्वमंगल हों। वह भारती सदा हमारी जिह्वा में निवास करे।]

यह भारती की, ज्ञान की, ज्योतिर्मय देवी की एक विराट् प्रतिमा है। असीम अन्तरिक्ष में बिखरे अनन्त ज्योतिपिंडों को कवि ने भारती के हाथ की मणिमाला के रूप में, उन गोलों की फेरी को मणिमाला की फेरी के रूप देखा है। शरणागतों के श्रेय के लिए उनके मन-वचन को दीप्त बनाना, तेजस्वी बनाना आवश्यक है। इसीलिए भारती तेजोगोलों की मणिमाला फेरते जप कर रही है, यह बड़ी भव्य कल्पना है। मानव को प्राप्त अनुपम प्रतिभा, बौद्धिक ऐश्वर्य और विश्वदृष्टि के विद्युत्कण अन्तरिक्ष के किन-किन तेजोगोलों से निस्सृत हो होकर, किरणों की छलनी में छन-छनकर उस तक आये हैं, कौन जाने! ऊपर की प्रतिमा से यह भी व्यंजित होता है कि भारती निरी प्रतिभा और स्फूर्ति मात्र प्रदान नहीं करती वह विश्वदृष्टि (cosmic vision) और विश्वतेजस (cosmic energy) भी प्रदान करती है। ऐसा ही वरद पुत्र कोई मेरुकृति साहित्य को दे पाता है। इसके लिए अनन्य भाव से भारती की शरण में जाना आवश्यक है।

श्रीविजय (सन् 815) ने अपने 'कविराज मार्ग' के आमुख में वाणी को हंस सनाथिनी नहीं, अपितु हंसी रूप में ही देखकर प्रार्थना की है—"विशदवर्णा, औचित्यपूर्ण मधुर रव (ध्वनि) युक्ता, चतुर रुचिर पदरचना देवी सरस्वती हंसी भाव से आकर मेरे 'मानस' में सदा विहरण करे।"

'कविराज मार्ग' कन्नड का रीतिग्रंथ है। इसका उद्देश्य है काव्य तत्वों के विवेचन तथा गुणदोषों के निरूपणपूर्वक कवियों के राजमार्ग को प्रशस्त

करना। इसके लिए लेखक मे नीर-क्षीर विवेचक बुद्धि अपेक्षित है। अत प्रारम्भ मे ही वाणी की मानस विहारिणी हसी के रूप मे आह्वान प्रसगोचित है। इसके साथ ही श्रीविजय ने प्रस्तुत ग्रथ मे यह भी बताया है कि साहित्य मधुर ध्वनियो के द्वारा औचित्य को और चतुर रुचिर पद-रचना के द्वारा सौष्ठव को प्राप्त करता है। लोकोक्तियो और लोकानुभवों के उदाहरणो द्वारा लेखक ने जिस रुचिर शैली मे अपने वक्तव्य का प्रतिपादन किया है, वह हंसों के कलरव की तरह इतनी आवर्जक है कि लगता है सरस्वती हसी भाव से उसके मानस में आ बसी है।

सरस्वती श्वेत कमलासनी है। यह श्वेत कमल कवि का रागद्वेष से मुक्त, पूर्ण विकसित भावो के शत-शत दलो से रजित हृदयकमल भी है और 'स्फटिक शलाका' जैसे पारदर्शक सार-भूत स्फुट वचनो का उच्चारण करनेवाला मुख कमल भी। तमिए के महाकवि कबन् की "नाद वण्डार्क्कुम् वेण्डामरै नायकि" (सरस्वती उस कमल की अधिष्ठात्री है जिसमे नाद भ्रमर झंकार करते रहते हैं।)

> 'आय कलैक ळरपत्तु नान्किनैयु
> मेय वुणर्विक्कु मेन्नम्मै—तूय
> वुरुप्पळिङ्गुपोल्वाळेन्नुळ्ळत्ति नुळ्ळे
> यिरुप्पळिङ्गु वरा तिटर्।

[शरणागतों को चतु षष्टि कलाओं का औचित्य-पूर्वक बोध करानेवाली, परिशुद्ध स्फटिक-जैसी निर्मल मेरी माँ सरस्वती मेरे हृदयान्तराल में निवास करती है। अतः मेरी ग्रंथ-रचना में कोई विघ्न नही होगा।]

> "कमलासनस्तेविचेष्चोर्दार्
> तन्द वेन् मनत्ता मरैयाट्टि...."

[मेरे मनोकमल पर आसीन होकर उसे शासित करनेवाली, श्रेष्ठ वचनावलियों को प्रदान करने-वाली कमलासनी....]

ये पंक्तियाँ उपरोक्त भाव को पुष्टि करती हैं। वाणी के हाथ की पुस्तक मे संसार-भर की सारोक्तियाँ भरी हुई हैं—[आवळ कय्य पुस्तक-दोळिर्पुदु लोकद सार सूक्ति।]

मानव जीवन ही वाणी के हाथ की वीणा है। अन्त करण ही जीवन-वीणा मे बन्धे तार हैं। वाग्देवता की चटुल उँगुलियाँ उन तारो का स्पर्श करती हैं, तो काव्यो की अनत राग-रागिनियाँ झंकृत हो उठती हैं।

इसी भाव को आधुनिक यंत्र-युग के परिवेश मे नवीन रूप देकर कवि गाता है—

> 'योजन गळावेयोळु एलिनयो जनियान्तु
> मिचिनणुगळनेरि, सकल दिङ्मण्डलव
> सचरिमुनन्तरदि मौनदि मिडियुतिह
> सोजिगद गीतवनु हिडियुतुज्वल गोळिसि
> श्रोत्रपथवेदि सुव यत्रदोलु हे कविये।'

हे कवि! सैकड़ों योजन दूर कहीं जन्म लेकर, विद्युदणुओ पर आरूढ हो सकल दिङ्मण्डलो में सचरण करते हुए, अन्तरिक्ष के अन्तराल मे चुपचाप झकृत होते रहनेवाले विस्मयकारी गीतों को पकड़कर उज्ज्वल बनाकर श्रुतिपथ मे लानेवाले यत्र (रेडियो) जैसे एक यंत्र हो तुम।

इस प्रकार वैदिक युग से लेकर आज के यांत्रिक युग तक सस्कृत तथा संस्कृतेतर देशभाषाओ में कवियो ने अपने-अपने सारस्वत साक्षात्कार कर

अनुसार उसकी विविध प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की हैं।

हिन्दी के आदि काव्य 'पृथ्वीराज रासो' में उसके कवि चंदवरदायी ने सरस्वती की स्तुति निम्नप्रकार की है—

मुक्ताहार विहार, सार
सबुधा अबुधा बुधा गोपिनी,
सेत चीर सरीर नीर
गहिरा गौरी गिरा जोगिनी।
वीणापाणि सुवानि जानि
दधिजा हंसा रसा आसनी
लम्बोजा चिहुरार भार
जघना विघना घना नासिनी।

जिसके वक्ष पर मुक्ताहार विहार करता है, वह बुद्धि की तत्व-स्वरूपा है। मूर्ख भी अगर उसकी उपासना करे तो उनकी बुद्धिहीनता को अच्छादित कर उन्हें पंडित बनाती है, उनकी रक्षा करती है, वह श्वेताम्बरा तथा 'नीर शरीर' अर्थात् अपार कान्तियुक्त शरीरवाली है, वही गौरी सरस्वती योगिनी स्वरूपा है, वह वीणापाणि, श्रेष्ठ वचनावलियों की नियामिका है, स्वयं लक्ष्मी स्वरूपा भी है, हंस (निर्मल हृदय) तथा रसना (जिह्वा) पर विराजनेवाली है, विघ्न-विनाशिनी है।

चंदवरदायी को यह सरस्वती की प्रतिमा की प्रतिभा व्यापक अर्थवत्ता के कारण अमूल्य है। इसके बाद तुलसीदास को छोड़कर अन्य प्राचीन हिन्दी कवियों ने सरस्वती प्रतिमा की प्रतिष्ठा कम की है। जिन एकाध कवियों ने की भी है, वे घिसी-पिटी जड़ मूर्तियाँ मात्र रह गयी हैं। उदाहरण के लिए आचार्य केशवदास की—

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय
ऐसी मति कहौं धौं उदार कौ की भई
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तपवृद्ध
कहि कहि हारे सब कहि न केहूँ लई।

इस मूर्ति में शब्दाडंबर के अतिरिक्त न कोई सारस्वत तत्व व्यंजित हुआ है, न कवि का कोई साहित्यादर्श। इस दिशा में गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणीस्तुति विशिष्ट अर्थवत्ता के कारण अमूल्य और असदृश है—

'वर्णानां अर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ॥'

—वर्णों, अर्थसमूहों, रसों, छंदों तथा समस्त मंगलों के विधायक वाणी और विनायक दोनों की वंदना करता हूँ।

यहाँ वर्ण मूलध्वनि तथा शब्दों के द्योतक हैं, शब्दार्थों की संपृक्ति से ही काव्य में विद्युत्स्फुरण होता है, प्राण संचार होता है। छंदों से काव्य शरीर में सौष्टव के साथ ही गेयता का समावेश भी हो जाता है, रस उसकी आत्मा है ही। सर्व-मंगल काव्य का ध्येय है। इन सबके विधायक हैं वाणी और विनायक।

तुलसीदासजी ने सरस्वती को वाक् के रूप में और विनायक को वाक् के आश्रय वाङ्मय के रूप में देखा है। जैसे श्रुति में "त्वं वाङ्मय-स्त्वं चिन्मयः" कहा है। गणपति सहस्रहोम-पद्धति में आनेवाले "पंचाशन्मात्रिकालयाय स्वाहा, सप्त छन्दोनिधये नमः स्वाहा, सरस्वत्या-श्रयाय नमः स्वाहा, गद्यपद्य सुधार्णवाय नमः स्वाहा" जैसे गणपति परक मन्त्रों से भी स्पष्ट होता है कि विनायक वाङ्मय है, सरस्वती का आश्रय है। काव्यारंभ में संकल्पसिद्धि के लिए उन दोनों की एक साथ वन्दना उचित ही है।

"आखर अरथ अलकृत नाना,
छद प्रबध अनेक विधाना
भाव भेद रस भेद अपारा
कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा"

इन पक्तियो मे कवि ने वाग्देवी के अग प्रत्यगों का निर्देश किया है। इस प्रतिमा मे तुलसी के काव्यादर्श की व्यजना भी हुई है।

तमिळ वाङ्मय में कबन के पहले शायद कवियो ने सरस्वती की विशद स्तुति नहीं की है। तिरुक्कुरळ मे शब्दार्थ-सम्बन्धी तत्वों के विवेचक कई सुन्दर कुरळ हैं। उनमे सारस्वत तत्व का निरूपण भी हैं। फिर भी अलग सरस्वती की स्तुति नहीं मिलती। कबन ने अपनी रामायण के अतिरिक्त सरस्वती की स्तुति के लिए *'सरस्वती अन्तादि' नाम से लगभग तीस पद्यो* का पूरा एक काव्य ही लिखा है, जिसमें उसका सारस्वत दर्शन विविध रूपो में व्यजित हुआ है। केवल देव मानव ही नही, प्राणिमात्र के अन्तर में प्रज्वलित ज्ञानज्योति के रूप में उसने सरस्वती के दर्शन किये हैं—

तेवरुतेय्वप्पेरुमानुनान् मरैंचेप्पुकिन्र
मूवरुन्तानवराकियुळ्ळोरुमुनिवरुम्
यावरुमेनैयवेल्लावुयिरुमितपवेळुत्त
पूवरुमातिनरुळ् कोण्डु ज्ञानम् पुरि किन्रते।

समस्त देवता, उनके अधिपति इद्र, चतुर्वेदों से [प्रतिपादित ब्रह्म, विष्णु, महेश नामक त्रिमूर्ति, दानव, मुनिगण आदि ही नही, अन्य समस्त जीवजन्तु भी श्वेतकमलासनी सरस्वती की कृपा से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं।] उसकी कृपा के प्रकाश में हम जिस किसीकी भी मनस्थितियो को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, उनका परिशीलन कर सकते हैं—"एव्वेवर् चिन्तनैयुम् शोतिक्कल् आम्" उसके चरणों की धूल पाकर "उरै पोतिक्कल् आम्" जिस किसीको भी किसी भी विषय का बोध करा सकते हैं "शेतिक्कला तर्कमारक्ककळ्" प्रतिवादियों के तर्क-सरणियों को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं "शोन्नते तुणिन्तु शातिक्कलाम्" अपने कथन को ही सिद्धान्तित कर सकते हैं, "मुत्ति सानेयुतलाम्" अनायास ही मुक्ति पा सकते हैं।

कन्नड साहित्य में आरभ से लेकर लगभग सभी शब्दशिल्पियों ने चाहे वह जैन हो, वीर शैव हो, वैष्णव हो वाग्देवी के चरणो में अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करके ही वाङ्मय-मदिर मे पदार्पण किया है। इनमे कई प्रतिमाएँ अपनी विशिष्टता के कारण अमर अमूल्य हैं। आदि कवि पप ने—

"परम जिनेंद्र वाणिये सरस्वति,
बेरदु पेण्ण रूपम
धरियिसि निदुदल्तु,
अदुवे भाविसियोदुव केळ्व पूजिपा
दरिसुव भव्यकोटिगे निरतर
सौख्यमनी वुदानद
केरेदपेना सरस्वति
माळ्केमगिल्लिये वाग्विळासमम्।"

कहकर परपरा से भिन्न प्रकार की वाणी की प्रतिष्ठा की है। पौराणिक युग की रूढ कल्पना के अनुसार सरस्वती नारी रूपधारिणी कोई देवता है। इस रूढि के कारण मूर्त से ही चिपके रहनेवालो के हाथो में पडकर सरस्वती "सरसिजाग्रिद्वया, कोमलतर सितागा, घन नितबिनी, पर्वतस्तनी, निबिड नीलालका, ततनाभि गह्वरा, हसन्मुखी, गजगमना" जैसी मासल मूर्ति मात्र

रह गयी। इन मूर्तियों के सब कुछ होने पर भी हृदय नहीं है, उनमें प्राणस्पन्दन नहीं है। अतः जड़मूर्ति मात्र रह गयी है। पंप ने "परमजिनेंद्र की वाणी ही सरस्वती है, वह नारीरूपधारिणी कोई देवता नहीं", यह घोषणा कर परंपरागत जड़मूर्ति का भंजन किया है। उसकी जगह अर्थपूर्ण सजीव प्रतिमा स्थापित की है। "परम जिनेंद्रवाणी ही सरस्वती है" यह सूत्रात्मक शक्ति अर्थों के अनेक वृत्तों के बीच सारस्वती तत्व के बीज-कोष को धारण किये रहनेवाला एक सूक्ष्म निर्वचन है। श्री मुगळि तथा बेंद्र ने इसकी विशद व्याख्या की है—"जिन वह है जिसने अपने अंतर के अरि-षड्वर्ग को परास्त कर दिया है। वह मानस को पंकिल बनानेवाले विकारों से मुक्त है। ज्ञान, शान्ति और आनंद के अपार सागर का अवगाहन कर आया हुआ निर्मल पुरुष है। वही अर्हंत है—समर्थ है। तीर्थंकर है—कल्याणकारी है। विश्वगुरु है। धर्मोपदेश तथा समाज-रचना संबन्धी सूत्रों की घोषणा करने का अधिकार उसीको प्राप्त होता है। ऐसे जिनों में सर्वश्रेष्ठ है—परम जिनेंद्र। ऐसे पूतात्मा की वाणी ही सर्वशुक्ला सरस्वती है।"—'नानृषिः कुरुते काव्यम्' (जो ऋषि नहीं वह काव्य रच नहीं सकता), यह कथन उपरोक्त तथ्य को ही घोषित करता है। 'ऋषति प्राप्नोति सर्वान्, मंत्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसार पारं वा इति ऋषिः', अर्थात् ऋषि वह है जिसने अंतश्चक्षु से संसार का आर-पार देखा है, वहाँ पहुँचा है। रागद्वेष से मुक्त होकर चित्तशुद्धि द्वारा सात्विक ज्ञान प्राप्त करना, जीवन की भिन्नता के बोध के साथ ही साथ उसमें अन्तर्निहित अभिन्नता या एकता का दर्शन कर वैसे ही रहना, यही तो दर्शन है। जिसने यह दर्शन पाया है, वही ऋषि है। उसकी वाणी अकलुषित होती है। काव्यरचना के लिए अपेक्षित जीवन-दर्शन ऋषि को सहज ही सिद्ध होता है। अतएव ऋषि ही काव्य रच सकता है, ऋषि से भी उन्नत स्तर का है परमजिन, वह काव्य रचता नहीं; प्रत्युत वह जो कुछ बोलता है, वह सब काव्य बनता है। अतः परम जिनेंद्रवाणी ही सरस्वती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि जो मुक्त नहीं है, उसे सरस्वती का प्रसाद प्राप्त नहीं होता। ऐसे कितने ही अमुक्त व्यक्ति हैं, जिनपर सरस्वती प्रसन्न हुई है। पंप के कथन का आशय इतना ही है कि सर्वशक्ला सरस्वती का पूर्णावतार—श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति परम जिनेंद्रवाणी में ही होता है। श्रेष्ठतम न होने पर भी उसकी उन्नत अभिव्यक्ति, उसका अंशावतार उनमें भी होता है जिन्होंने अपने ढंग से जीवन-दर्शन प्राप्त किया है। केतकी झाड़ के पत्तों का परिणत रूप ही केतकी पुष्प है। इस परिणति का सूत्रपात बहुत पहले ही हो जाता है। मुक्ति के चरम स्वरूप की तरह उसका प्राथमिक स्वरूप भी होता है। कोई प्रतिभा मात्र से कवि नहीं बनता। उसके लिए व्युत्पत्ति भी अपेक्षित है। व्युत्पत्ति निरा पोथी पांडित्य नहीं। वह मानसिक संस्कार है, संस्कृति है। 'स्व' के घेरे में सभी आत्माएँ घिरी हुई हैं। पशुस्तर के पुरुष में वह घेरा केवल उसके व्यक्तिगत शारीरिक आवश्यकता तक ही सीमित रहता है। जैसे-जैसे उसपर संस्कार होता जाता है, इस वृत्त का आयाम बढ़ता जाता है। उस घेरे में माता-पिता, संतान, परिवार, जाति, धर्म, देश अंतर्भावित होते जाते हैं। जब वह वृत्त इतना विशाल बन जाय कि सारी वसुधा के प्राणी

मात्र के हित-अनहित का समावेश उसमें हो जाय तब वह व्यक्ति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' बन जाता है। उसका चरित उदार बन जाता है। इस क्रम मे वह व्यष्टि-जीवन से बाहर निकल कर समष्टि-जीवन मे अधिकाधिक आसक्ति दिखाते हुए अनासक्त और साक्षी भाव से जगत को देखने, उसका रसानुभाव प्राप्त कर उसमे तन्मय बनने लगता है। ऐसा ही व्यक्ति कवि और साहित्य-कार बनता है। यही सस्कृति है। इस सस्कार का आरभ ही मुक्ति का प्राथमिक रूप है। प्राथमिक मुक्ति से प्रारभ कर कवि जितना ही ऊपर चढ़ता जाता है, उतना ही उसे वाणी की अधिकाधिक सिद्धि प्राप्त होती जाती है। इन दो पराकाष्ठाओ के बीच उसके कई वृत्त होते हैं और कवि इनमें किसी भी वृत्त पर हो सकता है। जो इनमे किसी न किसी वृत्त पर पहुँचकर मुक्त नही हुआ है, उसे सरस्वती का प्रसाद प्राप्त नहीं हो सकता, यही पप के उपरोक्त सूत्र का आशय है।

पप को वाणी की स्त्री-रूप-कल्पना से आपत्ति तो नहीं है। उसे मूर्त से चिपककर अमूर्त की उपेक्षा करने मात्र से चिढ है। अन्यथा, उसने स्वय अपने 'आदि पुराण' मे वाणी को वाग्वधू के रूप मे देखा है। आदि पुराण की यह 'वाग्वधू' आगे की रचना 'पप भारत' में 'अबिका सरस्वती' बनी है—

"क्षयमण मिल्ल, केळ्दु
कडेगडव मावनु मिल्लेनल् तद
क्षय निधि ताने, तन्न मोसेदु
ओलगि पगरिदिल्लेनिप्प वा-
ङ्मयमनितर्कं मबिकें सरस्वति
मन्मुख पद्मरगदए
ळगेय मोडगोंड कोड्
कोनेदीगरिगगें विशुद्ध बुद्धियम्।

[जिस निधि का किंचित् भी क्षय न होता हो, ऐसा भी कोई न हो जिसने उसे सुनकर उसका अन्त देखा हो, तब तो वह (सारस्वत तत्व) अक्षय निधि ही है न? (यही निधि) घोषणा करती है कि 'अनन्य भाव से मेरी उपासना करनेवालों को असाध्य कुछ भी नहीं।' इस प्रकार घोषणा करनेवाली समस्त वाङ्मयो की जननी वह सरस्वती मेरे मुख-पद्म रग पर आरूढ़ होकर प्रसन्न भाव से 'अरिग' को विशुद्ध बुद्धि प्रदान करे।] इन पक्तियों की व्यजना यह है कि सरस्वती अपार अक्षय निधि है। (The Poetry of the earth is never dead—Keats) प्रीत्यादर से अनन्य भाव के साथ उपासना करने-वालो को वह ऐसी सिद्धि प्रदान करती है कि उन्हें असाध्य कुछ भी नहीं रह जाता। वह समस्त वाङ्मयों की जननी है।

प्रथम रचना में जो 'वाग्वधू' थी वह द्वितीय रचना में 'अंबिका सरस्वती' बनी है। यह परिणति पपवाणी की परिणति का भी व्यजक है। 'आदि पुराण' की अपेक्षा 'पप भारत' में उसकी वाणी अधिक प्रौढ, काव्य-कला अधिक परिमार्जित, जीवन-दर्शन अधिक विशद और परिपक्व बने हैं। पप के इस सारस्वत दर्शन का प्रभाव कन्नड के परवर्ती कवियो पर सुदूर तक पडा।

"पद विन्यास विळास मग
विभव चेल्वाद दृष्टि प्रसा
द दोळोंदाद नय मृदूक्तिवनिता
सामान्य वल्लब कु

दद वर्णं ; निजर्वेव रूपे सेमे
नाना भंगियं बेरे ता
ळिद वाग्देवते माळ्के
मन्कृतिगे लोकाश्चर्य चातुर्यमम्"

अभिनव पंप नाम से विख्यात कवि नागचंद्र ने प्रस्तुत पद्य में काव्य की असाधारण रूप रमणीयता और प्रभाव में वाणी की रूप-रमणीयता और शक्ति का साक्षात्कार करते हुए कहा है—पद-विन्यास में विलास, अंगों, वैभव (सौष्ठव) में सुभग दृष्टि प्रसाद के अन्तर्गत नय, उक्ति में मृदुता, इतरवनिता असाधारण अक्षय वर्णवाली, मूलत: एक होने पर भी नाना भंगियों के कारण अनेक रूप दिखाई देनेवाली वाग्देवता मेरी कृति में लोक को आश्चर्यचकित करनेवाले चातुर्य (प्रभाव) को भर दें।

इस प्रतिमा का विशिष्ट अंश उसका 'सुभग दृष्टि प्रसाद' और 'एकरूप होकर भी अनेक रूप दिखाई देना है।' जगत को देखनेवाली दृष्टि अनाविल हो, तो वह सुंदर बनती है, सौंदर्यदर्शन में सहायक बनती है। राग-द्वेष मुक्ति से ही दृष्टि-प्रसाद प्राप्त होती है। (तमिष् कवि कंबन ने भी "ऐम्पुलनैं कर्लकामर् करुत्तै येल्लान्तिरुत्तिय' अपने भक्तों के मन को ऐसा सुधारनेवाली वाणी कि उनके पंचेंद्रियों की स्थिति विचलित न होने पावे' कहकर इसी भाव को व्यक्त किया है) राग-द्वेष से मुक्त मन की अनाविल स्थिति कवि के लिए अत्यंत अपेक्षित संस्कार है। एकरूप होकर भी नाना भंगियों के कारण अनेकरूप दिखाई देनेवाली वाग्देवता साहित्य की विविध विधाओं और स्थितियों को सूचित करती है।

नागचंद्र ने आगे "परिणत कवींद्रों के वदन को आंगन के रूप में और वाग्देवता को उस आंगन में मृदुपदों के विलासमय विन्यास से अलंकरणों का रंजन करते नृत्यरत होकर विविध लास्य भेदों का प्रदर्शन करनेवाली नटी" के रूप में देखा है। अपनी प्रथम रचना को उसने 'वच:श्री नर्तकी' की नृत्य वेदिका' कहा है। यही प्रतिमा उसकी दूसरी रचना 'पंप रामायण' में और भी परिष्कृत रूप में दृष्टिगोचर होती है, यह कन्नड वाङ्मय में ही एक अद्वितीय प्रतिमा है। वह कहता है—

"परब्रह्म शरीर पुष्टि, जनतांतर्दृष्टि, कैवल्य बोधरमा मौक्तिक हार यष्टि, कवितावल्ली सुधा वृष्टि, सर्वरसोत्पाद नवीन सृष्टि, बुध हर्षाकृष्टि, सर्वांग सुंदरी, विद्यानटी के नाटक का सफल अभिनय सत्काव्य रंग-स्थली-रंग में संपन्न हो।"

यहाँ विद्यानटी (वाग्देवी) के विशेषणों में प्रथम विशेषण 'परब्रह्म शरीर पुष्टि' है। जगत् ब्रह्म का व्यक्त रूप है—उसका शरीर है (यस्य पृथिवी शरीरं) सरस्वती से प्राप्त होनेवाले रसात्मक आनंद के अन्न से ही विश्वशरीर का पोषण होता है। क्योंकि भौतिक अन्न ही केवल पोषक नहीं रसात्मक आनंद भी पोषक है। दूसरी बात यह है कि सरस्वती जनतांतर्दृष्टि है—जन साधारण का अन्तश्चक्षु है। क्योंकि जीवन और जगत के सत्य, सौंदर्य का दर्शन केवल अन्तदृष्टि से ही संभव है। बाह्य दृष्टि को दिखायी देनेवाली भिन्नता और विविधता के अन्तर्निहित अभिन्नता और एकरूपता का दर्शन जनता को साहित्य ही कराता है। राग-द्वेष से मुक्त होकर, मन में

प्रासादिकता प्राप्त कर, मानव जब स्थितप्रज्ञ बनकर साम्य स्थिति में रहता है, तभी उसकी अन्तर्दृष्टि खुलती है। जिस शब्दशिल्पी की अन्तर्दृष्टि खुली है वही अपने वाङ्मय द्वारा जनता की अन्तर्दृष्टि भी खोल सकता है। तीसरी बात यह है कि सरस्वती कैवल्य ज्ञानरूपी लक्ष्मी के कंठ का मुक्ताहार है। कैवल्यज्ञान तुरीय मुक्तावस्था में प्राप्त होनेवाला ज्ञान है—सत्-चित् है। वह स्वयं सुंदर है तथापि सत् चित् में जब सरस्वती अर्थात् रसात्मक सरस आनंदतत्व का समावेश होता है, तब उसका सौंदर्य शतगुण हो जाता है। इनके अतिरिक्त काव्यवल्लरी को समृद्ध बनानेवाली सुधावृष्टि—नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा भी है सरस्वती। वह सर्व-रसात्मक एक नवीन सृष्टि ही रचती है। जीवन की विविधता का चित्रण, समग्र दर्शन, उसकी अगाधता, विशालता का निरूपण 'सर्व-रसोत्पाद' से ही संभव होता है। वाणी सहृदयों को आकर्षित करनेवाली शक्ति है। नागचंद्र की प्रथम काव्य-कृति में वाणी नृत्य करनेवाली 'वच:श्री नर्तकी' मात्र थी। वही द्वितीय काव्य में महानाटक का संचालन और अभिनय करनेवाली विद्यानटी के रूप विकसित हुई है। ठीक है—शिल्पी का हाथ ज्यों-ज्यों मँजता जाता है उससे निर्मित होनेवाली कलाकृति त्यों-त्यों उत्कृष्ट और परिष्कृत होती जाती है।

'शब्द मणिदर्पण' नामक कन्नड व्याकरण-ग्रंथ के रचयिता केशिराज ने वाग्देवी का साक्षात्कार कुछ और ही रूप में किया है। रूप, रस, गंध, स्पर्श क्रमश: चक्षु, रसना, घ्राण और त्वचा इन्हीं इन्द्रियों के विषय हैं। भिन्न भिन्न इंद्रियों को केवल उन्हींका विषय गोचरित होता है। एक का विषय दूसरी को नहीं। परन्तु वाग्देवी शब्दों के द्वारा समस्त इंद्रियों के विषयों को एक कर्णेन्द्रिय में लाकर खड़ा करके उनका साक्षात्कार कराती है, प्रत्यक्ष अनुभव कराती है—

> "श्री वाग्देविगे शब्ददि नावाग्द्रियद
> विषयम श्रोत्र दोळ्
> द्भाविप निर्मल मूर्ति गिळावधेगे
> शास्त्र मुख दोळवनतन नप्पेम् ।'

वीरशैव कवियों ने वाणी को गौरी में अन्तर्भावित करके देखा है। कालिदास-विरचित समझे जानेवाले श्यामलादंडक में भी यही बात है। इन सबसे स्पष्ट है कि वाणी की इन विविध प्रतिमाओं के द्वारा इनके निर्माताओं का कैसा महान जीवन और साहित्यिक दर्शन व्यंजित होता है।

★

जो भाषा (अंग्रेजी) हमारे मन में नौकरी की वृत्ति पैदा करती है जिसको पढ़ने से श्रम और खेती से नफ़रत पैदा होती है उस भाषा से स्वराज्य के बाद भी लोगों को इतना मोह क्यों है, यह बिलकुल समझ में नहीं आता। —आचार्य विनोबा भावे

प्रो० ना. नागप्पा, एम.ए.,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय
मानस गंगोत्री, मैसूर-6

हिन्दी भाषा के नासिका-स्वर और व्यञ्जन

सभा की शिक्षा दीक्षा के प्रति निष्ठावान सभा के बुजुर्ग प्रवर्तकों में आप भी स्मरणीय हैं। विविध हैसियत से सभा की दीर्घ-कालीन सेवा के साथ साथ मैसूर राज्य के शिक्षा-पाठ्यक्रम में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में भी आपका सक्रिय सहयोग रहा है। मैसूर विश्वविद्यालय के प्रथम हिन्दी प्राध्यापक, प्रोफसर तथा स्नातकोत्तर शोध-छात्रों के पथ-प्रदर्शक होने का श्रेय आप ही को प्राप्त है। अलावा इसके दक्षिण व उत्तर की विविध सरकारी गैर-सरकारी हिन्दी शिक्षा-साहित्य संस्थाओं के सर्जन-कार्यों में भी आपका सतत सहयोग उल्लेखनीय है। हिन्दी तथा द्राविड भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आपका प्रियंकर विषय है।

(1) हिन्दी में अनुस्वार, अनुनासिक भिन्न-भिन्न हैं।

(2) दक्षिण भारत में 'अर्धानुस्वार' हाफ़नैज़ल) शब्द अनुनासिक स्वर के लिए प्राय: चल पड़ा है। यह ग़लत है।

(3) इस लघु निबन्ध का उद्देश्य अनुनासिक स्वर और अनुनासिक व्यञ्जन में स्पष्ट अन्तर बतलाकर उनके प्रयोग पर दृष्टिपात करना है।

1. 'अनुनासिक' शब्द विशेषण है और 'अनुस्वार' संज्ञा। निम्न शब्द देखें :—

लिखित रूप	उच्चारण	लिखित रूप	उच्चारण
अंगरखा	अङ्गरखा	सूंघना	सूङ्घना
घुंघची	घुङ्घची	बिंदिया	बिन्दिया
बुंदेली	बुन्देली	सिंघाड़ा	सिङ्घाड़ा
इंगुर	इङ्गुर	गेंद	गेन्द

2. इन शब्दों में नासिका व्यञ्जन का उच्चारण है।

(अ)	(आ)
हँसी	हम्स (दक्षिण भारत का उच्चारण) (हंसपक्षी)
(हास्य)	हन्स (उत्तर भारत का उच्चारण)

दांत (चबाने का)	दुर्दान्त (जैसे 'दुर्दान्त दस्यु')
पांख	पख (पङ्ख) [पक्षी के पर]
आंख	अक (अङ्क) (Marks)
पांच	पांचजन्य (पाञ्चजन्य)
गूंधना	गूगा (गूङ्गा)
चांचरी	(चचल) चञ्चल ['चन्चल' वत् इन दिनों उच्चरित]
कांटा	कटक (कण्टक) [कन्टक' वत् इन दिनो उच्चरित]
घूंट	घटा (घण्टा) [घन्टा वत् इन दिनों उच्चरित]
बंधना(V) बंधनी(N)	बाधना (बान्धना) (V)
सांप	कप (कम्प)
कंपकंपी	कबर (कम्बर)

'अ' वर्ग के शब्दों में नासिका स्वर उच्चरित हैं। 'आ' वर्ग के शब्दों में नासिका व्यंजन उच्चरित हैं —

[नोट —V=Verb क्रिया। N = Noun संज्ञा]

3 प्राय शब्दो के अन्त मे नासिका स्वर का उच्चारण होता है।

नासिका स्वर और व्यजन	लिखित रूप	उच्चारण
हों	होंगे	(होङ्गे)
दूं	दूंगा	(दूङ्गा)
चलें	चलेंगे	(चलेङ्गे)
करूं	करूंगा	(करूङ्गा)
मां	मांग	(माङ्ग)
हां	कहूंगा	(कहूँङ्गा)
में	मेंढक	(मेण्ढक) [मेनढ्क]
मैं हूं	हूंगा	(हूङ्गा)

4 नासिका स्वर (i) क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ; प, फ' के पूर्व और

(ii) य, र, ल, व, श, स, ह के पूर्व प्राय आता है।—

जैसे —(i) आंकना, पांख, आंच, छेंछ; कांटा, गांठ, तांता, मेंथी, कांपना, सौंफ

(ii) हवा सांय् सांय् करके कहती थी।

जा जा रे भौंरा दूर दूर!

संलाप (उच्चारण सँल्लाप)

कँवल, आँवला, साँवला
सँवत (सँव्वँवत्—जैसा कभी-कभी उच्चरित)
सँयम (सँय्यँयम्—जैसा उच्चारित)
बाँस, साँस, फ़ाँसी, झाँसी की रानी,
सौंह, भौंह

5. पंडितवर सिद्धगोपाल "काव्यतीर्थ" का अभिमत है कि—

"वर्ग के तृतीया, चतुर्थ और पंचम वर्ण आगे आने पर [नासिका] स्वर का उच्चारण संभव ही नहीं है, बलात् उसके आगे अनुनासिक व्यञ्जन आ जाता है, यथा चान्द, पाण्डेय, अम्बा आदि। [उपर्युक्त बातें पूज्यवर पं० सिद्धगोपाल जी के लेख "अनुस्वार और अनुनासिक : हमारी लेखन-पद्धति की एक बड़ी अशुद्धि"—'भाषा' त्रैमासिक, सितंबर, 1968, लिपि-विशेषाङ्क : पृष्ठ 219, 220, 221, 222, व 200 से ली गयी हैं।]

6. [V के नियम में संशोधन] प्रायः देखने में आता है (सुनने में भी आता है) कि प्रथम अक्षर (Syllable) का उच्चारण तना हुआ (Tense) होने पर नासिका स्वर और ढीला (lax) होने पर नासिका-व्यंजन का उच्चारण होता है। जैसे :—

नासिका स्वर	लिखित रूप
बँधना	बाँधना ('बान्धना' वत् उच्चरित)
सँजोना	साँझ
अँजना	आँजना ('आञ्जना' या 'आन्जना' वत् उच्चरित)
रँगाना	रंग

तेंदुवा इसका उच्चारण 'tedua होगा, tendua' नहीं होगा।
अँधेरा अन्धकार (अंधकार)

नोट :—अँधेरा, गँवार, छँटना—में नासिक स्वर का उच्चारण होगा।
[जैसे घर-घर में दीवाली है, घर-घर अँधेरा]

7. [II] में अंक जैसे शब्द 'अङ्क' वत् भी लिखे जा सकते हैं।

(1) पर मानता है (मान्ता है), भानजा (भान्जा), कानूनगो (कानून्गो), जनता, सनकी-जैसे शब्दों में 'न' के स्थान में 'अनुस्वार' चिह्न नहीं लिखा जाता।

(2) इसी तरह समता, (जम्ता है) जमता है, सिमटना (सिमट्ना), सिमटा (सिम्टा) समझना (समझ्ना), समझा (सम्झा)—जैसे शब्दों में 'म्' के स्थान में अनुस्वार नहीं लिखा जाता।

8 पर निम्न-लिखित शब्दों में अनुनासिक और अनुस्वार—जो चाहे लिखा जाता है। जैसे :—

सुदरी	सुन्दरी
निंदा	निन्दा
अटसट	अण्ट सण्ट
घटा	घण्टा
चद्र	चन्द्र
पंखा	पङ्खा
भंजन	भञ्जन
पंपा	पम्पा

नोट :— (1) डम्बल, बण्डल, सिमेण्ट, बङ्क, गुम्बज, चन्द, जिन्दा जैसे विदेशी शब्दों को भी डंबल बंडल, सिमेंट, बंक, गुबज, चद, जिंदा जैसे लिखते हैं।

(2) परन्तु मुन्ना, अम्मा, तुम्हारा-जैसे शब्दों को मुना, अंमा, तुंहारा-जैसे नहीं लिखते।

9. कतिपय शब्दों में नासिकता हटा दीजिए, हिन्दी शब्दों का अर्थ ही बदल जाता है। इसलिए नासिका-उच्चारण कहाँ होता है, कहाँ नहीं होता—इसकी स्पष्ट जानकारी अपेक्षित है।

उदा :—सास (पत्नी या पति की माँ)/साँस (श्वास)
काजी (मुसलमान न्यायकर्ता)/काँजी (खटाई की बूँदें जिनके दूध में मिलने से दूध फट जाता है।)

जैसे :—कबहुँ कि काँजी-सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ ?
पूछ (प्रश्न कर)/पूँछ (लांगूल)
बटना (रस्सी का बटना/बँटना (भाग होना)

जैसे :—बाप के मरने पर बेटों मे जायदाद बँट गई।
नाद (ध्वनि)/नाँद (tub) (जिसमे मवेशी का खाना याने दाना-पानी, घास आदि डाला जाता है।)

10. कतिपय स्थितियों में अनुनासिक के बाद के व्यञ्जन का उच्चारण बदल जाता है।

जैसे :—

लिखित रूप	उच्चारण
बाह्यांग (बाह्याङ्ग)	बाह्याङ्ङ
संभालना, सँभालना	सम्हालना (विकल्प से)
बांग (बाङ्ग)	बाङ्
गुण	गुंङ्

	गणेश	गँड़ेश
	बाण	बाँड़
	सिंह	सिङ्घ
पर सर्वत्र नहीं—	संशय	सन्शय
	संयोग	सन्योग (सञ्योग)
	अंडा	अन्डा

11. कतिपय शब्दों में एक वर्ण का नासिका-उच्चारण न करके दूसरे वर्ण का नासिका-उच्चारण करने से अर्थान्तर हो जाता है।

    गवाऊँ [का मैं भाई से गीत गवाऊँ?]

    गँवाऊँ [अब मैं नाटक की तैयारी होने तक का समय कैसे गँवाऊँ?]

12. कुछ शब्दों में स्वर के पूर्व नासिका स्वर का उच्चारण होता है। जैसे :—

    धुँआ, कुँआ, गुसाँई, कुँअर, बाँए

13. कहीं-कहीं नासिका व्यञ्जन को लिये हुए शब्द में निरनुनासिक ध्वनि का भी नासिक उच्चारण होगा :—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
ग्राम	ग्राँम
काम	काँम
कान	काँन
धान्य	धाँन्य
नाक	नाँक
न्याय	न्याँय

[कतिपय विद्वानों का मत है कि हिंदी में निरनुनासिक 'न' कार ध्वनि भी है। राष्ट्र-भाषा परिषद्-पत्रिका, पटना की पुरानी फाईल में इस रोचक विषय पर एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। जिज्ञासु पाठक इस लेख का अवलोकन करके इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।]

14. 'अहम्' 'स्वयम्' जैसे संस्कृत शब्दों में अन्तिम 'म्' के स्थान में अनुस्वार नहीं लिखते। परन्तु कतिपय विदेशी शब्दों में 'ँ' या 'न्' विकल्प से लिख सकते हैं—बोलते भी हिन्दी में ऐसे ही हैं। जैसे—

    ख़ाँ साहब (ख़ान् साहब), खूँख़्वार (खूनख़्वार), परदानशीं (परदानशीन्) ज़मीं (ज़मीन), वीराँ (वीरान)।

15 'ड़', 'ढ' के पहले नासिक स्वर और 'ड', 'ढ' के पूर्व नासिका व्यञ्जन का उच्चारण होता है। जैसे —

	घंडहर-दंडवत्	
रांड़-रंडी	डांड़ा-डंड़ा	पंडित
भांड-मंडप	सांड़-शांडिल्य	कुंडली
सांड-कांड	सूंड-शुण्ड	चांडाल

नोट:—पंढरपुर, ढिंढोरा, ढूंढा, धुंढाड़ी (राजस्थानी की एक बोली)

यहाँ रां, मां, सां—मे 'आं' का ढीला (Lax) उच्चारण होता है। याने इन शब्दो में 'आं' के उच्चारण में गले की नसो में तनाव नहीं होता। इसलिए इन ध्वनियों के बाद 'ड' का उच्चारण होता है रंडी, मंडप, कांड—जैसे शब्दों में रं, मं, कां के अन्तर्गत 'अं, अं, आ' स्वरों के उच्चारण में गले की नसों मे तनाव होता है।

16 (i) तात्पर्य यह है कि नासिक स्वर और नासिक व्यञ्जन हिन्दी में भिन्न-भिन्न हैं, जैसे:—
'खांड' मे 'आं' नासिका स्वर है। 'खंड' या 'खण्ड' मे 'ण्' नासिका व्यञ्जन है।

(ii) हिंदी मे प्रचलित ठेठ संस्कृत शब्दो मे अर्थात् तत्सम शब्दों में नासिका स्वर नहीं आता, नासिका व्यंजन ही आता है। जैसे:—पडित, कुडली, प्रचंड, कुंड, खड।

(iii) प्राय: (अ) शब्दों के अन्त में (आ) क, ख; च, छ; ट, ठ, त, थ, प, फ; य र, ल, व, स, ह और (इ) स्वरों के पीछे नासिका-स्वर का उच्चारण (ये स्वर साधारणतया तनाव को लिये हुए उच्चरित होते हैं) होता है। जैसे —

(अ) वहाँ, कहाँ, जहाँ, यहाँ, हां, हूँ, सों, खो, लें, दें, दूं, लूं, मानों, ज्यों का त्यों, जाऊँ, सोऊँ।

(आ) कांखना, जांचना, भोंपा, चौंकना, कांटछांट, कतरब्योंत, कँपड़ी, सौंफ, बांया, बौंर, सँलाप, सेवैंय्या, आंसू, भौंह।

(इ) सांई, सांई, कुँआ........

(iv) साधारणतया ग, घ, ज, झ; ड, ढ, द, ध, ब, भ के पूर्व नासिक व्यञ्जन का उच्चारण होगा। (इस नासिक व्यञ्जन की ध्वनि के उच्चारण मे गले की नसों में तनाव प्राय. नहीं होता। जैसे.—गडा, झडा, गूगा, गाधी, अंजन।

(v) नासिका स्वर ['ँ'] और नासिका व्यजन ['ं']—यो लिखना उचित है। अर्थात् लिखते समय नासिका स्वर और नासिका व्यंजन का अतर स्पष्ट बताना वाछनीय है।

यह लेख तैयार करने में निम्न-लिखित लेख एवं पुस्तकों से सहायता प्राप्त की गयी है :—

(1) 'भाषा'—त्रैमासिक—शिक्षा-मन्त्रालय (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार—लिपि-विशेषांक—सितंबर, 1968 ; वर्ष आठ—अंक एक—
हमारी लेखन-पद्धति की एक बड़ी अशुद्धि—पं. सिद्धगोपाल [pp 219-222 ; p. 200]

(2) Studies in Hindi—Urdu—by Dr. Ashok R. Kelkar, Deccan College Post-graduate Research Institute 1968—'The Problem of nasal consonants and nasalization' (pp. 33-39)

(3) A Basic Grammar of Modern Hindi—Government of India—Ministry of Education and Scientific Research 1958 ; [Chapter VI : The Anusvar and Nasalization : pp. 11-12].

भाषा माता के समान है। माता पर हमारा जो प्रेम होना चाहिए वह हम लोगों में नहीं है। यदि हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी, तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। —**महात्मा गांधी**

जैसा समाज, वैसी भाषा। भाषा-सागर में स्नान करने के लिए पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर से पुनीत महात्मा आएँगे, तो सागर का महत्व स्नान करनेवालों के अनुरूप होना चाहिए। —**महात्मा गांधी**

मुझे खेद तो यह है कि जिन प्रांतों की मातृभाषा हिन्दी है, वहाँ भी उस भाषा की उन्नति करने का उत्साह दिखाई नहीं देता। मेरा नम्र, लेकिन दृढ अभिप्राय है कि जब तक हम हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय और अपनी-अपनी भाषाओं को उनके योग्य स्थान नहीं देते, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं। —**महात्मा गांधी**

मैं सच कहता हूँ, जब तक आपके देश का कार्य और शिक्षा का प्रसार हिन्दी के माध्यम से नहीं होगा, यह देश वास्तविक उन्नति नहीं कर सकेगा।

—**डॉ मे. पी. चेलिशेव (रूसी हिन्दी प्रोफ़ेसर)**

इंदरराज बैद 'अधीर'
बी एस सी, एम ए,
आकाशवाणी, मद्रास

कहावतें और भारतीय भाषाओं की एकात्मकता

राजस्थानी होते हुए भी आप दक्षिण को अपनी पालनभूमि मानते हैं। आपको दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा संचालित विश्वविद्यालय के प्रथम स्नातकोत्तर सत्र में सर्वाधिक अंक प्राप्त स्नातक होने का श्रेय प्राप्त हुआ है। संप्रति आकाशवाणी के मद्रास केन्द्र से आप संबद्ध हैं। बहुभाषाध्ययन के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि है। मद्रास के सृजनात्मक हिन्दी-लेखक-मण्डल में आप भी एक युवा भागीदार हैं।

जलवायु, जाति, धर्म और भाषागत-भेद के बावजूद भी भारतवासियों का स्वरूप सदा एकात्मक रहा है। इसका मूल कारण हमारी सांस्कृतिक अभिन्नता है। आसेतुहिमाचल सारे राष्ट्र की सांस्कृतिक मान्यताएँ समान ही रही हैं। भारतवर्ष की संस्कृति सूर्य के श्वेत आलोक के समान है। जिस प्रकार सूर्य के श्वेत आलोक में सप्तवर्ण अंतर्निहित रहते हैं, उसी प्रकार हमारी संस्कृति में भी विविध जातियों, धर्मों और भाषाओं का समाहार हो गया है।

किसी भी राष्ट्र की संस्कृति के दर्शन हम उस राष्ट्र की भाषाओं और उनके साहित्य में ही कर सकते हैं। भाषा विचारों की वाहिका और साहित्य समाज और संस्कृति का दर्पण होता है। दैनंदिन जीवन की अंतरंग अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम लोक-साहित्य है। किसी भी देश के लोक-साहित्य में ऐसी अनेकानेक मणियाँ बिखरी मिलेंगी जिनमें जीवन और जीवन के अनुभवों का प्रकाश झलकता है। ये मणियाँ हो कहावतें हैं, लोकोक्तियाँ है। मनुष्य के जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं, जिनका अनुभव उसके सारे जीवन को और अनंत काल तक समाज के जीवन को प्रभावित किए रहता है, ऐसे अनुभवों की शाब्दिक अभिव्यक्ति का नाम ही कहावत है।

कहावतों की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। पाश्चात्य विद्वान सर्वेंटीस के अनुसार—'कहावतें वे वाक्य हैं, जो जीवन की दीर्घकालीन अनुभूतियों को अंतर्निहित किये हुए हैं। डा० सत्येंद्र के

अनुसार—"लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिनमें बुद्धि और अनुभव की किरणें फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है।" (हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, द्वितीय संस्करण, पृ. 754) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है कि "लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं।" (साहित्य संदेश, वर्ष-16 अंक-12, पृ. 445) उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि कहावतों का संबंध जीवन के अनुभवों से है। लोकोक्ति एकांत सृजन की वस्तु नहीं है, उसका निर्माण तो संसार के टकसाल में, जीवन के दैनंदिन कार्य-व्यापारों के बीच होता है। भाषाविदों और साहित्य-सृजेताओं की कल्पनाओं ने नहीं, अपितु "जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकताओं ने कहावतों को जन्म दिया है।" (डॉ० कन्हैयालाल सहल, राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन, पृ. 38)

जीवन की सच्चाई को कम से कम शब्दों में उद्घाटित करनेवाली कहावतों का बोली में वही स्थान है, जो स्थान नमक का भोजन में होता है। (ए प्रोवर्ब इज़ टू स्पीच, वॉट साल्ट इज़ टू फूड—'नेशनल प्रोवर्स'—अब्दुल हमीद) संसार की सभी भाषाओं में कहावतों के महत्त्व को स्वीकारा गया है। कहावत सत्य और यथार्थ को व्यक्त करनेवाली उक्ति है, उसमें मिथ्या या काल्पनिक कुछ नहीं होता। रूस, चीन, जर्मन आदि अनेक देशों के लोगों की यही मान्यता है। भारत में भी कहावतों के यथार्थ को अनुभूत किया गया है। कन्नड़ भाषियों की दृष्टि में वेद मिथ्या हो सकते हैं, पर कहावतें नहीं। (वेद सुळ्ळादरु' गादे सुळ्ळादीते।) मलयालम में इस आशय की उक्ति प्रचलित है कि जिस दिन कहावत झूठी सिद्ध होगी, उस दिन दूध खट्टा हो जाएगा। दूध का खट्टा होना असंभव है तो कहावत का मिथ्या होना भी संभव नहीं है। तात्पर्य यह है कि देश-विदेश के सभी भाषाभाषियों ने कहावतों की प्रामाणिकता और उनकी प्रभावोत्पादकता का समर्थन किया है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि लोक-साहित्य लोक-जीवन की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। लोक-जीवन का जितना स्पष्ट चित्र हमें कहावतों और लोकोक्तियों में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। सामाजिक आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, रीति-नीति आदि से संबद्ध ऐसे कई मार्मिक प्रसंग होते हैं, जिनका स्मरण भविष्य के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित हो जाता है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी कहावतों का अपना महत्त्व है। किसी भाषा के विगत स्वरूप का अध्ययन करने के लिए कहावतों का सहारा लेना नितांत आवश्यक हो जाता है। किसी बोली के स्वरूप का उसकी प्रकृति का और उसमें होनेवाले परिवर्तनों का परीक्षण कहावतों और मुहावरों के माध्यम से सरलता से किया जा सकता है। इस प्रकार कहावतों का अध्ययन साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से तो उपादेय होता ही है, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्व का होता है। अस्तु!

यों संसार के प्रत्येक देश में कहावतों का न्यूनाधिक प्रचलन है, फिर भी इस परिप्रेक्ष्य में भारत भूमि अत्यंत उर्वरा मानी जा सकती है।

श्री आर सी टेंपल ने अपनी पुस्तक—'ए डिक्शनरी ऑफ हिंदुस्तानी प्रोवर्ब्स' की भूमिका म यह विचार व्यक्त किया है कि स्पेन की तरह भारत भी कहावतों का देश है। भारत में दजनो भाषाओं, बीसों उपभाषाओं और सैकड़ों बोलियों उपबोलिया का प्रचलन है। कहा भी गया है 'कोस-कोस पर पानी बदले, चार कोस पर बानी।' इस हिसाब से सैकड़ों बोलियों और उनमें व्यवहृत सहस्रो लोकोक्तियो का अनुमान हम सहज ही लगा सकते हैं। भारत की प्रत्येक भाषा के अपने परिवेश में कहावतो की उत्पत्ति बहुलता से हुई है। सस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत, हिंदी, तमिल, तेलुगु आदि सभी पुरातन नूतन भाषाओं में असख्य कहावतें प्रचलित हैं। चूंकि कहावतों का सबध मनुष्य की प्रकृति से होता है, अत भाषाई वैविध्य होते हुए भी उनमे कोई तात्विक भेद नहीं पाया जाता। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही कहावत को कई भाषाओ में रूपातरित कर लिया गया है। हिन्दी की उपभाषाओं में तो प्राय ऐसा पाया जाता है, हिंदी अहिंदी भाषाओ की कहावतो में भी किंचित् भाव साम्य लक्षित होता है। इसलिए भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से हिंदी की उपभाषाओं के अध्ययन की ओर सास्कृतिक दृष्टि से हिंदी अहिंदी भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलन की नितात आवश्यकता है।

जीवन का हर पार्श्व कितना विरोधपूर्ण है, इसका सुन्दर चित्रण हमे राजस्थान के इस कहावत में मिलता है—

"अमर तो म्हे मरता देख्या, भाजत देख्या सूरा।
गौरां तो गोबर चुगै, खसम भला लहटूरा॥

—अर्थात्, जब मैं देखती हूँ कि अमर (नाम का आदमी) मर गया है, सूर (शूर) डरकर भाग रहा है और गौर (लक्ष्मी नाम की स्त्री) गोबर चुन रही है, तब नाम मे क्या धरा है? (अत) मेरा लहटूरा (नामक) पति ही भला।

इसी प्रकार की कहावत मराठी में भी प्रचलित है

' अमरसिंग तो मर गये, भीख मांगे धन धनपाल।
लक्ष्मी तो गोवऱ्या वेंची, भले बिचारे ठनठनपाल॥

यह समानता राजस्थानी-मराठी ही में नहीं, भारत की प्राय सभी प्रादेशिक भाषाओं में विद्यमान है। उपर्युक्त आशय की कहावतें हिन्दी और तेलुगु में भी द्रष्टव्य हैं

(अ) आंख के अधे, नाम नयनसुख। (हिंदी)
(आ) पेरु गगानम्मा, तागबोते नीरु लेदु।
(तेलुगु)

(अर्थात्, नाम तो गगा है, पर पिलाने को पानी तक नहीं।)

भाँति भाँति के रगवाले फूलो से बनाया गया गुलदस्ता एक ही सौरभ बिखेरता है। हमारी प्रादेशिक भाषाओ की अनेकता मे भी अनुभूति की समानता की एक ही सुगध है। हमारे सस्कार एक रहे हैं, हमारे विचार एक रहे हैं, हमारी चिंतन प्रक्रिया का विस्तार भी एक ही रहा है, क्योंकि हम एक हृदय हैं, एकात्म हैं। डा० अबाप्रसाद सुमन ने ठीक ही लिखा है कि—'हमारी सभी प्रादेशिक भाषाएँ एक सूत्र मे आबद्ध हैं और वे भारत के सास्कृतिक मानस-सरोवर की शोभाप्रद ललित लहरें हैं। इससे

स्पष्ट है कि इस देश में अनेक भाषाओं के होने पर भी हमने कभी इसे खंडित रूप में नहीं देखा। हमारे विचार और भाव सदा एक रहे और हमारी संस्कृति और राष्ट्रीय चेतना अनेकत्व में भी एकत्व का सूत्र पिरोती रही। भारतीय संस्कृति की अखंड धारा से ही तो हमारी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य-सरोवर परिपूर्ण रहे हैं।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 11 फ़रवरी, 1968, पृ. 47) इसीसे हमें अपने लोकजीवन की विविधता में भावों की समरसता के और अभिव्यक्ति की भिन्नता में अनुभूति की अभिन्नता के दर्शन होते हैं।

भारतीय लोक-मानस की इस समरसता की पुष्टि के लिए अब हम हिन्दी और तमिल की कतिपय कहावतों पर विचार करेंगे। हिन्दी आर्य-कुल की और तमिल द्राविड़-परिवार की प्रमुख भाषा है। तमिल भाषा में कहावत के लिए 'पळमोऴि' या 'पळंचचोल्' शब्द प्रचलित है। संक्षिप्तता, सारगर्भिता और प्रभावोत्पादकता कहावतों की सामान्य विशेषताएँ मानी गयी हैं। हिन्दी और तमिल, दोनों भाषाओं की कहावतों में हम उक्त विशेषताएँ पाते हैं।

संक्षिप्तता की दृष्टि से हिन्दी और तमिल की निम्नलिखित कहावतें ली जा सकती हैं—

(अ) उतावला सो बावला। (हिन्दी)
आत्तिरक्कारनुक्कु बुद्धि मट्टु। (तमिल)
(अर्थात्: उतावले की बुद्धि मंद)

(आ) जैसा राजा, वैसी प्रजा। (हिन्दी)
अरसन् एव्वळि, कुडिगल् अव्वळि।
(तमिल)
(अर्थात्: राजा जिस रास्ते, जनता उसी रास्ते।)

सारगर्भिता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से तमिल की निम्न कहावतें द्रष्टव्य हैं:

(अ) कैयिल् उण्डानाल् कात्तिरुप्पार् आयिरम् पेर्।
(अर्थात्: हाथ में पैसा हो तो हजारों राह ताकेंगे।)

(आ) वाय् नल्लदानाल् ऊर् नल्लदु।
(अर्थात्: ज़बान अच्छी तो गाँव अच्छा।)

एक ही प्रकार की अनुभूति अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप अपनी-अपनी शब्दावली में अभिव्यक्त की जाती है। तमिल और हिन्दी की अनेक कहावतों में शब्दार्थ-वैषम्य होने पर भी विचित्र भाव-साम्य पाया जाता है। ये तमिल कहावतें:

(क) दूरत्तु पच्चै कण्णुक्कु कुलिच्चि।
(अर्थात्: दूर की हरियाली आँखों को ठंडी लगती है।)

(ख) आडत् तेरियाद तेवडियालुक्कु कूडम् कोणलाम्।
(अर्थात्: नाचना न जाननेवाली वेश्या के लिए आँगन ही ऊबड़-खाबड़ है।)

(ग) ओरु कै तट्टिनाल् ओसैयुण्डागुमा?
अर्थात्: एक हाथ से बजे कहीं आवाज़ होगी?

(घ) कळुदै अरियुमा गंदप्पोडि वासनै?
(अर्थात्: गधा क्या जाने चंदन की गंध?)

निम्नांकित हिन्दी कहावतों से मिलाकर देखें:

(क) दूर के ढोल सुहावने लगते हैं।

(ख) नाच न जाने आँगन टेढ़ा।

(ग) एक हाथ से ताली नहीं बजती।

(घ) बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद?

इस प्रकार हम पाएंगे कि हिन्दी और तमिल में दो चार नहीं, सैकड़ों कहावतें एक-दूसरे के समानांतर चल रही हैं। ये समानार्थक और समभाव-बोधक कहावतें हिन्दी और तमिल की अभिन्नता की द्योतक हैं। हिन्दी की तरह तमिल का साहित्य भंडार भी सहस्रों सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक कहावतों से संपन्न है। तमिल का महान् स्तुत्य ग्रंथ 'तिरुकुरल्' नीति की अनमोल मणियों की अक्षय मंजूषा है। इसके प्रत्येक बंध में कहावत की सप्राणता विद्यमान है। तिरुकुरल् की सूक्तियों को जब जीवन की अनुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाता है तो वे किसी कहावत से कम नहीं होतीं। यही बात हिन्दी के कबीरदास और तुलसीदास के उद्गारों के संबंध में भी कही जा सकती है। सूक्तियां लोकोक्तियां कैसे बन जाती हैं, इसका प्रमाण 'कुरल्' और 'मानस' की अनेकानेक प्राणवंत उद्बोध तरंगें हैं।

अस्तु, कहावतों के चित्र पटल पर संस्कारों का जो बिंब उभरता है, वह किसी स्थान विशेष का नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र के लोक-जीवन का प्रतीक होता है। हिन्दी और तमिल की ही नहीं, भारत की सभी भाषाओं की कहावतों में हमारे अनुभवों का यथार्थ समान रूप से इस्पात बनकर ढला है। अंग्रेजी लेखक लार्ड बेकन के अनुसार किसी राष्ट्र की प्रतिभा, विदग्धता और आत्मा की खोज उस राष्ट्र की कहावतों में ही की जा सकती है। भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं की कहावतों में हमें अपने राष्ट्र की प्रतिभा, विदग्धता और आत्मा के दर्शन होते हैं। हमारी कहावतें राष्ट्र के लोक-जीवन की झांकी ही प्रस्तुत नहीं करती, हमारी एकात्म संस्कृति की साक्षी भी देती हैं। इस प्रकार हिन्दी, तमिल और भारत की सभी भाषाएं सहोदरियां हैं, सबकी आत्मा एक है।

डा. रवीन्द्रकुमार जैन,
एम.ए., पी-एच.डी., रीडर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग,
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास-17

दाक्षिणात्यों द्वारा सम्पन्न हिन्दी शोधकार्य

आगरा विश्वविद्यालय में हिन्दी और संस्कृत की स्नातकोत्तर शिक्षा-पूर्ति के बाद आपने वहीं से हिन्दी में पी-एच.डी. की उपाधि भी हासिल की। झाँसीवासी होते हुए भी अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी अध्यापन-कार्य आपको इष्ट है। वर्षों तक श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय में हिन्दी-प्राध्यापक रहने के बाद संप्रति दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा संचालित स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोध-संस्थान, मद्रास में आप रीडर एवं विभाग-अध्यक्ष हैं। जैन दर्शन तथा साहित्य के प्रति आप की शोधात्मक अभिरुचि है।

आज से 62 वर्ष पूर्व सन् 1918 में मद्रास नगर से दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार का श्रीगणेश हुआ था। 1918 में इन्दौर में सम्पन्न हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से स्वयं महात्मा गांधी जी ने इस महान संकल्प का उद्घोष किया था। धीरे-धीरे दक्षिण के सभी प्रान्तों ने इस महान् कार्य का प्रारंभ किया। आज यह कार्य दक्षिण में एक समुन्नत अवस्था को प्राप्त कर चुका है। हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार का यह कार्य एक सामान्य स्तर पर आरंभ हुआ; इसमें सामान्य जनता में हिन्दी के प्रचार पर अधिक ध्यान दिया गया। इसकी पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय एकता का अक्षयतत्व था। धीरे-धीरे दक्षिण में विश्वविद्यालयों की वृद्धि हुई और उनमें हिन्दी को भी स्नातकोत्तर स्तर पर अपनाया गया। फलतः हिन्दी में शोधकार्य का प्रारंभ दक्षिण में भी हुआ। सभी मर्मज्ञ विद्वानों ने यह अनुभव किया कि उच्चस्तरीय हिन्दी अध्ययन एवं शोध के अभाव में भारत एक रिक्तता, एक सदा खटकने वाली अपूर्णता का अनुभव करेगा और आत्मनिर्भर भी न हो सकेगा। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि हिन्दी तुलनात्मक शोध, अनुवाद एवं तुलनामक अध्ययन हमारे राष्ट्रीय ऐक्य के संकल्प को पूर्ण करने में हमारी सहायता करेंगे।

हिन्दी में शोधकार्य आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था। हिन्दी के शोधकार्य के इतिहास पर यदि हम एक सरसरी दृष्टि डालें तो कई महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं। हिन्दी शोध का प्रारंभ विदेश में हुआ। श्री तेस्सितरी को सन् 1911 में " रामचरितमानस और रामायण"

विषय पर फ्लारेन्स विश्वविद्यालय ने पी.एच.डी. की उपाधि दी। यह हिन्दी शोधकार्य पर पहली उपाधि थी। अनेक वर्षों तक हिन्दी के शोध प्रबन्ध अंग्रेजी या किसी अन्य विदेशी भाषा मे ही लिखे जाते थे। शोधक्षेत्र भी अतिसीमित था। कुछ ही भारतीय विश्वविद्यालय यह कार्य कराते थे। यह कार्य भी प्राचीनतामूलक नैतिक धार्मिक विषयो को लेकर ही होता था।

दक्षिण के सभी विश्वविद्यालयों मे कुल मिलाकर हिन्दी के शोधकार्य का इतिहास पन्द्रह वर्षों का है। उस्मानिया विश्वविद्यालय के "दक्खिनी का प्रारंभिक गद्य" नामक स्वीकृत शोधप्रन्ध के अपवाद के साथ, दक्षिण का समस्त हिन्दी शोधकार्य अभी तक दस से भी कमव र्षों का है। दक्षिण के प्राय सभी विश्वविद्यालयो में हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन सन् 1960 और 65 के बीच आरंभ हुआ है। प्रस्तुत लेख मे दाक्षिणात्यों द्वारा दक्षिणी विश्वविद्यालयों मे किये गये शोधकार्य का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही दाक्षिणात्यों द्वारा उत्तर भारत के विश्वविद्यालयो मे किये गये हिन्दी शोधकार्य का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। इससे सम्पूर्ण दाक्षिणात्य शोधकार्य की एक झलक सामने आ सकेगी। यद्यपि आठ, दस वर्षों का समय शोध जैसे विराट् एव गम्भीर कार्य के लिए अत्यल्प ही है, तथापि दक्षिण भारत के इस हिन्दी शोध विवरण को देखकर विद्वज्जगत को प्रसन्नता ही होगी। इस कार्य मे विषय वैविध्य है, किन्तु बिखराहट नही; गाम्भीर्य है, किन्तु दुर्बोधता एव अस्पष्टता नही, तुलनात्मकता है, किन्तु वैषम्य का भी उद्घाटन किया गया है। शोध को यथासाध्य वैयक्तिक अवधारणाओं एवं साम्प्रदायिक मतवादों की आग्रहोवृत्ति से दूर ही रखा गया है। दक्षिण के सभी हिन्दी शोध विषयो को मुख्यत. इन अधस्तन घटकों में विभाजित किया जा सकता है:—

1. दक्षिण की प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी के विविध साहित्य रूपों का तुलनात्मक अध्ययन।
2. लोक सस्कृति मूलक अध्ययन—साहित्यिक चेतनाभूमि के उद्घाटनार्थ।
3. काव्य-शास्त्रीय अध्ययन। इस दिशा मे कार्य अभी तक कम ही हुआ है।
4. भाषा वैज्ञानिक अध्ययन। इस दिशा में भी अभी तक बहुत कम काम ही हो सका है।
5. सास्कृतिक पृष्ठभूमिमूलक अध्ययन।
6. मूर्धन्य स्रष्टाओ और आलोचको के कृतित्व और व्यक्तित्व का समीक्षात्मक अध्ययन।

इन सभी घटकों मे अभी तक तुलनात्मक शोध पर ही अधिकतम कार्य हुआ है। इसी दिशा में कार्य की सम्भावना और बढ रही है।

उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदाराबाद में सर्वप्रथम हिन्दी शोधकार्य दक्षिण में प्रारम्भ हुआ। सन् 1950 मे इस विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग का शुभारम्भ हुआ। सन् 1952 में शोधकार्य की भी व्यवस्था की गयी। सन् 1956 मे इसी विश्वविद्यालय से "दक्खिनी की प्रारम्भिक गद्य" शीर्षक शोधप्रबन्ध स्वीकृत हुआ। किसी दक्षिणी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गयी यह प्रथम पी-एच.डी. उपाधि है।

उस्मानिया विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हिन्दी शोध प्रबन्ध :—

अनुसन्धाता और विषय	प्राप्ति वर्ष
1. डा. राजकिशोर पाण्डेय, उ.भा., "दक्खिनी का प्रारम्भिक गद्य" सन् 1600 तक	1956
2. डा. वेंकटरमण "कवित्रय-कबीर, सूर एवं तुलसी सामाजिक पक्ष"	1961
3. श्रीमती ज्ञान अस्थाना, उ. भा., "आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ"	1963
4. डा. पी. विद्यासागर "हिन्दी साहित्य में चित्रकाव्य"	1962
5. श्री बसन्तराव चक्रवर्ती "जयशंकर प्रसाद के साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि"	1963
6. डा. बृज बिहारी तिवारी, उ. भा. "17-वीं शती के बाद का दक्खिनी गद्य"	1963
7. डा. भीमसेन निर्मल "पुरुषोत्तम कवि के हिन्दुस्तानी नाटक"	1964
8. डॉ० श्रीमती नागलक्ष्मी "मैथिलीशरण गुप्त और भारती-तुलना"	1964
9. डा. ललितकुमार पारिख, उ. भा., "सूरदास और नरसी मेहता"	1964
10. श्री वेदप्रकाश, उ. भा., "सूरकाव्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव	1965
11. डा. सरला सहगल, उ. भा., "सूरकाव्य में श्रृंगार और वात्सल्य"	1965
12. डा. मनोरमा जैन उ. भा., "हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में नारी"	1965
13. डा. रामकुमार खण्डेलवाल "हिन्दी काव्य में प्रेमभावना" 1400 से 1600 तक	1965
14. डा. ख्वाजा मियाँ "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं वीरेशलिंगम् पन्तुलु-एक तुलनात्मक अध्ययन"	1967
15. डा. रामनिवास "कबीर और मायावाद"	1968
16. डा. वी. तीता ज्योति "सूरदास और पोतना के साहित्य में वात्सल्य"	1967
17. डा. कृष्णवल्लभ दवे उ. भा. "सन्त कवि दादू"	1967
18. डा. रवीन्द्र चतुर्वेदी उ. भा., निराला और उनका गद्य साहित्य"	1968
19. डा. इन्दु वशिष्ठ उ. भा. "कथाकार चतुरसेन शास्त्री"	1969
20. डा. शकुन्तला रानी गुहा उ. भा., "हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास में योरोप के लोगों का योगदान" सन् 1608 से 1885"	1969
21. डा. विन्ध्याचल त्रिपाठी उ. भा. "हिन्दी कहानी साहित्य में सामाजिक तत्व"	1969
22 डा. राजकुमारी शैल उ. भा. "आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में वेदना भाव"	1970
23. डा. सन्तोष गुहा उ. भा., "हिन्दी काव्य में राधा"	1970

इन स्वीकृत शोध प्रबन्धों के अतिरिक्त, पी-एच डी उपाधि के लिए जिन विषयों पर कार्य हो रहा है, उनकी संख्या लगभग अस्सी है। इतनी लम्बी तालिका यहाँ प्रस्तुत करना लाभदायक तो होता, इस निबन्ध का कलेवर पर्याप्त बढ़ जाता अत यहाँ इतने से ही सन्तोष करना पड़ा है। फिर पूरी सामग्री प्राप्त करना भी कम कठिन काम नहीं है।

श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति, आंध्र—

श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति में सन् 1960 में हिन्दी विभाग प्रारम्भ हुआ। उसी समय से स्नातकोत्तर अध्ययन एव शोधकार्य भी चल रहा है। अब तक के स्वीकृत शोधप्रबन्ध ये हैं:—

अनुसन्धाता और विषय — प्राप्ति वर्ष

1. डा. राजमल बोरा "भूषण और उनका साहित्य" — 1964
2. डा. भारत भूषण "केशव की भाषा" — 1968
3. डा सी जनार्दनराव "वृन्द और उनका साहित्य" — 1968
4. डा० के रामनाथन "हिन्दी और तेलुगु वैष्णवभक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन" — 1968
5. डा० वी० वेंकटरमण राव "रीतिकालीन साहित्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि" — 1968
6. डा० पी आदेश्वर राव "हिन्दी और तेलुगु की स्वच्छन्दतावादी काव्यधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन" — 1966
7. डा० व. व. स. न. मूर्ति "रामचरितमानस का सांस्कृतिक अध्ययन" — 1967
8. डा० डा. व. क. सत्यनारायण "रीतिकालीन साहित्य मे अभिव्यंजना और शिल्प" — 1967
9. डा० धनराज मानधाने उ. भा. "प्रेमचन्दोत्तरकालीन हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास" — 1968
10. डा० न. ज्ञानप्प नायडू "केशव के साहित्य मे समाज, संस्कृति और दर्शन" — 1968
11. डा० सी. वसन्ता "आधुनिक हिन्दी कविता मे दुरूहता" — 1969
12. डा० ब. अनुराधा "हिन्दी से तेलुगु में आगत शब्दों का ध्वनिमूलक एव वैज्ञानिक अध्ययन" — 1969
13. डा० स. लक्ष्मी "डा० नगेन्द्र की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा : विश्लेषण और मूल्यांकन" — 1969
14. डा० ह. संगमेशम् "सूरदास और अन्नमाचार्य के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन" — 1970

परीक्षणार्थ प्रस्तुत किये गये शोधप्रबन्ध:—

1. कु कचन सेठ "हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल" — 1970
2. श्री वाय पुललय्या राव "श्रीनाथ और केशवदास का तुलनात्मक अध्ययन" — 1970
3. श्रीमती एम जयलक्ष्मी "दिनकर और उनकी कविता" — 1970

पंजीकृत शोध विषय :—

1. श्री स. सुब्बाराव
"रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास का समीक्षात्मक अध्ययन"
2. श्री व. नागराजु
"निराला की काव्य भाषा और शैली का सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन"
3. श्री के. धर्मदेवराव
"काव्य में प्रेषणीयता की समस्या सन् 1919 से 1965 तक"
4. श्री के. आर. श्रीनिवास गुप्त
"डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी व्यक्तित्व और साहित्य"
5. श्री क. म. कृष्णमूर्ति
"अलंकारशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में रीतिकाल का अध्ययन"
6. श्री ज. विश्वमित्र
"हिन्दी साहित्य के इतिहासों में रीतिकाल"
7. कु. के. वेंकटलक्ष्मी
"वात्सल्य रस के विशेष सन्दर्भ के साथ सूरदास और पुरन्दरदास का तुलनात्मक अध्ययन"
8. श्री ड. दत्तगिरि
"सन् 1950 के परवर्ती हिन्दी उपन्यासों में शैली और शिल्प का विकास"
9. श्री अ. अश्वत्थनारायण
"हिन्दी और तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन"
10. श्रीमती सी. कन्नम्मा
"आधुनिक काव्यों में प्रयुक्त काव्यरूपों का अध्ययन 1900 से 1965"
11. श्रीमती जी. चौडेश्वरी
"छायावाद में कल्पना"

मैसूर विश्वविद्यालय :—

मैसूर विश्वविद्यालय में हिन्दी-स्नातकोत्तर अध्ययन का आरम्भ सन् 1960 में हुआ। तभी से शोधकार्य भी चल रहा है।

स्वीकृत शोधप्रबन्ध :—

अनुसन्धाता और विषय	वर्ष
1. डा. म. स. कृष्णमूर्ति "हिन्दी और कन्नड में साहित्यिक प्रवृत्तियाँ"	1968
2. डा. स. म. रामचन्द्रस्वामी "हिन्दी एवं कन्नड़ के रामकाव्यों के पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन"	1969
3. डा. व. कृष्णस्वामी अय्यंगार "हिन्दी और कन्नड़ के अलंकारग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन"	1969

परीक्षणार्थ प्रस्तुत शोधप्रबन्ध :—

1. वी. वेंकटेश "बसव और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन"	1970
2. पी. सी. मानव उ. भा. "हिन्दी सन्तसाहित्य का हिन्दी के लावनी साहित्य पर प्रभाव"	1970

पंजीकृत शोध विषय :—

अनुसन्धाता और विषय

1. ए. लक्ष्मीनारायण
"हिन्दी और कन्नड़ साहित्य में श्रीकृष्ण सम्बन्धी धारणा का तुलनात्मक अध्ययन"
2. म. देवे गौड़ा
"हिन्दी और कन्नड़ में साहित्यिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन सन् 1800 से

3 म. क भारतीरमणाचार
"हिन्दी और कन्नड साहित्य में श्रीराम संबंधी धारणा का तुलनात्मक अध्ययन"

4 न. स. भट्ट त्रिपद
"हिन्दी गद्य और साहित्यिक भाषा का विकास"

5. श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति
"दक्षिण भारत की सन्त परम्परा"

6 सरवर ताज
"सन् 1650 से 1750 तक के दक्षिणी साहित्य का इतिहास"

7 पी नजराज उर्स
"हिन्दी और कन्नड के लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन"

8 के एन जयलक्ष्मी
"सन् 1910 से 1965 तक की कहानियों का शिल्पगत अध्ययन"

9 एच एन नरसिंहमूर्ति
"भारतीय रामायणो का अध्ययन"

10 एन शान्ता
"हिन्दी की आधारभूत शब्दावली"

11. चन्द्रवीराशम्मा
"हिन्दी मे वैज्ञानिक शब्दावलो का विकास"

12. जे. एस. कुसुम गीता
"सन् 1800 से 1947 तक के हिन्दी और कन्नड गीतों का तुलनात्मक अध्ययन"

13. न. व दीक्षित
"सूरदास और पुरन्दरसास का तुलनात्मक अध्ययन"

14 क. राघव भट्ट
"हिन्दी और कन्नड साहित्य में व्यक्त राष्ट्रीयता"

15 सेतु माधव रावं
"1900 से 1960 तक के हिन्दी और कन्नड़ के सामाजिक नाटको का तुलनात्मक अध्ययन"

16 व ज. आंडालम्मा
"देवनागरी लिपि का विकास–एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण"

17. सरसम्मा
"हिन्दी और कन्नड़ लोकोक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन"

18 म. व चितलिंगय्या
"पउमचरिउ और रामचन्द्र चरित पुराण का तुलनात्मक अध्ययन"

19 श्रीमती के. गौरम्मा
"हिन्दी और कन्नड नीतिकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन"

20. श्रीमती गीतारानी
"प्रेमचन्द और शिवराम करन के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन"

21 न. क. कमला
"हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में शिल्प-विधान"

22 नागराज स्वामी
"हिन्दी और कन्नड के ऐतिहासिक उपन्यासो का तुलनात्मक अध्ययन"

23 राम सुब्रह्मण्यम
"प्रेमचन्द की कहानियों का समीक्षात्मक अध्ययन"

24 आर जी. कुलकर्णी
"1800 से 1947 तक के हिन्दो और कन्नड नाटको का तुलनात्मक अध्ययन"

25 बालकृष्ण
"मैथिलीशरण गुप्त एवं कुवेम्पु: कवि और काव्य"

26. येजासुद्दीन साब
"हिन्दी में वीररस"

27. न. नारायण राव
"हिन्दी और कन्नड की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन"

28. मा. स. रत्ना
हिन्दी और कन्नड साहित्य में नारी भावना"

29. म. अमनुल्ला
"गद्य साहित्य में हिन्दी और उर्दू का परस्पर प्रभाव"

30. स. वेणुगोपालाचार
"हिन्दी और कन्नड साहित्य में वैष्णव-भक्ति—एक ऐतिहासिक अध्ययन"

31. उषा कुलकर्णी
"सन् 1800 तक के हिन्दी एवं कन्नड के कृष्णभक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन"

32. स. ज. ललिता
"आधुनिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ"

33. सी. एन. केशवमूर्ति
"हिन्दी और कन्नड़ में माधुर्यभाव का तुलनात्मक अध्ययन"

34. क. सुमित्रम्मा
"हिन्दी एवं कन्नड़ भाषा में हास्यरस का तुलनात्मक अध्ययन"

35. प. ब. रामचन्द्र
"सन् 1800 पर्यन्त हिन्दी और कन्नड साहित्य में श्रृंगार रस"

36. तिप्पस्वामी
"पन्त और कुवेम्पु का उनके काव्यों के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन"

37. श्रीकण्ठ शास्त्री
'हिन्दी और कन्नड के उपन्यासों में यथार्थ-वाद का तुलनात्मक अध्ययन"

38. वाय. एस. कुमारस्वामी राव
"कबीर और सर्वज्ञ का तुलनात्मक अध्ययन"

केरल विश्वविद्यालय—

सन् 1963 में केरल विश्वविद्यालय में हिन्दी में स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोधकार्य प्रारंभ हुआ।

स्वीकृत शोधप्रबन्ध—

अनुसन्धाता और विषय	वर्ष
1. के. सरलादेवी जयशंकर प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त के काव्यों में नारी-चित्रण	1969
2. एम. ईश्वरी हिन्दी और मलयालम की शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन	1969
3. आर. रामन नंपूतिरी रीतिकालीन हिन्दी काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि	1967

उपाधि के निमित्त प्रस्तुत शोध प्रबन्ध—

1. सुधांशु चतुर्वेदी हिन्दी और मलयालम के समस्या नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	1970
2. जी. वत्सला प्रसादोत्तर आधुनिक हिन्दी नाटकों में नारी-चित्रण	1969
3. एल. सुनीता मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अध्ययन संस्कृत स्रोत के संदर्भ में	1970

4 सुधीर कुमार चौहान
हजारीप्रसाद द्विवेदी का सृजनात्मक साहित्य 1970

पंजीकृत विषय—

1 आर. अनन्तरामन्
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों का अध्ययन

2 आर चन्द्रिका
आधुनिक हिन्दी काव्य पर गांधीवाद का प्रभाव

3 वी पद्मिनी
तुलसीदास की सूक्तियों का व्याख्यात्मक अध्ययन

4 वी सुशीलम्मा
भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की सामाजिक परिस्थितियाँ

5 ए रमादेवी
उपेन्द्रनाथ अश्क. व्यक्तित्व और कृतित्व

6. पी एस. कादर
सूफी काव्य में समन्वयात्मक तत्व

7. एन. अरविन्दाक्ष
हिन्दी उपन्यासों पर स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रभाव

8 पी. डी पकजाक्षन नायर
उदयशकर भट्ट की कृतियो का आलोचनात्मक अध्ययन

9 टी एस राजगोपालन
हिन्दी और मलयालम की कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन

10. सी पी आनन्दलक्ष्मी
अब्दुर्रहीम की कृतियों का अध्ययन

11. वी एन. फिलिप
मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे विरह-भावना

12 के वी. सुरेन्द्रनाथ पिल्लै
विद्यापति के काव्य का अध्ययन—संस्कृत स्रोत के संदर्भ में

आंध्र विश्वविद्यालय :

सन् 1934 मे आन्ध्र विश्वविद्यालय में हिन्दी में स्नातकोत्तर अध्ययन की व्यवस्था हुई। सौभाग्य से एक ही वर्ष बाद अर्थात् सन् 1935 मे पी-एच डी के लिए विधिवत शोधकार्य का शुभारम्भ भी हुआ।

स्वीकृत शोध प्रबन्ध :

1 डा. जी वी. सुब्रह्मण्यम
"हिन्दी और तेलुगु उपन्यास : एक तुलनात्मक अध्ययन" 1970

2. डा. के एस. सत्यनारायण
"हिन्दी और तेलुगु के नीतिशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन" 1970

पंजीकृत शोध विषय :

1. टी सुभद्रा
"तुलसीदास एवं त्यागराजु की भक्तिपद्धति"

2. पी. सूर्यनारायणभानु
"विद्यापति और क्षेत्रय्या : तुलनात्मक अध्ययन"

3. पी अप्पलराजु
"सुमित्रानन्दन पन्त और देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री एक तुल अध्ययन"

4. डी. वी. रामकृष्णराव,
"हिन्दी और तेलुगु की राष्ट्रीय कविता का तुलनात्मक अध्ययन"

5 बी. लक्ष्मय्या चेट्टी
"सूरसागर मे प्रतीक विधान"

6. वी. आर. प्रसादराव,
"रामचरितमानस और रंगनाथ रामायण का तुलनात्मक अध्ययन"

7. के. ए. कमलादेवी,
"सूरदास और पोतना की भक्तिभावना एवं दार्शनिक चेतना का तुलनात्मक अध्ययन"

8. एम. वेंकटराव
सूरदास और पोतना का तुलनात्मक अध्ययन"

9. पी. वी. आचार्य
"तुलसी रामायण और भास्कर रामायण का तुलनात्मक अध्ययन"

10. के. श्री रामि रेड्डी
"सुमित्रानन्दन पन्त की सौन्दर्यभावना"

11. विजय लक्ष्मी
"हिन्दी और तेलुगु के एकांकियों का तुलनात्मक अध्ययन"

12. इकबाल
"हिन्दी और तेलुगु के कहानी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन"

13. के. लीलावती
"हिन्दी और तेलुगु की महिलाओं द्वारा रचित कथासाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन"

14. एन. वी. गोपालराव
"हिन्दी और तेलुगु के उपन्यास साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव"

मद्रास विश्वविद्यालय :

इस विश्वविद्यालय में शोधकार्य का प्रारंभ सन् 1952 से हुआ। प्रगति कुछ भी न हो सकी। अब तक एक ही शोध प्रबन्ध प्रस्तुत एवं स्वीकृत हुआ है। डा. एस. शंकर राजु नायडु को सन् 1959 में "कम्बरामायण और तुलसी रामायण का तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर इस विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई।

अन्नामलै विश्वविद्यलय :

सन् 1968 से शोधकार्य चल रहा है। केवल श्री गुलामरसूल तमिलनाडू में दक्खिनी के उच्चरित रूप "विषय पर पी.एच. डी. के लिए कार्य कर रहे हैं।

स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोध संस्थान, मद्रास

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास के अन्तर्गत उक्त शोधसंस्थान की स्थापना सन् 1965 में हुई। तभी से यह संस्थान शोध की दिशा में भी सन्तोषजनक प्रगति करता आ रहा है। शोधकों की संख्या, योजनाबद्ध कार्य, विषय वैविध्य एवं एकरूपता इस संस्थान के शोधकार्य की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। सम्पूर्ण दक्षिण के साहित्यिक, सांस्कृतिक, नैतिक, दार्शनिक एवं सामाजिक चेतना के उत्तमोत्तम को शोध द्वारा उद्भासित करना इस संस्था का संकल्प रहा है। उत्तर दक्षिण के सेतु के रूप में यह संस्था काम करती रही है। अत्यन्त तटस्थ भाव से शोध के लिए महत्वपूर्ण और नयी दिशाएँ यह संस्थान खोजता रहा है।

पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत किये गये शोध प्रबन्ध :

1. श्रीमती सुशीला भटनागर, उ. भा.
"हिन्दी में प्रभाववादी आलोचना और उसमें श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी का योगदान"

2. श्री के. रामानयुडु
"हिन्दी और तेलुगु की प्रगतिवादी काव्य-धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन"

3 श्रीमती मनोरमा
"हिन्दी और मलयालम की स्वच्छन्दतावादी काव्यधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन"

पंजीकृत शोध विषय :

1. श्री स श्रीकण्ठमूर्ति
सम्वत् 1700 तक के हिन्दी एव कन्नड साहित्य में शैवप्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन

2 श्री इन्दर राज वैद, उ. भा.
मानवतावाद की पृष्ठभूमि मे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य का समीक्षात्मक अध्ययन

3. श्री टी. के. नटराजन्
हिन्दी और तमिल काव्य शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन

4. कु. जी. अन्नपूर्णा
हिन्दी तथा तेलुगु के मुक्तक नीतिकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन

5. ए. वी. सुजयलक्ष्मी
हिन्दी तथा तेलुगु के आधुनिक काव्यों में प्रकृतिचित्रण का तुलनात्मक अध्ययन

6. श्रीमती के रमा
कामायनी में बिम्बविधान

7. श्री के. आर. रंगन
सन् 1960 के बाद के हिन्दी उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन

8 कु. वी. के. प्रेमा
हिन्दी काव्य मे स्वप्न

9. श्री शकन्नवर
हिन्दी और कन्नड के काव्य शास्त्र में रससिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

10 कु. पी. चन्द्रिका
हिन्दी एव तमिल नीतिमुक्तकों का तुलनात्मक अध्ययन

11 श्रीमती के. कमलाम्बाल
जैनेन्द्र साहित्य में दर्शन और जीवन दर्शन

12 कु. एम. जी. सरोजिनी
हिन्दी और मलयालम के एकांकी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन

13. कु. के. उमारानी
"दक्षिण के हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास"

14 श्रीमती के. वत्सला
"महादेवी के काव्य में प्रकृतिचित्रण"

15. सी. कमला
"पन्त, भारती और वर्डस्वर्थ के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन"

16. कु गुरु प्यारी उम्मत
"हिन्दी उपन्यासों मे व्यक्त प्रेमभावना"

17 डी. बी. महालक्ष्मी
"आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी साहित्यकारों के कृतित्व का समीक्षात्मक अध्ययन"

18. श्री के चन्द्रमोहन
"नयी कविता की चेतनाभूमि एवं शिल्प-विधान"

19. कु रमादेवी
श्री अरिगपुडी रमेश चौधरी का व्यक्तित्व और कृतित्व"

20 श्रीमती राधम्मा
"ओटक्कुपल् और चिदम्बरा का तुलनात्मक अध्ययन"

दक्षिणेतर विश्वविद्यालयों में दाक्षिणात्यों द्वारा किया गया हिन्दी शोधकार्य भी पर्याप्त विपुल, महत्वपूर्ण एवं वैविध्यपूर्ण है। इसका विवरण इस प्रकार है :—

अनुसन्धाता और विषय	प्राप्ति वर्ष
1. डा० रांगेय राघव श्री गुरु गोरखनाथ और उनका युग आगरा	1948
2. डा० भास्करन् नायर के. हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य लखनऊ	1955
3. डा. हिरण्मय हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन' बनारस	1956
4. डा० वेंकटशर्मा हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, राजस्थान	1958
5. डा० चन्द्रकान्त मुदलियार तमिल एवं हिन्दी भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, बनारस	1958
6. डा० गणेशन एस. एन. हिन्दी उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव, बनारस	1958
7. डा० शंकर राजु नायुडु कम्बरामायण और तुलसीरामायण का तुलनात्मक अध्ययन, मद्रास	1959
8. डा० चन्द्रलाल दुबे हिन्दी एवं कन्नड : नाटक साहित्य सागर	1961
9. डा० एस. टी. नरसिंहाचारी साहित्यिक अभिरुचि और आलोचना, बनारस	1961
10. डा० वेंकटरेड्डी कबीर और वेमना : तुलनात्मक अध्ययन लखनऊ	1961
11. डा. आई पांडुरंग राव आंध्र और हिन्दी रूपक नागपुर	1962
12. डा० दामोदरन् हिन्दी और मलयालम के सामाजिक उपन्यास सागर	1962
13. डा० राजगोपालन हिन्दी और तमिल के काव्य शास्त्र की तुलना, आगरा	1963
14. डा० माधव राव आचार्य चतुरसेन का कथा साहित्य नागपुर	1964
15. डा० मलिक मुहम्मद आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् अलीगढ़	1964
16. डा० गोपालकृष्ण शर्मा हिन्दी और तेलुगु कविता में श्रृंगार आगरा	1964
17. डा० राजशेषगिरि राव आन्ध्र के लोकगीत, आगरा	1965
18. डा० चा. सूर्यनारायणमूर्ति हिन्दी और तेलुगु के मध्यकालीन रामसाहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन, सागर	1966
19. डा० जयरामन, महाकवि सुब्रह्मण्य भारती एवं निराला के काव्य, सागर	1696
20. डा. नरसिंह राव हिन्दी और तेलुगु लोकोक्तियों का तुलनात्मक एवं भाषावैज्ञानिक अध्ययन, आगरा	1967
21. डा० दक्षिणामूर्ति हिन्दी और तेलुगु के कृष्ण-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन, आगरा	1967

22 डा० सुन्दरम्
मीरा एव आण्डाल तुलनात्मक अध्ययन
जबलपुर 1967

23 डा० सौन्दरवल्ली
हिन्दी और तमिल के आधुनिक गद्य का
विकास, सागर 1968

पी एच डी उपाधि प्राप्त विद्वान

1 डा० स कृष्णमूर्ति
हिन्दी और तेलुगु की आधुनिक कविता में
मानवतावाद 1970

2 श्री र अ हेगड
हिन्दी और कन्नड उपन्यासो के उद्भव और
विकास का तुलनात्मक अध्ययन 1970

3 डा० राजगोपाल
हिन्दी और कन्नड के रीतिकालीन काव्य में
प्रकृतिचित्रण 1970

पंजीकृत शोधविषयों की तालिका इस प्रकार है

1 श्री स व भट्ट
हिन्दी और कन्नड के पौराणिक एव ऐतिहासिक
नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन

2 स रामचन्द्र
प्रमचन्द और शिवराम कारत की तुलना

3 ज म जोशी
भारतीय साहित्य मे शिवभक्ति

4 बी पट्टनमेठ
हिन्दी और कन्नड की स्नातकोत्तर कविता
का तुलनात्मक अध्ययन

5 डी पट्टाडे
हिन्दी और उर्दू की आधुनिक कविता का
तुलनात्मक अध्ययन 1920-60

6 वी जी दीक्षित
हिन्दी साहित्य का आदिकाल

7 लीलाधर भट्ट
हिन्दी एव आग्ल उपन्यासों मे नारी 1920 40

8 यदुनाथ पाण्डेय
केशवदास का शैलीशास्त्रीय अध्ययन

9 अमरसिंह
लावनी भाषा और व्याकरण का हिन्दी तथा
राजस्थानी से तुलनात्मक अध्ययन

10 उमापति शास्त्री
गोरखनाथ और प्रभुदेव तुलनात्मक अध्ययन

11 हासारानी
हिन्दी और कन्नड के कहानी साहित्य का
तुलनात्मक अध्ययन

12 आर आर मुदार्गी
भारतेन्दु के नाटको पर सस्कृत का प्रभाव

13 कु बीना
यशपाल और बसवराज कट्टीमनी के
उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

14 टी आर भट्ट
"सुमित्रानन्दन पन्त और बेंद्रे के काव्यो का
तुलनात्मक अध्ययन

15 श्री काकन्दकी
उत्तरी कर्नाटक के दक्षिण के लोकगीतों का
अध्ययन

16 कु गीता मुरारी
रागेय राघव—एक साहित्यिक व्यक्तित्व

17 श्री चुलकी मठ
बेनीपुरी और उनका साहित्य

18 कु पुष्पा घाटे
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी · निबन्ध और
आलोचक के रूप में

* * *

कर्नाटक विश्वविद्यालय—

इस विश्वविद्यालय का शोधविवरण इस प्रकार है :—

डी. लिट्. उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध :

1. डा० एम. जार्ज
   हिन्दी एवं मलयालम का वैष्णवभक्तिसाहित्य आगरा 1968
2. डा० मलिक मुहम्मद
   वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन-हिन्दी तथा तमिल साहित्यक के परिप्रेक्ष्य में, आगरा 1970
3. डा० जयरामन
   हिन्दी एवं तमिल के वैष्णव भक्ति-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, सागर 1970

डा. उदयभानुसिंह का ग्रन्थ सन् 1962 तक के ही शोधप्रबन्धों की तालिका प्रस्तुत करता है। फिर दाक्षिणात्यों के शोधकार्य का स्वतन्त्र और पूर्ण उल्लेख भी उसमें नहीं है। इन दस वर्षों में दक्षिण के शोधकार्य ने आशातीत प्रगति की है। अतः इस प्रगति का स्वतन्त्र उल्लेख कई दृष्टियों से वांछनीय था। पहली बात तो यह है कि इससे दक्षिण के शोधकों का कार्य सामने आया। दूसरी बात यह हुई कि सभी विश्वविद्यालयों को इसकी जानकारी मिलने से विषयों का पिष्टपेषण न होगा। तीसरी बात यह कि अनेक महत्वपूर्ण विषय ग्रन्थाकार प्रकाशित होकर हमारे साहित्य को और बलवान बनाएंगे। इससे चतुर्थ लाभ यह होगा कि तुलनात्मक अध्ययन के नये द्वार खुलेंगे। पंचम और अन्तिम लाभ यह होगा कि भारतीय सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक चेतना की एकरूपता को बल मिलेगा।

अभी शोध की दिशा में दो तीन प्रकार का और भी कार्य शेष है, जिस पर समय पाकर स्वतन्त्र निबन्ध लिखूँगा। ये विषय हैं :—दक्षिणी विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोध योजनाएँ। प्रत्येक विश्वविद्यालय द्वारा एम. ए. स्तर पर प्रस्तुत किये गये लघुशोध प्रबन्ध। विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया निरुपाधि शोधकार्य।

★

उनमें (भारतीय भाषाओं में) यूरोप की भाषाओंजैसी विविधता चाहे न हो परन्तु वे यूरोपीय भाषाओं से काफी पुरानी तथा श्रेष्ठ साहित्य संपन्न भी हैं। अतएव हमारे सभी क्रिया कलापों के लिए हमारे पास बना बनाया माध्यम है। इसलिए यह ठीक ही है कि हम उनके प्रयोग पर बल दें और विदेशी भाषा पर गर्व न करें। तुम कहोगी, यह भी कैसी विडंबना है कि जिस बात के लिए मैं तुम्हें मना कर रहा हूँ उसे मैं स्वयं कर रहा हूँ। तुम पूछोगी ; मैं ये पत्र तुम्हे आङ्लभाषा में क्यों लिखता हूँ ? इसका यही उत्तर हो सकता है कि मेरी शिक्षा-दीक्षा दोष-पूर्ण ढंग से हुई है। क्या ही अच्छा होता कि मैं हिन्दी में सरलता से लिख सकता। —'पं० नेहरू का पत्र, पुत्री इन्दिरा के नाम पत्र' का अंश

डॉ० एन. एस. दक्षिणामूर्ति, एम ए. पी-एच. डी,
हिन्दी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय,
मानस गंगोत्री, मैसूर-6

हिन्दी और दक्षिणी भाषाओं में प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी शब्द

सभा की शिक्षा-दीक्षा का सबल पाकर आपका व्यक्तित्व पनपा। आप संस्कृत और हिन्दी की तरह द्राविड-भाषाओं के भी बहुभाषी विद्वान हैं। इस वजह से विविध भाषा-साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में अपनी-विशेष लेखन-कुशलता प्रदर्शित की है। आप द्वारा अनूदित संपादित तथा स्वरचित रचनाएँ संख्या में भी कम नहीं हैं। विश्वविद्यालयों की उपाधियों के साथ उत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी संस्थाओं ने भी उपाधियों से आपका अभिनंदन किया है। आपकी बहुभाषा गत हिन्दी-सेवा हिन्दीतर दक्षिणी लेखकों के लिए प्रेरणा दायिनी होगी ही। संप्रति मैसूर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से आप संबद्ध हैं।

भाषा के गगनतल में व्यक्ति और जाति की रुचि के अनुसार शब्दों के बदलते हुए सत्ताधिकार की कहानी कम कौतूहलवर्धक नहीं रही है। पण्डितों के संसार में शब्दों के विषय में 'निज' और 'पर' की भावना हो सकती है, किन्तु लोकमानस इसकी आवश्यकता नहीं समझता और बराबर इसकी उपेक्षा करता रहा है। अथवा यों कहें कि वह 'शब्दाह्वय ज्योति' का, चाहे वह कहीं से भी आये, निरंतर स्वागत करता रहा है। स्वागत का यह स्वरूप होगा कि कुछ शब्दों के मूल रूप भी शीघ्र ही पहचाने नहीं जाते और आगत शब्द भाषा की प्रकृति के अनुकूल अपनी वृत्ति बदल लेते हैं। कन्नड में प्रचलित नगूर ('लंगर'), साबूनु ('साबुन') जैसे शब्द यहाँ उदाहृत किये जा सकते हैं, जो मूलत. अरबी शब्द हैं।

एक भाषा में दूसरी भाषा या भाषाओं के शब्दों की ग्रहणीयता के बहुत-से कारण बताये जाते हैं; यथा—ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषिक आदि। कारण कुछ भी हो, परिणाम प्राय. समान और विचारणीय होता है। सन् 712 से ही मुसलमानों का संबंध इस देश के साथ रहा है। मध्ययुग में यहाँ उनका आधिपत्य स्थापित होने पर जिन विभिन्न परिस्थितियों ने जन्म लिया, उनमें भाषागत परिस्थिति भी एक है। हिन्दी भाषाप्रदेश के समान ही दक्षिणी भाषाप्रदेश भी मुसलमानों के आधिकारिक संपर्क से दूर नहीं रहा। परिणाम स्वरूप दक्षिणी भाषाओं में तुर्की, अरबी, फ़ारसी शब्दों का प्रवेश हुआ। अंग्रेजों के शासनकाल में अरबी और फारसी के आगत शब्द कम प्रचलित

नहीं हुए। इनके अतिरिक्त पुर्तगाली, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं के शब्द भी प्रचलित होने लगे। अनुपात से अरबी, फ़ारसी और अंग्रेज़ी शब्दों का अधिक प्रभाव है, तो अन्य भाषाओं का कम।

भाषा के शब्द-भाण्डार को प्राय: चार भागों बाँटा जाता है—(1) तत्सम, (2) तद्भव, (3) देशी और (4) विदेशी। 'देशी' को 'देश्य' तथा 'विदेशी' को 'अन्यदेश्य' भी कहा गया है। हिन्दी और दक्षिणी भाषाओं में अरबी-फ़ारसी के शब्द 'विदेशी' अथवा 'अन्यदेश्य' माने जाते हैं। इन भाषाओं में प्रयुक्त अरबी, फ़ारसी के शब्दों को हम निम्नांकित शीर्षकों में रख सकते हैं—

(1) शासन-सबंधी शब्द।

(2) धर्म और संस्कृति संबंधी शब्द।

(3) शिक्षा, कला, विज्ञान, व्यापार और आमोद-प्रमोद संबंधी शब्द।

(4) संज्ञा, विशेषण तथा अन्य शब्द।

(1) शासन-संबंधी शब्द:—इस शीर्षक के अंतर्गत जो शब्द ग्रहण किये गये हैं, वस्तुत: वे शब्द-भाण्डार की वृद्धि की दृष्टि से विशेष महत्व के हैं। दैनिक व्यवहार में ऐसे शब्दों का मूल्य है ही। कुछ परिस्थितियों में इनका प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। हिन्दी और दक्षिण की तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम भाषाओं में प्रचलित कुछ शब्द ये हैं—

(अ)	अरबी	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड़	मलयाळम
	अदालत	अदालत	—	अदालतु	अदालत्तु	अदालत्
	वकील	वकील	वकील् वक्कील्	वकीलु	वकील	—
	मुद्दई	मुद्दई	—	मुद्दयि	मुद्दयि	मुद्दयि
	कानून	कानून	—	कानूनु	कानू कानून कानूनु	कानून
	इनाम	इनाम	इनाम् (जैसे-'इनाम् निलंगळ्' में)	इनामु	इनाम इनामु इनामति	इनाम
	इनामदार	इनामदार	—	इनांदारु इनांदारुडु	इनांदार	—
	क़सबा	कसबा	—	कसुबा	कसबा कसबे	कसब

काज़ी	काज़ी	काजि	काजि	काजि	काजि कादि
जमा	जमा	जमा	जमा	जमा	जमा
जमाबदी	जमाबदी	जमाबदि	जमाबदि	जमाबदि	जमाबदी
तहसीलदार	तहसीलदार	तासिल्दार्	तहसीलुदारु तासिल्दारु	तहसीलदार तासिल्दार	तासिल्दार्
तक़रीर	तकरीर	तकरार्	तकरारु तकारु	तकरारु तकरीरु	—
तक़ाज़ा	तक़ाज़ा तगादा	—	तगादा	तगादे	—
अमीन	अमीन	अमीना	अमीना	अमीन	—
ज़ब्ती	ज़ब्ती	जप्ति	जप्ति जप्ति जबिति जबति	जप्ति	जबित
महसूल	महसूल	महचूल	महसूलु	महसूलू	—
ज़िला	ज़िला	जिल्ला	जिल्ला	जिल्ले	जिल्ल
दफ़ादार	दफ़ादार	दपादार्	दफ़ादारु	दफ़ेदार	दफ़ेदार
क़ैद	कैद	कैदु	खैद	खैदु	कैद
क़िला	क़िला	किल्ला (जैसे— 'किल्लेदार' मे)	किला किल्ला	क़िल्ले	किल्ला

(आ) ऊपर अरबी से आगत कतिपय शब्द दिये गये हैं, यहाँ नीचे फारसी से आगत कतिपय शासन-संबधी शब्द दिये जाते हैं—

फारसी	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
खज़ाना खज़ीना	खजाना	कजाना	खजाना	खजाने	खजाना
जमीं ज़मीन	जमीन	जमीन् (जैसे—'जमीनदार' मे)	जमीनु	ममीनु	जमी ('जमीदार मे)
ज़ामिन	जामिन		जामीनु	जामीनु	जामीन्
काग़ज़	कागज कागद	कायितम् काकितम्	कायितम् कायितमु	कागद काजग, कागज	कायितम्
सिपाही	सिपाही	चिपाय चिप्पाय्	शिपायि सिपायि	सिपायि	सिपाय्
दीवान	दीवान	दिवान्	दिवान् दिवानु	दिवान दिवाण	दिवान्

फ़ारसी	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड़	मलयाळम
रसीद	रसीद	रचीत्तु	रसीद्दु	रसीदि	रसीद्
सिफ़ारिश	सिफारिश	चिपार्चु चिपार्चु	सिपारिश सिपार्शु	सिपारस् सिपार्शु सिर्पासु	सिपार्सु

जिन अरबी और फ़ारसी शब्दों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनके अतिरिक्त राज-काज, न्यायालय आदि से संबंधित शब्द, जैसे—बादशाह, शाह, सुलतान, जागिर, जागिरदार, रियासत, सुबेदार, अमलदार, सरदार, मुंसिफ़, (मुकद्दमा), पेश्कार (पेष्कार), हवालदार इत्यादि भी विशेषतः हिन्दी, तेलुगु और कन्नड़ में प्रयुक्त होते हैं। हाँ, भाषा की प्रकृति के अनुसार शब्दों के रूपों में किंचित् परिवर्तन दृष्टिगत होता है जिसके संबंध में हम आगे विचार करेंगे।

(2) धर्म और संस्कृति संबंधी शब्द :—मुसलमानों के समाज में प्रचलित धर्म, आचार-विचार आदि से संबंधित शब्दों के कुछ उदाहरण—

मूल शब्द*	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
ईद (अ)	ईद	ईद्	ईद्	ईद्	ईद्
खलीफ़ा (अ)	खलीफ़ा	कलीपा ('किलापत्तु' 'खिलाफ़त' के लिए)	खलीफ़ा	खलीफ़ा	खलीफ़ा
कुरान (अ)	कुरान्	कुरान्	कुरान् कुरान खुरान् खुरान	कुराण कुरान् कुरानु खुरानु कोरान् कोरानु	कुरान्
मौलवी (अ)	मौलवी	मौल्वि	मौल्वि	मौल्वि	मौल्वि
मसजिद (अ)	मोलवी मसजिद	मसूदि मसूरि	मशीदि मसीदु मसीद्	मसीदि	मसूदि

* (अ) का अर्थ अरबी और (फ़ा) का अर्थ फ़ारसी है।

मूल शब्द	हिन्दी	तमिल	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
पैग़बर (फा)	पैगंबर	पैगंबर्	पैगंबरु	पैगंबर	पैगंबर्
नमाज़ (फा)	नमाज	नमाज्	नमाजु	नमाजु	नमाज्
रोज़ा (फा)	रोजा	रोजा	रोजा	रोजा	रोजा
रमज़ान (अ)	रमजान	रजान्	रजान्	रजान्	रजान्
हज़ (अ) हज्ज	हज	अज् हज्	हज्	हज्	हज्
मुहर्रम (अ)	मुहर्रम	मुहरम्	मुहर मोहर	मोहर्र	मुहरम्
हाजी (अ)	हाजी	हज्जि	हाजि	हाजि	हाजि
ख्वाजा (फ़ा)	ख्वाजा	काजा	ख्वाजा	ख्वाज	ख्वाज काजा
ख़ुदा (फ़ा)	ख़ुदा	—	ख़ुदा	ख़ुदा	—
अल्लाह (अ)	अल्ला	अल्ला	अल्ला	अल्ला	अल्ला
ख़ाला (फा)	ख़ाला	काला	—	—	—
फ़कीर (अ)	फ़कीर	—	फकीरु	फ़कीर	फ़कीर्
तावीज़ (अ)	तावीज*	—	तायितु*	तायितु* तायित्तु ताति तायति तायिति	—

(8) शिक्षा, कला, विज्ञान, व्यापार और आमोद-प्रमोद संबंधी शब्द :—इस शीर्षक के अंतर्गत रखे गये शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। खान-पान, कपड़े-लत्ते, फल-फूल आदि से संबंधित बहुत-से शब्द दैनिक व्यवहार के लिए आवश्यक हो गये हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

मूल शब्द	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
किताब (अ)	किताब	किताब्	किताबु	कित्ताबु कित्ताबे	कित्ताब्
कलम (अ)	कलम	—	कलमु कल	कलमु कलम कलं कलामु	—

* हिन्दू-समाज में भी इन शब्दों का बराबर प्रयोग होता है।

मूल शब्द	हिन्दी	तमिल	तेलुगु	कन्नड	मलयालम
दवात (अ)	दवात	—	दवति दविति	दवति	—
स्याही (फ़ा)	स्याही	—	शायि* सायि, श्यायि	शायि	—
ख़त (अ) ख़त्ता	खत	—	—	—	कत्तु
लिफ़ाफ़ा (अ)	लिफ़ाफ़ा	—	लकोटा लकोटा	लकोटु लकोटे लक्कोटे	—
क़हवा (अ)	कहवा	कापि	कापि काफ़ि	कापि काफ़ि	काप्पि काप्पि
नुकसान (अ)	नुकसान	नुक्सान्	लुक्सानु लुगसानु नोक्सानु	लुक्सानु लुक्सान	— —
रज़ा (अ)	रज़ा	—	रजा	रजा, रजे	—
रैयत (अ)	रैयत	—	रैतु	रैत	—
शाल (फ़ा)	शाल	शलवै	शालुव	शालुवे, शालु	—
शीशा (फ़ा)	शीशा	—	सीसा शीषा	शीशा शीषे	—
सवारी (फ़ा)	सवारी	सवारि	सवारि स्वारि	सवारि	सवारि
सामान (फ़ा)	सामान	सामान् चामानु	सामानु	सामानु	सामानम्
हद्द (अ)	हद	—	हद्दु	हद्दु	—
हाज़िर (अ)	हाजिर	आजिर् हाजिर्	हाजरु	हाजर हाजरु हाजिरु	हाजिर्
वापस (फ़ा)	वापस	—	वापसु वाप्सु	वापसु वाप्सु	—
वायदा (अ) वाइदा	वादा	— —	वायिद वायद	वायिदे	—

*तेलुगु में इन शब्दों के बदले 'सिरा' अधिक प्रचलित है जिसका मूल रूप 'सिरह' है।

मूल शब्द	हिन्दी	तमिल	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
जामखाना (फ़ा)	—	जमक्काळम्	जमखाळम्	जखाना जमखाना	जमक्काळम्
गुलाब (फ़ा)	गुलाब	गुलाब् (केवल 'गुलाब्जान्' में)	गुलाबि	गुलाबि	—
सेब (फा)	सेब	—	सेबु	सेबु	सेब्
कसीदह (फा)	कसीदा कशीदा	—	कसीदु	कसूदि कसूति कसीदि	—
कुलाह (फा)	कुलाह	कुल्लावि	कुला कुळायि कुळ्ळायि	कुलाय कुलायि कुलावि कुल्नावि कुल्लायि कुळ्ळावि	कुल्लावि
गुमाश्ता (फा)	गुमाश्ता	—	गुमाश्ता	गुमास्ता	—
पाजामा	पायजामा	पैंजाम	पैंजाम	पैंजाम	पैंजाम
लुंगी (फा)	लुंगी	लुंगी	लुंगी	लुंगी	लुंगी
रूमाल (फा)	रूमाल रुमाल	—	रुमालु	रुमालु	—
अंजीर (फा)	अंजीर	—	अंजीरु	अंजीर अंजूर	—
बादाम (फा)	बादाम	बादाम्	बादामि	बादामि	बादाम्
मेज़ (फा)	मेज़	मेजै	मेजु	मेजु	मेशा
परदा (फा)	परदा पर्दा	पर्‌दा	पर्दा	पर्दे	पर्‌दा
तराज़ू (फा)	तराज़ू	—	त्रासु	त्रासु, तरासु	—
ज़री (फा) ज़रीं	ज़री	जरि	जरि जरी	जरि जरतारी	जरि
बाज़ार (फा)	बाज़ार बजार	बजारु	बजारु	बजारु	बजार्
पसंद (फा)	पसंद	—	पसंदु	पसंद	—

मूल शब्द	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
पहलवान (फ़ा)	पहलवान	पैलवान्	पैलुमानु पैल्वान्	पैल्वान्	पैल्वान्
महल (अ)	महल	महाल्	महलु महलु	मालु	—
फ़स्ल (अ) फसल	फ़सल	पचल् पचलि	फ़सलु फ़सली	फ़सलु फ़सलि पसलु	—

4. संज्ञा, विशेषण और अन्य शब्द—व्यक्तिवाचक संज्ञा, विशेषण, प्रत्यय आदि की चर्चा यहाँ कर सकते हैं। हिन्दी की अपेक्षा दक्षिणी भाषाओं में ऐसे शब्द अपेक्षाकृत कम हैं। कुछ उदाहरण—

	मूल शब्द	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
(अ)	हिन्द (फ़ा) हिन्दुस्तान (फ़ा)	हिन्द हिन्दुस्तान	—	हिन्दूदेशमु	हिन्दूदेश हिन्दूस्तान	—
	हिन्दू (फ़ा)	हिन्दू	इन्दु हिन्दु	हिन्दु हैन्दवु	हिन्दु	हिन्दु
	पंजाब (फ़)	पंजाब	पंजाब्	पंजाब् पंजाबु	पंजाब् पंजाबु	पंजाब्
	मिरज़ा (फ़ा)	मिर्ज़ा	मिर्ज़ा	मिर्ज़ा	मिर्ज़ा	मिर्ज़ा
	शैख़ (अ) शेख़	शेख	शेक्	शेक् शेख्	शेक् शेख्	शेख्
	बख़्शी (फ़ा)	बख़्शी	—	—	भक्षि	—
	सरदार (फ़ा)	सरदार सर्दार	सर्दार	सर्दार सर्दारु	सर्दार	सर्दार
	साहब (अ)	साहब साहिब साहेब	सायिबु	सायिबु साबु सायेबु	साहेबु साबु साबि	सायिबु
(आ)	चालाक (फ़ा)	चालाक	—	चालाक्	चालाक्कु चालांकु	—
	ग़लीज़ (अ)	गलीज	—	—	गलीजु	—
	ज़बाँ (फ़ा) जबान	जबान	—	जबानु	जबान	—

मूल शब्द	हिन्दी	तमिळ	तेलुगु	कन्नड	मलयाळम
ताज़ा (फ़ा)	ताज़ा	—	ताज़ा	—	—
ज़ियादह (अ)	ज्यादा				
ज़ियादती (अ) ज़ियादत	ज्यादती	जास्ति*	जास्ति*	जास्ति*	जास्ति*
अस्ल (अ)	असल अस्ल	—	असलु	असलु	—
खास खास्सा	खास	कासा कासा (जैसे 'कासावर्गम्' में)	खास खासा	खास	कास्स खास्स
(इ) अदब (अ)	अदब	—	अदबु	अदबु	—
इरादा (अ)	इरादा	—	इरादा	इरादा इरादे	—
ख़ुश (अ)	ख़ुश	कुशि	ख़ुषि	ख़ुशि	कोशि
ख़ुशी (अ)	ख़ुशी				
(ई) ख़ुद (अ)	ख़ुद	—	ख़ुद्दन ख़ुद	ख़ुद्दु	—
खाली (अ)	खाली	—	खाली खाळी	खालि	—
(उ) खाना (फ़ा)	खाना	—	खाना	खाने खाना (जैसे 'बंदीखाना, जेलखाना')	—
गीर् (फा)	गीर	—	—	गिरि (जैसे—'दौलत्गिरि नवाब्गिरि)	
दार दारी (फा)	दार दारी	दार*	दार दारि	दार दारी	दार*

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अरबी और फ़ारसी के शब्द हिन्दी और दक्षिण भाषाओं में भिन्न भिन्न स्थितियों में सन्निविष्ट हुए हैं एवं उनकी संख्या और परिमाण में भेद भी है। आगत शब्दों में ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं, यह भी कम महत्वपूर्ण विषय नहीं है। ऐसी कतिपय विशिष्टताओं की ओर नीचे संकेत मात्र किया जा सकता है, संपूर्ण विवरण इस लेख में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

(अ) ध्वनि-परिवर्तन के उदाहरण :—स्वर और व्यंजन संबंधी जो उदाहरण मिलते हैं, वे इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

(i) एक स्वर के बदले दूसरे स्वर का प्रयोग :—शब्दों के आदि में ऐसे परिवर्तन प्राय: कम होते हैं ; इन शब्दों के आदि में ऐसे परिवर्तन प्राय: कम होते हैं ; इन शब्दो में परिवर्तन द्रष्टव्य है—

अमारी (अ)* > अंबारि (क, ते)
अम्मारी

ईसवी (अ) > इसवि (क, ते)
इस्वि

उर्फ़ (अ) > ऊरुफ़ (क)

इत्र (अ) > अत्तर् (क)

(ii) मध्य स्वर-परिवर्तन के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं—

नाज़ुक (फ़ा) > नाजूकु (क, ते)

हाज़िर (अ) > हाजर (क)
हाजरु

वापस (फ़ा) > वापिस (हिं.)
सहाब

साहिब (अ) > साहेबु (क)
साहेब साहेब

उम्मीदवार (फ़ा) > उमेदुवार (क)
उमेदवार उम्मेदुवारु (ते)

(iii) अंतिम स्वर—परिवर्तन के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। वस्तुत: तेलुगु और कन्नड की यह विशेषता समझनी चाहिए कि इन भाषाओं में व्यंजन ध्वनियों को भी स्वर में परिवर्तित करने की वृत्ति अधिक है।

तराजू (फ़ा) > त्रासु (ते, क)
तरासु

---

* जैसे—'कबर्दार' (खबर्दार)
'जमीनुदार' आदि

* अ—अरबी, फ़ा—फारसी
त—तमिल, ते—तेलुगु,
क—कन्नड, म—मलयालम
हि—हिन्दी

इलाक़ा (अ) > इलाखे (क)
जमाबदी (अ) > जमाबदि (ते, क)
हाजी (अ) > हाजि (ते, क, म)
मुद्दई (अ) > मुद्दायि (ते, क)
कलाई (अ) > कलाय

(iv) स्वरागम, स्वरलोप, स्वरभक्ति और ध्वनि-विपर्यय के लिए—

मुद्दई (अ) > मुद्दायि (ते, क)
कमी (फा) > कम्मि (ते, क, त, म)
रास्ता (फा) > रस्ते (क)
रस्ते (ते)
मजदूरी (फा) > मजूरि (ते, क)
रैयत (अ) > रैत (क)
रैतु (ते)
वापस (फा) > वाप्सु (क)
दर्ज़ी (फ़ा) > दरजि (क),
दर्जि, दर्रिजि (ते)
नुक़सान (अ) > नुक्सान् (त)
नुक्सानु, नुक्सान (क)
नुक्सानु, नुगसानु (ते)
काग़ज़ (फा) > काजग (क)
> काजिग

(v) आदि में व्यंजन के बदले स्वर का प्रयोग कुछ शब्दों में देखा जाता है, यथा—

हज़रत (अ) > अजरत् (त)
हलाक (अ) > अलाकु (ते)
हलक़ा (अ) > अलका (ते)
हल्का (हि)
हाज़िर (अ) > आजिलु (ते)

---

* यहाँ 'हे' का दीर्घ उच्चारण होता है।

(vi) मध्य और अंतिम 'ह्' के बदले स्वर का प्रयोग—

पहलवान (फ़ा) > पैल्वान् (त, क, म)
पैलुमान् (ते)
पैलवान्

तहसील (अ) > तासिल् (ते, क, त, म) (जैसे—'तासिल्दार')

तरह् (अ) > तरा (क)

जगह् (फ़ा) > जाग (ते, क)

जियादह् (अ) > ज्यादा

(vii) अंतिम व्यंजन के बदले स्वर का प्रयोग बहुधा होता है—

मरम्मत (अ) > मरामत्तु
मरहम्मत्तु (ते)
मरम्मत्तु

महसूल (अ) > महसूलु (ते, क)

तारीख़ (अ) > तारीकु (ते, क)
तारीखु

तालीम (अ) > तालीमु (क)

तफ़सील (अ) > तफसीलु (ते)
तप्सीलु (क)

तरबियत (अ) > तरबेतु (क)
तरबिय्यतु (ते)
तर्बीत्तु (त)

(viii) एक व्यंजन के बदले दूसरा व्यंजन :—महाप्राण ध्वनि के बदले अल्पप्राण ध्वनि का प्रयोग—

फ़ितूर (फ़ा) > पितूरि (क)

खमीर (अ) > कमीर् (त)

कारखाना (फ़ा) > कारक्काना (त)

ख़लासी (अ) > किलासु (त)

ख़िलअत (अ) > किल्लत्तु (त. ते, क)

खिदमत (अ) > क्रिद्मत्तु (म)

जामखाना (फ़ा) > जमक्काळम् (म, त)

(ix) 'क़्' के बदले 'क्' अथवा 'ख्' और 'ग़' के बदले 'ग्', जैसे—

क़ैदी (अ) > कैदि (त, ते, क, म)
खैदि (ते, क)
कैदी (हि)

क़ायम (अ) > कायम् (त, ते,) खाय (क)

ग़रीब (अ) > गरीब (क)

(x) 'ज़्' के बदले 'ज्' अथवा 'स्'—

ख़ज़ाना (फ़ा) > खाजाना (ते, म)
कजाना (त)
खजान (क)

ज़रूर (अ) > जरूर (हि, म, क, ते)

ज़िला (अ) > जिल्ला

ज़ंजीर (फ़ा) > जञ्जीर् (त)
(जैसे—'जञ्जीर् जामीन्)

जनाज़ा (अ) > जनास (म)

जुज़ (अ) > जुस (म)

(x) द्वित्व के लिए उदाहरण—

जिंस (अ) > जिन्निस (म)
जिनिस

ज़िला (अ) > जिल्ला (त, ते)
जिल्ले (क)
जिल्ल (म)

(xi) 'फ़्' के बदले 'प्' या 'फ' का प्रयोग होता है। किंतु आजकल 'फ़्' और 'ज़्' ध्वनियाँ ग्रहीत हो चुकी हैं—

फ़रियाद (फ़ा) > फिर्यादु (ते, क) पिरादु (त)

फ़ेहरिस्त
फ़िहरिस्त } (अ) > फेरिस्तु (ते, क)

काफ़िर (अ) > काफ्पिरि (म)

खिलाफ़त (अ) > किलापत्तु (त)

फ़कीर (अ) > फ़कीरु (ते)
फ़कीर (क)
पक्किरि (त)

(xii) 'स्' के बदले 'श्' और 'श्' के बदले 'ष्' का प्रयोग साधारणतया होता है—

स्याही (फ़ा) > शायि (ते, क)
श्यायि (ते)

पेशकार (फ़ा) > पेष्कार् (ते, क, त)
पेष्कार (म)

होशियार (फ़ा) > हुषार् (क)

शीशा (फ़ा) > शीषे (क), शीशा (त)

(xii) 'ल्' के बदले 'ळ्' का प्रयोग दक्षिणी भाषाओं की प्रकृति के अनुसार ही है—

दलाल (अ) > दलाळि
दल्लाळि (क)
दळाळि

कुलाह (फ़ा) > कुळ्ळायि (क)
कुळायि (ते)
कुळ्ळायि

(आ) व्याकरणिक विशेषताएँ :—

(i) दक्षिणी भाषाओं ने अरबी-फ़ारसी से कुछ समस्त पद भी किंचित् रूपांतर के साथ ग्रहण किये हैं, जैसे—

ज़ोर-आवरी (फ़ा) > जोरावरि (म)

आमद-ओ-रफ़्त (फ़ा) > आमुदुरफ़्तु (ते, क)
आमदोरस्तु (ते)

(ii) 'खुद्दुराजि' (क) जैसे शब्दों के अतिरिक्त 'मनोराजि' (त) जैसे शब्दों में विचित्र संधिकार्य देखा जाता है।

(iii) अपनी भाषा के प्रत्यय मिलाकर संज्ञा शब्दों को क्रियापद बनाने के उदाहरण भी कम नहीं मिलते हैं, जैसे—

अजमाइसु > आजमाइश (फ़ा)
अजमासु (क)
अजमाना (हि.)

(इ) अर्थ परिवर्तन के उदाहरण:—एक भाषा से दूसरी भाषा में जो शब्द आ जाते हैं, उनके मूल अर्थ कई सदर्भों मे परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे—हिन्दी मे 'गुज़रना' (फ़ा) का प्रयोग 'बिताना, काटना, अदा करना, पेश करना' के अर्थ मे ही नही 'मरना' (गुजर जाना = मर जाना) के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। दक्षिणी भाषाओं (ते, क) में प्रयुक्त 'मुद्दई' का अर्थ 'दावेदार' ही नहीं, 'अपराधी' भी है। इसी प्रकार 'काज़ी' (काजी) का अर्थ जज अथवा न्यायाधीश के अतिरिक्त 'फ़कीर' भी है। 'मौल्वि' (मौलवी) का अर्थ 'उर्दू अथवा अरबी-फारसी पढ़ानेवाला' तक ही सीमित रह गया है। 'उस्ताद' [वस्ताद्] (त) का विशेषण-अर्थ ही अधिक प्रचलित है। 'हुशार' (क) 'होशियार' का अर्थ 'स्वस्थ' अथवा 'तेज़' है। 'बदोबस्त' (क, त, ते) का अर्थ 'जमीन का प्रबध' ही नही, 'सुरक्षा' भी है। 'रैत' 'रैतु' (क, ते) ['रैयत'] का अर्थ 'किसान' और 'रुमाल्' (क) का अर्थ 'पगडी' है। 'भक्षि' (क) ['बख्शी'] का अर्थ 'राजा के अधीन में काम करनेवाला' है। यह एक उपाधि के रूप मे प्रयुक्त होता है। 'साहेबरु' (क) 'अफ़सर' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। 'महज़र' ('मकजर्'—त) का अर्थ 'अर्ज़ी' और 'कायम' ['कायम्' (त), खाय (ते, क)] का अर्थ 'नौकरी का स्थायित्व' (Permanence) है। और भी ऐसे बहुत-से उदाहरण अर्थभेदो के मिल सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इन आगत शब्दों को लोकमानस की स्वीकृति मिल चुकी है। कुछ कवियों और लेखकों ने भी अपनी रचनाओं मे ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, बिहारी आदि की रचनाओ से कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। दक्षिण के कवियो और लेखकों ने भी अपनी रचनाओ मे ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए तमिळ-कवि अरुणगिरिनादर् (17-वी शती) के 'तिरुप्पुगळ्' की ये पंक्तियाँ देखिए—

सुरादिपति मालयनु मालोडु सलामिडु
सुवामि मलैवाळुम् पेरुमाळे ॥

यहाँ 'सलाम' (सलाम् + इड्) का प्रयोग हुआ है।

कहावतो में ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त होते हैं। 'सलाम' का प्रयोग कन्नड की इस कहावत में देखिए—

कंकुळलिल दोण्णे, कैयल्लि सलामु।

(बगल में लाठी, हाथ में सलाम अर्थात् मुँह मे राम-राम बगल मे छुरा।)

'बनिये का सलाम भी बेगरज नही होता' जैसी कहावतें तो हिन्दो मे अनेक हैं। अत में तेलुगु की एक कहावत का उल्लेख कर इस प्रकरण को समाप्त किया जा रहा है—

नाडुवुटे नवाबु सायेबु, अन्नमुटे अमीरु सायेबु,
बीद बडिते फकीरु सायेबु।

[देश (या जमीनदारी) रहे तो (मुसलमान) नवाब साहब, धन-दौलत हो तो अमीर साहब ग़रीब हो जाय तो फकीर साहब है। अर्थात् प्रत्येक अवस्था मे 'साहब' शब्द छूटता नहीं।]

संस्कृति-कला खंड

संस्कृति-कला-खंड

श्री रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर
लोकशिक्षण ट्रस्ट, हुबली, धारवाड़,
मैसूर राज्य

एकीकृत भारत क्यों?

गांधीय विचारधारा के स्वराज्य संग्राम कालीन राज पुरुष की हैसियत से श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर अपने जन्म-प्रदेश कर्नाटक तथा समूचे राष्ट्र की बहुमुखी-दीर्घकालीन सेवा का कीर्तिमान रखते हैं। आप स्वाधीनोत्तर भारत में भी केन्द्रीय मंत्री तथा राज्यपाल के रूप में प्रशासनिक कुशलता प्रकट कर चुके हैं। मगर आपकी प्रतिभा व सेवा का विशेष निखार शिक्षा, साहित्य तथा पत्रकारिता के क्षेत्रों में हुआ है। "लोकशिक्षण ट्रस्ट" आप द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्था है जो इस दिशा में कन्नड़ भाषा-साहित्य की विशेष सेवा कर रही है। बहुभाषा विशारद श्री दिवाकरजी कर्नाटक में हिन्दी प्रचार के आधार-स्तंभ माने जाते हैं। संप्रति गांधी स्मारक निधि के अध्यक्ष की हैसियत से आप राष्ट्र को रचनात्मक नेतृत्व दे रहे हैं।

अगस्त, 1947, में भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। उसके साथ ही देश के दीर्घ इतिहास में उससे विभाजन का अभिशाप भी आया। विभाजन के कारण, एक राष्ट्र की जगह दो स्वतंत्र राष्ट्रों का जन्म हुआ। एकीकृत एवं स्वतंत्र भारत के लिए हमारा जैसा भी आग्रह रहा हो, अब तो वह बात पुरानी और पुनः कभी न आनेवाली हो गयी है। वास्तव में, क्षिप्र एवं संगत बात है वर्तमान भारत को एकीकृत राष्ट्र के रूप में बनाये रखना। प्रत्येक भारतीय का, चाहे वह किसी भी धार्मिक, राजनैतिक या सांस्कृतिक विचारधारा का क्यों न हो, यही उद्देश्य है और होना चाहिए। भारत और पाकिस्तान के रूप में देश के विभाजन से अगर हम कुछ सीख सकते हों, तो यही कि दोनों अब कमज़ोर हो गये हैं और जो प्रगति वे कर सकते थे तो वह कर नहीं पा रहे हैं।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि विभाजन के कारणस्वरूप जो परिस्थिति रही, वह अभी मिटी नहीं। संकीर्ण प्रादेशिक और भाषागत मोह तथा विघटन से होनेवाले परिणामों की उपेक्षा के कारण, कई और उच्छृंखल प्रवृत्तियां अब उभर उठी हैं। कारण कुछ भी हो सकता है—धर्म, भाषा, संस्कृति, स्थानिक भक्ति और अथवा केन्द्रीय सत्ता से असंतोष। मातृभूमि से उसके अंगभूत प्रदेशों के अलग हो जाने की यह प्रवृत्ति आज विश्व में प्रचलित प्रमुख प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। साधारण प्रवृत्ति तो एकीकरण की ओर है, न कि दूसरी दिशा में। 'एक यूरोप' ('यूरोप संयुक्त हो') ही आज का नारा है और सामान्य मार्केट ने इस विचार को पुष्ट किया है। ऐसी हालत में, एकीकृत भारत का कोई निवासी भारत का यूरोपीकरण करना चाहे—यह तो भयंकर विचार है और

विश्व-प्रवृत्ति के विरुद्ध, उसका कारण या तर्क चाहे कुछ भी हो।

कोई मुझसे पूछ सकता है कि मैं एकीकरण के लिए, जो कि स्वयस्पष्ट है, इतना तर्क क्यो पेश करता हूँ। चाहता तो यही हूँ कि सबको यह सचमुच काफी स्पष्ट हो जाए कि जाने या अनजाने भारत मे और विदेशो मे वे इसकी जड न खोदें। कौन कह सकता है कि जब राजनैतिक दल देश-भर में साम्प्रदायिक आधार पर सगठित किये जाते हैं दो-राष्ट्रवाला सिद्धान्त पुन अपना सिर नही उठाएगा? राजनैतिक दलों की अकसर यह प्रवृत्ति होती है कि अस्वस्थ गठबधन कर लें जो कि राष्ट्र के लिए अहितकारी सिद्ध होते हैं। द्राविडस्तान के समर्थक जैसे कई विघटनवादी कहते हैं कि जब बेलजियम, डनमार्क, सिलोन जैसे छोट छोट देश भी स्वतन्त्र एव सपन्न रह सकते हैं, तब द्राविडस्तान या केरल, कश्मीर और पश्चिम बगाल क्यों नही रह सकते।

राजनीति अधिकार लोलुपों के हाथ में पडकर अत्यन्त अनैतिक एव खतरनाक शैतानी कर सकती है। अधिकार एक नशा है जो आदमी को अपना गुलाम ही नही, पागल भी बना देता है। फिर उस आदमी को अपना अधिकार बनाए रखने के लिए कोई भी उपाय अतिनिन्द्य या वर्जित नहीं लगता। अधिकार और उसका सरक्षण उस व्यक्ति का सर्वोपरि सत्कर्तव्य हो जाता है। कुछ अधिकार लोलुप व्यक्ति अपने को देवप्रेषित महादूत भी समझने लगते हैं। तब ईश्वर भी उनको या उनके शिकारो को नहीं बचा सकता।

अकसर भारत को देश या राष्ट्र नहीं कहा जाता, लेकिन 'उपखण्ड' कहा जाता है। यह साम्राज्यवादियो और उपनिवेशवादियों का आविष्कार है। दुर्भाग्यवश, कुछ भारतीय जिनके शरीर मात्र भारतीय होते हैं, लेकिन दिमाग विदेशी, उनका अनुसरण करते हैं। हेरोटोटस और टालमी से लेकर आज तक किसीने भारत को 'खड' नहीं कहा है। न ही चीनी यात्रियो ने (सातवीं शती), जिन्होंने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा की थी, यह कहा कि उन्होंने भारत के "देशों" की यात्रा की। भारतीयो और विदेशियो ने भारत को एक ही देश माना है। उसे सामान्य सस्कृतिवाला एक ही देश मानकर उसी आधार पर श्री शकराचार्य ने भी (आठवीं शती) अपने चारों मठों—उत्तर मे बद्रीनाथ, पश्चिम मे द्वारका, पूरब मे पुरी और दक्षिण मे रामेश्वर—की स्थापना की। राजनैतिक उथल पुथल चाहे जैसी भी रही हो, सदियों तक मुसलिम तथा ब्रिटिश शासन और बड पैमाने पर धर्म-परिवर्तनों के बावजूद एक देश और एक राष्ट्र के रूप में भारत की सास्कृतिक एकता बनी रही। हाँ, इसका एक कारण यह था कि भौगोलिक दृष्टि से यह देश उत्तर में हिमालय से और पश्चिम, दक्षिण तथा पूरब, इन तीनो तरफ तीन समुद्रों से सुरक्षित एक इकाई ही रहा।

ऐतिहासिक दृष्टि से, उत्तर-पश्चिम, उत्तर और उत्तर पूरब मे भारत की सीमाएँ कभी कभी बदलती रहीं, लेकिन उसके बावजूद, उसके ब्रिटिश तथा देशी नरेशो के शासन मे रहते समय भी—एसे देशी नरेश 563 थे—स्वतन्त्रता के तुरत पहले तक समस्त भारत एक ही देश रहा।

यह कहना भ्रामक है कि ब्रिटिशवालो ने भारत को एक राष्ट्र के रूप मे गठित किया। उन्होने भारत को विभाजित किया और विभिन्न नरेशो के विविध हितो का फायदा उठाकर भारतीय नरेश शासन की विविधता को समाहित करते हुए एक राजनैतिक शासन की स्थापना कर दी। भारतीय सेना के सगठन मे भी उन्होने तथाकथित सामरिक जातियों तथा असामरिक

जातियों से भी सब संभव लाभ उठाया। विभाजित कर शासन करने की नीतियाँ अपनाकर उन्होंने हिन्दु-मुस्लिम और ब्राह्मण-अब्राह्मण भेद-भावनाओं से भी पूरा फ़ायदा उठाया। फिर भी उनके बावजूद, शिक्षित भारतीयों ने अंग्रेजी और अन्य पाश्चात्य साहित्यों से जो संपर्क बना रखा था, उसके कारण भारत में राष्ट्रीय तथा देशभक्ति की भावनाएँ विकसित हुईं। भारत, स्वयंत्र हो या परतंत्र, पश्चिम से संबन्ध जोड़ने-वाला ही था—स्वतंत्र होने की हालत में जापान की तरह और परतंत्र होने की हालत में भारत ने जैसे जोड़ा वैसे ही। खैर, यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारत ब्रिटेन और उसके राजतंत्रियों का आभारी है जिन्होंने कुछ पाश्चात्य जनतांत्रिक संस्थाओं और उद्योगीकरण के तत्वों का देश में प्रवेश करा दिया। जिनको आज आधुनिकीकरण, विज्ञान तथा शिल्प, इतिहास-चेतना, संगठन-उपाय इत्यादि कहा जाता है, उन सबके लिए हम सचमुच ब्रिटेन के आभारी हैं। उसी समय हम यह भी भूल नहीं सकते कि तथाकथित सारभूत भारतीयता का अधिकांश तब तक दबाकर हम से छिपाया गया था जब तक लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी ने उनकी तरफ़ हमारी आँखें नहीं खोलीं।

दूसरी तरह से, एकीकृत भारत या समग्र भारत को विद्वद्जगत से दर्शन, कला और संस्कृति के क्षेत्रों में मान्यता प्राप्त हुई है। चाहे दक्षिण-पूर्व एशिया में प्राप्त कला या शिल्प हो चाहे यूनान और रोम में या ईसाई धर्म या सूफ़ी पीरों में प्राप्त विचार-रत्न और दार्शनिक मूल हों, उनके स्रोत तो भारतीय या ब्राह्मण ही बतलाये गये हैं, न कि बंगाली या तमिल या कन्नड़ या हिन्दी। मैक्स मुल्लर ने अपने मौलिक ग्रंथ "भारत और वह हमें क्या सिखा सकता है?" में भारत को एकीकृत पूर्ण के रूप में ही प्रस्तुत किया है। इस प्रकार, भारत के जिस किसी कोने से भी प्रकाश की रेखाएँ निकलकर अन्य देशों या जातियों तक फैली हों, उनको भारतीय ही माना गया है, न कि किसी प्रदेश विशेष के। अतः, अगर इस एकता का संरक्षण होना चाहिए, तो हम भारतीयों को इसकी न केवल सांस्कृतिक एकता का, बल्कि राजनैतिक एकता का भी संरक्षण तथा सुरक्षण करना होगा। यह एक प्रशस्त विरासत है।

हमारे देशवासी चाहे जिस धर्म के हों और चाहे जो भाषा बोलें, हमें गौरव और गर्व के भागीदार होने का सौभाग्य है। हमें अपनी संस्कृति की सेवा करके उसे भारतीय संस्कृति के रूप में संसार के सामने प्रस्तुत करना चाहिए और बदले में अपनी भारतीय संस्कृति की विविध नक्काशी में जोड़ने लायक अच्छी बातें दूसरों से सीखनी चाहिए।

भारत में विभिन्न धर्म, जातियाँ, भाषाएँ और संप्रदाय हैं, तो आज की नहीं। सदियों से भारत का विकास उन्हीं के साथ हुआ है और देश उन्हें अपने में समा ही नहीं, पचा भी सका है। भारत में यह प्रयोग अपेक्षाकृत शांति और सौजन्य के साथ हुआ है। हज़ारों वर्षों से आदिम जातियाँ भी यहाँ नष्ट या धर्मांतरित हुए बिना शांति से रही हैं। यह सह-अस्तित्व हिन्दू जीवनदर्शन के कारण हो सका है। इस दृष्टि से, भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन और मानवजाति के सामूहिक जीवन के सामाजिक विकास की शिक्षा के लिए एक बृहत क्षेत्र खुला पड़ा है। उस सीमित उद्देश्य से भी यह आवश्यक है कि भारत की एकता बनायी रखी जाए।

अधिक समझाने की जरूरत नहीं कि सुरक्षा, और प्रतिरक्षा और स्वतंत्रता की संरक्षा के लिए राष्ट्रीय एकात्मकता की परम आवश्यकता है।

चाहे कश्मीर का मामला हो चाहे कन्याकुमारी का, या नेफा या कच्छ का, आज हम एक होकर बोलते हैं। सारा देश अपने सारे साधनों के साथ भारत के प्रत्येक प्रदेश और प्रत्येक नागरिक की प्रतिरक्षा के लिए दौड़ पड़ता है। अगर, किसी कारण से, इधर-उधर उसके कुछ प्रदेश स्वतन्त्र हो जाएँ, तो उनको अपनी प्रतिरक्षा आप ही कर लेनी होगी। इसके अलावा, वैसे प्रदेश खड़ खतरे के अड्डे हो जाएँगे और हमारे दुश्मनों के शरणालय भी। अतः उन प्रदेशों की सुरक्षा के लिए ही नहीं, समूचे भारत की सुरक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय एकता बनी रहे ताकि कोई भी भारत के किसी भी भाग का अहित करने का दुस्साहस न करे। सह-चिन्तन और सह-अस्तित्व द्वारा हम मानसिक और हार्दिक रूप से एक होकर रहें!

(अंग्रेजी से अनुवाद: वा. दा. वा)

◈

आंग्ल भाषा के बड़े से बड़े शब्द कोश में शब्दों की संख्या 5 लाख से अधिक नहीं है। इनमें भी प्रयोग में आनेवाले आंग्ल शब्दों की संख्या एक लाख से अधिक नहीं है। भारतीय भाषाएँ अपने शब्द संस्कृत से ग्रहण करती हैं। संस्कृत में 1700 धातुएँ 80 उपसर्ग तथा 20 प्रत्यय हैं। इस हिसाब से मूल शब्दों की संख्या $1700 \times 80 \times 20 = 27$ लाख 20 हजार हो जाती है। संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में अक्षरों के योग से शब्द बनते हैं। यदि केवल दो शब्दों के योग से ही बने हुए शब्दों को लें तो इस हिसाब से 27 लाख 20 हजार से दुगुनी संख्या हो जाएगी। इससे स्पष्ट होता है कि भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में आंग्ल भाषा भारतीय भाषाओं का सामना नहीं कर सकती। पड़ोसी देशों की भाषा सीखने में आंग्ल बाधक है।

—भाई योगेन्द्रजीत

(जिलास्तरीय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान- अजमेर)

प्रो० जी. सुन्दर रेड्डी,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, आंध्र विश्वविद्यालय,
वालटेयर (आंध्र प्रदेश)

दक्षिण की सांस्कृतिक रूपरेखा

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ। स्वतंत्रता-संग्राम काल में ही उत्तर भारत की राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं में आपने हिन्दी और उर्दू की उच्च शिक्षा पायी, जामिया मिलिया इस्लामिया के स्नातक बने। दशकों के आपके अथक प्रयत्न से आंध्र विश्व विद्यालय में हिन्दी का प्रवेश हो सका। संप्रति उस विश्वविद्यालय के आप हिन्दी विभागाध्यक्ष तथा प्रोफ़ेसर हैं। हिन्दी और तेलुगु भाषा-साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन में आप विशेष रुचि रखते हैं।

संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में द्राविड संस्कृति का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रीक, रोमन, सीरियन, बाबिलोनियन तथा मिश्र की संस्कृतियाँ प्रचीनतम मानी जाती थीं। परंतु मोहनजो दाड़ो, हरप्पा इत्यादि के भग्नावशेषों का पता लग जाने के कारण नये रूप में उन संस्कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। इस दृष्टि से द्राविड़ संस्कृति प्राचीन है।

इतिहास यह बताता है कि आर्य लोगों ने द्राविड़ लोगों को पराजित कर अपने स्थान से भगा दिया। द्राविड़ों ने नगर-सभ्यता को जन्म देकर अपने जीवन को अधिक वैभवशाली बनाया था। वे एक प्रकार से सुखी जीवन के अभ्यस्त हो गये थे। कला-संस्कृतियों के जन्मदाता होने के बावजूद वे आर्यों की अपेक्षा दुर्बल थे। परिणामस्वरूप वे आर्यों के आक्रमणों के धक्के सहते धीरे-धीरे दक्षिण की ओर आये। वहाँ के मूल निवासियों को पराजित कर उन्होंने अपने साम्राज्य स्थापित किये, तथा क्रमशः अपनी भव्य संस्कृति का दक्षिण में विस्तार किया।

प्राचीनकाल में जो द्राविड़ जाति थी, वह कालांतर में पाँच भागों में विभक्त हुई। वे ही द्राविड़, पंच द्राविड़ नाम से विख्यात हुए—

"आन्ध्र द्राविड़ कर्नाटक महाराष्ट्रश्च गूर्जराः"। अर्थात्, आन्ध्र, तमिल, कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात के निवासी पंच द्राविड़ हैं। परंतु आज द्राविड़ शब्द के साथ महाराष्ट्र और गुजरातियों का संबंध विच्छेद-सा हो गया है। आज दक्षिण के नाम से ये ही चार जातियाँ अथवा प्रांत व्यवहृत हो रहे हैं।

द्राविड़ राज्यों का उल्लेख रामायण, महाभारत इत्यादि काव्यग्रंथों में ही नहीं, अपितु पुराणों मे भी पाया जाता है। द्राविड़ सभ्य थे। उनमें स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन था। वे बड़े ही बहादुर एव लड़ाकू थे। समुद्री व्यापार मे भी वे दक्ष थे। दक्षिण भारतीय तटों तथा पश्चिमी एशिया के बंदरगाहों के बीच ईस्वी पूर्व 5-वीं शती से ही समुद्र-व्यापार होता था। ई. पू. प्रथम शताब्दी मे रोम के साथ भी दक्षिण भारत ने व्यापार शुरू किया था। प्रसिद्ध रोमन इतिहासज्ञ प्लिनी ने अपनी यात्रा-पुस्तक में लिखा है—"लंका के साथ दक्षिण भारत के जिन जहाजों के द्वारा व्यापार होता था, वे बड़े भारी जहाज थे। वे 8000 अमफोन (amphone) वजन बोझ लादकर ले जा सकते थे।" इसके अतिरिक्त पूर्वी आन्ध्र वंश की मुद्राओं पर, जो दो या ढाई सौ वर्ष ईसा पूर्व की हैं, दो चिमनीवाले जहाजों की आकृतियाँ बनी हैं, जिससे हमको पता चलता है कि उस समय जहाजों द्वारा अच्छा व्यापार होता था।

दक्षिण का इतिहास भी पर्याप्त प्राचीन है। ईसवी पूर्व ही दक्षिण में बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई थी। उनमें आन्ध्र वंश का साम्राज्य विश्व भर मे विख्यात हुआ है। आन्ध्र वंशी शातवाहन राजाओ ने ईसवी पूर्व 160 में ही एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की। पूर्वी तट पर स्थित धान्यकटक को अपनी राजधानी बनाकर अनेक वर्षों तक शासन किया था। शातवाहन राजा बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अमरावती में तीन स्तूपों का निर्माण कराया जिनमें एक बहुत ही विख्यात है। उस समय आन्ध्र साम्राज्य के अंतर्गत मध्य भारत का पूरा प्रदेश, महाराष्ट्र एवं मैसूर के कुछ हिस्से भी शामिल थे। उन दिनों में आन्ध्र साम्राज्य के दक्षिण में विशाल तमिल राज्य थे। नासिक मे प्राप्त एक शिलालेख द्वारा यह विदित होता है कि गौतमीपुर के आन्ध्र राजा ने शक तथा पल्लव राजाओं को 125 ईसवी के लगभग पराजित किया था।

इस युग मे आन्ध्र राज्य अत्यंत शक्तिशाली ही नहीं, अपितु समृद्धिशाली भी था। आन्ध्र राज्य उन दिनो मे दो शाखाओं में विभक्त था। एक शाखा की राजधानी धान्यकटक थी तो दूसरी शाखा की राजधानी पैठान थी। इन राज्यों का यूनान, रोम, मिश्र, चीन तथा अन्य पूर्वी एवं पश्चिमी राज्यों के साथ जल एव स्थल मार्गों द्वारा व्यापार होता था जिससे यह मालूम होता है कि सीरिया मे जो बहुत बड़ा संग्राम हुआ था, उसमें दक्षिण के हाथियों का उपयोग किया गया था। प्लिनी के कथनों से यह प्रमाणित होता है कि दक्षिण से रोम में प्रतिवर्ष मिर्च मसाले भेजे जाते थे। इस बात की पुष्टि दक्षिण भारत में प्राप्त रोमन मुद्राओ द्वारा हो जाती है। ई सन् 88 मे रोम में जब यहूदियों पर अत्याचार हुए थे, तब बहुत-से यहूदी अपने प्राणों की रक्षा के हेतु भागकर मलबार में आये थे।

शातवाहन राजाओं के समय में साहित्य, कला और संस्कृतियो का अच्छा उन्नयन हो गया था। एक प्रकार से इस युग मे एक मिश्रित संस्कृति का जन्म हुआ था। इस राज्यकाल में संस्कृत, प्राकृत, वैदिक एवं बौद्ध धर्मों का प्रचलन था। शातवाहन राजा हाल ने प्राकृत में गाथा सप्तशती का प्रणयन किया। इस समय महाराष्ट्री प्राकृत

ही राजभाषा के रूप में व्यवहृत थी। काव्य-रचना भी उसी भाषा में हुआ करती थी।

शिल्प-कला के विकास की दृष्टि से भी यह युग कम महत्वपूर्ण नहीं है। उस युग की शिल्प-कला को हम नासिक, कार्ली, गुंटपल्ली, सांची, भट्टिप्रोलु, अमरावती, जग्गय्यापेटा, घंटशाला इत्यादि की गुफ़ाओं तथा चैत्यों में देख सकते हैं।

शातवाहन राजाओं के समय में वैदिक धर्म-संबंधी संप्रदायों के साथ दाक्षिणात्य संप्रदाय भी प्रचलित थे। बौद्ध, जैन धर्मों के संप्रदाय भी मान्य थे।

शातवाहन साम्राज्य के अनंतर बहुत समय तक का इतिहास अंधकार में रहा है। पाँचवीं शती में पल्लव राज्य दक्षिणापथ में चलता रहा। उसके एक शताब्दी के पश्चात् पुलकेशी नामक चालुक्य वंशी नरेश ने बादामी नामक प्रदेश में पल्लव राजा को परास्त किया और बादामी में ही अपनी राजधानी स्थापित की। चालुक्य वंशी नरेशों के राज्यकाल में पुनः दक्षिण का वैभव एक बार चमक उठा। कीर्तिवर्मा ने संपूर्ण प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया था। ये कला के भी अच्छे प्रेमी थे। इन्होंने बादामी गुफ़ा-मंदिरों में एक के निर्माण का कार्य प्रारंभ करवाया था। ये वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। इनके समकालीन धर्म-गुप्त नामक एक सुप्रसिद्ध बौद्ध-भिक्षु ने अनेक धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था।

चालुक्य वंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय ने गद्दी पर बैठते ही समस्त दक्षिणापथ पर आक्रमण किया और उसे अपने अधिकार में ले लिया था। इसकी पुष्टि उनके शिला-लेखों द्वारा हो जाती है। क्रमशः इन्होंने मौर्यों को कोंकण से भगा दिया तो राष्ट्रकूट तथा कदंबों को भी परास्त किया। कलिंग पर आक्रमण करके उसकी राजधानी पुरी को हस्तगत कर लिया। उधर उत्तर में हर्षवर्धन को पराजित कर दक्षिण की ओर मुड़ा। पल्लव वंशी राजा महेंद्रवर्मा के राज्य पर आक्रमण तो किया किन्तु कांचीपुरम के निकट उनका ऐसा मुकाबला हुआ तो उसपर अधिकार करने की इच्छा को त्यागकर कावेरी नदी पार की, और वहाँ से चोल, पांड्य तथा केरल राज्यों पर आक्रमण किया था। इस प्रकार पुलकेशी द्वितीय ने जिस विशाल राज्य का संपादन किया था, उसपर शासन करने में बड़ी कठिनाई देखकर अपने भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को अपना प्रतिनिधि बनाकर बादामी में शासन करने भेजा, परंतु कुछ समय के अनंतर विष्णुवर्धन ने अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर वेंगी को अपनी राजधानी बनाया। इस प्रकार चालुक्य वंश दो भागों में विभक्त हुआ। पश्चिमी चालुक्यों की राजधानी बादामी में तथा पूर्वी चालुक्यों की वेंगी में स्थापित हुई।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग पुलकेशी द्वितीय के समय में भारत आया था। उसने सारे भारत का भ्रमण करके पुलकेशी द्वितीय तथा हर्षवर्धन के राज्यों का वर्णन अपने यात्रा-वृत्तांतों में किया है। उसने एक स्थान पर लिखा है कि बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मों का प्रभाव लोगों पर समान रूप में है। ईरान का राजा खुसरो द्वितीय तथा पुलकेशी द्वितीय के बीच भेंटों तथा पत्रों का आदान-प्रदान होता था।

दक्षिण पर वैसे अनेक वंशों के राजाओं ने शासन किया है, परंतु उनमें राष्ट्रकूट वंश, तुलुव-वंश, साल वंश, नायक वंश, रेड्डी वंश, तदनंतर

नवाबों के वश भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनके राज्यकाल में दक्षिण मे साहित्य, कला तथा अन्य विद्याओ का उन्नयन हुआ था।

धार्मिक, दृष्टि से भी दक्षिण का योगदान ऐतिहासिक महत्व रखता है। दक्षिण के आचार्यों ने हिन्दू धर्म की नवीन रूप में व्याख्या करके एक विशिष्ट दर्शन, वेदांत तथा भक्ति परंपरा का सूत्रपात किया है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना करके हिन्दू धर्म को परिपुष्ट बनाया तो रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य ने विशिष्टाद्वैत-वाद तथा शुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन करके मृतप्राय हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान किया। इसके पूर्व ही दक्षिण के आल्वारों ने दास्य, मधुर एवं सख्य भक्ति का भी सुंदर निरूपण किया था। आल्वारों द्वारा प्रणीत साहित्य मे भक्ति की गंगोत्री जितनी भव्यता के साथ प्रवाहित हो रही है, उसकी व्याख्या करना भी संभव नही है। इनके साथ नायनारो ने दक्षिण में शैव भक्ति का प्रचार किया। परिणामस्वरूप जैन तथा बौद्ध-धर्म का प्रचार व्याप्त न हो सका। नायनार तथा आल्वारो ने 7-वी तथा 8-वीं शती से ही हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। नायनार कुल 63 लोग थे। ये सब शैव भक्त थे। उनमें अप्पर, तिरुज्ञान संबधर, सुदरर तथा माणिक्क वाचकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन भक्तों ने अपनी भक्ति एवं सदाचरण के प्रभाव से तत्कालीन राजाओं से जो कि जैन धर्म को स्वीकार कर चुके थे, पुन. हिन्दू धर्म को ग्रहण करवाया। ऐसे संदर्भों मे जैनमतावलंबी महेन्द्र वर्मा नामक पल्लव राजा की कहानी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अप्पर ने महेन्द्रवर्मा में मानसिक परिवर्तन करके उन्हें शैवमत मे दीक्षित किया तो संबंधर ने नेडुमारन नामक पांडय राजा को। इस प्रकार इन शैव संतों ने तमिलनाडु में जैन मत की जड़ों को उखाड़ फेंकने का सफल प्रयत्न किया।

नायनारो ने शैवभक्ति संबन्धी जो गीत लिखे हैं उनको तेवारम् कहते हैं। उनमें से कुछ मुख्य तेवामों का संकलन 'तिरुवाचकम्' कहलाता है। इसी भाँति आल्वारो की कृतियों से भी भली भाँति हमें विदित होता है कि प्रथम महेंद्र पहले जैन और बौद्ध मतावलबी था, उसको तिरुमलिशै नामक आल्वार ने वैष्णव योगी के रूप में परिवर्तित किया।

दक्षिण के अन्य शैव मत के पडितों में श्रीपति पंडित और मल्लिकार्जुन पडितों के नाम विशेष रूप से गणनीय हैं। बसवेश्वर ने वीर शैव मत का प्रतिपादन कर दक्षिण में एक और उत्तम संप्रदाय का प्रचलन किया है। इसीकी पुष्टि में तेलुगु और कन्नड भाषाओं में पर्याप्त वाङ्मय की सृष्टि हुई है।

संघकाल मे तमिल वाङ्मय का जो विकास हुआ था, वह ऐतिहासिक एव साहित्यिक दृष्टि से भी गणनीय है। उस समय के मुख्य ग्रंथों में "अगस्त्यम्" या "तोलकाप्पियम्" का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। समुद्र मे ज्वार आने के कारण तटीय नगरों के विनाश के साथ प्राचीन साहित्य भी काल के गर्भ मे विलीन हो गया है। तमिल में जैसे पंचमहाकाव्य हैं, उसी भाँति तेलुगु मे भी प्रौढ पंच काव्यों का प्रणयन हुआ है। दक्षिण की चारो भाषाएँ पर्याप्त समृद्ध हैं और उनका साहित्य भी भारत के अन्य साहित्यों की तुलना में कम महत्वपूर्ण नहीं है।

शिल्प तथा चित्रकला की दृष्टि से भी दक्षिण का योगदान अविस्मरणीय है। शातवाहन राजाओं के समय से लेकर गुहालयों तथा अन्य भवनों का निर्माण होता आ रहा है जिनमें शिल्प एवं चित्रकला की कारीगरी देखते ही बनती है। पल्लव राजाओं के समय में पुनः शिल्प एवं चित्रकला ने अपना एक नया अध्याय प्रारंभ किया था। मामल्ल वर्मा एवं नरसिंह वर्मा ने महाबलिपुरम में जिन गुहालयों का निर्माण कराया, वे आज भी पर्यटकों के लिए दर्शनीय हैं।

काकतीय एवं विजयनगर साम्राज्यों के उत्थान के समय इन कलाओं को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। विजयनगर अथवा हंपी के खण्डहर, वरंगल के भग्नावशेष आज भी उस युग की शिल्प एवं चित्रकला की उत्कृष्टता का परिचय दे रहे हैं। रामप्प मंदिर, होयसाल, हलयबीडु, गोमठेश्वर आदि प्रदेशों में स्थित मंदिर अपने प्राचीन वैभव का आज भी प्रमाण दे रहे हैं। इसी भाँति मधुरा, तंजाऊर, कांचीपुरम, पलनि, मन्नारगुडी, रामेश्वरम, श्रीरंगम, चिदंबरम, तिरुनलवेली, मद्रास आदि विभिन्न नगरों में स्थित भव्य मंदिर दाक्षिणात्य वास्तुकला, शिल्पकला एवं चित्रकला के सुन्दर नमूने हैं। इन मंदिरों एवं गोपुरों पर अंकित शिल्प भारतीय शिल्प-कला की उत्कृष्टता का प्रमाण दे रहे हैं।

पल्लव राजाओं के समय में शिल्प-कला ने विविध रूपों में विकास किया। उस समय की शिल्प-शैलियाँ प्रधानतः चार प्रकार की हैं— (1) महेन्द्रवर्मा शैली (2) महामल्ल शैली (3) राजसिंह शैली तथा (4) अपराजित शैली। पहाड़ों तथा टीलों को खोदकर मंदिर बनाने की जो शैली है वह महेन्द्र शैली कहलाती है। तिरुच्चिरापल्ली इत्यादि में स्थित गुहालय इस शैली के उदाहरण हैं। महाबलिपुरम के शिल्प दूसरी शैली के नमूने हैं। विमान, गोपुर आदि से युक्त मंदिर तीसरी शैली के तथा मण्डपोंवाले मंदिर चौथे प्रकार की शैली के नमूने कहे जा सकते हैं।

हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में मूर्ति-पूजा के साथ दक्षिण में शिल्पकला का अच्छा विकास हुआ। मंदिरों, विहारों, संघारामों तथा चैत्यों का निर्माण हुआ। मंदिरों के निर्माण में शिल्पियों ने अत्यंत भक्ति भाव एवं श्रद्धा से अपनी शिल्प-चातुरी का प्रदर्शन किया है। देखने में आज भी वे मंदिर केवल मंदिर न लगकर कला के केन्द्र प्रतीत होते हैं।

चैत्यों में तो प्रदक्षिणा करने के लिए प्राकार होते हैं तथा मध्य भाग में मंडप होता है। उसके अंत में उलटे छाते की भाँति मूल स्थान होता है। उसके अंत में बुद्ध का स्तूप प्रतिष्ठित रहता है। परंतु हीनयान शाखा के चैत्यों में बुद्ध की मूर्ति पायी नहीं जाती।

चैत्यों में काली का चैत्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह 38 मीटर लंबा, 24 मीटर चौड़ा तथा 24 मीटर ऊँचा है। उसके स्तंभ भी अत्यंत मनोहर बन पड़े हैं। इसी भाँति अजंता और एल्लोरा के गुहालय तथा वहाँ की शिल्प एवं चित्रकला वर्णनातीत हैं। मधुरा में स्थित मीनाक्षी मंदिर तथा तंजाऊर के बृहदीश्वरालय के गोपुर बहुत ऊँचे एवं भव्य हैं। वे दक्षिण की वास्तु तथा शिल्पकला की चरम उन्नति का परिचय दे रहे हैं।

मुसलमानों के शासनकाल में भी दक्षिण में बहमनी सुलतानों ने अनेक नगर, दुर्ग एवं मसजिदों

का निर्माण कराया। दक्षिण मे मुसलमानों की कला निपुणता का परिचायक गुलबर्गं तथा बीदर की मसजिदें हैं। दौलताबाद की चाँद मीनार पारसी शिल्प शैली के अनुकरण पर निर्मित है। इसी भाँति बीजपूर का गोलगुंबज नामक मकबरा अति सुन्दर है। अन्य इमारतो मे हैदराबाद मे निर्मित चार मीनार एव मक्का मसजिद भी उल्लेखनीय हैं।

दक्षिण ने इस्लामी सस्कृति को आत्मसात नही किया, लेकिन उसकी अवहेलना भी नही की। हैदरअली, टीपू सुलतान, आर्काट नवाब, निजाम इत्यादि मुस्लिम शासको ने दक्षिण पर शासन किया था। परतु फिर भी दक्षिण ने धार्मिक दृष्टि से इस्लाम के तत्वो को ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं किया। लेकिन भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे परस्पर सहयोग एव योगदान अवश्य रहा है। उर्दू भाषा का प्रभाव दक्षिणी भाषाओ पर इस प्रकार पडा है कि वे शब्द ढूंढने पर नही मिलते जैसे जेब, फ़सली, कचहरी, किश्त, खजाना, दरबार आदि।

कतिपय हिन्दू मुस्लिम बादशाहो, नवाबों तथा शासको के अधीन नौकरी करते थे। परिणाम-स्वरूप मुसलमानों की रहन सहन का भी प्रभाव हिन्दुओं पर पडा है। धार्मिक धरातल पर जो परिवर्तन हिन्दुओ मे हुआ है, वह अधिकतर निम्न जातियों में ही हुआ है। अन्य जातियो मे हुआ है तो वह नगण्य है। ऐसे ही हिन्दू लोगो न अधिकतर इस्लाम ग्रहण किया जो नौकरी या जीविका के लोभ में पडे थे या इस्लाम ग्रहण करने से समानता की कामना रखते थे। निम्न जातियों का, हिन्दू धर्म मे, कोई आदर न था। वे न वैष्णव मदिरो मे जा सकते थे और न अन्य हिन्दुओं के समान समाज मे उनका आदर था। मुसलमान शासकों ने भी ऐसे हिन्दुओं को अपने दरबारों, फ़ौज तथा शासकीय कार्यों में स्थान दिया जो हिन्दुओ मे प्रतिष्ठित थे, वीर थे, या मेधावी थे। ऐसे लोगों को अपने दरबारों अथवा राजकीय कार्यों मे स्थान देने से मुसलमान शासन के विरुद्ध, विद्रोह नहीं कर सकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमान शासकों ने अपनी दूरदर्शिता, सूझ बूझ का परिचय हिन्दुओ को उचित स्थान देकर किया था। इसमे उनका स्वार्थ भी था। यही कारण है कि मुसलमान शासक कई शताब्दियो तक दक्षिण मे निश्चिन्त शासन कर सके। और उनके शासनकाल में परोक्ष रूप से दक्षिण की सस्कृति मे इस्लाम के तत्वो का भी थोडा-बहुत समावेश हो चुका है।

दक्षिण की सस्कृति को यदि किसी सस्कृति ने अधिक प्रभावित किया तो वह पाश्चात्य सस्कृति ही कही जा सकती है। अग्रेजो सभ्यता का प्रभाव दक्षिण पर इतना अधिक पडा कि अनेक लोग अपने धर्म कर्म, वेष-भूषा, भाषा और साहित्य, रहन-सहन, आचार व्यवहार इत्यादि को भूल बैठे और पाश्चात्य सभ्यता के रग मे रग गये। सब विषयों मे अग्रेजी का अनुकरण करना सभ्यता का मानदण्ड माना गया। ब्रिटिश सरकार के शासन का अग बनकर अपनी जीविका कमानेवाले अधिकाश लोगो ने अपने देश व प्रात की अपेक्षा अपने मालिको के प्रति ईमानदारी बरतना अपना परम कर्तव्य माना। अग्रेजी भाषा मे वार्तालाप करना, अग्रेजी अखबार पढना, अग्रेजो के ढग का वेष धारण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी समझा गया। परिणामस्वरूप शिक्षित लोगो में गुलामी व अनुकरण की प्रवृत्ति

घर करने लगी तथा स्वतंत्र विवेचन की शक्ति जाती रही। विदेशी शासन को अपने लिए कल्याणकारी मानकर स्वतंत्रता की आवश्यकता की उपेक्षा भी की गयी। स्वतंत्रता के आंदोलन के समय जस्टिस पार्टी ने यही काम किया था।

दक्षिण में अंग्रेजी शासन की जड़ों के जम जाने से यहाँ की भाषाओं का विकास रुक गया। अतः ये सभी भाषाएँ कुंठित हो गयीं। कुछ अंग्रेजी-शिक्षित व्यक्तियों ने अंग्रेजी की देखा-देखी उसकी विभिन्न विधाओं तथा प्रक्रियाओं को अपनी भाषाओं में जन्म दिया। इस प्रकार जहाँ अंग्रेजी भाषा ने दक्षिण की भाषाओं के विकास में गतिरोध उपस्थित किया, वहाँ यहाँ की भाषाएँ उसके अनुकरण पर व्यापक एवं समृद्ध भी हुई।

अंग्रेजी शिक्षा ने दक्षिण के निवासियों को अधिक मेधावी, कार्यकुशल एवं वैज्ञानिक दृष्टि से प्रगति करने का भी अवसर प्रदान किया। शासन के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु समस्त प्रकार के शास्त्रों से संबंधित पुस्तकीय एवं प्रायोगिक ज्ञान की उपलब्धि का भी अंग्रेजी शासन साधन या माध्यम बना। परिणामस्वरूप स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् हम अपने देश का संचालन बड़ी कुशलता के साथ सभी क्षेत्रों में करने में समर्थ हुए। इसलिए हम कह सकते हैं कि अंग्रेजों के शासन-काल में दक्षिण ने कुछ खोया तो कुछ पाया भी। कुछ दिया तो कुछ ग्रहण किया। इस आदान-प्रदान एवं लेन-देन ने दोनों जातियों को लाभान्वित किया। परस्पर सहयोग एवं सहकारी भावना ने दृढ़ मैत्री स्थापित की जो आज भी अक्षुण्ण है।

आज की वास्तुकला का स्वरूप प्राचीन वास्तुकला से सर्वथा भिन्न है। वैदिक युग और बौद्धकालीन वास्तुकला में ज़मीन और आसमान का अंतर पाया जाता है। मुस्लिमकालीन भवनों में भी सुंदर शिल्प अंकित पाया जाता है। परंतु आज की इमारतों के निर्माण में बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा मज़बूती पर ध्यान अधिक दिया जाता है। छोटी-सी जगह में भी गगन-चुंबी इमारतें बनायी जा रही हैं।

प्राचीन काल में हमारे देश में शृंगार-रस को जीवन देनेवाले काम-प्रधान प्रेम को अपवित्र नहीं माना गया, बल्कि निवृत्ति के लिए, प्रवृत्ति मार्ग को साधन जानकर चतुर्विध आश्रमों में दूसरे गृहस्थाश्रम के लिए, बौद्धिक प्रेम को आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी माना गया है। इस काम-प्रधान प्रेम का, उसके गुणों के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजन किया गया है। मनुष्यों, उनकी मनोभावनाओं, उनकी प्रेमावस्थाओं, उनकी प्रवृत्तियों और प्रकृतियों की शास्त्रीय दृष्टि से परिभाषाएँ दी गयीं। अलंकार-शास्त्रों में नायिका-नायक भेदों तथा लक्षणों का, सविस्तार निरूपण किया गया।

नाट्य और गान-कलाओं में भी, साधारण काम-प्रधान प्रेम से उसकी कुदृष्टि को हटाकर, आत्मा और परमात्मा का पवित्र-प्रेम संबंध मिलाया गया। भक्तों ने अपने को आत्मा (नायिका) और भगवान को परमात्मा (नायक) मानकर पदों की रचना की। यही कारण है कि गीतों के गाने या अभिनय करने में नायक-नायिका के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। कृष्ण के प्रति भक्ति और उपासना तथा रास लीलाएँ आदि के गीत और नृत्य के द्वारा व्यक्त होने का मार्ग खुल गया। जहाँ पहले आत्मा और परमात्मा के संयोग में जो भक्ति देखी जाती थी, वही बाद में स्त्री और पुरुष के संयोग के रूप में परिणत

हुआ। फलत भक्ति रस प्रधान गीतों के स्थान में केवल शृंगार-रस-प्रधान पदों की रचना हुई। देवदासियाँ इन गीतों को गाकर अभिनय करते समय भोग लालसा को व्यक्त करती थीं, उनका प्रेम काम प्रधान सिद्ध हुआ। आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता को प्राप्त हुआ। पर प्राचीन काल मे नृत्य कला पवित्र मानी जाती थी, लास्य के लिए पार्वती, ताण्डव नृत्य के लिए शिवजी प्रसिद्ध हैं ही। नृत्य कला के गुरु नटराज हैं। हमारे प्राचीन ग्रंथों मे (रामायण, महाभारत और भागवत मे) नृत्य को एक उत्तम कला माना गया है। भरत मुनि ने अपने समय तक प्रचलित समस्त नाट्य लक्षणों का सग्रह 'भरत शास्त्र' नाम से किया है। यह नृत्य कला का प्रामाणिक ग्रंथ है। वैसे ही मदिरो में प्रतिदिन भगवान के सामने नर्तकियो के नृत्य की परिपाटी प्रचलित थी। मदिरो मे नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ अपने जीवन को भगवान के लिए समर्पित कर उनकी सेवा में लगी रहती थी। ये 'देवदासी' नाम से प्रसिद्ध थीं और भगवान को ही अपना पति मानकर भजन, नृत्य, गायन आदि के द्वारा उनकी आराधना तथा उपासना में तल्लीन रहती थी। देव दासियों ने पद रचे थे और वे पद नाट्य के समय गाये जाते थे।

विशषत आठवीं शती से सत्रहवीं तक देश मे भक्ति का अधिक बोलबाला रहा है। इसी समय के बीच अनेक प्रमुख आचार्य पैदा हुए थे। उन लोगो ने विभिन्न प्रकार के आदर्शों एव सिद्धांतों को जनता के सामने रखा। इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म मे बहुदेवतावाद और अवतार-वाद ने भक्ति के क्षेत्र मे नयी नयी भावनाएँ पैदा कर दी। लक्ष्य एक होते हुए भी मार्ग अलग-अलग थे। जिन्हें जो मार्ग भाया, उसी मार्ग का अनुसरण किया। इन मार्गदर्शकों के सामने विभिन्न प्रकार के आदर्श थे। कोई वैष्णव धर्म को अपना आदर्श मानते थे, तो कोई शैव धर्म को। कोई द्वैतवाद को श्रेष्ठ कहते तो कोई अद्वैत या विशिष्टाद्वैत आदि को अधिक महत्वपूर्ण ठहराते।

जो हो दक्षिण मे मुख्यत राम, कृष्ण और शिव की उपासना के ऊपर अत्यधिक चर्चा हुई, साहित्य का सर्जन हुआ, मदिर बने, पूजा होने लगी। दक्षिण से कई आचार्य अपने सिद्धात एव सप्रदाय का प्रचार करते हुए उत्तर पहुँचे। शकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने दक्षिण से आकर उत्तर भारत मे भक्ति का प्रचार करके जन मानस को परिप्लावित किया। इसीको दृष्टि मे रखकर कबीर ने कहा—'भक्ती द्राविड ऊपजे, लाये रामानद'। उस समय दक्षिण में अनेक आचार्य पैदा हुए। उन आचार्यों के उपदेशामृत का पान करके अनेक भक्त कवि पैदा हुए थे जिन्होने किंकर्तव्य विमूढ जनता का मार्ग दर्शन किया। उनमें सूर, तुलसी, जयदेव, विद्या-पति, मीरा, नामदेव, तुकाराम, त्यागराजू आदि मुख्य माने जा सकते हैं।

त्यागराजू की भक्ति दास्य-भावना प्रधान थी, जिसमे विनय को प्रधानता है। यहाँ हमे हिन्दी के भक्त कवि तुलसी की याद अनायास हो आती है। पर, जहाँ तुलसी पहले कवि बाद मे भक्त थे, वहाँ त्यागराजू का कवि हृदय उनकी भक्ति के सामने दबता दिखाई देता है। भक्ति की आवेगमयी स्रवती मे कविता सहायक बनकर त्यागराजू के मुख से प्रकट होती थी। उन्होने स्वय कई कीर्तन रचे और गाये। त्यागराजू केवल अपनी भक्ति और कीर्तन के लिए ही प्रसिद्ध

नहीं है, बल्कि संगीत के कारण वे लोक-प्रसिद्ध हैं। सारे भारत में ऐसा शायद ही कोई होगा जिसने त्यागराजू का कोई गीत न सुना हो। त्यागराज को भक्त और कवि की अपेक्षा, गायक के रूप में ही भारत के लोग अधिक जानते और मानते हैं। उन्होंने स्वयं कीर्तन रचे, उनके लिए राग-रागनियों का सृजन कर ताल एवं लय पर बिठा दिया। वे मस्त होकर गाया करते थे तो श्रोता मुग्ध होकर सुना करते थे। त्यागराजू की राग-रागिनियों ने संगीत को अमर बना दिया। त्यागराजू की कीर्तन-शैली 'कर्नाटक-संगीत' नाम से प्रसिद्ध है। इस 'कर्नाटक संगीत' को त्यागराजू की देन कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

दक्षिण की सांस्कृतिक विशेषताओं में नृत्य एवं संगीत कलाओं का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। भरतनाट्य भारतीय संस्कृति को दक्षिण की एक विशेष देन है। भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्य-शास्त्र के अनुरूप दक्षिण में जिन नृत्य-विधाओं का उदय हुआ, उनमें कूचिपुडि नृत्य भी गणनीय है। अन्य नाट्य विधाओं में कथकलि, भामा कलाप, गोल्ल कलाप इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

नृत्य में ललित और तांडव नृत्य शास्त्रीय दृष्टि से दक्षिण में प्रस्तुत होते हैं। जीवन की प्रत्येक घटना को नृत्य का रूप देकर दक्षिण के आचार्यों ने यहाँ के जनजीवन को अधिक कलात्मक एवं मनोरम बना दिया है।

नृत्य में संगीत का भी सम्यक् रूप में समावेश हुआ। वैसे संगीत एक अलग विद्या है जो सभी कलाओं में अधिक श्राव्य है। संगीत की मधुर लहरी या मीठी तान किसके मन को मुग्ध न करेगी? दक्षिण का संगीत 'कर्नाटक संगीत' नाम से प्रख्यात है। दक्षिण के विविध प्रांतों का प्रतिनिधित्व इस संगीत में इस प्रकार हुआ है कि जो इसकी प्रशस्तता एवं समन्वयात्मकता का भान कराता है।

यह संगीत कर्नाटक संगीत के नाम से प्रसिद्ध है। परंतु इसके गीत तेलुगु भाषा से गृहीत हैं। तमिलनाडु में यह विशेष लोकप्रिय हुआ है। संगीत के यशस्वी विद्वान भी तमिल भूमि पर ही हैं। त्यागराजू की मातृभाषा भले ही तेलुगु क्यों न हो, लेकिन ये तमिलनाडु के एक उत्कृष्ट संगीतकार हैं।

आन्ध्र के वाग्गेयकारों में अन्नमय्या, क्षेत्रय्या के नाम भी अविस्मरणीय हैं। दक्षिण की अन्य सांस्कृतिक देशी विधाओं में यक्षगान, बुर्रकथा, वीथि भागवत, पुतली खेल (तोलुबोम्मलाटा) इत्यादि अपनी अलग विशिष्टता रखती हैं। ये सब भारतीय जन-जीवन की विभिन्नताओं के बीच एकता का परिचय देते हुए भारतीय सांस्कृतिक गरिमा का वर्द्धन कर रही हैं।

★

प्रो० पी. लक्ष्मीकुट्टी अम्मा, एम ए,
प्रिंसिपल, गवर्नमेंट हिन्दी ट्रेनिंग कॉलेज,
तृश्शूर, केरल

कला-कलित केरल

ममा की शिक्षा दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ और गत 50 सालों से अर्थात आजादी की लड़ाई के जमाने से केरल में हिन्दी की सेवा में आप संलग्न हैं। वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी की स्नातकोत्तर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद अब तक आप महाराजास कॉलेज, एरणाकुलम में हिन्दी विभाग संभालती रही हैं। केरल सरकार द्वारा संचालित तृश्शूर हिन्दी प्रशिक्षण कॉलेज के प्राचार्या पद से आप संप्रति अवकाश ग्रहण कर चुकी हैं। हिन्दी और मलयालम में अनुवाद प्रक्रिया के साथ नाटक, हिन्दी शिक्षण आदि विधाओं में आप सृजनात्मक अभिरुचि भी रखती हैं।

धार्मिक अनुष्ठानों, संस्कारों और परम्परागत आराधना शैली में व्यंजित सुन्दर कला-कृतियाँ ग्रामीण स्वभाव की हैं जो केरल की सामान्य जनता की धारणाओं और सांस्कृतिक गति विधियोंकी परिचायक हैं। मंदिरों की छत्र-छाया में, भक्ति ज्ञान के वातावरण में प्रजा-सुख और कला-साधना में रत राजाओं और विनोदप्रिय नम्पूतिरि ब्राह्मणों की देख-रेख में, जन जीवन के संपर्क में, कुलवृत्ति के रूप में स्वीकृत कलाओं में जन हृदय की कलात्मक अभिरुचि, भक्तिभावना, सामाजिक सौहृद-भाव और अपूर्व कला प्रेम प्रकट होते हैं। मंगलपर्वो पर प्रदर्शित सफ़ाई-सुथराई, विशिष्ट रहन-सहन में भी प्रकट सरलता और लालित्य, विविधता और विशिष्टता में भी परिलक्षित एकात्म बोध तथा सामाजिक भावना, कलाओं में दृश्यमान चमत्कारिता एवं सम्मोहक शक्ति आदि विश्व को केरल की अमूल्य देन है। कला, भवन केरळी की नृत्य नृत्त, राग सम्मिलित कथकलि, राष्ट्रीय त्योहार 'ओणम', साज-सज्जा और वाद्य से मंडित पूरमउत्सव-जैसी कलाओं का मादक सौन्दर्य अन्यादृश है। कलाकलित केरल की मनोरम वाटिका में ही ऐसी कलाएँ प्रफुल्लित हो सकी हैं जो मनोहर, नयनाभिराम और श्रवण मधुर हैं। आज समस्त दुनिया में कला-कलित केरल की सुगंधि मनमोहक कथकळि के द्वारा फैली हुई है जो विभिन्न ललित कलाओं का समन्वयकारी मधुर सम्मेलन है।

कथकळि—बिना भेदभाव के सबको मनोरंजन के लिए आमंत्रित करनेवाली ढम ढम आवाज "केलिकोट्टु" अपराह्न को सुनाई पड़ती है जो नृत्त-नृत्य, गीति नाट्य, वाद्य सम्मिलित मधु-मधुर कथकली की घोषणा करती है। ग्रामीण और नागरिक, स्त्री और पुरुष, सब रात के नौ बजे तक मंदिर के सामने के मैदान में बाल-बच्चों के साथ एकत्र होते हैं। केरल का मंदिर केवल उपासना, अर्चना और पूजा से अनुप्राणित श्रद्धा-

भक्तिपूर्ण जीवन का केन्द्र ही नहीं, पर जनता की विनोदप्रियता एवं सौन्दर्यभावना को संतृप्त करनेवाली कलाओं की रंगस्थली भी है। कथकली, कूत्तु, कूटियाट्टम, पाठकं, मोहिनि आट्टम, तुळ्ळल, कृष्णनाट्टम जैसी नाट्यविधाओं, ओणम, तिरुवातिरा जैसे पुण्य पर्वो, पूरम-जैसे उत्सवों के समय दृश्यमान नौकोत्सव, पुष्पसज्जा, करताल सहित कैकोट्टिक्कळि, झूला, वाघखेल, आतिशबाजी, लोकनृत्य, कढाई, चित्रकला, मूर्ति-कला, स्थापत्यकला आदि कलाएँ देवताओं के नेतृत्व में फूली- फली हैं। इनमें कथकळि अमेरिका, रूस, जर्मनी, मलेशिया-जैसे समुन्नत राष्ट्रों की मुक्तकंठ प्रशंसा के योग्य बनी हुई है। मूकाभिनय और उच्च कोटि का भावाभिनय इस कला को सार्वदेशिक बना सके। संस्कृत-मलयालम मिश्रित 'मणिप्रवाल' शैली की 'आट्टक्कथा' नामक मलयालम काव्यविधा कथकळि का साहित्यिक रूप है। मंदिर के बाहरी आंगन या राजमहलों तथा प्रभुघरानों के प्रांगण में या गाँव के हृदयस्थान में निर्मित एक साधारण रंगमंच में वाद्य और संगीत की पृष्ठभूमि में विशेषज्ञ नटों और गायकों द्वारा कथकळि का अभिनय होता है।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय"—विद्या का प्रतीक एक बड़ा और कांसे का निर्मित तेल भरा दीपक—मण्डप में सारी रात जलता रहेगा जो अंधकार को दूर कर वातावरण को प्रकाशमान कर देता है और नटों के रंग-बिरंगे चेहरे मुकुट और आभूषण को जाज्वल्यमान कर एक निराली अनुभूति की सृष्टि करता है। सुन्दर कढ़ाई और पच्चीकारी से अलंकृत लाल रंग का रेशमी पर्दा मंडप के पीछे है जिसे दो आदमी सम्हालकर पकड़ते हैं। पार्श्व में गायक हैं जो ढोल (चेण्डा), मद्दलम, मंजीरा आदि बाजों के निनादित मधुर स्वरों से स्वर मिलाकर ताले-लय के साथ पद गाते हैं और नट गीत का प्रसंगानुकूल भावाभिनय करते हैं। विविध रंगों में रंगा चेहरा और विविध वेशभूषा पात्रों के स्वभाव पर प्रकाश डालते हैं। भाव एवं रस के प्रकाशन और सात्विक, राजसी, तामसी, वृत्तियों की अभिव्यंजना के लिए चेहरे पर तदनुकूल रंगों को पोतने में चित्रकला के विशेषज्ञों की आवश्यकता है। पवित्रता सूचक श्वेत रंग (वसिष्ठ, हनुमान-जैसे सात्विक पात्र), उद्दाम वासना प्रतीक लाल (रावण, कीचक, दुर्योधन आदि), शांति एवं ऐश्वर्य प्रदर्शक हरा (राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, नल) और तामस भाव परिचायक काला रंग (नीच राक्षस) विभिन्न स्वभाव के नटों के मुखालेखन में प्रयुक्त होता है। इस चित्रकला प्रदर्शिनी से दर्शकों को पात्रों के चरित्र का परिचय आसानी से प्राप्त होता है। विचित्र एवं भड़कीला वेश-विधान, माथे पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में मोती और सीपी की मालाएँ—इन सबकी चमक दीपक के प्रकाश में दमक जाती है।

राम, कृष्ण-जैसे राजाओं को "पच्चा" (हरा), रावण-जैसे राक्षसों को "कत्ति" (छुरी), दुश्शासन-जैसे उद्दण्ड पात्र चुवन्न ताटी (लाल दाढ़ी) और हनुमान-जैसे सात्विक पात्र 'वेळ्ळ ताटी' (सफ़ेद दाढ़ी) कहते हैं। स्त्री पात्र का चेहरा सफ़ेद रहता है; पर पूतना, शूर्पणखा-जैसी राक्षसियों के चेहरे पर काले रंग की रेखाएँ भी खिंची जाती हैं। काले वस्त्र पहने काले रंग के पात्र बहुत ही दुष्ट पात्र हैं जिन्हें 'करि' (कालिमा) कहते हैं। पात्रों के स्वभाव के अनुसार वस्त्र, रंग, किरीट, आभूषण आदि में परिवर्तन होता है।

कथकळि का कार्यक्रम रात में नौ बजे मन्दिर की आखिरी पूजा के बाद होता है और प्रभात तक

चलता है। दिन मे चार बजे केलिकोट्टु की ढम ढम आवाज से गाँववालों को कथकळि की सूचना मिलती है। फिर रात को मगलसूचक शखध्वनि के साथ कथकळि के प्रारभ की घोषणा होती है, जब नृत्य-नाटय के देवता नटराज की वन्दना सगीतात्मक वातावरण मे नूपुरो के रुन-झुन स्वर के साथ लालित्यपूर्ण नृत्य के द्वारा रगमच पर होती है। इस कार्यक्रम को मगला-चरण या 'तोडयम' कहते हैं। फिर 'पुरप्पाड' है। जब नायक और नायिका का, तुमुल वाद्य-निनादो के बीच मण्डप मे रगप्रवेश होता है और गायक की स्वरमाधुरी और वाद्यो की सुरीली ध्वनि, नटों को भाव मुद्राएँ, सकेत, अग-सचालन, ऐसी दिलकश नाटचमगिमा के कथकळि का अभिनय प्रारभ होता है। भडकीली पोशाक, कृत्रिम रगिमा, रगमच पर उछल कूद, अर्थप्रकाशक हस्तमुद्राएँ, नवरस प्रकाशित हावभाव, भावव्यजित नेत्र, ताण्डव तथा लास्य नृत्य, दीपक का प्रकाश, वाद्यो की श्रवण मधुर ध्वनि और सगीत की मादकता—इन सबसे सारे दर्शक वाहवाह करते हैं।

दस-पन्द्रह वर्ष के कठोर अभ्यास और कला-साधना के बाद ही नट अग-सचालन, चरण की ताल-बद्धता, नवरसाभिनय, लाक्षणिक मद्राओ और शास्त्रीय सगीत के ताललय के अनुसार नृत्य एव नाटच की कला मे दक्ष हो सकते हैं। शरीर, दृष्टि, मस्तिष्क, भावानुकूल हस्तमुद्रा प्रकटन—इन सबकी एकात्मकता मे हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की सरस अभिव्यक्ति और घटनाओ का भी प्रकाशन होता है। नृत्त-नाटच नृत्य के सम्मिलन मे अभिनय कला की परिपूर्णता है जो दर्शकों मे कुतूहलता, अतिशयता और सवेदना का भाव उत्पन्न कर उन्हें चकित कर देती हैं।

कल्याण सौगधिक, वकवध, कालकेय वध, किम्मीर वध आदि ‡ (कोट्टयम तपुरान), सुभद्रा-हरण, पाचाली स्वयवर आदि (कार्तिक तिरुनाल* धर्मराजा), अबरीष चरित, रुक्मिणी स्वयवर, पूतना मोक्ष आदि (अश्वती तिरुनाल महाराजा), नलचरित (उण्णायि वारियर), कीचक वध, उत्तरा स्वयवर, (स्वाति तिरुनाल महाराजा के दरबारी कवि) इरियम्मन तपी—ऐसी कितनी ही आट्टक्कथाओं का निर्माण कथकली की कलाभि-व्यक्ति के लिए सहायक रहा।

आधुनिक युग मे जन-जीवन में परिवर्तित मनोभाव और समयाभाव के कारण समसामयिक महत्व रखनेवाले विषयो को लेकर छोटी-छोटी आट्टक्कथा रचनाओ का निर्माण होने लगा है और कथकली की लोकप्रियता बढायी जा रही है—(बुद्ध चरित, हिटलर वध, गाधी विजय आदि)। उत्तर केरल के कोट्टयम राजा और दक्षिण केरल के स्वाति तिरुनाल महाराजा की राजधानियाँ सगीत, साहित्य, भक्ति, वीर, शृगार रस प्रदायिनी कलाओं की विहारभूमि रही थी। सर्वांगसुन्दर गभीर साहित्य की खान होते हुए भी आधुनिक बुद्धिवादी युग की दैनिक कठोर समस्याओ का यथार्थ चित्रण न देने के कारण विश्वविश्रुत होते हुए भी कथकली का यथेष्ट प्रचार नहीं है। फिर भी 'ओणम्', 'तिरुवातिरा' जैसे पर्वों और कलोत्सवो के अवसर पर कैकोट्टिक्कळि के लिए आट्टक्कथा साहित्य के बहुत गीत गाये जाते हैं जो दर्शकों की हृत्तत्रि को झकृत कर उनको अतिशय कुतूहलता और सवेदना से आनन्दित कर देते हैं।

---

‡ कोष्ठक के अन्दर रचयिता का नाम है।

* तिरुनाल - नक्षत्र

तिरुवितांकूर महाराजाओं के नाम के साथ जन्म-नक्षत्र जोड दिया जाता है।

'सर्वकलावल्लभ', 'दक्षिण के भोज राज' हिन्दीतर प्रदेश के सर्वप्रथम हिन्दी कवि और गायक आदि नाम से विख्यात स्वातितिरुनाल महाराजा के शासनकाल में केरल कलाकलित ही था, जब यह धनधान्य की भूमि अखिल भारतीय स्तर पर कवियों, संगीतज्ञों, शिल्पियों, चित्रकारों, और नटों की लीलाभूमि बनी। महान कलाप्रेमी और कलापोषक स्वातितिरुनाल की अमूल्य सेवाओं के मधुर स्मरण में स्थापित "स्वाति तिरुनाल संगीत अकादमी", कथकळि के समुद्धारक महाकवि वल्लत्तोल नारायण मेनन की जीवन तपस्या का स्मारक 'चेरुतुरुत्ति कला मण्डलम' और आलुवाय उद्योगमण्डल की कथकळि समिति कलापोषण में अमूल्य योगदान देते रहते हैं। विदेशों में प्रतिभासंपन्न कलाकारों की कथकळि मण्डलियों को भेजकर इस श्रेष्ठ कला को सार्वदेशिक बनाने में कथकळिसमितियों की देन महत्वपूर्ण है। कलामण्डलम के प्रधान आचार्य कुंजुकुरुप के शिष्यत्व से कथकळि में प्रवीण बने हुए उदयशंकर, आनन्द शिवराम, गुरु गोपिनाथ, मृणालिनी साराबाई तथा कृष्णन नायर की शिष्यमंडलियाँ कलाकलित केरल की ग्रामीण सभ्यता, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्परा और कला-प्रेम से अमेरिका, रूस, मलेशिया, काश्मीर जैसे सुदूर देशों को रसप्लावित कर कीर्ति मुद्राएँ पा रही हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में निर्धारित चौंसठ हस्त मुद्राएँ विशद और व्यापक रूप में मूकाभिनयपूर्ण कथकळि को शास्त्रानुमोदित एकाग्रता, तन्मयता और पूर्णता प्रदान करती हैं; साथ ही साथ वह एक ऐसी शिक्षाप्रद और मनोरंजक अभिनय कला है, जो मनुष्य की सात्विक, राजसी और तामसी वृत्तियों पर प्रकाश डालकर सांसारिक जीवन में मनुष्य के विकास-पतन के मूल कारणों का बोध कराती है। कथकली विश्व की अतुलनीय संपत्ति बनी है। सुमधुर सरस शब्द व भावानुकूल अलंकारों की समीचीन योजना और संस्कृत-मलयालम मिश्रित मणिप्रवाल शैली, साहित्य तथा प्रसाद गुण युक्त पदों और श्लोकों की मधुरिमा कथकळि साहित्य को विश्वसाहित्य में समुन्नत स्थान दे सकी है। कवीन्द्र रवीन्द्र ठाकुर के शब्दों में "कथकळि एक ऐसा नृत्य है जो अभूतपूर्व और अनुकरणीय है। कथकळि से बढ़कर कोई नृत्य नहीं। वर्षों की संस्कृति, साधना और उपासना के परिणाम स्वरूप ही कला की ऐसी उन्नति हो सकती है। महाकाव्यों से संबद्ध होने के कारण उसका शैक्षिक मूल्य भी कम नहीं। संक्षेप में यह अत्युत्तम कला है।" धन्य है केरल जो तत्वज्ञानी शंकर के आत्मीय दर्शन से परिप्लावित भूमि में भावात्मक एवं सांस्कृतिक दृढ़ता की सुस्थिरता के लिए कथकळि जैसी सार्वदेशिक कला की गंगा बहा सकी जो सहवासिनी अनेक पोषक कलाओं को अपने में विलीन करके समान रूप से सर्व मंगल दायिनी बनी है।

कूटियाट्टम (संयुक्त अभिनय)—अब कला कलित केरल की प्राचीनतम नृत्य-नाटिका "कूटियाट्टम" के श्रवण मधुर और नयनाभिराम कलकल नादिनी पुण्यत्रिवेणी में हम स्नान करें। पुजारी हैं चाक्यार जो अपने को भरतमुनि और सूत महर्षि की परम्परा के कथा प्रवाचक मानते हैं। चाक्यार वीर केरल की स्वतंत्रता के संरक्षक क्षत्रिय और नायर जातिवालों तथा ब्रह्मज्ञान के अधिकारी विनोदशील ब्राह्मणों को मनोरंजन देनेवाले थे। प्राचीन केरल में देश की संस्कृति, धर्म और स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए स्थापित कलरियों (अखाड़े) में सैनिक परिशीलन के साथ वीरताप्रदर्शन एवं मनोरंजन के उपयुक्त युद्धकला का कलात्मक प्रदर्शन होता था। कथकळि के आशान (आचार्य)

और कूटियाट्टम के चाक्यार बड़े विद्वान और नृत्य, नाट्य तथा संगीत में प्रवीण थे जो भरतमुनि के नाट्य शास्त्र मे बताये सिद्धांत एवं विधि के समर्थक और संरक्षक भी थे।

कथकळि में साधारणतः पुरुष ही स्त्री पात्र का अभिनय करते रहे हैं। आधुनिक युग मे बालिकाएँ भी कथकळि का काफी अभ्यास कर दक्षता दिखाती हैं। कूटियाट्टम मे स्त्री पुरुष का सम्मिलित भावाभिनय होता है। केरलीय कला की स्पष्ट छाप इस अभिनय कला पर पड़ती है। किसी बड़े मन्दिर के गोपुरम और चहारदीवारी के भीतर पार्श्व भाग मे नाट्य शास्त्र मे बताये वास्तुकला सिद्धान्त के आधार पर निर्मित रंगशाला मे जिसे "कूत्तम्पलम"—(कथा प्रवचन का मन्दिर) कहते हैं, चाक्यार (पुरुषवेष) और नंडियार (स्त्री) का सम्मिलित अभिनय होता है जो बहुत ही रमात्मक है। कूत्तम्पलम वास्तुकला का उत्तम निदर्शन है। तृशूर (त्रिश्चूर) वटक्कुनाथन (शिव) मन्दिर की रंगशाला की काष्ठकला और शिल्पकला की अलौकिक भंगिमा से दर्शक दंग रह जाते हैं। रंगशाला के मण्डप मे एक पीठासन है जिसके पीछे एक ऊंचे स्थान पर दो बाजे मिषाव) हैं जिन्हें नंपियार (केरल के सवर्ण हिन्दु की एक उपजाति है) बजाते हैं। नंडियार "इलत्तालम" पर ताल देती है। हस्त मुद्राओं और हावभाव से चाक्यार श्लोक पढ़कर कथा प्रवचन करते हैं। कथकळि के जैसे इसमें भी संयुक्त भावाभिनय और मुद्राप्रदर्शन होते हैं, पर वेशविधान अस्वाभाविक नही होता। साधारणतः "सुभद्राधनञ्जयम" संस्कृत नाटक के प्रथम अंक का अभिनय करने के लिए ग्यारह दिन लगते हैं। विदूषक चाक्यार के पढे श्लोकों की ग्रामीणों की प्राकृत बोली मे और कभी-कभी संस्कृत ललित मलयालम में व्याख्या करके जन हृदय को रसमग्न कर देते हैं। सन्दर्भ के अनुसार कथाएँ और उपकथाएँ जोड़कर समाज की आलोचना कर सुधारक का काम भी करते हैं। भारतीय नाट्य कला का ऐसा सर्वोत्तम मनोमुग्धकारी रूप विरले ही प्राप्त होगा। कूटियाट्टम के संघ ने श्री मणिमाधवन चाक्यार के नेतृत्व मे उत्तर भारत के दिल्ली, वाराणसी जैसे प्रदेश की सांस्कृतिक संस्थाओं में मन्दिर की चहारदीवारी के भीतर सीमित इस प्राचीनतम दृश्यकला का प्रदर्शन कर उत्तर के सहृदयों को सम्मोहित कर दिया और बहुत पुरस्कार भी प्राप्त किये। हिन्दी माध्यम के द्वारा कथा प्रवचन कर उत्तर दक्षिण की भाषा सम्बन्धी खाई पाटने का सफल कार्य भी इस कला प्रदर्शन से संपन्न हुआ।

कूत्तु—कूत्तु में कथा प्रवचन की प्रधानता है। ईसा पूर्व की सदियों में मंदिर की रंगशालाओं में (कूत्तम्पलम) रामायण, महाभारत आदि पुराणों के आधार पर चाक्यार ने कथाप्रवचन और एकाभिनय के सांस्कृतिक कार्यक्रम का श्रीगणेश मीठी व्यंग्यपूर्ण शैली में किया। प्राचीन तमिल ग्रंथ "चिलप्पतिकारं" में चाक्यार का उल्लेख है। कूत्तु और कूटियाट्टम चाक्यार की कुलवृत्ति है जो मन्दिर की रंगशालाओं मे ही अभिनीत होती है। व्यंग्यपूर्ण शैली में समाज सुधार करने का उद्देश्य भी इस कला में निहित है। उच्च वर्ग के हिन्दू ही मन्दिर की रंगशाला तक सीमित इस मनोरंजक कला का रसास्वादन कर सकते थे। इसलिए इस कला का पर्याप्त विकास नहीं हुआ। इस कला शाखा के साहित्य को "चम्पू" कहते हैं जो गद्य-पद्य प्रबंध प्रधान है—"गद्य-पद्यात्मकं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।" समस्त हिन्दुओं को आजकल मन्दिर मे प्रवेश की अनुमति है फिर भी कूत्तु के प्रति आस्था

रखनेवाले विद्वान चाक्यारों का अभाव है। ऐसी प्राचीन कलात्मक कथाकथन और दोष निर्देश के प्रति जन-हृदय में भी श्रद्धा भाव नहीं। पत्र-पत्रिकाओं का युग है न?

पाठकं—नामक ग्रामीण कला में कोई भी विद्वान मन्दिर के भीतर या बाहर एक छोटे-से मण्डप में खड़े होकर संध्या समय साधारणतः उत्सव के अवसर पर, अत्यधिक भक्तिभाव से पौराणिक कथाकथन द्वारा जन-हृदय में भक्ति और ज्ञान का संचार कराते हैं। साधारण वेशभूषा—लाल रंग का रेशमी अंगोछा कटितट पर बाँधा हुआ होगा—एक छोटा मुकुट, गले में रुद्राक्ष माला—बस इतनी ही सजावट है, पर साधारण जनता इस कला से बहुत लाभान्वित होती है।

तुळ्ळल (नाच-कूद)—शिक्षितों और अशिक्षितों को समान रूप से ज्ञान और विनोद देने में सशक्त इस प्राचीन मनोमुग्धकारी तुळ्ळल कला ने आज सभ्य समाज, सांस्कृतिक संस्थाओं और विद्यालयों के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी स्थान पाया है क्योंकि संगीत-साहित्य, नृत्य-वाद्य के सम्मोहक सम्मिलन में नट के द्रुतगति के पाद संचालन, हास्य व्यंग्यपूर्ण पद्य पारायण, विचित्र वेश विधान, रंगीन चेहरा एवं मुकुट, मधुर वाद्य-निनाद और संगीत के अनुकूल नृत्य एवं नाच-कूद में मनोरंजन की काफ़ी सामग्रियाँ मौजूद हैं। मलयालम साहित्य में "तुळ्ळल" नामक साहित्य विधा है जिसके प्रकाशस्तंभ है प्रशस्त हास्य कवि कुंचन नंप्यार जिन्होंने मलयालम साहित्य को जन साधारण की संपत्ति बनाकर युगांतर उपस्थित कर दिया। नंप्यार ने इस कला में जीवन के गंभीर तत्वों को भी हास्य की मधुरिमा में लपेटकर बोलचाल की भाषा में जन समक्ष रख दिया। प्रसिद्ध समालोचक माधव वारियर की दृष्टि में केरल का नंप्यार—संस्कृत का व्यास, अंग्रेज़ी का शेक्सपियर और फ्रेंच का वालटयर है।

"कनकं मूलं कामिनी मूलं
कलहं पलविधम् उलकिल सुलभं" (कनक और कामिनी के कारण संसार में विविध कलह होते हैं।) उपरोक्त रस भरी उक्तियाँ छोटे-छोटे बच्चे भी कंठस्थ कर ताललय के साथ अभिनय कर गाते हैं। तुळ्ळन साहित्य ने पाठ्य पुस्तक में भी स्थान पाया है जिससे पाठशाला वातावरण कभी-कभी कलाकलित और सुरीली ध्वनियों से मुखरित रहता है। डाक्टर एस. के. नायर की दृष्टि में तुळ्ळल दैवी सम्बन्धी कला है जिसका पोषण प्राचीनकाल में "वेलन" (ओट्टन तुळ्ळल), परयर (परयन तुळ्ळल) और पुलयर (शितंकन तुळ्ळल) आदि निम्नश्रेणिवाले अवर्ण हिन्दुओं के द्वारा देवी प्रीति, जनहृदय की शांति और मनोरंजन के लिए हुआ था। आज यह कला शिक्षित और अशिक्षितों के मनोरंजन की उत्तम सामग्री बनी है। कथकळि की तरह ओट्टन तुळ्ळल के नटों को भी प्रशिक्षण और अभ्यास आवश्यक है।

कृष्णनाट्टम—भागवत दशम स्कंध की कथा के आधार पर, संस्कृत के जयदेवकृत "गीतगोविन्द" के अनुकरण में ललित कोमल संस्कृत पदवली में कोषिक्कोड (मलबार) मानवेद राजा ने "कृष्ण-गीति" नामक संस्कृत गीतिकाव्य की रचना की। पार्श्वसंगीत और मद्दल आदि बाजों के ताललय युक्त भक्ति रस पूर्ण वातावरण में कृष्णगीति का साधारणतः प्रसिद्ध "गुरुवायूर" मन्दिर में (गुरु-पवन-पुरम) भावाभिनय होता है। उसे कृष्ण-नाट्टम कहते हैं। मन्दिर की यह कला नौ दिनों तक चलती है जब कि दर्शक कृष्ण की लीलाओं में लवलीन होकर स्वर्गीय आनन्द से भावविभोर हो जाते हैं।

मोहिनियाट्टम—कमनीय वस्त्र और चमकीले आभूषणों से अलकृत बालिकाओं का मनोरजक नयनाभिराम लास्य नृत्य है जिसपर केरल अभिमान कर सकता है। केरल की यह अपनी कला है जो अभिनय, नृत्य, हावभाव, वेषभूषा और वाद्य विधान से तमिलनाड के भरतनाट्य के समान हृदयहारी है।

कुरत्तियाट्टम—एक रसात्मक कला है जिसमे बालक और बालिकाएँ परमेश्वर, पार्वती, महालक्ष्मी और सरस्वती का वेष धारण कर विभिन्न राग ताल गान के अनुसार हाथ पैर चलाकर सन्ध्या समय कला प्रदर्शित करती हैं। वेश बहुत ही भड़कीला और चित्ताकर्षक रहता है।

एक समय था जब केरल के ही नहीं भारत के प्रधान मन्दिरो की कलाओं की कलकल ध्वनि, बाजो के ढम ढम निनाद और नूपुरो की रुनझुन आवाज जन हृदय को रस सिक्त कर रखती थी। ईश्वर भक्ति, वीर पूजा आध्यात्मिक भावना और सुख शाति के लिए अर्चना प्रार्थना आदि हृदय की सहज सरल मनोवृत्ति की सरस अभिव्यक्ति मन्दिर की देवी देवता के नाम पर ही होती थी। देव दासियाँ और नर्तकियाँ नारीसहज लज्जा और मर्यादा की रक्षाकर समुचित सयम और भद्रता से मन्दिरो में नृत्य नाट्य कर भक्ति और शाति का सवर्धन करती थी। पर परिवर्तित परिस्थिति और आमोद प्रमोद की युगीन भावना के कारण कलाप्रवीण नारियाँ वेश्याओ की कोटि में गिरायी गयी। यो मन्दिर की कलाएँ युगीन भावना और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती हैं।

मदिरो की वास्तुकला—अतिपौराणिक काल से इस नवीनतम वैज्ञानिक युग तक केरल के मन्दिर परम पूजनीय और पवित्र रहे हैं भले ही उसके सचालन के लिए निश्चित ब्रह्मस्वम् (नपूतिरि ब्राह्मणो का दान) देवस्वम् (राजाओं और प्रभुओं का दान) और भक्त जनों की भेंट से प्राप्त सपत्ति आज सामग्रियों के बढ़ते भावों और केरल के 'यूनियन बिल' के कारण दैनिक पूजाक्रम के खर्च के लिये अपर्याप्त प्रतीत हो और इस वजह से मन्दिर और मन्दिर सबन्धी कलाएँ दरिद्रता भोगने लगी हों। प्रभात के शखनाद से रात की आखिरी पूजा तक के पूजा अनुष्ठानों में—निर्माल्य दर्शन, उषा पूजा, मध्याह्न पूजा, दीपाराधना आदि में—भक्त हृदय को सतृप्त करनेवाली कलात्मक रुचि प्रकट होती है। देव प्रतिमा पर चन्दन या कळभ लगाकर पुष्प मालाओं से सज्जित करने में पुजारी का विशेष सौंदर्यबोध प्रकट होता है। शीवेली पूजा में हाथी का जुलूस विभिन्न बाजो से निनादित वातावरण मे भजन कीर्तन, त्रिकाल पूजा के समय देवी स्तुति, अष्टपदी गान, घटा नाद, शखनाद, नागस्वर (शहनाई) आदि में प्रदर्शित स्वर माधुरी भक्तों को रस विभोर कर, मन को उदात्त कर देती है, केरलीय देवालय, लालित्य, सरलता और शांतिप्रियता से अनुरजित हैं। तमिलनाड के मन्दिरो के चित्र विचित्र रग-बिरगे विशालकाय गोपुरो और बडे-बडे मडपों की अपेक्षा यहाँ के मन्दिर खूब हवादार और प्रकाशमान छोटे-छोटे मडपो के बने हैं। विशाल प्रांगण मन्दिर की विशेषता है जहाँ उत्सवो के दिन कूत्तु, तुळ्ळल, पाठकम्, भरत नाट्यम, मोहनियाट्टम्, हाथी का जुलूस आदि एक ही समय भक्त जनो को आकर्षित करते हुए चलते हैं। विशाल आँगन मे काले पत्थर के प्रदक्षिणा पथ हैं, बलि पीठ है, दिक्पालों के प्रतीक छोटे-छोटे बलि पीठ और देवी देवताओ की प्रस्तर मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। ध्वजस्तम सोने, पीतल या ताँबे का बना होता है जिसपर अकित मूर्तिकला दर्शनीय है। वैसे ही बाहरी दीवार और गोपुर के

प्रवेश द्वार, जो मूर्तियाँ अंकित हैं वे देवी-देवताओं के महिमामय जीवन पर प्रकाश डालनेवाली, और शिल्पियों की आत्मार्पण भावना से सिक्त कलाकुशलता प्रकट करनेवाली हैं। मन्दिर के भित्तिचित्र एवं प्रतिमाएँ केरल की पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्ता की घोषणा कर भक्तों की आत्मा में दैविक भावों का संचार कर शांति प्रदान करती हैं। "एट्टुमानूर" मन्दिर के गोपुर में अंकित 'नटराज' और 'शुचीन्द्रम' मन्दिर की हनुमान की प्रतिमा भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला का सर्वोत्तम नमूना है। अपस्मार नामक पिशाच पर विजय प्राप्त भगवान शंकर (नटराज) का भावोज्वल चित्र एट्टुमानूर में भजन के लिये आनेवाले भक्तजनों को भक्ति-धारा में प्लावित करता है। अपस्मार रोग से पीड़ित भक्त जनों की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करने की शक्ति उस नटराज चित्रांकन में है। वह अनुपम कलाकृति पैशाचिक वृत्ति पर सात्विक वृत्ति की विजय की घोषणा करती है। शुचीन्द्रम की हनुमान प्रतिमा के निर्माण में मूर्तिकार ने ऐसे अपूर्व कौशल से काम किया है कि हमें ज्ञात होता है कि सेवा और त्यागभाव के प्रतीक हनुमान अपने इष्टजनों को आदेश दे रहे हैं "हे भक्तो! आत्मार्पण भाव से तुम दूसरों की सेवा करो, विजय तुम्हारी होगी।" उस हनुमान प्रतिमा के दर्शन और गुलाब जल के अभिषेक से हमारी तप्त आत्मा एक दम शीतल बनती है।

अन्य धर्मावलंबियों के देवालय—मसजिद, गिरजाघर, यहूदियों का सिनेगाग—आदि प्रभावोत्पादक स्मारक हैं जो केरल की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ पारस्परिक सहिष्णुता और स्नेह-मिलन पर प्रकाश डालते हैं और अपनी कला-मनोहारिता से पर्यटकों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

देवालयों के इस दिव्य देश केरल के गुरुवायूर, तिरुवनंतपुरम, तृश्शूर, शबरिगिरि, एट्टुमानूर आदि मंदिरों के मूर्ति-शिल्प के संतुलित आकार, भाव भंगिमा और भित्ति चित्रों की भावोज्वलता बहुत ही सजीव हैं।

राजमहलों और देवालयों के नमस्कार मण्डपों, सभा मण्डपों, रंगशालाओं छत-स्तंभ और भित्तियों पर अंकित देवताओं प्रतिष्ठा-प्राप्त मानवों पशु-पक्षियों, पेड़ पौधों के चित्रों में केरलीय कलाकारों की आत्माएँ बोल उठती हैं। उन स्वर्गीय अज्ञात कला-मर्मज्ञों की सजीव एवं अभिराम शिल्प रचना अतिशयनीय है जिसका सुन्दरतम नमूना तिरुवनंत-पुरम के दक्षिण में स्थित 'पद्मनाभपुरम' राजमहल है।

केरलीय भवन (नालुकेट्टु-चतुर्भुजभवन) के निर्माण में प्रदर्शित वास्तुकला-भंगिमा अतिशय अभिराम है। चार कोठियों के सम्मुख चार दालान होते हैं जिनके मध्य में एक आंगन है जिससे चारों कोठियाँ खूब हवादार और प्रकाश-मान हैं। पूर्वी भाग की ओर उन्मुख कोठी के मध्यवर्ती कमरे में कुल देवता की प्रतिष्ठा है। 'मरुमक्कत्ताय' दायक्रम (मातृदाय सम्बन्धी आचार) के कारण केरल की नारियाँ अपने जन्म घर की संपत्ति पर अधिकार रखती हैं। नालुकेट्टु की सफ़ाई और कुल देवता की पूजा आदि कार्यक्रम हर प्रभात और सन्ध्या को घर की स्त्रियाँ धार्मिक अनुष्ठान के रूप में करती आयी हैं। फलतः केरल का भवन वास्तव में एक पवित्र देवालय ही है। मध्य के आंगन के तुलसी पौधे का चतुराकार चबूतरा और दीपक पवित्रता को बढ़ाते हैं। यों केरल दारु और दंत शिल्प तथा मूर्ति कलाओं के लिए एक मनोज्ञ उद्यान है जहाँ शिल्पियों की भक्ति भावना, उदात्त कल्पना एवं गंभीर साधना के सुन्दर प्रसून प्रफुल्लित रहते हैं।

फणाकार जूड़े बाँधकर केशों को पुष्पों से सज्जित रखती हैं। मरुमक्कत्ताय (मातृदाय) दायक्रम से प्राप्त स्वतंत्रता और सम्पत्ति संबंधी अधिकार से अनुशासित केरलीय नारियों की आकार-सुषमा और वेश भूषा में दर्शित कलात्मकता, सात्विकता और लालित्य विश्व प्रशस्ति पा चुकी है। अखिल विश्व की संस्कृति और समुन्नत विचारों के संगम-स्थान केरल में अधिक सभ्यता की चमक-दमक के बावजूद विशेष प्रकार के रहन सहन और संस्कृति परिलक्षित हैं। कुछ ऐसे प्रतिभान्वित लोकनृत्य भी यहाँ प्रचलित हैं जो धर्म और देवता से प्रत्यक्ष रूप से अनुप्राणित नहीं हैं। 'यात्रक्कळि' और 'संघक्कळि' नम्पूतिरि सम्प्रदाय की है, तो 'चविट्टु नाटकम' ईसाइयों की अभिनय-कला है जिसपर कथकळि का रंग चढ़ा हुआ है।

ओणम—श्रावण महीने के ओणम के स्वागत का प्रारंभ कर्किटक संक्रम दिन से होता है। घर को साफ़ करके ऐश्वर्य की अधीश्वरी देवी की प्रतिष्ठा अष्टमंगल और अष्टगंध से होती है। हस्त नक्षत्र के दिन से घर का पूर्वी आंगन रंगीन पुष्पसज्जा से सुशोभित होता है जिसमें बालक बालिकाओं की सरलतम सौन्दर्य-चेतना चमक उठती है। श्रेष्ठतम कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए आज सामाजिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक संस्थाएँ पुष्पसज्जा की स्पर्धाएँ चलाकर 'ओणम' जैसे त्योहार की कमनीयता बढ़ाती हैं। रूप-रंगों की विविधता, वृत्तों का विस्तार, आकार की कलाभंगिमा आदि के समुचित सम्मिलन इस कला भंगिमा में समष्टिगत सौन्दर्य का सन्देश है। समभावना का सन्देशवाहक ओणम त्योहार केरल का सर्वाधिक महत्व रखनेवाला देशीय और राष्ट्रीय त्योहार बना हुआ है। कैकोट्टिक्कळी, झूले पर झूलना, पूप्पाट्टु (पुष्पगीत), शलभगीत, पटप्पाट्टु (समरगीत), नौकोत्सव आदि में हर्षोल्लास और मादकतापूर्ण केरलीय संस्कृति की व्यंजना होती है। दक्षिण तिरुवितांकूर की पंपा नदी के किनारे स्थित आरन्मुला के पार्थसारथी मंदिर के भगवान की पूजा-अर्चना के रूप में नदी के विशाल वक्षस्थल पर तरल तरंगों में हिलती-डुलती सर्प नौकाओं की भव्यता और नौका दौड़ की उल्लासपूर्ण गति देखते ही बनती है। रंग-बिरंगी छतरियों और स्वर्णजड़ित आभूषणों से सजी अनंत शयनाकार नौकाओं में जन-हृदय के ओज भरे भावों को प्रतिध्वनित करनेवाले वंचिप्पाट्टु (नौका गीत) की सौन्दर्यात्मक अनुभूति अवाच्य और अकथनीय है। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद की दृष्टि से "इतना मनोहर नौका-विहार संसार के अन्य किसी भाग में नहीं है।" आरन्मुला का यह नौका विहार श्रीनगर के नौका-विहार की अपेक्षा बहुत मनोरंजक है। काष्ठकला, संगीत-कला, चित्रकला, अभिनय कला और साहित्य कला का सम्मोहक सम्मेलन, विभिन्न जातिवालों का सांस्कृतिक समागम, पारिवारिक स्नेह मिलन, सब ओणम त्योहार के दिनों में परिलक्षित होते हैं। ताली बजाते, 'हे' 'हो' 'तित्त तो' 'तिकततो, थीं थीं'—ऐसा कोलाहल मचाते सर्प-सी दौड़ लगानेवाली सर्पनौकाएँ जन-हृदय में विनोद के साथ सामाजिक और राष्ट्रीय एकता की भव्य भावना लबालब भर देती हैं। धर्म और कर्म, भोग और भक्ति की मधुर अनुभूति देकर मन को प्रफुल्लित करनेवाली इस कला के प्रति स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने अनुमोदन और अभिनन्दन प्रकट किया है जिनकी पावन स्मृति में स्वतंत्रता दिन पर पन्द्रह अगस्त को चम्पक्कुळम् नौकाविहार और नौका दौड़ की स्पर्धा चलती है। आर्य-द्राविड, हिन्दू-बौद्ध, ईसाई-मुसलमान सब कलाकलित केरल के सांस्कृतिक संगम में हिलमिल रहते हैं। उत्सवों, त्योहारों और देवालयों में

दर्शित विभिन्न संस्कृतियों और कलाओं का सुन्दर तालमेल बेजोड़ है, नित नूतन है। कितने ही कलाकारों और चित्रकारों को कला सृजन और प्रतिभा विकास के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई है कला कलित केरल से!

केरल के सुपुत्र रविवर्मा के मनमोहक चित्रों की भंगिमा ने शांतिनिकेतन के कला भवन की चित्रकला को भी ऋणी अवश्य बनाया है। रविवर्मा के तैल चित्रों ने समस्त भारतीय साहित्य और चित्रकला पर अपनी गहरी छाप डाली है। यों उनके पौराणिक और ऐतिहासिक चित्र रूप-सौन्दर्य और भावभंगिमा से सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित और पुरस्कृत हुए हैं। "तिरुवनंतपुरम चित्रालय" प्रतिभाशाली कालाकारों के अनुपम चित्रों से संपन्न है। कहा जाता है कि सौन्दर्योपासक रविवर्मा को साक्षात् मूकाम्बिका देवी के दर्शन प्राप्त हुए और देवी की दिव्यता, तेज और अनुपम सौन्दर्य उनकी अंकित नायिकाओं में दृश्यमान हैं। रविवर्मा के अनुपम चित्रों से तिरुवनन्तपुरम के "कवडियर राजमहल" चित्रालय तथा मट्टाञ्चेरी के "डच्च महल" की भित्तियाँ सुशोभित हैं।

अरब, हिन्द और बंगाल की खाड़ी की धाराओं के संगम पर स्थित "कन्याकुमारी" केरल का था, पर अब तमिलनाडु का हो गया है। फिर भी दक्षिण छोर से करीब ढाई फर्लाङ्ग दूरी पर अस्सी लाख रुपये की लागत से 500 फुट लंबी-चौड़ी, समुद्र तल से 55 फुट ऊपर निर्मित "स्वामी विवेकानन्द शिला स्मारक" मण्डप स्वामीजी के महिमामय जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश डालता है। वह केरलीय और दक्षिण भारतीय प्रस्तर तथा स्थापत्य कला का अति कमनीय रूप है और भारतीय चिंतन-धारा का उत्तम निदर्शन है। यों केरल में सार्वभौमिक सांस्कृतिक शक्ति स्पन्दित और पारस्परिक सहयोगपूर्ण सहअस्तित्व से अनुप्राणित अनेक जीवित कलाएँ हैं, जो समभावना और सद्भावना पर आधारित मानवता एवं आध्यात्मिक शक्ति को अक्षुण्ण रखती हैं।

❀

राष्ट्रभाषा के महल के बीच का दालान शुमाली हिन्दुस्तान का होगा तो उसके अगल-बगल के कमरे और सूबों के होंगे। हाँ, सारा महल हिन्दुस्तानी कहलाएगा। जो कोई भी हिन्दुस्तानी उसमें आयगा वह किसी न किसी जगह पर अपना भी एक कमरा पायेगा। सारा महल सारे मुल्क का होगा और सारा मुल्क इस महल का। बीच का बड़ा दालान जब बनाया जायगा उसमें अपने अपने सूबे के किसी भी फिरके का किसी भी जात का किसी भी तर्ज का ध्यान न छूटे। वह सारे शुमाली हिन्द का सच्चा और पूरा नुमाइन्दा बने।

—मोटूरि सत्यनारायण
(भूतपूर्व प्रधान मंत्री, द. भा. हिन्दी प्रचार सभा)

डॉ० पी जयरामन, एम ए, पीएच डी, डी लिट,
हिन्दी अधिकारी, रिज़व बैंक ऑफ इंडिया,
सेन्ट्रल आफ़िस, बबई।

"भारतीय संस्कृति के संदर्भ में तमिल प्रदेश का वैचारिक प्रदेय"

सभा की शिक्षा-दीक्षा से आपके व्यक्तित्व का गठन हुआ जिसका कि आप आज भी गौरव महसूस करते हैं। हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्ति के बाद शोध कार्यों के आधार पर आपने सागर विश्वविद्यालय से हिन्दी मे पीएच डी और डी लिट की उपाधियाँ हासिल की। दक्षिण के विविध कॉलेजों तथा रेलवे विभाग मे हिन्दी-सेवा करने के बाद सप्रति आप रिज़व बैंक ऑफ इडिया, बबई का हिन्दी अधिकारी पद सभाल रहे हैं। तमिल सस्कृति, भाषा व साहित्य सबधी विविध निबधों तथा अनूदित रचनाओं दवारा हिन्दी भारत को प्रभावित करनेवाले आप उदीयमान तमिलभाषी हिन्दी लेखक हैं।

नाना प्रकार की नद-नदियों, उत्तुग, पर्वत श्रेणियों तथा वन वनातरो से भारतवर्ष विभिन्न भागो मे विभाजित अवश्य है। यह मात्र भौगोलिक विभाजन है, किन्तु राष्ट्र एकात्मभाव से आबदध है, अविभाज्य है। राष्ट्र की आत्मा उसकी सस्कृति होती है। सस्कृति उसकी महान प्रवृत्तियो, उदात्त विचार धाराओं एव उज्ज्वल भावनाओ मे निहित है। भारत मे अनकानेक भाषाएँ बोली जाती हैं, विभिन्न प्रकार की वेश भूषाएँ, आचार-व्यवहार आदि भी यहाँ पाये जाते हैं। हजारों वर्षों पूर्व यहाँ आर्य, द्राविड, कोल, किरात आदि नानाविध जातियाँ भी अपनी अपनी मौलिकता को बनाये रखते हुए रहती थी। किन्तु कालातर मे नैसर्गिक रूप से, कुछ कुछ राजनैतिक कारणो से भी, ये जातियाँ एक दूसरे से इस प्रकार घुल-मिल जाने के लिए बाध्य हुईं कि वे शतियों से जातियों के नाम से नहीं, किन्तु एक राष्ट्र के नाम से भारतीय ही कहलाने लगीं। प्रारभ मे उन जातियो के बीच भले ही सघर्ष हुए हो, परन्तु क्रम-क्रम से उनमे ऐसी एकात्मता स्थापित होने लगी कि वे विभिन्न बाह्य विभेदों के बावजूद विचारो से, भावना से सस्कृति से और भी एकराष्ट्रीय हो गयी।

आज भारत काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, कटक से लेकर काठियावाड तक एक राष्ट्र है, इसकी आत्मा एक है, इसकी सस्कृति एक है तथा उसकी विभिन्न भाषाओं के साहित्य से अभिव्यक्त होनेवाली विचारधाराएँ प्राय एक समान हैं। राष्ट्र की यह सास्कृतिक-वैचारिक एकता सहसा उत्पन्न नहीं हुई है। इस एकात्मता के निर्माण की

प्रक्रिया में कई सहस्र वर्ष लगे हैं। इसमें अनेक महान विभूतियों, साहित्यकारों, कलाकारों तथा धर्म-शिल्पियों का महत्वपूर्ण योग रहा है।

इस महान भारतीय संस्कृति का निर्माण शतियों के प्रयास का परिणाम है। इसमें भारत के सभी भूभागों का समान रूप से योगदान रहा है। आजकल जहाँ कतिपय स्वार्थवादी लोगों के कारण उत्तर और दक्षिण के बीच भाषा का नाम लेकर राजनीति की आड़ में भेदभाव पैदा करने का अराष्ट्रीय कार्य किया जा रहा है, वहां ऐतिहासिक एवं साहित्यिक प्रमाण वास्तविक तथ्य का दूसरा ही एक स्वस्थ पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उत्तर और दक्षिण के बीच सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आदान-प्रदान का कार्य शत-शत वर्षों से होता आ रहा है। सर्वदा उत्तर और दक्षिण में यह प्रवृत्ति रही है कि दक्षिण में उत्पन्न विचारों तथा चिंतन-प्रक्रियाओं से उत्तर के मनीषी विद्वान प्रेरणा प्राप्त करते थे और उत्तर का चिंतन तुरंत ही दक्षिण पहुँच जाता था और वहाँ के विद्वानों की वाणी के माध्यम से मुखरित हो उठता था।

इस संदर्भ में हम कुछेक उदाहरणों से इस तथ्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि भारत की सांस्कृतिक एकात्मता के निर्माण में दक्षिण का प्रदेय क्या है, वैचारिक दृष्टि से दक्षिण ने उत्तर के वातावरण को किस प्रकार प्रभावित किया है और उत्तर ने दक्षिण की भावधारा को कितनी तन्मयता से आत्मसात् किया है।

यह बात सच है कि उत्तर में सरस्वती के तट पर संकलित हुए वेदों, वेदांगों, पुराणों आदि का व्यापक प्रभाव दक्षिण भारत पर पड़ा है। तमिल की प्राचीन संघकालीन कृति 'परिपाडल' उत्तर से प्रवहित होकर तमिल प्रदेश तक व्याप्त हुई भागवत-विचारधारा का पुष्ट प्रमाण है। संघोत्तरकालीन शिलप्पधिकारम का 'आय्च्चियर् कुरवै' (कृष्णभक्तिपरक नृत्य-गान जो ग्वालिनें समवेत होकर करती थीं) उत्तर की वैष्णव भक्ति-धारा से तमिल प्रदेश के ओतप्रोत होने का महत्वपूर्ण प्रतिमान है। संघकालीन कृति के रूप में स्वीकृत तमिल वेद 'तिरुक्कुरळ्' पर उत्तर भारत में रचित मनुस्मृति की छाया इस तथ्य की घोषणा करती है कि उत्तर की चिंतन-प्रक्रियाओं का दक्षिण पर पड़ा प्रभाव कितना बद्धमूल है। तिरुवळ्ळुवर के तिरुक्कुरळ् पर केवल मनुस्मृति का नहीं, अपितु भगवद्गीता, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र आदि का प्रभाव भी असंदिग्ध है। तमिल के विख्यात समीक्षक एस. वैयापुरि पिळ्ळै का कहना है कि तमिल की प्रारंभिक संघकालीन रचनाओं एवं 'तोलकाप्पियम' की अपेक्षा तिरुक्कुरळ् में संस्कृत शब्दों की बहुलता है। इससे निश्चित ही कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व पहली शती के आसपास के माने-जानेवाले तिरुवळ्ळुवर की कृति पर उसके पूर्व प्रणीत उपनिषद, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र आदि का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। उदाहरणार्थ मनुस्मृति तथा तिरुक्कुरळ् की कतिपय पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

मनुस्मृति में कहा गया है, "हम सभी का एकमात्र मित्र है चाहे हम निर्धन ही क्यों न हों; वह शरीर की मृत्यु के पश्चात् भी हमारे साथ आता है और वही है धर्म। शेष सभी शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं।" (आठवाँ अध्याय, सातवाँ पद)

तिरुक्कुरळ् के छत्तीसवें पद में धर्म की उत्कृष्टता की यही बात इस रूप में प्रस्तुत की गयी है—"धर्म का पालन करना मत त्यागो। क्योंकि मरणपर्यंत और उसके पश्चात् भी वही तुम्हारा अभिन्न मित्र होकर रहेगा।"

गृहस्थ-धर्म का विवेचन करते हुए तिरुक्कुरळ् का कहना है—"गृहस्थ ही जीवन के अन्य तीन आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास का पालन करनेवालों का आधार है।" (पद 41)

मनुस्मृति की अभिव्यक्ति भी लगभग ऐसी ही है—"जैसे सभी नदियाँ, चाहे उनका पुलिंग नाम हो अथवा स्त्रीलिंग नाम, अंततः सागर की ही शरण लेती हैं, उसी प्रकार सनातन ब्राह्मणो आदि के सभी कार्यों का आधार गृहस्थ ही है।
(अध्याय 6, पद 19)

तिरुक्कुरळ् के पद 43 मे परसेवा का वर्णन करते हुए कहा गया है—"गृहस्थ की विशेषता इसीमे है कि वह देवी-देवताओं, पूर्वजों, अतिथियों सगे-संबन्धियों तथा अपने आपके प्रति दायित्व का पूर्ण निर्वहण करे; वही उसका धर्म है।" इस प्रसंग मे मनुस्मृति का सन्देश है—"जो व्यक्ति प्रतिदिन पंच महायज्ञ की साधना करके देवी-देवताओं, अतिथियो, पशुओं, पूर्वजों की आत्माओं तथा अपने-आपको नही खिलाता, वह जीवित होते भी निर्जीव ही माना जाएगा।"

इसी प्रकार वात्स्यायन के कामसूत्र के साथ तिरुक्कुरळ् के 'काम' भाग की तुलना की जा सकती है। तिरुवळ्ळुवर सनातन सांस्कृतिक विचारों एवं जीवन-सिद्धांतो के ज्ञाता तथा पारखी थे। यही कारण था कि वे दक्षिण के वातावरण में उत्तर से बहती आनेवाली सनातन सांस्कृतिक धारा को आत्मसात् कर मधुर तमिल में उसे मौलिकता के साथ प्रस्तुत कर सके। ईश्वरीय तत्व की मान्यता मे भी दक्षिण और उत्तर में कोई अंतर नहीं रहा है। जैसे गीताकार की घोषणा है, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य, वेदान्तकृत् वेदविदेव चाऽहम्,' उसी प्रकार तिरुक्कुरळ् के प्रथम पद में कहा गया है—'जैसे सभी वर्णों का आदि अकार है वैसे ही अखिल विश्व का आदि भगवान है।'

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर की चिन्तन-प्रक्रिया ने दक्षिण के जन-मानस को कितना प्रभावित एवं आंदोलित किया है।

इसी प्रकार दक्षिण में उत्पन्न विचारों एवं चिन्तनो से भी उत्तर के मनीषियों को प्रेरणा मिलती थी। वस्तुत. भारतीय संस्कृति के निर्माण में दक्षिण का कम महत्वपूर्ण योग नहीं रहा है।

मध्यकालीन भारत में जब सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया प्रारंभ हुई, तब सुदूर दक्षिण के तमिल प्रदेश ने भक्ति की स्निग्ध ज्योति लेकर उत्तर का मार्गदर्शन किया। आर्यों की प्रकृतिपूजा और कर्मकांड के नीचे उनका भक्ति-भाव जब दबा पड़ा रहा, तब ज्ञानप्रधान आर्यों की भक्ति को तमिल प्रदेश ने कोमल भावप्रधान तथा प्रवृत्तिमय बनाया।

भक्ति भारत का प्राचीनतम सनातन धर्म है। प्रारंभ में आर्य प्रायः हवनकर्म द्वारा अपने देवताओ को प्रसन्न करते रहे। किन्तु इतर भारतीय जनता उस काल में भी भावप्रवण भक्ति से ओतप्रोत थी। आर्य जाति भी पौराणिक एवं पाचरात्रिक युग में आकर जब भक्ति-भावना को जीवन में प्रमुख स्थान देने लगी, तो कर्मकाड गौण हो गये। उत्तर भारत में भक्ति भावना से पूर्ण ब्राह्मण धर्म का जो विकास हुआ, वह वहाँ केवल मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व तक ही गतिशील रहा। आर्यों का वह भक्तिभाव अधिक ज्ञानप्रधान था, जो ईसा को चौथी शती से लेकर छठी शती तक गुप्त साम्राज्य के उत्तम शासन-काल में वैष्णव भक्ति तथा भागवत धर्म के रूप में

सर्वाधिक प्रचारित हुई। किन्तु सम्राट हर्षवर्धन एवं उनके परवर्ती शासकों के समय में उसकी उपेक्षा होने लगी और भक्ति की वह धारा वहाँ सूखती गयी। यद्यपि बौद्ध धर्मानुरागी हर्षवर्धन ने ब्राह्मण धर्म के विकास के मार्ग में कोई विशेष बाधा नहीं डाली, फिर भी उनके उपेक्षाभाव के कारण तथा साथ ही आक्रांता तुर्कों-अफ़गानों की धार्मिक असहिष्णुता के कारण भी उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म की प्रगति को अवश्य आघात पहुँचा।

किन्तु उस समय दक्षिण में शैवभक्त कवि नायनमारों और वैष्णव भक्त कवि आळ्वारों के कारण भक्तिभावना पल्लवित और पुष्पित होने लगी और विशेष रूप से वैष्णव भक्ति की जो समर्पणमयी स्निग्ध भावधारा चौथी और नौवीं शतियों के बीच बारह आळ्वार कवियों के भक्तिरसाप्लुत गीतों के माध्यम से बहने लगी, वह भारतीय संस्कृति के इस महत्वपूर्ण अंग को आक्रांताओं के भीषण आघातों से बचाकर सुरक्षित रख सकी। तमिल प्रदेश के शांत वातावरण में आळ्वार कवियों द्वारा प्रतिपादित भक्ति-भावना को दार्शनिक दृष्टि से चिंतन की प्रक्रिया द्वारा अनेक आचार्यों ने भक्ति-आन्दोलन का स्वरूप प्रदान किया। उन आचार्यों में प्रमुख थे नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुज, वेदान्तदेशिक, वरवरमुनि आदि, जिन्होंने आळ्वारों के पदों को 'प्रबन्धम्' (नाथमुनि ने बारह आळ्वारों के चार सहस्र पदों का संकलन किया था जिसे 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' कहा जाता है) तमिल वेद माना और उसका विशेष अध्ययन कर संस्कृत शास्त्रों से उसकी संगति बैठाने का प्रयत्न किया। उन आचार्यों के तीन प्रमुख उद्देश्य थे; वैदिक वैष्णव धर्म का महत्व-स्थापन, अवैदिक संप्रदायों का निराकरण और आळ्वारों द्वारा निरूपित शरणागतिमूलक प्रपत्ति भक्ति का प्रचार। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन आचार्यों ने समस्त भारत की यात्राएँ कीं और वहाँ आळ्वारों के भक्ति प्रपत्ति के सिद्धांतों का प्रचार किया तथा अपने सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत में अनेक ग्रंथों तथा भाष्यों का प्रणयन किया। परिणामतः आळ्वारों की प्रपत्तिमयी वैष्णव भक्ति की तरल धारा समग्र भारत के जनमानस को आन्दोलित करने लगी, आहत भी करने लगी।

रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिष्ठित प्रपत्तिप्रधान विशिष्टाद्वैतीय श्रीसंप्रदाय की भूमिका आळ्वारों की कृतियों में है। यद्यपि आळ्वारों तथा विशिष्टाद्वैती आचार्यों के प्रमुख आराध्य भगवान विष्णु हैं, फिर भी उन्होंने विष्णु के विभिन्न अवतारों में से राम और कृष्ण को प्रमुखतम स्थान दिया है। विशेष रूप से गोपीकृष्ण एवं श्रीपति की भक्तिधारा को भारतीय जन-जीवन में प्रवाहित करने का सर्वप्रथम प्रयास इन्हीं आळ्वारों और आचार्यों ने किया है।

नाथमुनि आदि विशिष्टाद्वैतीय आचार्यों के पश्चात् 'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्' (दशश्लोकी, 8) कहकर माधुर्यभावप्रधान राधाकृष्णोपासना की उपादेयता की घोषणा करनेवाले बारहवीं शती के आंध्रवासी आचार्य निम्बार्क का स्थान आता है, जिन्होंने रामानुज की भाँति शास्त्रोक्त प्रकार से भक्तिसाधना का स्वरूप निर्धारित नहीं किया, किन्तु भावप्रवण होकर प्रेमलक्षणा, रागात्मिका एवं सहज भावप्रधान पराभक्ति की प्रतिष्ठा की।

इस संदर्भ में बारहवीं शती के कर्नाटक के मध्वाचार्य और तेरहवीं शती के विष्णुस्वामी (प्रो. काणे इन्हें कावेरी तट निवासी तमिल ब्राह्मण मानते हैं) भी उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने

मायावाद का खण्डन कर वैष्णव भक्ति-सिद्धांत का प्रचार करते हुए भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ घोषित किया।

इन भक्तो एव आचार्यों ने दक्षिण और उत्तर में वैष्णव भक्ति का जो प्रचार किया एवं पीड़ित मानव जाति को विकट तमसा से बचाने के लिए भक्ति की जो ज्योति जलायी उससे प्रभावित होकर चौदहवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक उत्तर भारत मे कृष्णभक्ति का एक जन-आन्दोलन-सा छिड गया। रामानुज प्रभृति दक्षिणी आचार्यों की वाणी का ही यह प्रभाव था कि उत्तर भारत मे विभिन्न वैष्णव अथवा कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, असख्य कृष्णभक्त कवियों की वाणी गूँज उठी और विष्णु के दो प्रमुख अवतारो—राम और कृष्ण की भक्तिधारा चारो दिशाओ को आप्लावित करने लगी।

राम भक्ति—उत्तर भारत में मध्यकाल में राम भक्ति का सूत्रपात करने का श्रेय स्वामी रामानद (18 वीं शती) को है, जो रामानुज की चौदहवीं पीढी में आते हैं। उत्तर भारत में प्रारभ मे रामोपासना का सूत्रपात उनकी वीर-पूजा से ही हुआ। वाल्मीकि रामायण से लेकर भास तथा कालिदास के युग तक हनुमान तथा विभीषण के चरित्रो द्वारा शरणागतिमूलक राम-भक्ति का व्यापक प्रचार था। किन्तु तब तक रामभक्ति को संप्रदाय का स्वरूप प्राप्त नही था। रामानुज के श्रीसप्रदाय मे रामोपासना को भी स्थान प्राप्त था। परन्तु रामानुज की तेरहवी परम्परा मे आनेवाले श्री राघवानन्द ने श्रीसप्रदाय की रामोपासना को संप्रदाय का रूप दिया, जिसका उनके शिष्य रामानन्द ने व्यापक प्रचार किया। इस संप्रदाय को रामावत सप्रदाय कहा जाता है। रामानन्द ने सारे भारत में परिभ्रमण किया। तमिल प्रदेश मे रामोपासना अधिक व्यापक रूप से प्रचलित थी। रामकथा भी वहाँ बारहवीं शती मे महाकाव्य (कबन-कृत रामायण) का रूप ले चुकी थी। रामानन्द दक्षिण मे वर्षों तक रहे; अतः यहीं से वे रामभक्ति का प्रसाद उत्तर में ले गये।

रामानुज की भाँति राघवानन्द एवं रामानन्द ने भी भक्ति-मार्ग में जाति-पाँति का बहिष्कार किया। रामानन्द ने विशिष्टाद्वैत को मानते हुए उसे रामोन्मुख कर दिया था। रामानन्द के शिष्यों में प्रमुख नाम कबीर का लिया जाता है, जिन्होंने राम की परिकल्पना में परिवर्तन कर उसमें निर्गुण ब्रह्मत्व की स्थापना कर दी थी। किन्तु रामानन्द के शिष्य नरहर्यानन्द के शिष्य गोस्वामी तुलसीदास ने रामानन्दीय संप्रदाय को सगुण रामभक्ति को मानस एवं अन्य रचनाओं द्वारा उदात्त स्वरूप प्रदान कर दिया था। वस्तुत. उत्तर भारत में तुलसीदास के माध्यम से रामभक्ति की जो धारा प्रवहित होने लगी, उसका स्रोत तमिल के कुलशेखर आदि आळ्वारों की रामभक्ति तथा रामानुज के श्रीसंप्रदाय की रामोपासना है। किन्तु उक्त दक्षिणी रामोपासना को स्थायी साप्रदायिक रूप प्रदान करने का श्रेय स्वामी राघवानन्द और रामानन्द को ही है।

कृष्ण भक्ति—उत्तर भारत मे राम भक्ति से अधिक कृष्ण भक्ति का जो व्यापक रूप प्रचारित होने लगा, उसके मूल कारण दक्षिण के वैष्णव आचार्यों से प्रभाव ग्रहण कर स्थापित होनेवाले वल्लभ संप्रदाय, चैतन्य सप्रदाय, राधावल्लभीय संप्रदाय, हरिदासी सखी संप्रदाय आदि प्रमुख चार संप्रदाय हैं। कृष्णोपासना मध्व, निंबार्क एवं विष्णु-स्वामी के माध्यम से प्रचारित हो चुकी थी। जहाँ मध्व के कृष्ण परमात्मा विष्णु थे वहाँ विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल-स्वरूप को और निंबार्क ने राधाकृष्ण के युगल रूप को स्वीकार

किया था। इसी कृष्णोपासना को वल्लभाचार्य, उनके पुत्र विट्ठलनाथ एवं महाप्रभु चैतन्य ने भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रवर्तित कर दिया था।

वल्लभाचार्य (पंद्रहवीं-सोलहवीं शती) ने दक्षिण में भी यात्रा की और वहाँ के वैष्णव आचार्यों के सिद्धांतों का अध्ययन किया। दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य के प्रसिद्ध सम्राट कृष्ण-देवराय द्वारा नास्तिकवादों का निराकरण करने के उपलक्ष्य में वल्लभाचार्य का स्वर्णाभिषेक कराया जाना अत्यंत प्रसिद्ध है। वल्लभ के अनुसार समस्त रसों के आकार लीलाधाम श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। इन्होंने रागात्मिका समर्पणमयी प्रपत्तिमूलक भक्ति-मार्ग को पुष्टिमार्ग द्वारा प्रशस्त किया। इन्हींके शिष्यों में कृष्णभक्त कवि सूरदास आते हैं। वल्लभ के चार शिष्यों के साथ अपने चार शिष्यों को सम्मिलित कर विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' या आठ कवियों का एक समुदाय बनाया जिनके द्वारा उत्तर भारत का लोकजीवन कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत हुआ।

बंगाल को भक्ति-रस से आप्लावित करनेवाले गौड़ीय संप्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु (15 वीं—16 वीं शती) ने भी सारे भारत को रसमयी कृष्णभक्ति से आप्लावित कर दिया था। उन्होंने भी सारे भारत में भ्रमण किया और विशेषकर तमिल प्रदेश के श्रीरंगम, कुंभकोणम आदि वैष्णव क्षेत्रों में भी गये। उनके द्वारा प्रेममय कृष्ण की मधुर भक्ति का सर्वत्र प्रचार हुआ। चैतन्य कृष्ण के प्रेम में इस प्रकार उन्मत्त हो जाते थे कि स्वयं राधास्वरूप होकर कृष्ण के प्रेम में बेसुध हो चीखते-चिल्लाते, यहाँ तक कि मूर्छित भी हो जाते थे। रूपगोस्वामी, जीव गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि उनके शिष्यों द्वारा उनकी माधुर्य-भक्ति का एक व्यवस्थित रूप निर्मित हो सका।

सोलहवीं शती में उत्तर भारत में राधाकृष्ण की युगल उपासना को लेकर श्री हितहरिवंश द्वारा प्रवर्तित 'राधा-वल्लभ संप्रदाय' का विशेष प्रचार हुआ। इस संप्रदाय का मूल आधार राधा-प्रेम है और इसमें बिना राधा की आराधना के कृष्णोपासना वर्जित है। इस संप्रदाय द्वारा प्रेमलक्षणा भक्ति का एक अनोखा रूप प्रस्फुटित हुआ। इसी शती में सखीभाव से नित्यविहारी राधाकृष्ण की युगलोपासना करने का विधान लेकर उत्तर भारत में स्वामी हरिदासजी द्वारा प्रवर्तित 'सखी या हरिदासी संप्रदाय' प्रचलित हुआ।

इस प्रकार चौथी शती से लेकर नौवीं शती तक दक्षिण के तमिल प्रदेश में वैष्णव भक्त कवि आळ्वारों द्वारा जो सरस भक्ति धारा प्रवहित हो उठी, उसका प्रचार-प्रसार रामानुज, निंबार्क, रामानन्द, वल्लभ प्रभृति वैष्णव आचार्यों के माध्यम से सारे उत्तर भारत में होने लगा और वहाँ का वातावरण आळ्वारों के भावप्रवण भक्ति-धारा से आप्लावित होने लगा।

तमिल प्रदेश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विकसित इस प्रपत्तिमयी वैष्णवी भक्ति-संस्कृति की धारा ग्यारहवीं-बारहवीं शती से उत्तर भारतीय चिन्तन पद्धति को गंभीरतापूर्वक प्रभावित करती हुई रासरसेश्वर श्याम-श्यामा की प्रेमाभक्ति में सोलहवीं शती में आकर परिणमित हुई और वल्लभ, राधावल्लभ आदि संप्रदायों के माध्यम से और उनसे संबन्धित अनेक कवियों तथा संप्रदाय-युक्त मीरा, रसखान आदि कवियों की रचनाओं के सहारे उत्तर भारत के शुष्कप्राय जन-मानस में आशा, विश्वास तथा सांस्कृतिक निष्ठा जगायी। इसके प्रमाण में कतिपय पंक्तियाँ इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं—

तमिल के कुलशेखराळवार का कहना है,

"एंगुम् पोय् करै काणादु, एरिकडल वाय्
मोण्डेयुम्
वगत्तिन् कूम्बेरुम् माप्परवै पोन्रेने...."

अर्थात्, चारों ओर सागर ही सागर मिला, किनारा कहीं नहीं मिला। इससे निराश होकर बार-बार जहाज के खंभे पर ही लौटनेवाले पक्षी के समान हे भगवान्! मैं भी आपकी शरण में आया हूँ; मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं है।

हिन्दी (ब्रजभाषा) के कवि सूरदास की वाणी इसी प्रकार में शरणागति-तत्व की घोषणा करती है—

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै?
जैसे उड़ि जहाज को पछी
फिरि फिरि जहाज पै आवै।"

यदि आळवार भक्तिन आण्डाळ् प्रियतम श्रीरंगनाथ के वियोग की व्यथा में स्वप्नविवाह की कल्पना कर व्यथा की तीव्रता को इस प्रकार अभिव्यक्त करती हैं—

"वारणमायिरम् शूळ वलम् शेय्दु
नारण नम्बि नडक्किन्रानेन्र एदिर्
पूरण पोर्कुडम् वैत्तुप् पुरमेंगुम्
तोरणम् नाट्टक् कनाक् कण्डेन् तोळि नान्।
इन्दिरनुल्लिट्ट देवर कुळामेल्लाम्
वदिरुन्दु एन्नै मकट्पेघि मन्दरित्तु
*   *   *
............मधुसूदनन् वन्दु एन्नैक्
कैत्तलम् पट्रक् कनाक् कण्डेन् तोळि नान्।"

(अर्थात् सहस्रों हाथी आगे-आगे चल रहे हैं; बीच में नारायण विद्यमान हैं। पूर्णकुंभ के साथ अगवानी की जाती है। चारों ओर तोरण लगाये हुए हैं। देवेन्द्र आदि सभी देवी-देवता मंडप में विराजे हैं। मंगनी होती है, मधुसूदन के हाथ में मेरा हाथ है....इस प्रकार मैंने स्वप्न देखा था सखी!) तो राजस्थान के मरुथल में प्रेमा भक्ति की पावन मंदाकिनी प्रवाहित करनेवाली मीराबाई के स्वप्नविवाह की कथा देखिए—

"माई म्हाणो सुपणामां परण्या दीनानाथ,
छापण कोटां जणां पधार्यां दूल्हो सिरी
व्रजनाथ,
सुपणामां तोरण बंध्यारी सुपणामा गह्या
हाथ,
सुपणामां म्हारे परण गया पायां अचल सुहाग,
मीरा रे गिरधर मिल्यारी, पूरब जणमरो
भाग।"

वस्तुतः प्रियतम माधव के वियोग में तड़पनेवाली विरहिणी भक्तिन आण्डाळ् का ही स्वरूप श्री गिरधर की 'प्रेम दिवाणी' राजस्थान की भक्तिन मीरा में पाया जाता है। मीरा और आण्डाळ की इस एकरूपता का प्रमुख कारण तमिल के भावुक भक्त आळ्वार कवियों (आण्डाळ बारह आळ्वारों में एक थीं) की भक्तिप्लावित रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित महाप्रभु चैतन्य की रागानुगा भक्ति का उनके शिष्य श्री जीवगोस्वामी के माध्यम से मीरा पर पड़ा प्रभाव है।

धर्मप्राण भारतीय संस्कृति के संदर्भ में तमिल प्रदेश की इस भावधारा का योग महत्वपूर्ण है। मध्यकालीन उत्तर भारत के सांस्कृतिक संघर्ष एवं संक्रांति की विकट तमाच्छादित वेला में तमिल प्रदेश से विकीर्णित स्निग्ध भक्ति ज्योति ने ही उत्तर का मार्गदर्शन किया। तमिल प्रदेश की जीवित तथा चैतन्यमयी भक्ति की धारा ने संघर्षों से आक्रांत भारतीय चेतना को नवजीवन प्रदान किया, जीवन की नयी ऊष्मा से आप्लावित किया और विश्वास का संबल देकर कर्मण्यता का

वरदान दिया। तमिल प्रदेश के इस वैचारिक सांस्कृति प्रदेय के प्रति कृतज्ञता के रूप में हिन्दी की निम्नलिखित उक्ति शतियों की परम्परा से चली आ रही है—

"भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप, नौ खण्ड।"

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक चिन्तन-पद्धति की परम्परा में संक्रांतिग्रस्त भारतीय जीवन को भावाविष्ट भक्तिपरक तथा विचार-प्रधान चेतन तत्व का उपहार प्रदान करनेवाली तमिल की वैष्णवी भक्ति चेतना का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

यद्यपि तमिल के आळवार भक्तों की व्यापक तथा गंभीर विष्णु भक्ति में राम, कृष्ण आदि अवतारों की भक्ति समाहित रहती है फिर भी नम्माळवार, पेरियाळवार, आण्डाळ् आदि कतिपय आळवारों ने कृष्णभक्ति को विशेष मनोयोग के साथ प्रतिपादित किया है। इसी कृष्णभक्ति का गंभीर तथा रसप्रधान रूप हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों में प्रमुखतम हो गया है। फिर भी यह मानना नितांत संगत है कि उनकी रसेश्वर श्याम की भक्ति की भूमिका उनके सैकड़ों वर्ष पूर्व आविर्भूत आळवारों के प्रतिपाद्य में ही विद्यमान है।

इस विशाल भारत की संस्कृति के विनिर्माण में यहाँ के प्रत्येक प्रदेश, वहाँ की जनता, विचारकों, चिन्तकों आदि का समान रूप से योग रहा है। किन्तु मध्यकालीन भारतीय संदर्भ में तमिल प्रदेश के उपर्युक्त वैचारिक प्रदेय का महत्व सर्वोपरि है, क्योंकि उसीका संबल प्राप्त कर विवश, पराधीन एवं निराश राष्ट्र शक्ति-संचय कर सका, भावक्षेत्र की पावनता के साथ कर्मक्षेत्र में प्रवेश कर सका, अपने अभिशप्त जीवन को परिमार्जित कर सका और अंतर की ज्योति को उजागृत कर राष्ट्रहित का संपादन करने में भी पूरी क्षमता एवं तत्परता के साथ अग्रसर हो सका।

*

यह क़ौमी ख़िदमत (राष्ट्र सेवा) है कि सब लोग मिलकर हिन्दी को आम फ़हम (राष्ट्रभाषा) बनावें। अपनी-अपनी ज़बान रखिए। आपको उसे छोड़ने के लिए कोई नहीं कहता। पर कौमी ख़िदमत के लिए हिन्दी या उर्दू जरूर पढ़ो। फ़क्त (केवल) अंग्रेजी से गाँव में स्वराज्य का पैगाम (संदेश) क्यों कर पहुँच सकेगा! यहाँ मजहब का ज़िक्र नहीं, हिन्दुस्तान का ज़िक्र है। हिन्दुस्तान हमारा क्यों कर हो, इसका ज़िक्र है।

—श्रीमती सरोजिनी नायुडु

श्री एस. श्रीकण्ठमूर्ति, एम ए , बी.ईडी.,
प्राचार्य, हिन्दी प्रशिक्षण कॉलेज,
मद्रास-17

कर्नाटक की धार्मिक परंपरा

राष्ट्रपिता के आह्वान पर परतंत्र भारत की मुक्ति का विशिष्ट रचनात्मक साधन मानकर आप हिन्दी सेवा क्षेत्र मे आये और दक्षिणी भाषा प्रदेशों में सभा के स्थायी कार्यकर्ता की हैसियत से प्रचारक, संगठक, मंत्री, प्राध्यापक आदि विविध पदों को संभालते हुए विगत 33 सालों से सभा की एकनिष्ठ सेवा मे संलग्न हैं। संप्रति आप सभा के विश्व-विद्यालय विभाग के अंतर्गत मद्रास केन्द्र के "हिन्दी प्रशिक्षण कॉलेज" के प्राचार्य हैं। कन्नड़भाषी होते हुए भी आप बहुभाषाविद् हैं तथा कुशल अभिनेता भी। शैव दर्शन व साहित्य आपका अभीष्ट अध्ययन-विषय है।

कर्नाटक धर्म-प्राण देश है। उसकी जमीन के कण-कण मे धर्म की भावना दृष्टिगोचर होती है। अत्यंत प्राचीन काल से ही कर्नाटक नाना धर्मों तथा धार्मिक सप्रदायों का क्रीड़ा-निकेतन बना है। भारत में पनपनेवाले वैदिक धर्म की अवान्तर शाखाओं मे मुख्य शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म का, मातृदेवता-ग्रामदेवता मूलक शाक्त मत का, वैदिक हिंसा तथा कर्मकांड के विरोध में जन्म लेनेवाले अहिंसा प्रधान बौद्ध-जैन धर्मों का कर्नाटक में स्वागत तथा विकास हुआ। इन विभिन्न धार्मिक सप्रदायों की उदार शिक्षा, उच्चतम आदर्श तथा उन्नत तत्वज्ञान को अपनाकर कर्नाटक अपनी प्रगति एव कल्याण करता आया है।

अब हम कर्नाटक प्रदेश मे विभिन्न समयो से अब तक प्रचलित तथा जनप्रियता प्राप्त शैव धर्म (वैदिक, पाशुपत, कापालिक, नाथपंथी, वीर शैव, गाणपत्य, स्कांद, शाक्त, कौल आदि), वैष्णव धर्म (श्रीसंप्रदाय, ब्रह्मसंप्रदाय, सौर आदि) तथा जैन-बौद्ध धर्मों के आगमन व विकास पर विचार करेंगे।

इस प्रश्न का उत्तर देना कि कर्नाटक प्रदेश का मूल धर्म क्या था, तत्संबंधी सामग्रियों की अनुपलब्धि के कारण, कठिन है। प्रागैतिहासिक युग में भारत मे आर्यों के आगमन के पूर्व जिस संस्कृति एव सभ्यता का प्रचार तथा प्रसार था, उसका परिचय मोहंजोदड़ो, हरप्पा आदि प्रदेशों के उत्खनन से प्राप्त सामग्रियो के अध्ययन से होता है। दक्षिण भारत के कई प्रदेशों मे उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों के साम्य के कारण, यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि आर्यागमन पूर्व भारत भर, अत्र तत्र, एक ही सभ्यता के लोग फैले हुए थे।

उन "सैन्धव संस्कृति" के कहे जानेवाले तत्कालीन भारतवासी मातृदेवता की तथा लिंग एवं पशुपति-शिव की पूजा करते थे।

मोहंजोदड़ो में प्राप्त प्राचीनतम शासनों के आधार पर फ़ादर हेरास ने मोहंजोदड़ो के निवासियों के साथ कर्नाटक का संबंध जोड़ा है—"The fact that the ancient people of Mohanjo Daro were proto-Dravidians—a fact hinted at by Sir John Marshall and confirmed by the interpretation of all the inscriptions by the present writer—is already a link between all the Dravidian countries including, therefore, Karnataka and Mohanjo Daro.

But the connection between Karnataka and Mohanjo Daro is still more explicit than this general inter-reation. The people of Karnataka are apparently referred to in one of the seal inscriptions of Mohanjo Daro as one of the ancient tribes of the land....Thus the complete sign will read "Kananir"—"people who have eyes". This evidently refers to a tribe, to a number of people called so. The ancient word "Kannadigas" by which the people of Modern Karnataka are mentioned seems to be a sanskrit modification of "Kananir"[1].

इससे स्पष्ट होता है कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व भारत के अन्य प्रदेशों की तरह कर्नाटक में भी शैवोपासना तथा ग्राम-देवताओं के रूप में शक्ति-पूजा प्रचलित थी। इनके साथ नाग-पूजा, अश्वत्थ आदि वृक्षों की पूजा भी प्रचलित रही।

शैव धर्म—कर्नाटक का ही क्यों, सारे भारत वर्ष का अतिप्राचीन धर्म शैव धर्म है। आर्यागमन पूर्व 'सैन्धव संस्कृति' के लोग पशुपति-शिव की, 'आण' के नाम पर पूजा किया करते थे। फ़ादर हेरास ने इस संबंध में लिखा है—"Siva, the Dravidian God of India is a God who is on different occassions shown holding serpants........Even Aaṅ, the prototype of Siva of the Mohanjo Daro period, is supposed so have a serpant."[2]

उस समय वरुण, इन्द्र, अग्नि, सोम, उषा, रुद्र आदि प्राकृतिक शक्तिप्रतीक देवताओं के उपासक आर्यों का भारत में आगमन हुआ। पहले आर्यों में तथा आर्यागमन पूर्व निवासियों में संघर्ष हुआ, फिर आदान-प्रदान के साथ दोनों में समन्वय हुआ। दोनों के धर्म, विचार-व्यवहार, साधना, देवी-देवता आदि की पारस्परिक लेन-देन में आर्य पूर्व निवासियों के 'शिव' तथा आर्यों के 'झंझावात के विध्वंसक स्वरूप के प्रतीक' 'रुद्र' में समन्वय हुआ तथा मातृदेवता को शक्ति के रूप में—दुर्गा के रूप में आर्यों ने अपना लिया। यजुर्वेद के शतरुद्रीय स्तोत्र में रुद्र के भयावह रूप के वर्णन के साथ पहली बार "शिव" "शिवतर", "शंकर" आदि कहने के अतिरिक्त रुद्र को "स्तेनानां पति", "वंचकानां पति",

1. "Karnataka and Mohanjo Daro" by Father Herras KHJ. 1937 Vol. IV. Pages 1-2.

2. 'A proto-Indian representative of the Fertility God'—H. Heras; Dr. Bhandarkar's Volume—Page 125.

"स्थायूना पति", "तस्कराणां पति", "व्रात पति" आदि उपाधियों से जो विभूषित किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि यजुर्वेदीय काल तक पूर्व निवासियो के उपास्य देवो के साथ आर्यों के रुद्र देव का समन्वय हो चुका था और इसी कारण से आर्यों ने अपने रुद्र को मृगायु निषाद, श्वनि, तक्षक, रथकार, कुलाल, कर्मकार आदि आर्येतर निवासियो के भी उपास्य के रूप में वर्णित किया है।[1]

यह समन्वय कार्य उपनिषद् काल मे, विशेषकर श्वेताश्वतर उपनिषद में दृष्टिगोचर होता है और उस काल मे प्राचीन बहुदेवतावाद के स्थान पर एक पर ब्रह्म की कल्पना द्वारा एकेश्वरवाद की स्थापना तथा उसके साधन के रूप मे भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ।[2]

श्वेताश्वर उपनिषद भगवद्गीता तथा भागवत से भी, जिनके आधार पर वैष्णवधर्म का प्रतिपादन हुआ, प्राचीन समय का है। अत श्री रमेशचन्द्र मजुमदार के कथन मे पूर्ण सत्य है कि ' That the theistic worship of Siva and Sakti may be regarded as the oldest form of Hindu Religion '[3]

दक्षिण भारत में आर्यों का आगमन, कुछ विद्वानों के अनुसार ईसापूर्व छठी शताब्दी के आसपास हुआ। डा० भडारकर का कथन है कि ईसा पूर्व सातवी सदी तक उत्तर भारत के आर्यों को दक्षिण का कुछ पता नहीं था।[4] जो कुछ भी हो वैदिक धर्म के साथ-साथ शैवधर्म वैष्णव धर्म तथा वैदिक सस्कृति का प्रचार एव प्रसार दक्षिण भारत में धीरे धीरे होने लगा।

1 यजुर्वेद—शतरुद्रीय सूक्त (16-1-66)
2 'शैवमत'—डा० यदुवशी—P 43
3 The cultured Heritage of India-Vol III
4 Bombay Gazeteer— गो तुलसीदास की समन्वय-साधना'—Page 20

उपनिषदों के बाद रामायण, महाभारत में देश मे प्रचलित शैवधर्म तथा शिवोपासना का उल्लेख है। ऐतिहासिक काल में शिवपूजा का अतिप्राचीन उल्लेख मेगास्तनीज का है। अब तक यह धर्म जीवन के प्रति उदासीनता तथा कष्टसहिष्णुता को माननेवाली सामान्य जनता में अधिक प्रिय हो गया था। शैवों के कठिन व्रतों का विवरण देते हुए पतजलि ने (ईसा पूर्व 200) 'शिव भागवतों' का उल्लेख किया है। कुशान राज्य के त्रिशूलधारी शिवमूर्ति तथा नदीवाले शिवके प्राप्त हुए हैं। भारशिव राजा तो "अश भार सन्निवेशित शिवलिंगोद्वाहन शिव सुपरितुष्ट समुत्पादित राजवशानाम्" थे। उसी समय पश्चिमी भारत मे पाशुपतधर्म के प्रवर्तक तथा महेश्वर के अतिम अवतार "लकुलीश" का उदय हुआ।[5]

दक्षिण भारत में आर्यागमनपूर्व से शैवधर्म तो रहा परन्तु उसका विकास पल्लव-युग मे हुआ। तमिल के सघ साहित्य शिलप्पधिकारम, मणिमेखलै आदि में शिव स्वरूप-वर्णन पाया जाता है। भारत के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में कर्नाटक में स्थित गोकर्णेश्वर भी एक है।

सूत सहिता मे (82 39-40) तीन शैवमतों का उल्लेख है—पाशुपत, कालामुख एव कापाल। वायुपुराण मे (6-66) चार शैव सप्रदायों का उल्लेख है—शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। शकराचार्य ने[6] पशुपति मतवाले सबको "माहेश्वर" कहा है। टीकाकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार शैवधर्म के अतर्गत "शैव, पाशुपत, कारुणिक सिद्धान्त तथा कापालिक" आते हैं। यामुनाचार्य ने "काल-दमन, कारुणिक" के स्थान पर "कालामुख" का

5 सर्वदर्शन सग्रह
6 ब्रह्मसूत्र—शकर भाष्य—अध्याय 2 पद 2.

नाम लिया है तो भास्कराचार्य ने 'कारुणिक सिद्धांति" के स्थान पर "काठक सिद्धांति" का। श्रीनिवास ने[1] 'काठक' या 'कारुणिक' के स्थान पर 'कालामुख' का उल्लेख किया है। रामानुजाचार्य के अनुसार शैवमत "कापाल: कालामुखः पाशुपत: शैवा:" है तो जयतीर्थीय "न्यायसुधा" में "शैव, पाशुपत, कालामुख एवं कापालिक" है। "सुप्रभेदागम" के "क्रियापाद" में शैव, पाशुपत एवं सोमलाकुल का उल्लेख है जिनमें 'शैव' सौम्य हैं और "पाशुपत" रौद्र कहा गया तथा शैवों के चार प्रभेद बतलाये गये हैं—वाम, दक्षिण, मिश्र तथा सिद्धान्त। कन्नड़ कवि निजगुण शिवयोगी ने[2] "पाशुपत, कापालिक तथा महाव्रत" के तथा शैवभेदों में—"अनादि शैव, आदि शैव, महाशैव, अनुशैव, अवांतरशैव तथा अंतरशैव" तथा दूसरी दृष्टि से "सामान्यशैव, मिश्रशैव, शुद्धशैव तथा वीरशैव" के नाम गिने हैं। गुणरत्नसूरि ने[3] 'कालामुख, पाशुपत, शैव तथा महाव्रत' का उल्लेख किया है तो 'सर्वदर्शन संग्रह' में 'पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर' इन चरा प्रभेदों का उल्लेख है।

इस प्रकार 'कालामुख, कालदमन, कारुणिक, काठक, लाकुल, महाव्रतधवर, असित वक्त्र' आदि नामों से परिचित शैव, डा० एम. एच. कृष्णा के अनुसार, कश्मीर से कर्नाटक में आकर बस गये थे। लाकुल शैव मत का कर्नाटक में खूब प्रचार था जिसका अवशेष शिल्प रूप में महाकूट, ऐहोळे, पट्टदकल्लु, आदि स्थानों में पाये जाते हैं। हल मण्डी शिला शासन के 'श्रीमल्लकुलीश्वर देव मुखकमल विनिर्गत सकल शास्त्रार्थ कल्प........' गडिहल्लि के शासन के वामशक्ति पंडित के वर्णन में 'लाकुल देवागम दी लोक जन स्तुत्य मार्गे.... श्री पर्वत के ब्रह्मेश्वरदाचार्य गंगराशि भट्टारक के शिष्य सुरेश्वर पंडित के वर्णन में 'काळामुख समय सरोवर राजहंसा, लाकुल सिद्धान्त नैयायिक नलिनी दिवाकरा....' आदि से पता चलता है कि लाकुलागम तथा लकुलीश-पाशुपतमत का बारहवीं सदी तक कर्नाटक में प्रभावशाली प्रचार रहा।

कापालिक मत उग्र शैवतांत्रिक मत था जिसके अनुयायी नर-अस्थि-माला धारण करनेवाले, श्मशानवासी, नरकपाल में भोजन करनेवाले, योगाभ्यास के कारण विलक्षण शक्तिवाले तथा मद्य-मांस-प्रधान उग्र-पूजा करनेवाले थे। शिव पुराण में इन्हें 'महाव्रतधर' कहा गया है। भवभूति ने[4] श्रीशैल के कापालिकों के अड्डे का वर्णन किया है।

कर्नाटक में भी उग्रभैरव नामक कापालिक का प्राबल्य था। शंकराचार्य के समय कर्नाटक में क्रकच नामक कापालिक के पास शस्त्रसज्जित सेना तथा गजसेना थी जिसके सहारे सबको बलपूर्वक दीक्षित करने का प्रयत्न चलता था। भैरव के उपासक क्रकच के शिष्यों ने शंकराचार्य तथा उनके शिष्यों पर आक्रमण किया तो सुधन्व राजा ने उनका निग्रह किया।[5]

साहित्यकोश के अनुसार[6] प्रधानतः चार शैव संप्रदाय माने गये हैं—पाशुपत, शैवसिद्धान्त, काश्मीर शैवमत तथा वीरशैवमत। पाशुपत में परमात्मा के लिए शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है और जीव के लिए 'पशु' तथा जड के लिए 'पाश'। 'पशु' और 'पति' के संयोग को 'योग' तथा 'पति' को प्राप्त करने के मार्ग को 'विधि' कहते हैं। दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति ही 'दुःखान्त' या 'मोक्ष' है।

1. वेदान्त कौस्तुभ टीका.
2. विवेक चिन्तामणि.
3. "तर्कसंग्रह दीपिका"—गुणरत्नसूरि.
4. 'मालती माधव'
5. 'शंकर विजय'
6. साहित्यकोश, पृष्ठ संख्या 773.

शैव सिद्धान्त तमिलनाडु मे प्रचलित है जिसमे भी छत्तीस तत्व तथा तीन परम तत्व—पति, पशु और पाश हैं। 'पति' ईश्वर है, जीव 'पशु' है जो अज्ञ तथा अणु है और 'पाश' चार प्रकार के हैं—मल, कर्म, माया तथा रोधशक्ति। 'पति' के शक्तिपात या अनुग्रह से पशु पाश-रहित होता है। इस सिद्धान्त के अनुयायी तथा दक्षिण में शैव भक्ति-प्रचारक छत्तीस नायनमारों का आदर कर्नाटक की जनता भी करती है।

काश्मीर शैवमत अद्वैतवादी है। इसमें तथा शंकर के अद्वैत वेदान्त मे अन्तर इतना ही है कि शाकर-अद्वैत मे ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं है, परन्तु काश्मीर शैव के परमेश्वर में कर्तृत्व है। शाकर अद्वैतवाद ज्ञानमार्गी है, उसमें भक्ति का समन्वय ज्ञान से नहीं होता; परन्तु काश्मीर शैव में ज्ञान और भक्ति का समन्वय है। काश्मीर शैवमत विवर्तवाद तथा परिणामवाद को न मानकर स्वातंत्र्यवाद अथवा आभासवाद को मानता है जिसके अनुसार परमेश्वर की स्वातंत्र्य-शक्ति के कारण बिना बिंब के ही जगद्रूप का प्रतिबिंब स्वत. उत्पन्न होता है।

वीरशैव या लिंगायत मत कर्नाटक एवं आन्ध्र तथा तमिलनाडु में प्रचलित शैवमतों में एक है। इस संप्रदाय का उगम अनिश्चित है। वीरशैव ग्रंथों के अनुसार रेणुकाचार्यादि पाँच आचार्यों से इस मत का उगम माना जाता है। प्राचीन शैव परंपरा का अनुसरण करनेवालों में धार्मिक क्रांति करके शैवमत को एक परिवर्तित तथा सुधारित रूप देनेवाले बसवेश्वर थे। वैदिक धर्मावलंबियों की कर्मकांड-प्रधानता का खंडन करते हुए इस धर्म मे निम्नलिखित सुधार उनसे लाये गये—

1. जाति-वर्ण भेद न मानना।
2. धार्मिक तथा सामाजिक विषयों में स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र का अंतर न मानना।
3. चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का तिरस्कार।
4. पंच सूतक न मानना।
5. वैदिक कर्मकांड को न मानना।
6. पुनर्जन्म पर अविश्वास।
7. स्त्री-पुरुष का समान रूप से शिवदीक्षाधिकार।
8. स्थावर लिंग की अपेक्षा इष्ट लिंग पूजा।
9. वैयक्तिक उपासना।
10. गुरु-लिंग-जंगम प्रधानता।
11. शरीरश्रम (कायक) का महत्व आदि।

चौदहवीं सदी के 'सर्व दर्शन संग्रह' में शैव धर्म के चार ही पंथो का उल्लेख है, वीरशैवों का नही। संभवत. उस समय के कालामुख मठ वीर-शैवो के ही थे, और इसी कारण से वीरशैव-कालामुख-अभेद को मानकर उक्त ग्रंथ मे लकुलीश-पंथ का ही उल्लेख किया गया है। कर्नाटक के उपलब्ध शासनों से स्पष्ट होता है कि ग्यारहवीं—बारहवीं सदी में कर्नाटक में पाशुपत, काश्मीर शैव तथा कालामुख बसे हुए थे। वीरशैव मत इन शैव पंथों में किसीका उपभेद होगा। बारहवीं सदी से वीरशैव मत का इतिहास स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

वीर शैव आचारो में अष्टावरण (गुरु, लिंग, जंगम, पादोदक, प्रसाद, विभूति, रुद्राक्ष, मंत्र) षट्स्थल (भक्त, माहेश्वर, प्रसादि, प्राण, शरण, ऐक्य) पंचाचार (लिंगाचार, सदाचार, शिवाचार, भृत्याचार, गणाचार) त्रिसंस्कार (दीक्षा, विवाह, अन्त्य विधि) आदि मुख्य हैं।

ब्रह्म विवर्तवादी शंकर, ब्रह्म परिणामवादी भास्कराचार्य, परिणामाद्वैती यादव प्रकाश

विशिष्टाद्वैती रामानुज तथा द्वैतवादी आनन्द-तीर्थ की तरह ब्रह्मसूत्र पर श्रीकण्ठ शिवाचार्य ने शिवाद्वैत भाष्य तथा श्रीपति पंडिताचार्य ने विशिष्टाद्वैत परक 'श्रीकर भाष्य' को लिखा।

इस प्रकार शैव धर्म के सभी संप्रदायों के लोग—वैदिक, पाशुपत, कापालिक, काश्मीरी, वीर शैव, आदि कर्नाटक के जन-मानस में शिव-भक्ति तथा शिवोपासना का स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ हुए। शिव के साथ शिव-परिवार की उपासना भी प्रचलित रही।

शाक्तमत—वेदपूर्व काल से भी भारत भर में शक्तिपूजा प्रचलित थी। जब वैदिक धर्म में विमूर्ति-पूजा का आरंभ हुआ तो साथ ही लक्ष्मी-सरस्वती-पार्वती की भी पूजा चलने लगी। धीरे धीरे 'ब्रह्म' का महत्व घट गया और शिव-विष्णु की प्रधानता बढ़ी तथा साथ ही शिवपत्नी एवं विष्णु-सहोदरी पार्वती के विविध रूपों की—दुर्गा, काली, चण्डी, ललिता, त्रिपुरा आदि—पूजा होने लगी। छठी सदी से दस-ग्यारहवीं सदी तक भारत में शक्तिपूजक शाक्तों का प्रावल्य रहा। शाक्तमत का प्रभाव हिन्दू, जैन तथा बौद्ध संप्रदायों पर भी पड़ा और उन संप्रदायों में भी शक्ति उपासना का प्रवेश हुआ।

शाक्त मत के मुख्य ग्रंथ 'तंत्र' या 'आगम' हैं जो 64 हैं। आगमों में शैवागम एवं वैष्णवागम दोनों हैं। शाक्तागम का तत्वज्ञान अद्वैतपरक है। शिव और शक्ति विश्व के बीज हैं। 'प्रकाश' रूपी शिव 'विमर्श' या स्फूर्तिरूपिणी देवी में प्रवेश करके 'बिन्दु' बनता है। शक्ति के इस 'बिन्दु' रूपी शिव में प्रवेश करने पर 'नाद' उत्पन्न होता है। नाद-बिन्दु का मिलन 'काम' है। बिन्दु दो प्रकार के हैं—श्वेतकला तथा रक्तकला। नाद-बिन्दु-कला के संयोग से 'कामकला' तथा उससे 'वाक्' एवं 'अर्थ' की उत्पत्ति होती है और सृष्टि का आरंभ होता है। सृष्टि कार्य में देवी ही प्रधान कर्तृणी है, इसीलिए देवी को परा, ललिता, भट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी आदि कहते हैं।

तंत्र के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के हैं—दिव्य, वीर तथा पशु। इनके आधार पर कुल सात आचार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार। तंत्र के अनुसार शक्ति ही क्रिया का मूल है और शक्ति के बिना शिव 'शव' है।

शक्ति-पूजा तीन प्रकार की है—

(1) शिष्टपद्धति—अहिंसात्मक ढंग से अन्य देवों की तरह शक्ति की पूजा करना। शंकराचार्य स्वयं शक्तिपूजक थे।

(2) भयंकर पद्धति—कापालिक एवं कालामुखों की, जिसमें पशु तथा नरबलि का भी विधान है।

(3) भावात्मक पद्धति—अपने उपास्यदेवता के साथ तादात्म्य स्थापित करके पूजा करना—शाक्तलोग।

शाक्तों में घोरपंथी कौल हैं। शक्ति या मूलाधारस्थित कुण्डलिनी या 'कुल' को जगाकर षट्चक्र-भेदन द्वारा सहस्रारस्थित अकुल-शिव तक पहुँचाने का विधान शक्ति-पूजाक्रम है। शाक्तों में पाँच 'म' कार का—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन—अनुष्ठान है।

शाक्तों तथा कौलों का कर्नाटक में बारहवीं शताब्दी तक प्रावल्य रहा। ब्रह्मशिव ने 'समय परीक्षा' में तथा सोमदेव ने 'यशस्तिलक चम्पू' में कर्नाटक में रहनेवाले कौलाचार्यों का वर्णन किया है। चन्नवसवण्ण ने अपने वचन में कहा है—शैव दिग्भ्रांत हुआ, पाशुपती पथ खो बैठा, कालामुख घबरा गया, महाव्रती मस्त बन गया,

संन्यासी पापंड हुआ तथा कौली पागल बना। भाइयो, ये छ मार्ग तो भक्ति-मार्ग नही है।"

गाणपत्य—आज भी कर्नाटक मे कोई ऐसा ग्राम नहीं मिलेगा जहाँ गणपति-मंदिर न हो। प्रत्येक कर्नाटकवासी गणेश की पूजा 'विद्यारमे विवाहे च सग्रामे निर्गमे' करता है। यद्यपि गाणपत्य सम्प्रदायानुयायियो का आज कर्नाटक मे अलग अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता, तथापि प्राचीन काल से कर्नाटक मे महागणपति, हरिद्रागणपति उच्छिष्ट गणपति, नवनीत गणपति, सतानगणपति, तथा स्वर्णगणपति की पूजा चलती आ रही है। प्रतिवर्ष घर-घर मे मृण्मयी गणपति की पूजा होती है।

स्कान्द मत—प्राचीनकाल से भी भारत के, विशेषकर दक्षिण भारत के अन्य प्रदेशों की तरह कर्नाटक में भी स्कन्द, कुमार, सुब्रह्मण्य, कार्तिकेय की पूजा होती आयी है। पतजलि के कथनानुसार उसके समय मे शिव, स्कन्द, विशाख देवताओं की पूजा प्रचलित थी। कुषान राजा कनिष्क के सिक्को पर 'स्कन्दो', 'महासेनो', 'कुमारो' आदि शब्द हैं। कर्नाटक के कदंब तथा पूर्व चालुक्यो के शिलाशासनो के 'स्वामि महासेन मातृगणानुध्याताभिषिक्तानाम्', 'सप्तलोक मातृभिस्सप्त मातृभिताधिर्विधिताना कार्तिकेय परिरक्षण प्राप्त कल्याण परपराणाम्....' आदि से पता चलता है कि इस मत को राजाश्रय भी प्राप्त हुआ था। महाराष्ट्र का 'खंडोबा' स्कन्द शब्द का प्राकृत रूप है। कर्नाटक में सोण्डूर कुमारस्वामी, कुक्के सुब्रह्मण्य, धाटी सुब्रह्मण्य आदि प्रसिद्ध कुमार क्षत्र हैं। तज्ञो का मत है कि तिरुपति के 'वेंकटेश्वर मूर्ति' भी कुमारस्वामी की ही मूर्ति है जिसे रामानुजाचार्य ने 'विष्णु मूर्ति' बतलायी।

वैष्णव धर्म—उपनिषदों की अव्यक्त ब्रह्म की उपासना तथा ज्ञानोपसना सामान्य जनता से संभव नहीं थी, अतः वे सगुण साकार मूर्ति की, जो भक्ति पूजन से सतुष्ट होकर अनुग्रह कर सकता हो, चाहने लगे। ज्ञान के स्थान पर पूजा-साधन एवं भक्ति रखनेवाले उन लोगो को भागवतधर्म से तृप्ति मिली। भागवत धर्म के अन्य नाम नारायणीय, सात्वत, ऐकांतिक, पांचरात्र आदि हैं। इसमें निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण विष्णु या नारायण की उपासना तथा निवृत्तिपरक ज्ञानमार्ग के बदले प्रवृत्तिपरक निष्काम कर्माचरण को ही जीवन का परम कर्तव्य माना गया। कृष्ण-वासुदेव की पूजा यद्यपि वैदिकमत विरोधी रूप से प्रारंभ हुई, तो भी कालानंतर में ब्राह्मण मतावलबियों ने इसे अपने धर्म में आत्मसात् कर लिया, कृष्णवासुदेव को ऋग्वेदीय आदित्य विष्णु का अवतार मान लिया और इस प्रकार भागवत धर्म का पृथकत्व नष्ट होकर वह हिन्दू मत का एक अंग बन गया। भारत के कोने-कोने में शिव के साथ-साथ विष्णु-नारायण की तथा उसके राम, कृष्ण, नृसिंह आदि अवतारों की पूजा होने लगी। भारत में बौद्ध धर्म के उच्छेदन के साथ बुद्ध को भी विष्णु का एक अवतार मान लिया गया।

पाचरात्र या भागवत धर्म बारहवीं सदी में पुनर्घटित होकर भिन्न-भिन्न पंथों के रूप में भारत भर मे व्याप्त हुआ। उसके मुख्य संप्रदाय तो रामानुजाचार्य के 'श्रीसंप्रदाय', मध्वाचार्य के 'ब्रह्मसंप्रदाय', विष्णुस्वामी के 'रुद्रसंप्रदाय' तथा निंबार्क के 'सनकादि संप्रदाय' हैं। इसमें प्रथम तमिलनाडु और कर्नाटक मे, द्वितीय कर्नाटक में, तृतीय गुजरात में तथा चतुर्थ उत्तर भारत में अधिक प्रचलित हुआ।

ये सभी संप्रदायवाले भगवान नारायण को, उसकी शक्ति को तथा उसके निम्नलिखित पाँच प्रकार के अवतारविशेष को मानते हैं—

1. परब्रह्म—वैकुण्ठवासी, लक्ष्मीयुक्त ।

2. व्यूह—चार :—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध ।

3. विभव—नारायण के 39 प्रमुख अवतार ।

4. अर्चावतार—शिला, रजत आदि की मूर्तियाँ ।

5. अंतर्यामी—सब प्राणियों के हृदय में वास करते हुए उनको विभिन्न व्यापारों में नियुक्त करनेवाला ।

वैष्णव धर्म में साधना मार्ग शास्त्रानुसार मंदिर-निर्माण, इष्टदेवता स्थापना, अर्चना तथा न्यास (प्रपत्ति या शरणागति) है । प्रपत्ति छः प्रकार की है—

(1) अनुकूलस्य संकल्पः
(2) प्रतिकूलस्य वर्जनम्
(3) रक्षष्यतीति विश्वासः
(4) गोप्तृत्व
(5) आत्मनिक्षेपः
(6) कार्पण्य

दक्षिण भारत में आर्यागमन के साथ-साथ शैव तथा वैष्णव धर्मों का भी आगमन हुआ, पर दक्षिण में विशेषकर तमिलनाडु में विष्णुभक्ति का प्रचार करनेवाले आळ्वार थे जिनका काल सन् 500 से 1800 ईसवी तक का था । जैसे अद्वैत-प्रतिपादक शंकराचार्य का प्रधान कार्यक्षेत्र, यद्यपि उनका जन्म केरल में हुआ था, कर्नाटक का शृंगेरी रहा, उसी प्रकार विशिष्टाद्वैत प्रतिपादक रामानुजाचार्य ने, तमिलनाडु में जन्म लेने पर भी, कर्नाटक में होयसळ राजा का आश्रय प्राप्त किया तथा मेलुकोटे को अपना प्रधान कार्यक्षेत्र बनाकर कर्नाटक में विष्णु-भक्ति का प्रचार किया । द्वैत मत प्रवर्तक मध्वाचार्य तो कर्नाटक में ही जन्मे । उनका तथा उनके सिद्धान्तों का उत्तर भारत में विशेषकर चैतन्य पंथ पर भी प्रभाव पड़ा । मध्वमत के प्रधान अंश यों हैं—

"श्रीमन्मध्वमते हरिपरतरः
सत्यं जगत् तत्वतो ।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा
नीचोच्च भावंगता ।।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला
भक्तिश्च तत् साधनं ।
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाण-
मखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः ।।

सौरमत—वेदों में सवितृ, पूषन् तथा सूर्य की स्तुतियाँ हैं । कालानंतर में ये विष्णु (सूर्यनारायण) के ही दूसरे रूप माने गये । उत्तर भारत का "कोणार्क" मंदिर सूर्योपासना की तत्कालीन प्रबलता का एक अवशेष चिह्न है । कर्नाटक में भी सौर मतावलंबी रहे और सूर्योपासना प्रचलित थी । इसका प्रमाण कन्नड कवि ब्रह्मशिव की कृति में है कि—"पत्नी तो माहेश्वरी है, पति जैन है और बच्चे मार्तंडभक्त हैं । उनको उत्तर जैन कैसे कह सकते हैं ?"[1]

नाग-पूजा—आर्य-पूर्व निवासियों के धार्मिक संप्रदायों में नागाराधना भी एक थी । आर्य तथा आर्य-पूर्व लोगों के समन्वय एवं आदान-प्रदान के फलस्वरूप नाग-पूजा की प्रथा भारत भर प्रचलित हो गयी । उत्तर भारत में नागरानी शिवपुत्री मानसादेवी की पूजा होती है तो दक्षिण भारत में नाग का संबंध शिवपुत्र सुब्रह्मण्य के साथ जोड़ा जाता है । कर्नाटक के गाँव-गाँव में नागमंदिर तथा अश्वत्थवृक्ष के नीचे प्रतिष्ठापित नागशिलाएँ दृग्गोचर होती हैं ।

1. "समय-परीक्षा"—ब्रह्मशिव, 4-125.

भारत के अन्य प्रदेशों की तरह कर्नाटक में भी जनता सन्तप्राप्ति एव पुत्र-प्राप्ति की कामना से नागपूजा, नाग प्रतिष्ठा, तथा नागपचमि, सुब्रह्मण्य षष्ठि आदि त्योहारों को मनाती आ रही है।

जैन धर्म—वैदिक कर्मकाड के यज्ञ-यागादि मे पशुबलि का विरोध करते हुए अहिंसा को प्रधानता देनेवाला जैनमत बहुत प्राचीन मत है। गौतम बुद्ध के समकालीन वर्धमान महावीर जैनों के चौबीस तीर्थकरो में अंतिम थे। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ या ऋषभ देव का ऋग्वेद में[1] उल्लेख मिलता है। भागवत मे ऋषभदेव के दक्षिण कर्नाटक प्रदेश में भ्रमण करने का उल्लेख आया है।[2]

जैन धर्म का उगम उत्तर भारत मे हुआ और धीरे-धीरे भारत मे फैल गया। परन्तु बौद्ध धर्म की तरह इसका प्रसार भारत के बाहर नही हुआ।

जैन धर्म एक परमात्मा या सर्वज्ञ की कल्पना करता है, कर्मवाद पर विश्वास करता है तथा मानता है कि प्रत्येक जीव 'परमात्मा' ही है। कर्म तथा सासारिक बन्धनो से मुक्त होकर जीव 'जिन' या 'सिद्ध परमेष्ठी' बनता है। मोक्ष मार्ग के साधन 'रत्नत्रय' हैं—सही विश्वास, सही ज्ञान तथा सही व्यवहार।

हरिषेण के (सन् 931) बृहत्कथाकोश मे बताया गया है कि जैनतीर्थंकर महावीर के निर्वाण के बाद चतुर्थ श्रुतिकेवलि गोवर्धनाचार्य ने पौण्ड्रवर्धन देश के कोटिपुर ग्राम के भद्रबाहु को दीक्षा दी तथा पचम श्रुतिकेवलि भद्रबाहु जैन सघ सहित उज्जयिनी पहुँचे और निमित्तज्ञ होने के कारण बारह वर्ष तक पडनेवाले अकाल की आपत्ति को जानकर राजा चद्रगुप्त सहित कर्नाटक के पुन्नाट राज्य के "कटवप्र" मे आये। श्रवण बेलगोल के (सन् 650) शिलाशासन तथा श्रीरगपट्टणम के (सन् 900) शिलाशासन मे इस बात का समर्थन तथा भद्रबाहु की उसी स्थल पर मृत्यु का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार कर्नाटक मे जैन ईसा पूर्व 3*0 के क़रीब आये।

प्राचीन कर्नाटक में दिगबर सप्रदाय प्रधान रहा। पर शासनो तथा ग्रथो से पता चलता है कि सन् प्रथम शताब्दी में कर्नाटक के कई भागों मे श्वेताबर लोग भी थे। माना जाता है कि जैनो के 'यापनीय सघ' का प्रारभ कर्नाटक में हुआ।[3]

कर्नाटक को जैनों की देन बहुत बडी है। कई सुप्रसिद्ध जैन राजवशों ने—गग, राष्ट्रकूट, होयसळ आदि कर्नाटक की कीर्ति-पताका भारत भर फैलायी। कन्नड साहित्य क्षेत्र मे तो साहित्य का प्रारभ तथा श्रीवृद्धि, नृपतुग, पप, रन्न आदि जैन कवियों द्वारा ही हुई। विश्व-विख्यात गोम्मट मूर्ति कर्नाटक में श्रवण बेलगोल, वेणूर, कार्कल तथा मैसूर के पास हैं और एक मूर्ति की शीघ्र ही धर्मस्थल मे प्रतिष्ठापना होनेवाली है।

भारतीय आधुनिक भाषाओ मे केवल कन्नड भाषा मे ही 'जैन रामायण' तथा 'जैन भारत' उपलब्ध हैं।

बौद्ध धर्म—वैदिक कर्मकाड के विरुद्ध जन्म लेनेवाला बौद्धधर्म सारे भारत मे फैला था। बौद्धो का कर्नाटक मे आगमन अशोक के समय मे हुआ। सिंहल के 'महावस' नामक पाली ग्रथ से पता चलता है कि अशोक ने महादेव नामक धर्मोपदेशक को महिषमडल (मैसूर)

1 "ऋषभ मासमानाना सपत्नाना विषासहि। "
ऋ 10 1 21-63

2 भागवत 5-6-9

3 'जैन धर्म'—मिर्जि अण्णाराव—पृ 83

रक्खित को वनवासी तथा यवनधर्म रक्खित को अपरांतक में बौद्ध धर्म प्रचारार्थ भेजा था।

पहली सदी में बौद्ध धर्म के दो भेद हुए—हीनयान तथा महायान। हीनयान भारत में टिक न सका और भारत के बाहर दूर-दूर देशों में फैल गया। महायान सनातन धर्म से विशेषकर शैवधर्म से प्रभावित हुआ और भारत में व्याप्त हुआ। 'तंत्र' का प्रभाव उसपर पड़ा और वज्रयान शाखा में बोधिसत्वों की तथा तारा, योगतारा आदि उनकी शक्तियों की उपासना होने लगी। आगे हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार होने पर भगवान् बुद्ध को विष्णु का एक अवतार मान लिया गया और बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म में लीन हो गया।

ह्युयेनत्सांग के अनुसार सातवीं सदी में कर्नाटक के वनवासी में एक सौ संघाराम थे जिनमें दस हजार भिक्षु थे, और कोप्पल एक बौद्ध केन्द्र था। संक्षेप में बौद्ध धर्म ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से सन् सोलहवीं शताब्दी तक कर्नाटक में प्रचलित था।[1]

मंगलूर के कदिरे मंदिर में पूजे जानेवाले शिवलिंग का नाम 'मंजुनाथ' है। शिव का ऐसा नाम किसी भी कोश में या प्राचीन 'शिवसहस्रनाम' में पाया नहीं जाता। सारे भारत में शिव का 'मंजुनाथ' नाम केवल कदिरे के शिवलिंग का है—धर्मस्थल में कदिरे से लिये गये शिवलिंग का वही नाम है। श्री गोविन्द पै के अनुसार[2] कदिरे मंदिर पहले बौद्ध विहार रहा होगा जहाँ पर पूर्व में बोधिसत्व मंजुश्री या मंजुघोष की पूजा होती थी। बाद को उस विहार में शिवलिंग स्थापित करनेवालों के मन में 'मंजुश्री' की स्मृति बनी रही तो शिवलिंग का नाम 'मंजुनाथ' (जैसे विश्वनाथ, सोमनाथ, वैद्यनाथ आदि) रखने का विचार आया होगा।

नाथपंथ—बौद्ध धर्म की महायान शाखा के वज्रयान संप्रदाय का परिष्कृत तांत्रिक शैवमार्ग ही नाथपंथ है। वज्रयान-सिद्धों में मत्स्येन्द्रनाथ प्रमुख है। उसके शिष्य गोरखनाथ ने हठयोग प्रधान नाथपंथ का प्रवर्तन किया। तिब्बत और नेपाल में नाथपंथ के मत्स्येन्द्रनाथ का, महायान-देवता बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के साथ समीकरण किया जाता है तथा बंगाल में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ बौद्ध मुनि माने जाते हैं।

नाथपंथ कर्नाटक में प्रचलित रहा। श्री गोविन्द पै ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि मंगलूर के कदिरे मंदिर में स्थित लोकेश्वर विग्रह मत्स्येन्द्रनाथ की मूर्ति[3] है जिसकी प्रतिष्ठापना सन् 1068 में आलुपेन्द्र कुन्दवर्म नामक शैवभक्त राजा द्वारा संपन्न हुई। आज भी वहाँ 'नाथगद्दी' नामक स्थान है। पुत्तूर तालूक के विट्ला में भी नाथपंथ के 'जोगीमठ' हैं।

वीरशैव मत प्रवर्तक पंचाचार्यों में एक रेवण-सिद्ध पहले रेवणनाथ थे।[4]

> "गोरक्ष जालंधर चर्पटश्च अडभंग
> कानीफ़ मच्छीन्द्राद्याः।
> चौरांग रेवण च भर्तृसंज्ञा
> भूम्यां बभूव नवनाथ सिद्धाः।

नाथ गुरु परंपरा में अल्लम प्रभुदेव का नाम भी 'हठयोग प्रदीपिका' में आया है। इसी प्रकार अल्लम प्रभुदेव के श्रीशैल पर्वत पर गोरख-

---

1. कन्नड़ शासनों का सांस्कृतिक अध्ययन"
   डा० एम. चिदानंदमूर्ति. पृ. 128.
2. "तेंकनाडु" पत्रिका—1947.
3. 'तेंकनाडु' पत्रिका 1947.
4. Pathway to God in Kannada Literature—
   R. D. Ranade.

नाथ से मिलने का तथा तर्क-वितर्क एवं शक्ति प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है।[1]

श्री भारद्वाज संहितातर्गत 'कदली मजुनाथ महात्म्य' मे परशुराम द्वारा कदली में मजुनाथ की स्थापना, शक्तिरूपिणी विन्ध्यवासिनी मगला-देवी का वहाँ आ बसना, उस मजुनाथ से नवनाथों का सबध आदि का वर्णन है।

शिव, विष्णु, दुर्गा आदि की तरह मत्स्येन्द्रनाथ भी 'परमतत्व' के रूप में पूजे जाते थे, जिसका समर्थन निम्नलिखित श्लोक द्वारा होता है—

"य विष्णु प्रवदंति वैष्णव गणाः
शैवा शिव शाक्तिकाः।
शक्ति भास्कर भक्तिका
दिनमणि ब्रह्मस्वरूपं द्विजा।
मत्स्येन्द्र मुनयो वदति सतत
लोकेश्वर वैदिकाः।
अन्येत करुणामय प्रतिदिन
तन्नौमि सिद्धेश्वरम्॥"[2]

भूताराधना—प्रभावोत्पादक विशेष विषयों को मानवीकृत तथा दैवीकृत करके उनकी आराधना करने का क्रम छ सहस्र वर्ष पूर्व से भी जनता मे प्रचलित है। सर्वांतर्यामी भगवान की महिमा का प्रचार करनेवाले 'भूत' हैं। दक्षिण भारत में किसी समय व्याप्त सुमेरियन सस्कृति में इस भूताराधना की नीव देख सकते हैं।

कर्नाटक के दक्षिणी पूर्व प्रदेश दक्षिण कन्नड जिले के प्रत्येक ग्राम मे एक 'भूतस्थान' होता है जिसमें मनुष्याकार या मृगाकार (व्याघ्र, भैंस, वराह आदि) की प्रतिमाएं रखी रहती हैं।

भूताराधना का अर्थ 'पिशाचाराधना' (devil worship) नहीं है। भूत विशिष्ट व्यक्ति का गुणगान, उनके भावचित्र एवं विग्रह का प्रतिष्ठापन, उनकी स्मारक रचना ये सब भूताराधना के अंतर्गत आते हैं। प्रेताराधना या पितृ पूजा विश्व के सभी जनसमुदाय में प्रचलित है तो इसी प्रेत पूजा से भूताराधना निकली। कारणातर से अकाल मृत्यु ग्रस्त वीर, जनोपकारी, भक्त साध्वी स्त्रियाँ आदि 'भूत' बनकर लोक कल्याणार्थ सचार करती हैं। इनके अतर्गत 'बब्बर्य, कल्कुड कल्लुर्टि, कोटि-चेन्ने' आदि आते हैं। इनके अतिरिक्त शिव-जटा के धूलिकण से उत्पन्न 'भेताल, भैरव, वीरभद्र' आदि 82,000 भूतगण, वराहरूपी विष्णु की छाया से उत्पन्न 'पंजुर्ली' तथा दुर्गा के अश 'चामुण्डी, भगवती, वनदुर्गा' आदि आराध्य भूत बने हैं।

कर्नाटक का धर्म-समन्वय—इस प्रकार भारत के विभिन्न प्रदेशों मे उत्पन्न सभी धर्मों के अनुसरण करनेवाले कर्नाटक में रहे। पहले, सिन्धु-सभ्यता का शैवपरक धार्मिक संप्रदाय यहाँ पर फैला था। तदनन्तर आर्य एवं आर्य-पूर्व संस्कृति-समन्वय से उत्पन्न हिन्दू धर्म का प्रचार तथा शिव, विष्णु, शक्ति की, साथ ही गणपति, सुब्रह्मण्य आदि की उपासना होने लगी। जैनों के आगमन तथा उसपर तांत्रिक प्रभाव के फलस्वरूप जैन तीर्थंकर एव पद्मावती, वासन्ती आदि यक्षियो की पूजा होने लगी। बौद्ध धर्म, विशेषकर उसके महायान, वज्रयान का यहाँ पर प्रचार रहा।

भारत के अन्य प्रदेशो की अपेक्षा कर्नाटक प्रदेश का वैशिष्ट्य उसकी 'धर्म-सहिष्णुता' है। यहाँ की जनता अपने आराध्यदेव की पूजा तथा अपने धर्म-संप्रदाय का अनुसरण करने के साथ अन्य धर्मियो के प्रति सदा सहिष्णुता एवं सहानुभूति

---

1 "शून्य सपादने"

2 "नेपाल सिद्धाचल मृगस्थली"—
कदली मजुनाथ महात्म्य-सु 145

प्रदर्शित करती आयी है। केरल में जन्म लेनेवाले शंकराचार्य का दक्षिणाम्नाय, दक्षिण का प्रधान कार्यक्षेत्र कर्नाटक का शृंगेरी है। शैव चोल राजा से भागकर रामानुजाचार्य कर्नाटक में आये और यहाँ आश्रय पाया। द्वैत मत के प्रवर्तक मध्वाचार्य तथा शक्ति विशिष्टाद्वैतवादी अल्लम, बसव आदियों का कार्यक्षेत्र कर्नाटक ही रहा। अनेक जैन राजवंशों ने कर्नाटक पर राज्य किया। शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के विभिन्न देवी देवताओं के आराधकों को एक बनाने की दृष्टि से 'पंचायतन'—शिव, विष्णु, अंबिका, सूर्य एवं गणपति की पूजा की व्यवस्था करके हिन्दू धर्म के अंतर्गत सर्वधर्मसमन्वय का बीज बोया। कर्नाटक के सभी राजवंशों के शासक स्वयं किसी धर्म का अवलंबन करते हुए भी अन्य मतों के प्रति सहिष्णुता-प्रदर्शन के साथ ही प्रोत्साहन भी देते रहे। भारत के अन्य प्रदेशों में शिव-विष्णु, जैन-शैव, बौद्ध-वैष्णव संबंधी संघर्ष एवं हत्याकांड हुए; कर्नाटक में भी मत-भिन्नता रही, पर यहाँ का संघर्ष केवल सैद्धांतिक ही रहा। कर्नाटक में ही उत्पन्न 'हरिहराभेद-पंथ' का प्रभाव उत्तर में विद्यापति, तुलसीदास जैसे कवियों पर भी पड़ा। पुरंदरदास दक्षिण भारत के प्रसिद्ध 'कर्नाटक संगीत' के जनक माने जाते हैं।

भक्ति क्षेत्र में कर्नाटक का विशेष स्थान रहा। "उत्पन्ना द्राविडे साऽहं वृद्धिं कर्नाटके गता। क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।"[1] वाली उक्ति इसका अनुमोदन करती है। इस भक्ति को पराकाष्ठा तक ले जानेवाले अल्लम, अक्कमहादेवी, बसवेश्वर जैसे शिवशरण और पुरंदर, कनकदास जैसे हरिदास थे। कर्नाटक के व्यासतीर्थ से दीक्षा ग्रहण करनेवाले चैतन्य प्रभु से बंगाल में भक्ति-धारा बह उठी तथा उत्तरापथ में कृष्णभक्ति की अनुराग-मंदाकिनी को प्रवाहित करनेवाले 'शुद्धाद्वैत' के प्रवर्तक वल्लभाचार्य का जन्म कन्नडनाडु के बल्लारी जिले में हुआ था।

सर्व धर्म-समन्वय का एक सुन्दर उदाहरण दक्षिण कन्नड जिले के धर्मस्थल में हम देखते हैं जहाँ का आराध्यदेव 'मंजुनाथ' शिव है, पूजा करनेवाले वैष्णव है, तथा मंदिर-संरक्षक जैन हेग्गडे हैं। बेलूर चेन्नकेशव मंदिर के शिलाशासन में यह श्लोक है—

"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति
वेदांतिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्तेति
नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैन शासनरता कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं नो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो
विभुः।।

अन्यत्र

"विष्णुर्वा त्रिपुरांतको भवतु वा ब्रह्मा
सुरेन्द्रोथवा।
भानुर्वा शशलांछनोथ भगवान् बुद्धोथ
सिद्धोथवा।
रागद्वेष विषार्ति दोष रहिताः सत्वानु
कंपोद्यतो।
यं सर्वैः सह संस्कृतो गुणगणैस्तस्मै नमस्सर्वदा।।

कन्नड के कई कवियों ने इस धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्मसमन्वय का समर्थन अपनी कृतियों में किया है। उदाहरण के रूप में रत्नाकर का एक पद यों है—

"त्रिजगत्स्वामि, जिनेन्द्र, सिद्ध, शिव, लोका-
राध्य, सर्वज्ञ, शं।

1. पद्म पुराण उ—1. अ. 48.

भु, जगन्नाथ, जगत्पितामह, हर, श्रीकांत,
वाणीश, वि ।
ष्णु, जितानग, जिनेश, पश्चिम समुद्राधीश्वरा,
बेगर्दि ।
निजम तोरु दयाळु वे तळुविर्दे, रत्ना-
कराधीश्वरा ॥

इस प्रकार सर्व धर्म-समन्वय-भाव से कर्नाटक ने अपनी ही एक विशिष्ट सस्कृति का निर्माण किया है जो भारतीय सस्कृति का एक अग होते हुए भी अपनी विशिष्ट शक्ति, सामर्थ्य एव वैशिष्ट्य के कारण भारतीय जीवन के आदर्शों का अत्यधिक निष्ठा से परिपोषण कर रही है और कर्नाटक 'विश्वधर्म' का अपना आदर्श विश्व के सामने रख रहा है ।

"ब्रह्मा वेदपतिः शिव पशुपति. सूर्यश्च
चक्षुष्पति ।
शक्रो देवपतिर्यम पितृपति स्कन्दश्च सेनापति ।
यक्षो वित्तपति. हरिश्च जगतां वायु पति
प्राणिनाम् ।
इत्येते पतय. समेत्य सतत कुर्वन्तु नो मगलम् ॥

मेरे मन मे यह बात स्पष्ट है कि सरकारी और गैर-सरकारी स्कूलो और कॉलेजो मे हिन्दी को अनिवार्य विषय बना देना चाहिए । किसी भाषा के प्रचार का सर्वोत्तम उपाय उसे अपनी शिक्षा-प्रणाली का अग बना लेना है । दक्षिण भारत के स्कूलो मे अनिवार्य होने पर हिन्दी अपना उचित पद प्राप्त कर लेगी । मुझे कोई ऐसा कारण नहीं दीखता कि मद्रास विश्वविद्यालय इस दिशा मे अपनी स्वतत्रता का उपयोग क्यों नही करता ।

—श्री एस श्रीनिवास अय्यगार
(भूतपूर्व सभापति, इडियन नेशनल काग्रेस)

अमेरिका जब स्वाधीन हुआ राष्ट्रभाषा का प्रश्न उसके सामने भी पेश हुआ । आग्ल भाषियों की सख्या वहाँ 25 प्रतिशत थी । अन्य भाषाएं बोलनेवाले 75 प्रतिशत थे । परन्तु किसी भी अन्य भाषा के बोलनेवाले 25 प्रतिशत से कम होने के कारण अंग्रेजी सयुक्त अमेरिका की राजभाषा घोषित हुई । बाकी 75 प्रतिशतों के लिए भी अंग्रेजी सख्ती से अनिवार्य कर दी गयी । भारतवर्ष में हिन्दी भाषियो की सख्या 50 प्रतिशत से ऊपर है । ऐसी स्थिति मे दो प्रतिशत लोगो द्वारा बोली तथा समझी जानेवाली आग्लभाषा इस राष्ट्र की सपर्क भाषा नही हो सकती ।

—भाई योगेन्द्र जीत
(जियालाल शिक्षक प्रशिक्षण सस्थान, अजमेर)

डॉ० एन. चन्द्रशेखरन नायर,
प्रोफ़ेसर तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष,
एन. एस. एस. कॉलेज, ओट्टपालम्-8 (केरल)

केरल का दारु-शिल्प— भारतीय कलाओं के परिप्रेक्ष्य में

सभा की शिक्षा-दीक्षा तथा गांधीय सिद्धान्तों से प्रेरित होकर आपने स्वाध्याय से हिन्दी की उच्च शिक्षा पायी। वाराणसी हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी स्नातकोत्तर शिक्षा-पूर्ति के बाद पिछले 21 वर्षों से केरल के विविध कॉलेजों में आप हिन्दी अध्यापन-कार्य में संलग्न हैं। मातृ-भाषा मलयालम तथा हिन्दी में समान अधिकार के साथ कविता, कहानी, नाटक, समीक्षा आदि विविध साहित्य-विधाओं में मौलिक तथा अनूदित आपकी सर्जन क्रिया युवा-पीढ़ी के केरलीय हिन्दी लेखकों में पर्याप्त प्रेरणा भर सकती है। आप एक अच्छे चित्रकार भी हैं; साथ ही केरल तथा केरल के बाहर की विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, तथा शैक्षिक सरकारी व गैरसरकारी संस्थाओं में भी सक्रिय हिस्सा ले रहे हैं। संप्रति आप ओट्टपालम (केरल) एन. एस. एस. कॉलेज का हिन्दी विभाग संभाल रहे हैं।

भारतीय कला की आधार-शिला अध्यात्म-मूलक है ऐसा मानना सर्वथा उचित है। "जिस प्रकार अध्यात्म और दर्शन, धर्म और चरित्र की विशिष्ट उपासना के द्वारा अनंत सर्वव्यापक रस-तत्वतक पहुँचने की सतत चेष्टा भारतीय संस्कृति में पायी जाती है, उसी प्रकार सौन्दर्य की आराधना के द्वारा रस को आत्मसात् करने का प्रयत्न भारतीय जीवन-पद्धति की विशेषता रही है।" इस दृष्टि से कलात्मक सृष्टि के अनुभूति-तत्व से लेकर आविष्क्रिया के मूर्त रूप तक का सारा प्रयास रसास्वादन-प्रक्रिया पर चलता है। कलात्मक स्तर पर यह जो आनंद है, वह अध्यात्म के स्तर पर अखण्ड ब्रह्मानन्द का प्रतीक है। शिल्प अथवा मूर्ति उस अनन्त विश्वात्मा का अथवा ब्रह्म का प्रतीक हो गया। भारतीय संस्कृति की तह में सत्यं-शिवं-सुन्दरं की प्रतिस्थापना उक्त चिन्तन के फलस्वरूप है।

भारतीय दर्शन मानव के रागात्मक संस्पर्शन के साथ आध्यात्मिक परिवेश का गंठबंधन कराकर पूर्णता को लिये हुए रहे हैं। कला अध्यात्म का प्रतीक बनी थी उस समय से, जिस समय से धर्म और जीवन के बीच का-संबंध घनिष्ठ होने लगा था। जीवन, कला और धर्म के समन्वित केन्द्र में तपस्या तथा स्वर्ग की कल्पना भारतीय चिन्तन की विशेषता रही है। अजंता के भित्ति-चित्रों से लेकर केरल के देवालयों के मूर्ति-शिल्पों

तक के कला-प्रसार के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसेतु-हिमालय की संस्कृति की अन्तर्धारा एक ही है, जिसे भारतीयता की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। रूप-चित्रण के साथ संयम एवं तप की प्रशान्तता इन कलाकृतियों के प्राण-जैसे हैं। भारतीय कलाकारों ने शाश्वत-अशाश्वत, प्राण और रूप, मूर्ति-शिल्प और प्रभा का संयोजन कर सौन्दर्य में शिवत्व को प्रश्रय दिया। ऐसा करके उन्होंने शब्द और अर्थ के समवाय-जैसे स्वर्ग और जगत का संबन्ध अनिवार्य कर दिया।

वैदिक काल में प्रारंभ होकर भारत में अंग्रेजों के आगमन काल तक प्रस्तुत कला-सृजनता अविराम और अक्षुण्ण रही। इस जन-मंगल की प्रतीकात्मक कलाधारा में कभी भी जीवन अथवा धर्म की गति और स्वच्छंता में अवरोध या कलंक नहीं आ पाया था। मूर्ति-शिल्प की सौन्दर्य-कल्पना में संयम तथा तपस्या का समावेश करके भारत के कलासर्जकों ने यथार्थ आनन्द की प्रतिष्ठा कर ली। तेजोयुक्त बौद्ध-मूर्तियों के के रूप-सौन्दर्य के द्वारा आत्मा के अखण्ड तथा अपार आनन्द ने भी अभिव्यक्ति पा ली। अजंता के भित्ति-चित्रों में यही भव्य आविष्क्रिया है तो केरल के एट्टुमानूर के एक-दो भित्ति-चित्रों में वही आविष्क्रिया की दिव्यता दर्शनीय है। नटराज शंभू के उग्र तांडव में चित्रकार ने त्रिभुवनों का सामंजस्य दर्शाया है। तपोयुक्त शंकर का बाह्य रूप सारे ब्रह्मांड का नियमन-संरक्षण-संहरण करने योग्य अपार शक्ति का केन्द्र है। उस नृत्य के वेग में यह सारा सृष्टि-चक्र चलता है। उसके लय में इसका आनन्द है। "त्रिलोक-संमंजन' का वास्तविक भाव उसी एक चित्र में लक्षित होता है। उस चित्र के वर्तुल घेरे में जो कुछ है, उससे बढ़कर ब्रह्माण्ड में भी कुछ नहीं है। त्रिलोक, त्रिगुण, त्रिकाल, त्रिसमय, त्रिमूर्ति, त्रिताप—किंबहुना वह सबका सामासिक एवं समलंकृत लोक है। इसके कलात्मक संयोजन-कौशल की क्या कहें! मतलब यह है कि उदात्त भावों के संगोपन को प्रमुखता देते हुए कलासृजन करने की प्रवृत्ति हमारी अपनी है। बाह्य-सुन्दरता को आत्म-सौन्दर्य का अंग मानकर ही भारतीय रस-शास्त्र की प्रतिस्थापना हो सकी है। मूर्ति-शिल्प के द्वारा उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक की सांस्कृतिक अन्तर्धारा का अध्ययन अनुसन्धान का एक महत्वपूर्ण विषय है।

भारतीय कला वैदिक साहित्य से जो प्रेरणा प्राप्त कर सकी, उसकी शिल्पों के रूप में अभिव्यक्ति देश-भर फैली पड़ी है। कमल, स्वस्तिक, चक्र आदि के द्वारा जो भाव दर्शित किया गया है, वह राष्ट्रीय उपादानों की दृष्टि से कला के क्षेत्र में विशेष महत्वपूर्ण देन है। दारु-मूर्तियों के अंकन द्वारा केरलीय शिल्पियों ने इस तत्व को प्रमाणित कर दिया है कि शिल्प-क्रिया के उद्देश्य और लक्ष्य की दिशा में वे भी भारतीय परम्परा के पोषक रहे हैं। इस प्रकार, वैदिक संस्कृति का संस्पर्शन उत्तरापथ की कलात्मक प्रेरणा को जैसे प्राणान्वित कर सका, वैसे केरलीय शिल्प-जगत भी उसके पूर्ण मूल्यांकन करने में अपनी शक्ति संजोये रहा था।

उत्तरापथ के सम्बन्ध में कहा जाय तो मोहंजो-दड़ो की सभ्यता के फलस्वरूप भारतीय कला में शृंगार का पक्ष अधिक परिष्कृति पा गया। गृह-वस्तुओं को अलंकृत करना स्त्री और पुरुष दोनों

का माला-कड़ा आदि आभूषणों का धारण करना, फूल-पत्ते, पशु-पक्षी, भव्य वस्तुएँ आदि का कलात्मक अंकन करना इस सभ्यता के प्रभाव के द्योतक हैं। जन-पद युग के भारत में कला को और भी उच्चता प्राप्त हुई। इसी युग में शिल्प-गत व्यवसाय की परम्परा प्रारंभ हुई। साथ ही कला में सजावट और सुन्दरता को प्रमुख स्थान प्राप्त होने लगा। जनपद-मौर्य-शुंग काल की कलात्मक उपलब्धियों की अनुकृति भारत में आज भी मिलती है, जैसे मौर्य-कालीन यक्ष-प्रतिमाओं का सादृश्य बाद में बुद्ध-मूर्तियों में थोड़ा-बहुत मिल जाता है। कमल-पुष्प पर विराजित लक्ष्मी की मूर्ति भारतीय कला की विभूति है। लक्ष्मी की विभिन्न भावोंवाली मूर्तियाँ बनीं।

देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण भारत में ई० प्रथम शताब्दी से प्रारंभ हुआ था। बुद्ध-मूर्तियों के ही समान जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ सुलभता से निर्मित होती थीं। मथुरा इस प्रकार की मूर्तियों का केन्द्र था। यह वह काल था, जबकि शैव एवं भागवत धर्म के देवी-देवताओं की पूजा की देश-भर धूम-जैसी मच गयी थी। फलतः, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, कार्तिकेय, गणेश, सूर्य, यम, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं।

कुषाण-काल में मथुरा बाहरी संस्कृतियों के समीप था। ग्रीक, ईरानी, आदि पश्चिमी संस्कृतियों को आत्मसात् करके एक नई शैली कलाक्षेत्र में गंधार-शैली के नाम से उदित हुई। गंधार-शैली का अंकन भारतीय शिल्प-शैली से कम प्राणवान था। भारतीय शिल्प-शैली अपने आत्म-सौन्दर्य को अथवा भावसौन्दर्य को खोलकर दिखानेवाली रही है। इधर दक्खिन में आंध्र सातवाहनों की सुरक्षा में नागार्जुन कोंडा शिल्प-कला फूली।

गुप्तकालीन भारतीय कला अपनी उच्च दशा में आ गयी। ललित कलाओं का यह स्वर्णयुग माना जा सकता था। चौथी शताब्दी का यह समय कला, साहित्य और संस्कृति की सर्वांगीण गरिमा से सम्पन्न था। मूर्ति-शिल्पों में उज्ज्वल भाव-प्रकाशन लाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। मथुरा, सारनाथ, देवगढ़ आदि स्थानों में प्राप्त मूर्तियों की शिल्प-शैली आज भी आकर्षणीय है। देवगढ़ का दशावतार मन्दिर असंख्य मूर्तियों का भण्डार रहा है। गुप्त-काल में अधिक मात्रा में भित्ति-चित्र ही रचे गये हैं और इनका केन्द्र था अजंता। अजंता की चित्र-शैली इतनी विख्यात हुई कि उसका गहरा प्रभाव देश-विदेश के चित्र-शिल्पों पर पड़ा है। केरल में सबसे पुराना भित्ति-चित्र तिरुनन्दिक्करा (दक्खिन केरल, अब तमिलनाडु राज्य में) के एक गुहा-मन्दिर में है। यह आज नाश की ओर है। यह आठवीं सदी का माना जाता है। इसकी रचना-शैली अजंता के चित्रों की जैसी है। प्रस्तुत चित्र की अप्सरा सुन्दरी (?) अजंता के चित्रों में अंकित अप्सराओं से कई अंशों में सादृश्य रखती है। किरीट की बनावट, आभूषणों के स्वरूप, रेखाओं की सुघड़ता आदि में अजंता का इसपर प्रभाव लक्षित होता है। मुख का भावात्मक अंकन अजंता-शैली का अवश्य बोध प्रदान करता है।

गुप्तकालीन भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला, और काव्य का संपृक्त स्वरूप है। विक्रमोर्व-शीयम्, माळविकाग्निमित्रम् जैसे नाटकों और रघुवंशम्, मेघ-सन्देशम् जैसे काव्यों के द्वारा चित्र-रचना तथा साहित्य के बीच के परस्पर आदान-

प्रदान का मुग्धकारी एवं सम्प्रान चित्रण इस प्रसंग मे विशेष प्रस्ताव्य है। कला और साहित्य के मध्य यह सम्यक् सम्मिलित भाव गुप्त काल की मनोरम विभूति है।

मगर गुप्तकाल के समापन के साथ भारतीय कला जगत मे एक दूसरी तरह की कलात्मक श्रीवृद्धि जो हुई, वह देवो-देवताओं की मूर्तियो के गढन के रूप मे थी। इनकी सख्या मे अधिकाधिक वृद्धि हो रही थी। अनुकरण-आडम्बर की ओर रुचि बढी। भाव क्षीण हो गया। स्थापत्य-निर्माण मे यह युग सम्पन्न दशा मे था। गुफा-मन्दिरों एव मूर्ति शिल्पो का निर्माण प्रभूत परिमाण में हो गया। एलोरा, एलिफन्टा के गुफा-मन्दिरों के अलावा कांचीपुरम के निकटवाले पल्लव मन्दिर भी इस दिशा मे अधिक प्रसिद्धि पा गये। यहाँ को असख्य प्रस्तर-मूर्तियाँ आज भी पूर्व-मध्य युग, याने ई 600 से 900 तक की भारतीय मूर्तिकला की श्रेष्ठ उपलब्धि हैं। इन दिनों केरल के कई स्थानों मे गुफा मन्दिरो तथा प्रस्तर-मूर्तियो की निर्मिति हुई है। वे उत्तरापथ की शिल्प शैली के समक्ष अपना अलग महत्व लिय हुए आज भी प्राप्त हैं। तिरुवल्ला के कवियूर नामक स्थान में एक गुफा-मन्दिर और कोवळम के निकट एक गुफा मन्दिर हैं। इनमे प्राप्त प्रस्तर-मूर्तियाँ केरल की प्राचीनतम मूर्तियों के रूप मे गणनीय हैं।

उत्तर मध्य काल मे अर्थात् ई 900 से 1200 तक देवालयों और देवमूर्तियो की वृद्धि आशातीत थी। भुवनेश्वर का शिव मन्दिर, जगन्नाथपुरी का विष्णु-मन्दिर, कोणार्क का सूर्य-मन्दिर और, बुन्देल खण्ड के खजुराहोवाला महादेव मन्दिर इस काल के स्थापत्य मूर्ति शिल्पो के लिए सर्वाधिक प्रख्यात थ। इनमे अश्लील मूर्तियो की भी कमी नहीं थी। इस युग की समाप्ति के साथ मूर्ति शिल्प की भाव-दीप्ति की ओर से ध्यान हट गया। वस्तुत, मूर्ति-कला की महत्ता की दृष्टि से यह शुभकर नही हो सकता। फुटकर मूर्तियो मे महोबा के बोधि-सत्व शिल्प इस समय के श्रेष्ठ शिल्प हैं। सिंहनाद अवलोकितेश्वर की मूर्ति श्रेष्ठता की कोटि मे आती है।

केरल के अधिकतर प्रसिद्ध मन्दिर उत्तर-मध्य काल के आसपास निर्मित माने जा सकते हैं। शिलालेखो से अधिकतर मदिरो का स्थापनाकाल जान लिया जा सकता है। भारतीय मूर्ति कला जहाँ उत्तर मे क्षयी स्थिति मे आयी तब दक्खिन मे उसकी स्फूर्तिमय वृद्धि हो रही थी। पूरे दक्षिणापथ मे, मदिरों तथा शिल्पो के रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति जो हुई, वास्तविकतया भारतीय कला का ही अनुकरण हो पाया। इस नवीन उत्थान को श्री शकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य जैसे भारतीय दार्शनिको से प्रेरणा प्राप्त हो गयी थी। इस समय की दक्खिनी मूर्तियों में नटराज शकर की मूर्तियाँ सर्वतोप्रमुखी थी, जो प्रस्तर, धातु काष्ट आदि अनेक माध्यमों से बनती थी।

केरल अपनी मूर्ति-कला एव स्थापत्य-कला के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की मूर्तियाँ, प्रस्तर, धातु, हाथी दांत, दारु और महिष दत की बनी हुई हैं। मगर, दारु शिल्पो को नितात केरलीय उपज माना जाना उचित है। शिल्प के लिए उपयुक्त दारु केरल मे सुलभ हैं। यही कारण होगा कि अन्य माध्यमो की अपेक्षा दारु की बनी मूर्तियाँ केरल मे अधिक पायी जाती हैं। दारु के बने शिल्प कई रूपो के हैं। यहाँ दारु का

उपयोग जहाज़, नाव, गाड़ी, घर, महल आदि अनेकविध निर्माणों पर किया जाता है। शायद यही कारण होगा कि इन सबके साथ तदनुकूल शिल्प भी निर्मित होते थे। उपर्युक्त वस्तुओं को कलामय बना देने की ओर निर्माता बढई वर्ग ध्यान देता था। जनता की अभिरुचि और धन ओर आवश्यता को मानकर मानकर दारु के शिल्प होते थे। घर के साथ घर में उपयुक्त वस्तुओं को भी दारु की कलात्मक वस्तुओं से भरना अपेक्षित कार्य हो जाता है। केरल के पुरातन जमीन्दारों एवं राजाओं के घरों में दारु की बनी चीज़ों को भी कलामय, बना देने की चेष्टा की जाती थी। 'नेट्टूरपेट्टी' (शिल्पकारी के साथ बना एक प्रकार का सन्दूक) ढाल, तख्ता आदि इस गणना में आते हैं। फिर, घर की दारु की दीवारों और छतों में व्यालीमुख, चित्र-कारिता आदि का होना सहज था। ये सब दारु की कलात्मक अभिव्यक्तियाँ स्वाभाविक एवं सुन्दर रही थीं।

भारतीय मूर्तियाँ प्रतीकों के अर्थ निर्मित होती थीं। इन प्रतीकों में राष्ट्रीय अभिरुचि ही प्रकट होती थी। भारत की सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से मूर्ति-शिलों में परिलक्षित ऐक्यभाव सर्वथा स्पृहणीय है। भारत की अखण्डता के उपादानों में कितने ही अन्य पदार्थ चाहे सुलभ हों, पर मूर्ति-शिल्पों के द्वारा आध्यात्मिकता के प्रतीक-स्वरूप जो उपकरण प्राप्त हुआ, वह अत्यंत स्थायी और आकर्षक सिद्ध हुआ है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सर्वत्र प्राप्त मूर्ति-शिल्पों को देखकर और उनमें अनायास ही विद्यमान ऐक्यभाव को पहचानकर और उनके द्वारा देश की संस्कृति की अन्दर्धारा को अनुभूत करके हम भारत को एक अखण्ड देश के रूप में मान लेने का प्रत्यक्ष प्रमाण ही पा रहे।

वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में कुछ ऐसे प्रतीक प्रचार में रहे हैं, जो केरल के लिए भी उसी रूप में मान्य थे। गज, पद्म, हंस—ये ही वे प्रतीक हैं। इन तीनों प्रतीक-रूपों को केरल के दारु-शिल्पों में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। देव मन्दिरों के नमस्कार-मण्डपों और गर्भ-गृहों के दारु-शिल्पों में इनका चित्रण कई सन्दर्भों की पूर्ति के हेतु हो पाया है। गर्भ-गृह के चारों तरफ़ जहाँ दारु की बनी मूर्तियाँ रखी हुई हैं, उन्हें हाथियों की पीठ पर स्थित खिले कमल के आसनों पर आसीन किया है। नमस्कार-मण्डपों के ऊपरी फलकों में गजवीरों के जुलूस का अंकन अत्यधिक आकर्षक है। उसी स्थान पर बीच-बीच में विकसित कमलों की पंक्तियाँ हैं। मध्य में अष्ट दिक्पालकों के शिल्पों को विभक्त करते हुए अंश भी कमलों से अलकृत हैं। अलावा, वहीं देव-मूर्तियों के फुटकल शिल्पों को हाथी-पीठ पर स्थित कमलासन पर ही रखे पाया जाता है।

हंसों के फलक कमल के साथ ही कहीं-कहीं मिलते हैं। इनको अलंकरण हेतु विनिन किया जाता है। जहाँ ब्रह्म का अंकन है वहाँ हंस भी पाया जाता है। ब्रह्मा का वाहन हंस है।

पद्म तथा लक्ष्मी दोनों का सम्बन्ध बिलकुल निकट का है। पद्म ही पद्मा अथवा कमला हो गया है। वैष्णव-भक्ति की तह में इसी कमला याने लक्ष्मी का संकल्प काम करता है। केरल के दारुशिल्पों में पद्मपाणि लक्ष्मी और पद्मपाणि विष्णु पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। पद्मपाणि देवी की रूप-कल्पना ईसा से पूर्व की मानी जाती है।

इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय कला की अन्तर्धारा कितनी ही पुरानी और स्वस्थ है। सांची और भरवन के प्रवेशद्वारों में पद्मपाणि देवी की मूर्तियाँ अंकित हैं। पंडितों का मत है कि मोहनजोदड़ो की कमलधारिणी देवी की जो मूर्ति है, वह ऋग्वेद से भी पुरानी है। यह मातृत्व की देवी मानी जाती है।

केरल में पेरुवनम नामक स्थान के शिव मन्दिर के गर्भगृह की दीवार पर इसी प्रकार की एक देवी की मूर्ति है। वह मूर्ति शिल्प दारु का बना हुआ और पद्मपाणि है। वह शिल्परूप में एक मधुर-मनोहर रचना है। उसके बायें हाथ में लंबा बिसवाला एक कमल है। कमल मुकुलित है। दाहिना हाथ अभय देता है। गले में मालाएँ भरी पड़ी हैं। उनमें एक माला उत्तुंग कुच-मेरुओं के मध्य से होकर नीचे को लटक रही है। वस्त्र पावों के ऊपर तक पहुँचा हुआ है, जो भव्यता का दर्शन कराता है। उस वस्त्र के नीचे और पाँवों के ऊपर मोटे नूपुर पड़े हुए हैं। वस्त्र का एक छोर कमर से होकर नीचे आता हुआ पार्श्व में बह रहा है। मूर्ति की मुखाकृति कमनीय एवं भावयुक्त है। इसपर कुलीनता का प्रकाश स्पष्ट झलक पड़ता है। नयन प्रशान्त तथा संतुष्ट हैं। चेहरे से मातृत्व का अथवा स्त्रीत्व का पुनीत भाव प्रकट होता है। नयन विशाल और अत्यंत सुन्दर भी हैं। अवलोकन में शालीनता है, नाक लम्बी, ओठ पतले एवं सहास्य। दाहिने स्तन-कुंभ के नीचे अँगूठी तथा तर्जनी दोनों को मिलाए हुए अभय मुद्रा में वरद हस्त है। कमल-नाल को पकड़ी हुई मुट्ठी में से कनिष्ठिका ऊपर उठी हुई रहती है। यही वह सुन्दर मूर्ति है जिसके निर्माण में शिल्पि ने अपनी सामर्थ्य तथा सूक्ष्म मनोयोग का परिचय दिया है। इस मूर्ति के साथ कमल का चित्रण सोद्देश्य है। वह कमल-चित्र अपनी परम्परा की सफल सृष्टि है। मतलब है कि केरल की दारु-मूर्तियों में कमल का स्थान उच्च है और उसका प्रयोग स्वाभाविक है। पद्मनाभपुरम महल* के चौपाल में काठ का एक स्तंभ है जिसकी शिल्पकारिता अतिशय आश्चर्य की वस्तु मानी जाती है। उस स्तंभ का ऊपरी भाग नीचे को मुँह किये हुए कमल के अंकन से अलंकृत है। प्रस्तुत कमल-चित्रण की शिल्पक्रिया प्रशस्य है। केरल के देवालयों में जहाँ दारु-शिल्प का अंकन है, वहाँ कमल का चित्रण अवश्य मिलेगा। देवालयों के दारुशिल्पों का एक अनिवार्य अंश कमल का है। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि केरल अपनी दारु-शिल्प-विद्या में भारतीय कला के साथ अपना पद-चिह्न जोड़ सका है। यह भी एक तथ्य है कि इस छोटे-से देश ने अपनी प्रभूत कला-गरिमा से भारतीय कला-जगत को समृद्ध कर दिया है।

कमल और हंस की तरह गज का अंकन भी केरल के दारु-शिल्प-जगत में विशेष गणनीय है। हाथी केरल का सर्वप्रमुख जानवर है और संख्या में अन्य जंगली-जानवरों से आगे रहेगा। वैदिक काल से गज एक प्रख्यात जानवर है। इन्द्र को गज से उपमित किया गया है। पीछे एकदन्त गजानन विघ्न-निवारक देवता के रूप में पूजनीय बन गये। इस प्रकार गज संरक्षक के पद का अधिकारी हो गया था। ट्रावनकोर के राज-शासन के प्रारंभ से ही सरकारी मुहर में ऐसे दो गज-वीरों का अंकन था, जिनकी सूँड़ें

* यह महल ट्रावन्कोर के अन्तर्गत था, अब तमिलनाडु राज्य के अन्तर्गत है।

ऊपर उठाये हुए हैं और दोनों गज आमने-सामने खड़े हैं। इस देश की पुरातन कला-सृष्टियों में हाथी का अंकन सर्वत्र पाया जाता था। खम्भों और फलकों की सुन्दरता को बढ़ाने के काम में गजों का चित्रण उपयुक्त साबित हुआ है। केरल में दारु और हाथी-दन्त के माध्यम से गज का अंकन पौराणिक काल से होता आ रहा है और आज भी यह काम अविराम चलता है। मोहंजो-दडो, पहाडपुर आदि स्थानों में गज के जो मूर्ति-शिल्प प्राप्त हैं उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति की तुलना में केरल की दारु-मूर्तियाँ होड़ लगा सकती हैं। गज-मूर्तियों के यथार्थ चित्रण भारत-भर में फैले पड़े हुए हैं। हाथियों की सवारियों को अंकित करनेवाले फलक केरल-भर के मन्दिरों में पाये जाते हैं। ये अलंकरण की शोभा करने में चार चान्द लगा सके हैं। इन सवारियों के गजों में किसी-किसी के सिर शेर के चित्रित मिलते हैं। इनके चित्रण करते समय इनकी शक्ति और मस्त भाव की पूरी अभिव्यंजना कर पाने की ओर कलाकारों ने सफल चेष्टा की है। एक प्रकार की जोरदार गति और स्पन्दन की प्रतीति उनकी अविष्क्रिया से प्रकट होती है। गज के चित्रण के द्वारा भारतीय कला एवं संस्कृति का संस्पर्शन हो पाया है। भावात्मक एकता की दृष्टि से गज, हंस और कमल का सृजन कला के धरातल पर जो हुआ है, वह वस्तुतः महत्व का काम है।

हंस के अंकन ने भी केरलीय दारु-शिल्प को राष्ट्रीय महत्व प्रदान किया है। अष्ट-दिक्-पालकों का चित्रण देवालयों की छतों पर जो मिलता है, उनके मध्य ब्रह्मा का अंकन है। उसी मूर्ति के साथ हंस का भी सृजन है। प्रत्येक देवता का शिल्प उसके वाहन के साथ ही होता है। ब्रह्मा का वाहन हंस है। देवता की तरह उसके वाहन की भी कल्पना प्रतीकात्मक है। ब्रह्म आदि-वेदज्ञ हैं। उनका वाहन हंस भी नीर-क्षीर-विवेकी है। इस प्रकार हंस विशुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। आत्मा को कहते हैं हंस। याने, हंस विराट पुरुष है। जल-थल-गगन में उसका गमन है। केरल के दारु-शिल्पों में हंस को गणनीय स्थान है। जैसे हाथियों और कमलों का पंक्तियों में मुद्रण हुआ है वैसे हंसों का चित्रण है। केरल में दारु शिल्प के अलावा भित्ति-चित्र और चित्रों में भी हंस सफलतया चित्रित हुए हैं। चित्र-कला-सम्राट राजा रविवर्मा का "हंस-दमयन्ती" संज्ञक तैल चित्र अतीव रमणीय ही नहीं, अत्यधिक प्रसिद्ध भी है।

भारतीय कला-जगत में कमल, हाथी, हंस, इन तीनों का समन्वित चित्रण भी हुआ है। इनके चित्रण, मानों महान उद्देश्यों की प्रेरणा की उपज हैं। गजेन्द्र-मोक्ष का ही कथात्मक चित्रण इस सन्दर्भ में स्मरणीय है। भारत के अन्य भागों में शिला-मूर्तियों के माध्यम से यह कथा-परक शिल्प अभिव्यक्ति पा गया तो केरल में दारु-शिल्पों के द्वारा प्रभूत संख्या में आविष्कृत हुआ है। अजंता और भरहुत के चित्रों और शिल्पों में प्रस्तुत तथ्य के लिए पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हो सकते हैं।

केरल की कलात्मक उपलब्धियों में सबसे प्रधान और समृद्ध विभाग दारु-शिल्पों का है। एलोरा, एलीफ़ेन्टा, अजंता आदि भारतीय कला-मंदिरों का अध्ययन करके यह निर्णय किया जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती कि भारतीय कला अपनी स्वस्थ तथा सुरुचिपूर्ण सुस्थिति के

लिए स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि की कलाओं का सामंजस्य करने में जागरूक थे। स्थापत्य कला के साथ इन कलाओं का समवाय स्वरूप केरल मे सर्वत्र परिलक्षित है। इनमे स्थापत्य और मूर्ति के बीच का संबंध अधिक निकट का है। एक अन्य के पूरक के रूप मे अस्तित्व पा गया। केरल के वास्तु शिल्पों में मूर्ति शिल्पों का अलंकरण जो हुआ है, वह इस प्रस्ताव को प्रमाणित कर देगा।

प्राचीन केरलीय धनिक कुटुम्बों के भवनो का निर्माण दारु से किया जाता था, दीवारें भी दारु की बनती थीं। इन दारु भवनो को कलामय रूप से अलंकृत करके रखने की अभिरुचि उन दिनो जनता में थी। शिल्पी भी उन धनिकों के आश्रम में रहा करते। फलत बड़े बड़े भवनों में सुन्दर शिल्पों से अलंकृत करने का काम सहज रीति से ही चला। प्राचीन राजाओं के भवन भी इस कोटि मे आते हैं। पद्मनाभपुरम महल इसके लिए श्रेष्ठ उदाहरण है, जहाँ सब प्रकार की कलात्मक रचनाएँ पायी जाती हैं।

प्राचीन केरलीय भवनो के निकट ही आराधना के लिए देवमंदिर बनाये जाते थे। वहाँ दारु की मूर्तियाँ भी रखी जाती थीं। मंदिरो में हिन्दू धर्म के देवी देवताओं की मूर्तियाँ उचित स्थानो मे रखी हुई हैं। केरल के मूर्ति शिल्पो मे अधिकतर हिन्दू देवी देवता आ गये हैं। देवियाँ— लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, यक्षिणी, सीता, इन्द्राणी, राधा आदि हैं। देवो मे रुद्र, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, कृष्ण, दशावतार, राम, अष्ट दिक्पालक, किरातमूर्ति, गणपति, कार्तिकेय, शास्ता, नर-नारायण, दक्षिणामूर्ति, लक्ष्मण आदि प्रमुख हैं। भक्तों में हनूमान, ऋषिमुनि, सप्तर्षी, नारद, अष्टावक्र आदि हैं। असुरों का चित्रण भी मिलता है। रावण, महिषासुर, मारीच, विभीषण आदि इस पक्ष में आते हैं।

रामायण, भारत, भागवत, देवीपुराण हालास्य माहात्म्य शिवपुराण आदि कथात्मक ग्रंथों की उल्लेखनीय घटनाओं के महान तथा रोमांचकारी चित्रण केरल के दारु शिल्पो की सम्पदा बढ़ाते हैं। कहीं कहीं उक्त कथाओं का आलेखन लम्बे लम्बे फलकों में मर्मस्पर्शी भावों में मुद्रित हुआ है। नमस्कार मण्डपों की ऊपरी छतों और गर्भगृह के चारो तरफ ऐसे कथात्मक मूर्ति-शिल्प स्थापित किये जाते थे। केरल के पचीसो से अधिक प्रसिद्ध देवालयो मे इस प्रकार के दारु शिल्प अब भी सही दशा मे मिल सकते हैं। एट्टुमानूर, वैक्कम, कुरट्टी, कविदूर, पायूर शास्तामकुळगरा, कुळत्तुप्पा, श्रीपद्मनाभपुरम महल, रामस्वामी मंदिर, मणप्पूर, ऊरकम, तृप्रयार, पेरुवनम, तिरुवार्प, कठिनकुलम, वायप्पळळी, तुरवूर, वेळळूर, कळरिक्कल, तिरुचिल्वामलै, कूटल-माणिक्यम, तिरुवालूर, ब्रह्मगलम, कण्टियूर, चेराई, तिरुमला, आदि देवालय दारु मूर्तियो के लिए प्रसिद्ध हैं। ये सब मंदिर केरल की एक मृतप्राय कला के अवशिष्ट सजीव देवमंदिर हैं। भीतर की आराधना मूर्तियाँ आज निर्जीव सी होती जा रही हैं। मगर बाहर प्रतिष्ठित दारु मूर्तियाँ आज भी केरल की प्राचीन शिल्प कला-विदग्धता तथा प्रगल्भता का परिचय देते हुए खड़ी हैं। भीतरी मूर्तियो पर फूल चढ़ानेवाले आज के नियुक्त पुजारी नहीं जानते कि अर्चना का अर्थ क्या है और अर्चना कैसे करनी चाहिए। वे बाहर रखी हुई दारु मूर्तियो मे अगर कोई भाव देख नहीं सकते, तो इसमे आश्चर्य के लिए

कारण नहीं रह जाता। क्योंकि, आज पूजा करना भी एक जीवन-वृत्ति है। उससे जो प्रयोजन भौतिक दृष्टि से प्राप्य हो सकता है, उसके अनुसार पूजा में विधि-परिवर्तन भी लाना उनके लिये आवश्यक माना जाता है। परिणाम यह हो रहा है कि अयोग्य पुजारी नियुक्त होते हैं। वे मूर्ति-भावों से अनभिज्ञ हैं। पूजाविधियों के जानकार नहीं हैं। यह मात्र केरल की अवस्था नहीं है, बल्कि सारे देश की दशा है। जैसे डा० जगदीश गुप्तजी कहते हैं कि ऐलिफ़ेन्टा के मूर्ति-शिल्पों पर दर्शक अपने घोड़े बाँध देते हैं और वहाँ संतरों के छिलकों से भरकर वापस जाते हैं। हमारा दृष्टिकोण कला के प्रति हेय बनता जा रहा है। यह देश की पवित्र संस्कृति की अवहेलना नहीं है तो और क्या है?

हाँ, केरल की मूर्तियाँ जो दारु की बनी हैं, निर्माण की दृष्टि से कई प्रकार की हैं। आकार में दो या तीन इंच की छोटी-मूर्तियाँ हैं। छे फूट तक की बड़ी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। नमस्कार-मण्डपों में विविध आकार की मूर्तियाँ होती हैं। फुटकर मूर्तियाँ पद्मासन पर स्थित हैं जो गजवीर के ऊपर रखा है। कथापरक छोटी मूर्तियाँ मंदिर के भीतर जहाँ कहीं उपयुक्त स्थान मिलते हैं उत्कीर्ण होती हैं। केरल के एट्टुमानूर, त्रिप्रयार जैसे दो-चार मंदिरों के नमस्कार-मण्डप दारु-शिल्पों के कारण दर्शनीय हैं। कला की दक्षता स्तुत्य है। सूक्ष्म एवं भावात्मक सृजन के कारण इनकी कलात्मक अभिव्यक्ति उच्चस्तरीय है। मूर्ति-गढ़न के लिए जितनी आवश्यक जानकारी चाहिए उन सबका समर्थ प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य है।

मन्दिर की दारु-मूर्तियाँ देवी-देवताओं की योग्यता तथा श्रेष्ठता के अनुसार ही चित्रित की गयी हैं। केरलीय मूर्तियाँ अधिकांशतः संस्कृत के ध्यान-श्लोकों की भावाविष्कृति हैं। प्रख्यात एवं सर्वाराध्य देवी-देवताओं के स्वरूप-वर्णन को आधार देकर ही वे ध्यान-श्लोक बने हैं। उनकी कलामय अभिव्यक्ति हैं ये मूर्तियाँ। शिल्पियों की तपस्या और त्याग तथा अभिव्यक्ति-कुशलता के लिए केरलीय शिल्प-मूर्तियाँ प्रमाण के काम देती हैं। पेरुवनं मन्दिर [त्रिचूर से दस मील दूर] की दारु-मूर्तियाँ अपनी अभिव्यक्ति एवं विविधता की दृष्टि से सर्वोत्तम मालूम होती हैं। उनमें जितनी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ प्राप्त हैं, सब ध्यान, श्लोकों के साहित्य के साकार रूप हैं। एट्टुमानूर महादेव मन्दिर के गर्भगृह की बाहरी भित्ति पर रामायण, भागवत तथा भारत की कथाओं के मूर्तिशिल्प हैं, जो दर्शकों को आनन्द विमुग्ध कर देनेवाले हैं। रामायणकथा की सभी प्रमुख घटनाओं का चित्रण भावोज्वलता के साथ अंकित है। कौसल्यादि देवियों का प्रसव-सन्दर्भ भी शिल्प-रूप में आया है। ये शिल्प लम्बे फलकों में उभार के रूप में हैं। ध्यानश्लोकों की अभिव्यक्ति भी वहाँ पायी जाती है।

पर इससे यह आशय नहीं कि दारु-शिल्पों की आविष्क्रिया से देवी-देवताओं का चित्रण ही हुआ है। केरलीय शिल्पों में जन-जीवन के स्पन्दित चित्रण भी हो सके हैं। सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। इसी प्रकार करुण, हास्य, शृंगार, वीर आदि नवों रसों की व्यंजना हो पायी है।

दारु-शिल्प की यह घनीभूत संपदा आज केरल के विकृत जन-जीवन के सम्मुख एक प्रकार का विरोधाभास मात्र होकर रह गयी है। इनके निर्माण में जितनी तपस्या प्रयत्न और कल्पना का

उपयोग हुआ है, उसकी कृतकृत्यता मे आज सन्देह हो रहा है। आज केरल के दारुशिल्प अपने निर्माता श्रेष्ठ शिल्पियो की स्मृति में लीन हैं कि वे हमेशा के लिए कहाँ चले गये! सूखी लकडी से मनोहर प्राणवान सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है, इसका आज दृष्टात मिल रहा है। भविष्य मे जब बुद्धिवाद से प्रताडित मनुष्य-चेतना अपनी शुष्कता और भीरुता के कारण रो पडेगी, तब ये मूर्तियाँ उसे किसी पूर्वपरिचित आलोकमयी दिशा की ओर आकृष्ट कर सकें, तो ये कृत-कृत्य हो सकेंगी। हाँ, ऐसा ही हो सकता है; क्योंकि ये शिल्प त्याग, प्रेम, आनन्द और सत्य के प्रतीक हैं और इनका चिरस्थायी होकर रहना ही यथार्थ कलातत्त्व है।

विदेशी लोग इस बात पर हँसेंगे कि भारतीय अंग्रेजी भाषा से चिपके हुए हैं। हमे अपने देश की मर्यादा और गौरव के लिए अपनी भारतीय भाषा को ही राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए। हमें विदेशियो के साथ पत्र-व्यवहार भी अपनी ही भाषा में करना चाहिए भले ही उनकी भाषा का रूपातर साथ रखा जाय। ऐसा करने से हमारी भाषा की महिमा ससार मे फैलेगी।

—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

देश के विभिन्न भागों के निवासियो के व्यवहार के लिए सर्वसुगम, व्यापक तथा एकता स्थापित करने के साधन के रूप में हिन्दी का ज्ञान आवश्यक है। मैं हिन्दी को एस एम एल सी और इटरमीडिएट पाठ्यक्रम मे अनिवार्य विषय बनाने का पक्षपाती हूँ।

—डॉ सी पी रामस्वामी अय्यर

श्री वेमूरि हरिनारायण शर्मा
384-8, विजयनगर
हैदराबाद 28 (आंध्र प्रदेश)

आन्ध्र की चित्रकला — एक परिचय

आप सभा के बुजुर्ग कार्यकर्ता तथा संस्था-संघ दिल्ली के सचिव श्री वेमूरि आंजनेय शर्मा के सुपुत्र हैं। विद्युत इंजनीयरिंग के प्राध्यापक होते हुए भी साहित्य और चित्र-कला के प्रति आप विशेष अभिरुचि रखते हैं। हिन्दी और तेलुगु में अनुवाद प्रक्रिया के साथ कविता, कहानी जीवनी आदि विधाओं के प्रति इस अहिन्दी भाषी युवा लेखक की सृजनात्मक जिज्ञासा विशेष प्रोत्साहनीय है।

'कला कला के लिए' वाली बात पुरानी हो चुकी है और 'कला जीवन के लिए' वाला सिद्धान्त पैर जमा चुका है। अतः समय की निर्मम चक्की में घिस-पिस, विघटित मूल्यों को जब तक हम आत्मसात नहीं कर लेते तब तक समकालीन चित्रकला में क्या, किसी भी ललित-ललितेतर कला में हमें रस-साक्षात्कार नहीं होता।

कला और समाज, शिक्षा और वातावरण के बीच खाई और असामंजस्य का बना रहना ही समाज के सभी रोगों का मूल कारण है। इस खाई की गहराई को और असामंजस्य की चौड़ाई को नापने पर समाज को बदल डालने की इच्छा अँकुरित होती है। इसीलिए आज संसार में विद्या और कला—इन दोनों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

हम यह भी न भूलें कि कला और विद्या के नाम से अनगिनत गोरखधंधे आये दिन हुआ करते हैं। प्रतिक्रियात्मक शक्तियों की मोर्चा-बंदी से बचकर लक्ष्य प्राप्त करना अत्यंत कठिन 'तपस्या' है। अंतर में धधकती चिनगारी को बुझने से बचाते, अपने मार्ग को प्रकाशित करते, अंतर-ज्वाला सदृश्य अनेकों दिये जलाते, आगे बढ़ सकना हर किसीके वश की बात नहीं है।

आचार्य, कवि और कलाकार इस पथ पर चलनेवाले तपस्वी होते हैं। वे समय से आगे रहते हैं। इसलिए उन्हें सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञ और धनाकांक्षी धंधेबाज़ अपने लोहे के पंजों में जकड़कर रखने का सतत प्रयत्न करते हैं। यह एक प्रच्छन्न द्वंद्व युद्ध है। इस युद्ध में हार माननेवालों को इतिहास याद नहीं करता ; अपितु

विजयी होकर निकलनेवाले ऐतिहासिक व्यक्ति बन जाते हैं।

समकालीन चित्रकला-परिवेश पर दृष्टिपात करते हुए यह तय करना बहुत मुश्किल है कि इनमें कौन विजयी है और कौन पराजयी? क्षण-मात्र के ज्वार को अन्तिम विजय और क्षण-मात्र के भाटे को अन्तिम पराजय कहना पाक्षिक निष्कर्ष होगा।

आजकल 'चित्रकला' का एक संकुचित अर्थ बलात् प्रचलन मे लाया जा रहा है। रूढ़िवादी 'अकेडमिक' चित्रकार और कला-विवेचक चित्रकला को शृंखलाओं में बन्दी रखना चाहते हैं। अपनी परिभाषा के बाहर हो तो उसे चित्रकृति कहने से वे इनकार करते हैं। इस संकीर्ण परिधि के अंदर इस लेख को सीमित करना भी बड़ा अन्याय होगा। अतः चित्रकला की व्यापक परिभाषा को मैं स्वीकार करता हूँ।

वास्तुकला, शिल्पकला और चित्रकला सहेलियाँ हैं। इनमें पहली और दूसरी कलाएँ त्रिविम (3 dimension) की और चित्रकला द्विविम की होती हैं। शून्य में डोलित विश्व के हर अणु में सार्वभौमिक लयात्मकता का हम दर्शन कर सकते हैं। इस सार्वभौमिक लयात्मकता को चित्र मे सफलतापूर्वक दर्शाना कला की पराकाष्ठा मानी गयी है। द्विविम वाले चित्र-पटल पर माध्यम द्वारा चित्रकार त्रिविम का आभास उत्पन्न करता है। रंग व रूप-संयोजन द्वारा लय-सृजन कर प्रेक्षकों के मन में सरूप कंपन पैदा करता है। प्रेक्षक आत्मविभोर हो जाते हैं। अलौकिक आनंद के सागर मे गोते लगाते हैं।

आन्ध्र की चित्रकला कलाप्रेमियों के लिए जितनी सुखदायिनी है, इतिहासकारों के लिए उतनी ही कष्टदायिनी साबित हुई है। चित्रकला के बारे मे जानने की तीन पद्धतियाँ हो सकती हैं। वे पद्धतियाँ क्रमशः व्यक्ति, स्थान व शैली पर आधारित हैं। मात्र चित्रकारों की चित्र-सृष्टि के बारे में जानने से किसी एक प्रान्त की चित्रकला का सम्यक् रूप हमारे सामने नहीं आता; क्योंकि हरेक चित्रकार के बारे मे जानना असंभव है। इसलिए कुछ प्रमुख कला-केन्द्रों के बारे मे जानना भी आवश्यक है। शैली की दृष्टि से अध्ययन करने पर उस प्रान्त की चित्रकला की अपनी विशेषता और वहाँ की छाप हम जान सकते हैं।

शातवाहन, इक्ष्वाकु, विष्णुकुंडन, वेंगी चालुक्य, काकतीय, रेड्डी, विजयनगर, कुतुबशाही, आसफ़-शाही राजवंशों ने भारत के इस उर्वरा भूखण्ड पर ईसा से पूर्व 210 से लेकर करीब 2150 साल राज्य किया। उत्तर में बरहमपूर से लेकर दक्षिण में मद्रास तक, पूरब मे भीमवरम से लेकर पश्चिम मे पेनुगोंडा तक फैला हुआ आन्ध्र प्रान्त 'भारत की नाभि' होने के कारण यहाँ के चित्रकार 'बीच के रास्ते' पर चलते आये। असहनशीलता किस चिड़िया का नाम है, आन्ध्र के किसी चित्रकार को मालूम नहीं था। पर्शियन, गांधार, मथुरा, साँची, कांग्रा, मुगल, बंगला और पश्चिमी चित्र-कला शैलियों के गुणों को स्वीकार कर पचा लेना इस प्रान्त की चित्रकला की एक खास विशेषता है। 'आदान-प्रदान' वाली यह बात शायद ही भारत की किसी अन्य शैली की चित्रकला में देखने को मिलती है।

अजन्ता की 9 और 10 नंबरवाली गुफाएँ 2200 साल पुरानी आन्ध्र चित्रकला का प्रतिनिधित्व करती हैं। लेपाक्षी, सोमपल्लि और काची मे हमे आन्ध्र चित्रकला-वैभव का दर्शन होता है। संसार का सबसे बड़ा वीरभद्र का एकमूर्ति चित्र हमे लेपाक्षी में देखने को मिलता है। आध्यात्मिकवाद और भौतिकवाद—दोनों विषयों पर चित्र बनते थे।

बारीकी से देखने पर अमरावती और नागार्जुनकोंडा में उपजी कलाकृतियाँ खास आन्ध्र शैली की लगती हैं। सित्तनवासल की चित्रकलाकृतियाँ अमरावती और अजंता से सानी रखनेवाली 1500 साल पुरानी कृतियाँ हैं।

अंग्रेजों के शासनकाल के अवसान से पहले राष्ट्रीय जागरण का दौर आया। इस दौर की शैलियों पर राजनीति का विशेष प्रभाव रहा। दुःख, पीड़न, निराशा, घृणा, अपमान आदि भाव साहित्य के साथ-साथ चित्रकला में भी प्रविष्ट हुए।

जब देशभर में पश्चिमी देशों के चित्रों की नकल करनेवाले चित्रकारों की भरमार थी, तब डाक्टर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्रकला जगत में पदार्पण किया। रविवर्मा-जैसे चित्रकार भी उत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोण और मौलिकतापूर्ण कल्पना का परिचय नहीं दे सके थे। अवनींद्र ने विद्रोह शुरू किया। नंदलाल, देवीप्रसाद राय चौधरी और प्रमोदकुमार चौधरी उनके शिष्य थे। 'वंदर जातीय कलाशाला' में कला-अध्यापन करने के लिए नंदलाल वसु और फिर प्रमोदकुमार आये। देवी प्रसाद मद्रास आर्ट स्कूल में प्रधानाध्यापक रहे। उन दिनों आन्ध्र प्रान्त विशाल मद्रास का एक अंग था।

प्रमोद बाबू वंग प्रान्त के होने पर भी वंग शैली का अंधानुकरण न कर, अपने मौलिक मार्ग पर चलनेवाले थे। स्वर्गीय अडिवि बापी राजु, स्वर्गीय वेलूरि राममूर्ति, स्व० कौता आनंद मोहन शास्त्री, श्री गुर्रम मल्लय्या, श्री मंत्रवादि वेंकटरत्नम आदि प्रमोद बाबू के शिष्य थे।

उधर मद्रास में देवी प्रसादराय के पास श्री होला वेंकटराम गोपाल, श्री ए. पैंडी राजु, श्री पी. नरसिंहमूर्ति, श्री मा. गोखले, श्री देवी प्रसाद नारायणराव, श्री चामकूर सत्यनारायण, श्री अंकाल वेंकटसुब्बाराव, स्वर्गीय मोक्कपाटि कृष्णमूर्ति आदि अनेकों ने चित्रकला सीखी। श्री कुमारिल स्वामी और श्री कोंडपल्लि शेषगिरि राव शांति निकेतन भी हो आये।

स्व० दामेर्ला रामाराव बंबई के जे. जे. स्कूल से डिप्लोमा लेकर राजमहेंद्री आये। वहाँ पर उन्होंने एक स्कूल की स्थापना की। उनपर ग्रीक शैली का प्रभाव था। वे दृष्टिक्रम और भंगिमाओं के चुनाव में अद्वितीय थे। स्व० वि. वि. भागीरथी उसी स्कूल में प्रशिक्षित हुए। पारदर्शक प्रकृति-दृश्य-चित्रण में भारत भर में वे सुप्रसिद्ध चित्रकार थे। श्री एम. राजाजी राजमहेन्द्री के स्कूल को अब चला रहे हैं। वे वैरूप्य-चित्रों का चित्रण किया करते हैं।

इधर हैदराबाद निजाम के अधीन में था और यहाँ पर नवाब और जमीन्दारों की देखरेख में चित्रकला को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। श्री वेंकट रामय्या और श्री बाणय्या दक्कनी शैली में चित्र बनाते थे। स्व० बाणय्या मुगल-शैली के भारत के मशहूर चित्रकार थे। श्री वेसुकर हैदराबाद आर्ट स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। वे व्यक्ति-रूप चित्र बनाने में बड़े सिद्धहस्त थे। बंबई के जे. जे. स्कूल आफ़ आर्टस से आनेवालों में श्री पी. तिरुमल रेड्डी, श्री गोविन्द स्वामी, श्री मसुद अहमद, श्री मल्लारेड्डी, श्री रज़ा हुसैन आदि प्रमुख हैं। श्री पि. तिरुमल रेड्डी प्रभाववाद शैली के बहुत मशहूर चित्रकार हैं। आज भी उनके अनेकों प्रभावोत्पादक चित्र बनते हैं।

हैदराबाद स्कूल आफ़ आर्टस में तैयार हुए पुरानी पीढ़ी के चित्रकारों में श्री वी. मधुसूदन राव, श्री सैयद बिन मोहम्मद, स्व० त्यागराज

मिल्ले, श्री के राजय्या, श्री उस्मान सिद्दिकी, श्री वासुदेव कापटराल आदि मुख्य हैं।

उक्त सभी चित्रकार पुरानी पीढी के हैं। इनमे काफी सृजनशक्ति थी। चित्रकला के प्रति गौरव और श्रद्धा रखते थे। देहाती जन जीवन की हर छोटी सी बात से वे स्फूर्ति लेकर चित्र बनाते थे। राष्ट्रीय जागरण की बिजली फैली हुई थी। इतिहास, पुराण, लोक जीवन, हर विषय को लेकर चित्र बनते थे। जन जीवन से सबधित तथा राष्ट्रीय जागरण के भाव से ओत-प्रोत होने के कारण, चित्रकला लोगों के दिलो में जा बैठी थी। चित्र सुबोध और मनोहारी होते थे। हर राजनैतिक, साहित्यिक और सास्कृतिक समा-समारोहों मे चित्रकला प्रदशनियो का आयोजन हुआ करता था। लोग चित्रो का आदर और रसास्वादन करते थे। मात्र इतिहास एव स्मारिकाओ के पन्नो मे न रहकर, उस पीढी के चित्रकार आम लोगो के दिलों मे भी घरकर बैठ गये।

आज आन्ध्र प्रदेश मे जितनी बडी सख्या मे चित्रकार द्रष्टव्य हैं शायद उतनी सख्या मे पहले कभी नहीं थे। सिर्फ सख्या मात्र से तृप्त होना ठीक नहीं है। लेकिन सख्या से तो इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि आजकल समाज मे चित्रकला के लिए गौरव का स्थान मिलने लगा है। दिल्ली, बबई, कलकत्ता के बाद हैदराबाद मे आजकल चित्रकला प्रदशनियाँ ज्यादा हो रही हैं। आन्ध्र प्रदेश ललित कला अकादमी, हैदराबाद आर्ट सोसाइटी, भारत कला परिषद दामेर्ला चित्रकला दीर्घा विजयवाडा आर्ट अकादमी आदि अनेक सस्थाएँ इस क्षेत्र मे अथक परिश्रम कर रही हैं। श्री ए एस रामन् श्री सजीवदेव, आवट जानकिराम गाभट्ल कृष्णमूर्ति, चलसानि प्रसादराव, वेलूरि राधाकृष्ण, मनोहर दत्त, श्री कोटय्या, श्रीनिवास शर्मा, डॉ. भास्कर राव, धीरेन्द्रनाथ वर्मा आदि विवेचकों की विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक और परिचयात्मक रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। पहले से ज्यादा एकल और सामूहिक प्रदर्शनियाँ हो रही हैं। चित्रकला-दीर्घाओ की कमी महसूस की जा रही है।

पुरस्कारों के कारण आदर-सत्कार ही नहीं, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी परिस्थिति बेहतर है। चित्रकला प्रतियोगिताओ के बारे मे बहुत सारी नुक्ता चीनी हो रही है लेकिन यह भी विकास का एक चिन्ह है। उपयोगी चित्रकला के आलबन से आजकल के सफल चित्रकार अच्छा-खासा पैसा भी कमाते हैं।

आन्ध्र प्रदेश की चित्रकला की पाँच प्रमुख धाराएँ हैं—

(1) साप्रदायिक चित्रकला

(2) मूर्त चित्रकला

(3) अमूर्त चित्रकला

(4) व्यग्य चित्रकला

(5) पत्र पत्रिकाओं की चित्रकला।

पिछली पीढ़ी के चित्रकार ज्यादातर सांप्रदायिक चित्रों की सृष्टि कर रहे हैं। श्री पी टी रेड्डी पिछली पीढी के चित्रकार हैं। आज भी इनमे जोश और फुर्ती की कमी नहीं है। इसी पीढी के चित्रकारों मे आते हैं श्री मधुसूदन राव, शर्पागिरि राव, सय्यद बिन मुहम्मद, राजय्या, जगदीश-मित्तल विद्याभूषण आदि। 'अद्री' शैली को फिर से अमल मे लाने की कोशिश सैयद बिन मुहम्मद कर रहे हैं। यह बहुत प्रभावशाली पद्धति है। पानी के तल पर रग लगाकर सहसा साक्षात्कार होनेवाले रूपो का चित्रीकरण करना इस शैली की विशेषता है। इसके अलावा

व्यक्तिरूप-चित्रण में सैयद साहब माने हुए चित्रकार हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समाज में बहुत परिवर्तन हुए। राजनैतिक दल-बदलू नीति बढ़ गयी है। घूसखोरी, अनैतिकता, भूख, गरीबी, बीमारी आदि का अंत नहीं हुआ है। अवसरवादी ज्यादा हो गये।

इस कारण सांस्कृतिक एवं कला-जगत में जड़ता छा गयी है। निराशा बढ़ गयी है। लक्ष्यहीन समाज में हम आज बसते हैं। इन सब विषयों का प्रभाव चित्रकला पर पड़ा है। युवा पीढ़ी के चित्रकारों में कुछ लोग मौलिकता का परिचय देते हैं। अक्सर दूसरों की नकल करनेवाले ज्यादा हैं।

श्री कृष्णरेड्डी और श्री एस. वी. रामाराव उन युवा चित्रकारों में से हैं, जो विदेशों में अपना रंग जमा रहे हैं। श्री रामाराव अमूर्त चित्रकला में सिद्धहस्त माने जाते हैं। अत्यंत नवीनतम माध्यमों का प्रयोग करना और अत्यंत भावमय और गतिमय चित्रों का सृजन करना उनकी सफलता के सोपान हैं। 'कृष्णा नदी', 'लेपाक्षी' आदि इनके उत्तम अमूर्त चित्र हैं। श्री रामाराव की मौलिक कल्पना शक्ति और अपने मनोभावों का हू-ब-हू वर्णन कर सकना एक विशेषता है। इसी वजह से वे आज विलायत में काफी नाम कमा चुके और वे कला अध्यापन का काम कर रहे हैं। श्री कृष्णारेड्डी ग्राफिक चित्रकला में प्रवीण हैं। लयात्मक प्रवाह इनके चित्रों में दर्शन देता है। इन दोनों चित्रकारों ने आन्ध्र प्रदेश का ही नहीं, बल्कि समूचे भारत देश का गौरव बढ़ाया है। वास्तव में आन्ध्र प्रदेश के इन दो चित्रकारों को छोड़कर और कोई वास्तविक अमूर्त चित्र नहीं बनाते।

वैरूप्य शैली को अपनानेवालों में श्री दालारै रहीम, जयंत, नरेन्द्रराय, उर्मिला शाह प्रमुख हैं। उर्मिला शाह पर अमृता शेरगिल का अमिट प्रभाव रहा। वासुदेव कापट्राल, गौरी शंकर आदि अमूर्त चित्रकला की ओर बढ़ने की भरसक कोशिश कर रहे हैं। गौरीशंकर के चित्रों में रंग संयोजन विशेषतया उल्लेखनीय है। ग्राफ़िक चित्रकला में भी गौरी शंकर सिद्ध-हस्त हैं।

सूर्यप्रकाश हैदराबाद के चित्रकारों में मशहूर युवा चित्रकार हैं। हल्के रंगों में बने इनके चित्र अरूप चित्रकला की ओर दौड़ना ही चाहते हैं। कोमलता और लचीलापन इनके चित्रों में खूब देखने को मिलते हैं। गतिशीलता और प्रगतिशीलता दिखाई देती है। राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त इस चित्रकार का भविष्य अत्यंत उज्जवल है। अत्यंत गौण विषय को लेकर अति सुंदर चित्र बनाने में वे प्रवीण हैं।

लक्ष्मा गौड मूर्त और अमूर्त वस्तु लेकर चित्र बनाते हैं। भित्ति चित्र बनाने में गौड निपुण हैं। इनकी कल्पना शक्ति अति अद्भुत हैं। नये-नये आकारों की कल्पना वे करते हैं। उनका परिप्रेक्ष विशेषतया उल्लेखनीय है।

देवराज अत्यंत उत्तम ग्राफ़िक चित्रकार हैं। आजकल ग्राफ़िक शैली का बोलवाला ज्यादा है। बहुमूल्य तैलचित्रों को खरीदने की आर्थिक शक्ति मध्यवर्गीयों में नहीं है। अतः ग्राफीक शैली द्वारा एक ही चित्र के अनेकों प्रतिरूप बनाये जा सकते हैं। इससे कम मूल्य में चित्र को खरीद सकते हैं।

प्रायः सभी युवा चित्रकार आजकल 'बातिक' चित्रकला की साधना कर रहे हैं। बातिक कपड़े पर बनाया जाता है। मोम के पिघलने से रंग अत्यंत मोहक रूप से कपड़े पर फैल जाता है।

देखने में संयोगवश दीखता हैं। फिर भी बापिक चित्र अत्यंत मनोहर होते हैं। भारतीय वातावरण को प्रतिबिंबित करनेवाले बापिक चित्रों की यहाँ पर बड़ी माँग हैं।

रेड्डेप्प नायडु देवी-देवताओं के चित्र आधुनिक प्रक्रिया द्वारा चित्रित करते हैं। 'कोलाज' वगैरह विभिन्न प्रकार के प्रयोग वे सफलता-पूर्वक कर रहे हैं। भारतीयता को अपने चित्रों द्वारा दर्शाने की उत्सुकता दिखानेवालों में रेड्डेप्पा के साथ आजनेयुलु भी आते हैं। बापिक द्वारा पुराणेतिहासों का और ग्रामीण वातावरण का चित्रण वे किया करते हैं। यम. कृष्णमूर्ति वैरूप्य चित्रकारों मे गिने जाते हैं। इनके चित्र बहुत कम दिखाई देते हैं, लेकिन एक-दो चित्रों मे वे अपनी प्रतिभा दिखा जाते हैं।

आधुनिक चित्रकला को बहुत आसान समझकर, अनेकों व्यक्ति मन बहलाव के लिए चित्रकला को अपनाकर, बहुत कम समय मे नाम कमाने के लालच मे पड़ जाते हैं। इसी कारण आधुनिक चित्रकला बदनाम होती जा रही है। हर व्यक्ति सफल चित्रकार बन नहीं सकता। सृजनात्मक चित्रकार बनना आसान नहीं है। नजदीक के रास्ते ढूंढनेवाले हरेक को हम अगर चित्रकार समझ बैठेंगे, तो इसमें चित्रकला का क्या दोष? इस गंदे वातावरण को साफ़ करने के लिए कुछ पत्रिकाओं की ओर कुछ स्पष्टवादी विवेचकों की नितान्त आवश्यकता है। इसका यह मतलब नहीं कि सब चित्रकार कलाक्षेत्र से खदेड़ दिये जायँ।

अगर वाणिज्य-चित्रकला और पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित व्यावसायिक चित्रकला के बारे में न कहा जाय, तो यह लेख असपूर्ण होगा। वैज्ञानिक बन्द-कमरों मे परिशोधन करता है। जीवन-भर परिश्रम करने के बाद किसी अपूर्व-अनूठे अविष्कार का श्रेय उसे मिलता है। लेकिन मात्र अविष्कार से क्या होता है? उसका असली उपयोग जब तक न हो, तब तक उसकी सार्थकता नहीं है। इसी तरह चित्रकला से मानव का कल्याण और लाभ हो। चितक चित्रकारों के प्रयोगों के फलों को सामान्य मानव के उपयोगार्थ पेश करनेवाले वाणिज्य-चित्रकार कहे जाते हैं। साधारण व्यक्ति की दृष्टि को आकर्षित करने के उपाय उन्हें मालूम होते हैं। इसी प्रकार पत्र-पत्रिकाओं को सुंदर ढंग से अलंकृत करने का उत्तरदायित्व कुछ पेशावर चित्रकारों के हाथ सौंपा जाता है। भले ही इन्हें व्यापारिक चित्रकला कहें, वास्तव में यह भी एक सुंदर चित्रकला ही है।

ऐसे चित्रकारों में सबसे पहले श्री लक्ष्मी-नारायण को याद करना होगा। इस नाम से उन्हें कोई नहीं जानता। चित्रकार 'बापू' के नाम से प्रायः सभी लोग परिचित हैं। तेलुगु पत्रिका-जगत मे उन्होंने क्रांति उत्पन्न की। उनकी अपनी विशिष्ट शैली है। लिखावट में भी वे क्रांति ले आये। आजकल उनके चित्रों की ही नहीं, अक्षरों की भी नकल करनेवाले पचासों चित्रकार मिलते हैं। आंध्र के व्यंग्य चित्र, आवरण पृष्ठ चित्रण आदि विविध अंगों पर बापू की अमिट छाप पड़ी है। इस चित्रकार ने हजारों को चित्रकला की ओर आकृष्ट किया। व्यंग्य चित्र बनाने में आन्ध्र मे इनसे बढ़कर कोई नहीं है। श्री बुज्जाई, श्री सत्यमूर्ति, श्री चंद्रा, श्री शिवराम, श्री गंगाधर आदि इसी शैली के चित्रकार हैं। सांप्रदायिक शैली में पत्रिकाओं के लिए चित्र बनानेवाले चित्रकारों में श्री वड्डादि पापय्या शास्त्री विशेषकर उल्लेखनीय हैं। स्व० बुच्चिबाबू मशहूर उपन्यासकार ही नहीं, बल्कि सफल चित्रकार भी थे। श्री शीला वीरीजु युवा लेखक और चित्रकार भी हैं। लेपाक्षी के

चित्रों के प्रतिरूप बनाकर इन्होंने बहुत श्रेष्ठ काम किया। हाल ही में इस प्रदर्शिनी का पश्चिम जर्मनी में आयोजन हुआ। अपने वचन-काव्य के आधार पर पचास वर्ण चित्र बनाकर तेलुगु के लेखकों और चित्रकारों की प्रशंसा के पात्र बने।

श्री अब्बूरि गोपालकृष्ण और श्री रामभट्ल कृष्णमूर्ति चित्रकला के बारे में विस्तृत ज्ञान रखनेवालों में से हैं। स्वयं वे दोनों चित्रकार भी हैं।

चित्रकला और चित्रकारों को प्रोत्साहन देने में पत्रिकाएँ काफ़ी पीछे रह गयी हैं। पत्रिकाओं की तो कमी नहीं है, लेकिन चित्रकला को उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल रहा है, जितना उसे मिलना चाहिए। चित्रकारों के चित्रों को देखना हो तो चित्र-प्रदर्शनी ही एकमात्र साधन रह गया। जैसे-जैसे पत्रिकाओं में रंगीन चित्रों का प्रकाशन बढ़ेगा वैसे-वैसे सैकड़ों चित्रकार उभर आयेंगे। अगले वर्षों में आन्ध्र प्रदेश में चित्रकला की अत्यधिक उन्नति होगी।

आज संसार बहुत घट गया है। वैज्ञानिक-तकनिकी क्रान्ति फैल रही है। नये माध्यम, नई शैलियाँ, नये वाद, नई समस्याएँ, नये प्रयोग,....। 'आप आर्ट', 'पाप आर्ट', 'सैकीडिलिक आर्ट', 'कंप्यूटर् आर्ट', 'कैनेटिक आर्ट', और न जाने क्या क्या शैलियाँ आने लगी हैं। भले ही 'वसुधैव कुटुंकम्' वाला सपना तुरंत साकार न हो, विशाल दृष्टि को हम लोग अपनाये।

कला आत्मा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। कला के मूल्यांकन के लिए विवेचक चाहे जितना भी प्रयत्न करें, उसे कभी संपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। कला के मूल्य दो प्रकार के होते हैं। पहला तात्विक मूल्य और दूसरा बाह्य (भौतिक) मूल्य। तात्विक मूल्य चित्रकार द्वारा होता है। और बाह्य मूल्य विवेचक और प्रेक्षक द्वारा। तात्विक मूल्य को विवेचक कभी बढ़ा या घटा नहीं सकता, केवल बाह्य मूल्य में तबदीलीयाघटा-बढ़ी हो सकती है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अन्तर्गत 'चित्रसूत्रम्' के एक उद्धरण के साथ लेख का समापन करता हूँ:—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः।

हिन्दी के विरोध का कोई भी आन्दोलन राष्ट्र की प्रगति में बाधक है। हिन्दी जब कि राष्ट्रीय एकता की ओर अग्रसर होने में एक क़दम है, उसका विरोध करना अकारण है। वह अन्तरप्रांतीय कार्यवाही में माध्यम-स्वरूप रहेगी और भारतीय एकता को एक सूत्र में बाँध रखने में सहायक होगी। इस प्रकार वह हमारी स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होने में पद-चिह्न है। मुझे हार्दिक आशा है कि वे, जो इसका विरोध कर रहे हैं, अपनी सरकार के रचनात्मक एवं प्रगतिशील कार्यक्रम के उद्देश्य को समझकर इन आंदोलनों को रोकेंगे।

—श्री सुभाषचन्द्रबोस

(कलकत्ता हिन्दी-क्लब, सितंबर, 1938)

★

श्री प. रामचन्द्र देव, एम ए
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, यूनिवर्सिटी सेंटर
कोच्चिन-22 (केरल)

कथकळि, बाले और कबूकी

वाराणसी-हिन्दू विश्वविद्यालय मे हिन्दी का स्नातकोत्तर अध्ययन पूरा करने के बाद आप एक दशक से केरल के विविध कॉलिजो मे हिन्दी प्राध्यापन में संलग्न हैं। मातृभाषा मलयालम और हिन्दी साहित्य में समीक्षात्मक आदान प्रदान आपका प्रिय विषय है जिसके लिए आप पुरस्कृत भी हो चुके हैं। अनुवाद प्रक्रिया म आप अपनी कविता रुचि का भी सफल प्रयोग कर रहे हैं। सप्रति आप यूनिवर्सिटी सेंटर, कोच्चिन के हिन्दी विभाग से सबद्ध हैं।

कथकळि मे वे सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं जिनके बल पर वह विश्व-कला वेदिका के लिए भारत के अपूर्व उपहार के रूप मे प्रस्तुत की जा सकती है। भारत और बृहत्तर भारत की शास्त्रीय तथा जनवादी नृत्य-विधाओं के समस्त मनोरम अश उसमे सकलित हुए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि बहुत-से विश्वविख्यात नृत्य-रूपको के मनमोहक तत्व भी उसमें सम्मिलित दीख पडते हैं। अपनी इस अतुलम महिमा के कारण कथकळि आज की स्थिति की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में अतर्राष्ट्रीय सम्मान और आदर आर्जित कर सकती है।

सामयिक प्रवृत्ति को सामने रखते हुए कला-मर्मज्ञता के साथ कथकळि के प्रस्तुतीकरण की रीति में कुछ सुधार या परिवर्तन लाना अवाछनीय नही होगा।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसकी आत्मा को विकल या विकृत बनाया जाय। मतलब केवल इतना ही है कि परपरा का परिपालन करते हुए भी उसे आधुनिक रुचि और बोधवत्ता के अधिक निकट लाने का प्रयत्न करना चाहिए। विशेषज्ञों के द्वारा ही यह कार्य सभव हो सकता है। वर्तमान युग वाणिज्य का युग है, विज्ञापन का युग है। 'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्' वाली उक्ति कालिदास के समय के लिए लागू है, आज के लिए नहीं। योजनाबद्ध विज्ञापन की सहायता से विश्वभर मे यदि कथकळि के प्रचार और प्रदर्शन का प्रबंध होगा, वह देश के लिए सास्कृतिक तथा आर्थिक दोनो दृष्टियो से अधिक लाभदायक हो सकेगा। प्रचारात्मकता से कला की मूल्यवत्ता विलुप्त न हो जाय, बस इसीपर ध्यान रहना चाहिए।

कथकळि और अन्यान्य भारतीय नृत्य—कथकळि को राष्ट्रीय महत्ता प्रदान करने का अर्थ उसके प्रति न्याय करना मात्र है। उसमें प्रादेशिक रुचिभेद से प्रभावित सभी भारतीय नृत्त-नृत्यों की विशेषताएँ विद्यमान हैं और इसके अतिरिक्त, श्री लंका, सुमात्रा, जावा आदि दक्षिण पूर्वदेश के अन्यान्य राज्यों में प्रचलित नृत्य रूपकों का भी वह प्रतिनिधित्व कर सकती है। इस प्रकार की समानता मानवमात्र की मौलिक एकता और भारतीय संस्कृति की गरिमा और अविछिन्नता की ओर संकेत करनेवाली बात है।

उदाहरण के लिए 'यक्षगान' को ही लिया जाय। यह कर्नाटक प्रदेश में प्रचलित नृत्त विशेष है। आंतरिक तथा बाह्य तत्वों की दृष्टि से वह कथकळि के बहुत निकट आता है। कथकळि और यक्षगान के पारस्परिक सादृश्य को देखते हुए उन दोनों के लिए सामान्य उत्स अथवा परस्पर आश्रयत्व का अन्वेषण करना अवश्य वांछनीय होगा। दोनों में अंतर इतना है कि कथकळि अधिक शास्त्रीय है एवं रसाभिव्यक्ति की सहजता भी उसमें ज्यादा है।

आंध्रप्रदेश की 'कुचिपुडी' (यह शब्द स्थानवाचक 'कुचेलपुरी' से निष्पन्न है) नृत्यविधा में कथकळि जैसी कलात्मक विविधता तथा कथात्मक व्यापकता लक्षित नहीं होती; तथापि रस-भाव-व्यंजना में वह कथकळि के लास्य की स्मृति दिला देती है। पर उसमें विविध भावों के संघर्ष और विविक्त पात्रों के चरित्र का भी प्रस्तुतीकरण नहीं है, जो कथकळि में विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं।

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा पंजाब में कथक नृत्त प्रचलित है। कथक मुसलमानी शासनकाल में विकसित हुआ। इसमें भारतीय नृत्त-नृत्य के आन्तरिक और आध्यात्मिक पक्ष प्रायः उपेक्षित हैं। मांसल विकारों की निरंकुश विवृति पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। राधा और कृष्ण की मधुर प्रेमभावना ही उसे निरतिशय सुरभिलता प्रदान करके देश की परंपरा से जोड़ देती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत उसमें अभूतपूर्व स्फूर्ति आ गयी है। कथक में नृत्त पर ज्यादा बल दिया जाता है। तबला-वादन के अनुरूप किया जानेवाला चरण-चालन एक दिव्य वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ है। पर कथक में अभिनय नहीं के बराबर है। अभिनय के बिना रसाभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसी कारण कथकळि और कथक पृथक् रहते हैं।

कथकळि और बाले (Ballet)—बाले का शब्दार्थ है नृत्य—dance यह इटालियन भाषा के Ballare शब्द से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है नाचना to Dance बाले का नृत्य क्लासिकल शैली का होता है। संगीत से समन्वित रहने से वह अत्यधिक हृदयहारी रहता है। उसमें अभिनय प्रभूत मात्रा में है; पर वाचिक अभिनय नहीं होता। चित्रकला उसकी वेष-भूषा और दृश्य-विधान से संपृक्त रहती है।

मूलतः बाले एक दरबारी नृत्यविशेष है। शुरू में इसका प्रचार अभिजात-वर्ग तक सीमित रहता था। पर अठारहवीं शती में बहुत-से बाले नृत्य-संघों ने समस्त यूरोप और अमरीका में भ्रमण करके उसे बहुजन-संपत्ति बना दिया। फिर भी बीसवीं शती के प्रारंभ तक वह दरबारी वातावरण में ही अधिकतर अभिनीत होता रहा। सन् 1910 और 1930 के बीच विश्वविदित बाले नर्तकी अन्ना पावलोवा ने विश्व-रंग-वेदी पर बाले को प्रस्तुत करके उसे समग्र गुण संपन्न नृत्य-रूपक के रूप में सुप्रतिष्ठित कर दिया। व्यक्तियों के प्रयत्न के अतिरिक्त संप्रति अनेक

सुसज्जित संस्थाएँ भी बाले के विकास में निरंतर प्रयत्नवान रहती हैं। प्रारंभ मे यद्यपि बाले इटली और फ्रांस के राजप्रसादों और दरबारों के मनोरंजन की सामग्री रहा, पर कालांतर मे वह समस्त यूरोप, रूस एवं अन्य देशों मे वह समादृत हो गया। वर्तमान युग में 'दि अमेरिकन बाले थियेटर' (The American Ballet Theatre), 'दि न्यूयार्क सिटी बाले' (The New yark City Ballet), 'दि रोयल बाले' (The Royal Ballet) आदि भुवन-विदित संस्थाओं ने बाले के विकास में सर्वाधिक त्वरा पहुँचायी है। इनके अतिरिक्त सिनेमा तथा टेलिविज़न ने बाले-जैसी नृत्यकलाओं को कितना जनप्रिय बनाया, इसका अनुमान तक सहज-साध्य नहीं है। कहते हैं, पीटर इलिच चायकोव्स्की (Peter llich Tchaikovsky) की सुविदित बाले-कृति 'सुप्त-सौन्दर्य' (The sleeping Beauty) का अभिनय 'दि साइलेर्स वेल्स बाले (संप्रति दि रोयल बाले) से प्रसारित हुआ, तो उसके दर्शन से तीन करोड़ जन चरितार्थ हुए। यह सन् 1955 की घटना है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि बाले नृत्य की जनप्रियता और व्यापकता कहाँ तक है।

इस प्रकरण मे हमारा उद्देश्य कथकळि और बालों के कलात्मक या सांकेतिक उपादानों की तुलना करना नहीं है। कहाँ वह विश्वव्यापक बाले और कहाँ केरल की यह कथकळि? एक ओर विश्वभर की विभव-सम्पन्नता और कलात्मक सुरुचि का सम्मिलित प्रयत्न है, तो दूसरी ओर पौरस्त्य देश की सामान्य विपन्नता और जीवन की ओर अवसाद-कलुषित दृष्टि। यह शायद कभी न पटनेवाली खाई है। पर हमारी दृष्टि विभेदक तत्वों पर नहीं है। विभेद और भी हो सकते हैं। संस्कृति, परंपरा, विकास-परिणाम, कलात्मक रुचि आदि से संबद्ध। पर हमारा अभिप्राय इस ओर नहीं है। कलासंबंधी रासायनिक समवाद-प्रक्रिया पर ही हमारी आस्था है। यह कहाँ तक व्यावहारिक है, इसकी हमें चिंता नहीं है। क्योंकि भीषण वैषम्यों के बीच के साम्य-सूत्रों को ढूँढना हमारी दृष्टि में वर्तमान वैज्ञानिक युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। अर्थात् निबिड अंधकार के बीच की सौवर्ण रेखाओं का समन्वय आज की आवश्यकता है। जहाँ तक कथकळि और बाले का संबंध है यह सूत्र अदृश्य अथवा अत्यल्प नहीं हैं। कथकली के आविर्भाव-विकास और कलात्मक प्रवृत्ति का जिन्होंने अध्ययन किया है; उनको बाले के साथ उसके आंतरिक साम्य का ठीक-ठीक पता अनायास लग जाएगा। उसके दर्शन के लिए केवल एक बात की आवश्यकता है—सहानुभूतिपूर्ण समग्र कला-मर्मज्ञता। हमारा निश्चित विश्वास है कि कथकळि प्राच्य देश के (चीन और जापान को भी मिलाकर) विशिष्ट बाले के रूप मे विकसित होगी। पर उसके लिए आवश्यकता है निस्तंद्र प्रयत्न की, मनीषिता और मनस्विता की।

यह शायद एक अतिवाद प्रतीत होगा। पर इतनी आशा हम जरूर करते हैं कि कथकळि-जैसे विश्वविख्यात नृत्य-रूपक को, कम से कम हमारे अपने देश मे व्यापक रूप से प्रचलित करने का उपाय हमारे कला प्रेमी जननायक और सरकार ढूँढ निकालेगी। आधुनिक परिस्थिति मे यह कार्य अनायास हो सकता है। 'पेरिस ओपेरा' (Paris Opera) को अस्तित्व मे लानेवाली ऐतिहासिक परिस्थितियों और गत तीन शताब्दियों से उसके विकास के इतिहास से जो परिचित हैं, वे हमारे इस मत से अवश्य सहमति प्रकट करेंगे और सरकार का इस दिशा मे जो अपरिवर्तनीय दायित्व है उसकी गंभीरता को भी समझ लेंगे।

कथकळि और कबूकी—अब हम कुछ ऐसे नाट्य-रूपों की ओर ध्यान दें जो विश्व के रंगमंच पर अत्यधिक प्रभाव डाला चुके हैं। इनमें प्रमुख हैं जापान की कबूकी जो अपनी कलात्मक चारुता के कारण पाश्चात्य जगत को विशेष उपादेय सिद्ध हुई है।

दूसरा नाटक विशेष है, नोआ ड्रामा (No Drama)[1] नोआ में जैसे कथकळि में देखा जाता है, द्वंद्वयुद्ध का अभिनय नृत्य के रूप में किया जाता है। तलवार से छुए बिना भी उसकी वार हो सकती है। बिना कप के भी चाय भी पीना संभव है। ये सारी बातें हमें कथकळि के अभिनय की याद दिला देती हैं। अभिनेताओं के पीछे एक प्रकार की फ्रेम रखी रहती है जिसकी छन पर परंपरागत एवं यथार्थवादी दृश्यों का प्रदर्शन होता है। प्रेक्षकों का हृदय इससे विशेष आह्लादित हो सकता है। कबूकी की रंगवेदिका चलनशील होती है। इस कारण दृश्यों और स्थानों का परिवर्तन बड़ी आसानी से किया जा सकता है। यही बात कबूकी की सबसे बड़ी उपलब्धि के रूप में विख्यात है।

कबूकी-नृत्य विषयवस्तु तथा शैली दोनों में चीन से अनुप्राणित है। इसमें संगीत और वाद्यों का निरंतर योग रहता है। कथावस्तु कभी-कभी साधारण जीवन से ग्रहण की जाती है, पर अधिकांश में ऐतिहासिक है। कबूकी के रंगमयी कौशल से न केवल कथकलि, अपितु संसार-भर की नाट्य-कला बहुधा लाभ उठा सकती है।

कबूकी नृत्य का प्रादुर्भाव सत्रहवीं शती के प्रथम-चरणों में हुआ था। यद्यपि चीनी नाट्य-कला का इसपर प्रभाव सुनिश्चित है, तथापि इसकी परंपरा और परिपाटी भिन्न कोटि की ठहरती है। कबूकी का स्टेज अत्यंत स्वाभाविक तथा सरल है। तीनों पार्श्वों से वह (स्टेज) प्रेक्षकों से समावृत रहता है। सभासदों के बीच में ही दो छोटे-छोटे और कुछ ऊँचे रास्ते रहते हैं जिनसे अभिनेता रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। सारी रंगमचीय प्रक्रियाओं पर उनका पूरा नियंत्रण रहता है। इसका अभिनय अपने ढंग का निराला होता है। कथकळि के जैसे कबूकी में भी अधिकतर अभिनय परंपरागत चलन (Movements) तथा अंगचालनों से (gestures) संपन्न होता है। इसकी वेष-सज्जा अत्यंत जटिल है जिसपर चीनी रीति रिवाज का स्पष्ट प्रभाव है। कबूकी में खलनायक के लिए लाल तथा वीरनायक के लिए सफेद रंग निश्चित किया गया है। ध्यान्नात्मक अनुकरण (expressive mimicry) को कबूकी में सर्वाधिक महत्व प्राप्त है।

कबूकी रचनाकारों में चिकमास्तु मोनसेमन (Chikamdstu Monzaemon) अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। कुछ लोग इन्हें जापानी शेक्सपीयर तक कहते हैं। कबूकी के उन्नायकों में तकेडा इजुमो (Takeda Izumo) और उनके सहयोगियों के नाम बड़े आदर के साथ लिये जाते हैं। काबूकी में भावोत्तेजन और रस-प्रतीति के संदर्भ अवश्य वर्तमान हैं, पर उच्च श्रेणी के नाट्य-लक्षण उनमें बहुत ही कम हैं। एलार्डीस निकोल का यहाँ तक कथन है कि अधिकतर कबूकी नीरस ही प्रतीत होते हैं। इसकी महिमा अभिनय-चातुरी अथवा रसनीयता की अपेक्षा रंगमचीय कौशल पर अधिष्ठित है। रंगमंच नृत्य या नाटक का अविभाज्य अंग है, पर वही उसका सब कुछ नहीं। उत्तम नाट्य के लिए कार्य रूप, शैली-शिल्प, रंगमंच, अभिनय

1. पंडित सीताराम चतुर्वेदी ने No Drama को हिन्दी में नोआ-नाटक कहा है। हम भी उसी शब्द का व्यवहार करते हैं।

सबकी रमणीयता की अनिवार्य आवश्यकता है। कबूकी मे श्रेष्ठ अभिनय का अभाव नही है। वेप-सज्जा भी विचित्र और वैविध्य-पूर्ण है, पर इसका नाट्य रूप सरस अथवा सुरुचि-सपन्न नहीं है। बीभत्स दृश्यो के प्रदर्शन में कबूकी कथकळि से बहुत आगे है। अतिमानव या अप्राकृतिक दृश्यो के द्वारा ये मानव चेतना को अभिभूत करना चाहते हैं। कभी-कभी इनके दृश्य इतने भीषण, विलक्षण तथा क्रूरता पूर्ण होते हैं कि स्वस्थ मन की सुरुचि पर कठोर आघात हो जाता है, एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए :—

चिकमात्सु मोन्सेमन (chikamastu Monzaeman) की प्रसिद्ध रचना है 'कोकुसेन्या का युद्ध' (Kokusenya Kassen) (1710) इसका कथानक स्वय कष्ट और क्रूरता से सकुल है। इसमे निर्मम हत्या, प्रवचना, सघर्ष, सकट आदि के इतने भीषण दृश्य प्रस्तुत होते हैं कि स्वय मानवजीवन के मागलिक पाश्वों पर प्रेक्षकों की आस्था टूट जाती है। अतिमानव दृश्यों के प्रदर्शन मे कबूकी अपना सानी नहीं रखती। 'योत्सुया कयावन' (Yostuya Kaidas) अर्थात् 'योत्सूया का प्रेत', लेखक सूया नबोकू) नामक रचना मे प्रेतात्मा का इतना भयकर रूप प्रदर्शित होता है कि मन का विश्वास और धीरज बांधना असमव हो जाता है। इसका कथानक यों है—एक पति अपनी सुदरी पत्नी के साथ सानंद जीवन बिताता था। एक और नारी उस पुरुष के प्रेम में पडती है। वह अपने प्रेमपात्र की पत्नी को पथ-बाधा समझकर उसके मुँह पर विष उडेलती है। वैरूप्य और अपमान से प्रताड़ित वह बेचारी खुदकुशी कर लेती है। पति (उसका नाम है ऐमन- Iyemn) पुनः विवाह कर लेता है। नव-परिणीता के घूंघट हटाने पर ऐमन ने अपनी प्रथम पत्नी ओ लवा (O-Iwa) का मुख ही देखा। वह उसकी ओर भयानक रीति से घूर रही है। प्रेत को बार-बार इस प्रकार समक्ष देखते हुए वह अपने प्राणों को छोड़ देता है।

इस ढंग का भूत-प्रेत कथकळि मे प्रदर्शित नहीं होता। उसमें देवी शक्तियों के मानवीकरण के साथ आसुरी शक्तियों का भी मानवीकरण होता है। पर उसमें ये सब पात्र मानवीय भावों के अनुरूप ही सम्मुख आते हैं। आचरण बोधगम्य तथा सुसवेद्य रहते हैं। कबूकी की यह परिपाटी भले ही जापानियों के लिए परम रमणीय प्रतीत हों, पर अन्य जनता के लिए वह सहजावबोध की सामग्री नहीं हो सकती। पर कथकळि मे यह विडंबना नहीं है। उसके कथानक, पात्र, चरित्र, अभिनय आदि केवल भारतीयों की ही नही, प्राय समस्त जनता की आस्वादन-वृत्ति के अनुरोध में प्रवृत्त होते हैं। उसमें मानव जीवन के वैरुध्य मे सामरस्य लाने की शक्ति है।

नोवा-नाटक—जापान की यह अन्य नाट्य विद्या है जो कबूकी से भिन्न कोटि की है। इसकी भी आस्वादनीयता बहुत कुछ विशिष्ट जापानी मानसिक स्थिति पर अवलबित है।

जापानी मदिरो (बौद्ध) की छत्रछाया मे चौदहवी शती में इसका आविर्भाव हुआ। कालातर मे यह भी अभिजात वर्ग की मनोरजन-सामग्री हो गयी। 'नोआ' नाटक की बहुत-सी प्रणालियों को कबूकी ने आत्मसात् कर लिया है। कथकळि के जैसे 'नोआ' भी परंपरागत नियमों का पूर्णरूप से परिपालन करता है।

'नोआ' का रगमंच अत्यंत सरल ढंग का है। वेप सज्जा विविध वर्णालंकृत तथा विचित्र है। प्रमुख पात्र मुखौटे धारण करते हैं। ये मुखौटे जापानी कला की महत्ता को द्योतित करते हैं। इसमें कथकळि के समान पुरुष पात्र ही प्रमुख

भाग लेते हैं। इसके लिए भी वर्षों की निरंतर तथा निरलस साधना आवश्यक है। कथकलि की शिक्षा का प्रारंभ नटों की कौमार अवस्था से होता है। 'नोआ' में भी वही बात है। सूक्ष्मतर भावों की अभिव्यंजना का इसमें वही स्थान है जो कथकळि में है।

नो-आ नाटकों के कई संप्रदाय या स्कूल भी हैं। सब संप्रदाय एक बात पर सहमत हैं—परंपरा का पूर्ण परिपालन। सांप्रदायिक विशेषताओं का संरक्षण पिता-पुत्र की प्रथा पर हुआ करता है। कथकळि में भी अनेक संप्रदाय वर्तमान हैं। पर उनमें पितृ-पुत्र-परंपरा की अपेक्षा गुरु-शिष्य की परंपरा अधिक प्रचलित है। आजकल प्रक्रिया-प्रभेद कम होता जा रहा है।

नो-आ नाटकों का साहित्यिक स्वरूप पुराना है। आधुनिकता का आघात उसके स्वरूप-परिवर्तन में बिलकुल समर्थ नहीं हुआ है। अब पुराने स्वरूप में नवीन विषयों का प्रतिपादन किया जाता है। कथकळि में भी ठीक यही बात है। कथकळि का काव्य-रूप मलयालम में अपने ढंग का अकेला है। शताब्दियों के बाद भी उसका स्वरूप ज्यों का त्यों है। संभवतः रूपांतर असंभव भी है। नृत्य-रूपक की निजी विशेषता को दृष्टि में रखकर ही उसका स्वरूप-नियोजन किया गया है। आधुनिक युग में जितने कथकळि काव्य (आट्ट-कथाएँ) लिखे गये हैं वे सब इस मत की पुष्टि करते हैं।

नो-आ नाटक अपेक्षाकृत अभिजात-वर्ग की कला है जबकि कबूकी जनवादी। कथकळि भी अभिजात वर्ग की कला थी, अपने प्रारंभिक युग में। परन्तु वह कभी संपूर्ण रूप से सामंत वर्ग की सामग्री रही हो, इसमें संदेह है। जैसा कि आज है, पुराने जमाने में वह जनसाधारण की अपनी वस्तु थी। हाँ, इतना अवश्य है कि विविध कलाओं में विचक्षणता रखनेवाले सहृदय ही उसके रसास्वादन में पूर्णतया सफल होंगे। कथकळि अभिजात वर्ग और जनसाधारण दोनों के बीच समान आदर का पात्र बनी रहती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि कथकळि कलात्मक चारुता और सांकेतिकता की दृष्टि से कबूकी और नो-आ नाटक दोनों से बहुत आगे है। बाले से भी वह कथमपि पीछे नहीं कही जा सकती। लेकिन उसमें कमी है, साधन-संपन्नता की और समर्पण बुद्धि की। उन दोनों से समन्वित होने पर, हमारा दृढ़ विश्वास है कि कथकळि विश्व की कलात्मक विभूति के रूप में विकसित होगी। कबूकी जैसे सुविदित कला-रूपों में कथकळि का सा साहित्यिक सौष्ठव प्राप्त नहीं होता। कथकलि तो अपनी साहित्यिक गरिमा पर जीवित रह सकती है, यद्यपि उसकी समग्र रमणीयता का रहस्य अभिनेयता में निहित है। विशुद्ध काव्य-कला की दृष्टि से भी बहुत-सी आट्टकथाएँ विश्व-विदित हैं।

भारतीय कला सौन्दर्य को हमेशा औदात्य से संपृक्त रखना चाहती है। उसका प्रमुख प्रयोजन व्यक्ति-चेतना को अनाविल बनाकर विश्वचेतना से सम्मिलित कर देना है। क्षण भंगुर वैकारिक परितृप्ति से परे वह हमेशा चिरंतन आनन्द को लक्ष्य करके चलती है। कथकळि में भी प्रारंभ से लेकर पर्यंत तक यही प्रवृत्ति जागरूक रहती है। शायद यही अन्य नाट्य-रूपों से इसकी अपनी विशेषता है।

सभा : इतिहास-खंड

श्री मोटूरि सत्यनारायण
(भूतपूर्व प्रधान मंत्री, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास)
'सूर्य निकुंज', गांधीनगर, मद्रास-20

हिमालय के उच्च शिखर की पुकार

यह कथन अतिरंजित नहीं होगा कि राष्ट्र की मुक्ति तथा एकसूत्रता के लिए हिन्दी की विराट शक्ति की राष्ट्रपिता की परिकल्पना को हिन्दीभारत में अगर राजर्षि टंडन जी ने साकार किया तो अहिन्दी भारत में उस श्रेय के भागी श्री मोटूरि सत्यनारायण माने जा सकते हैं। एक तेलुगु भाषी हिन्दीप्रचारक की हैसियत से उठकर या फैलकर राजनीति, शिक्षा, संस्कृति, उद्योग, सिंचाई आदि बहुमुखी क्षेत्रों में अपनी प्रगल्भ प्रतिभा तथा सतत विकासमान कर्म-साधना द्वारा आज आप अखिल भारतीय व्यक्तित्व के धनी बने हुए हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के सर्वतोमुखी विकास में आपका सर्वाधिक हिस्सा रहा है। आप बहुभाषाविद हैं और एक मार्मिक वक्ता भी। संप्रति आप आगरा के केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण-मण्डल के अध्यक्ष हैं तथा तेलुगु और हिन्दी विश्वकोष का संपादन-दायित्व भी आपका 70 साल का जवान स्कंध संभाल रहा है।

पता नहीं, कितने हज़ार वर्ष पुरानी गाथायें हैं। भारत की श्रुति-स्मृति-पुराणों में और काव्यों में निहित यह ज्ञान प्रत्येक बच्चे को कराया जाता है कि संसार में भारत एक स्वयंपूर्ण, स्वतंत्र तथा स्वायत्त संस्कृति-केन्द्र है और उसकी प्रकृति ने मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक सभी सामग्री, उससे पैदा होनेवाली समग्र अनुभूतियाँ यहाँ प्रस्तुत की हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो भारत में रहनेवाले किसी भी व्यक्ति के मन में सहज और सहसा विश्वास पैदा नहीं होता कि संसार का चक्र चलानेवाले भगवान शंकर और उनकी धर्म पत्नी दोनों हिमालय में निवास करते हैं, और उनका यह भी विश्वास नहीं जमता कि भगवान शंकर की धर्म पत्नी स्वयं नगाधिराज हिमवान की पुत्री है। सर्व साधारण का यह भी विश्वास है कि गौरी-शंकर हिमालय में बसते ही नहीं बल्कि भारतभूमि में बसनेवाली प्रजा की देख-रेख और कल्याण के लिए विचरते भी रहते हैं और अपने विमान में वे हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण कर गरीब किसानों की पीड़ा, धनी सेठ साहूकारों की कार्रवाइयाँ, राजा-महाराजाओं के कार्यकलाप का निरीक्षण करते हैं, न्याय-अन्याय का परीक्षण-परिशीलन करके समाज में आवश्यक परिवर्तन करते-कराते रहते हैं। कुछ लोगों के विचार में यह ईश्वर लीला है, और कुछ लोग इसे ईश्वर की क्रमबद्ध न्यायसंगत व्यवस्था मानते हैं। संभवतः यही कारण हो सकता है कि हज़ारों वर्षों से, या ज़माने से जो राजे-महाराजे, चक्रवर्ती हुए उन्होंने

राज्य या राज्य-धन अथवा और किसी भी लोभ से भारत की सीमाओं को लाघकर दूसरे देशो पर आक्रमण करने का इरादा नही किया और यही समझा कि स्वर्ग भारत मे ही है, भारत की सीमा के बाहर जाने से इस स्वर्ग सुख से वचित रह जायेंगे।

बचपन मे प्राय हिन्दुस्तान के सभी बच्चो को यह पढ़ाया जाता है कि ससार की आठ दिशायें हैं और उनके अलग अलग दिग्पालक हैं। यह भी पढाया जाता है कि उत्तर का राजा कुबेर, पूर्व का इन्द्र, पश्चिम का राजा वरुण, दक्षिण का यम है। कुबेर धन के अधिपति हैं तो यम मृत्यु-दण्ड देनेवाले देवता हैं। वरुण पानी बरसाते हैं। वरुण कही अधिक पानी बरसाने लगे तो वरुण के जल वाहन को अग्रसर कराने के लिए इन्द्र पर्वतों के पर काटने लगते हैं। इस प्रकार आवश्यक वर्षा, धूप आदि से समूचे हिन्दुस्तान को सस्य-श्यामला बनाकर स्वर्ग मे परिणत करते हैं। इस तरह चतुर्दिशाओ के देवता मिलकर भारत के भूतल को स्वर्गमय बनाते रहते हैं। पता नही, दक्षिण के दिकपालक को यम क्यो कहा गया? हो सकता है कि हिन्दुस्तान के दक्षिण की अग्रनोक जिसे कन्याकुमारी कहते हैं उसके दक्षिण में कही भी भूमि नही है, पानी ही पानी है। भौगोलिक दृष्टि से यह भी स्पष्ट होगा कि वर्तमान कन्याकुमारी मदिर से ठीक भू विश्व के उत्तर के अतिम सिरे तक दृष्टिपात किया जाय तो भूमि ही भूमि मिलेगी। दक्षिण का सारा हिस्सा पानी और उत्तर का सारा हिस्सा भूमि होने के कारण सर्व ऐश्वर्य का आधार भूमि मानकर उत्तर कुबेर और दक्षिण यम का आवास हो गया हो। पश्चिम का राजा वरुण क्यो हो गया? इसका जवाब कोई वातावरणशास्त्री आसानी से दे सकेगा। भूगोल के विद्यार्थी जानते हैं कि हिन्दुस्तान को सस्य-श्यामला बनानेवाली पहली वर्षा की घटायें हिन्द महासागर मे जुटती हैं और वे धीरे-धीरे जोर पकडती हुई पश्चिम की तरफ प्रस्थान करती हैं, झझा-मारुत के सहारे भारत की पश्चिमी घाटियों से टकराती हैं। केरल तथा कर्नाटक के पश्चिमी भाग को मूसलधार से तर करती हुई पश्चिम महाराष्ट्र को सीचती, आध्र प्रदेश, मध्य भारत तथा उत्तर भारत की तप्त भूमि की प्यास बुझाती हुई हिमालय की तरफ दौड लगाती हैं। हिमालय के उत्तुग शिखरों पर पहुँचने के बाद ही विश्राम लेती हैं। जब हिमालय के मेरु शिखर कैलास पर पहुँचती हैं तो भगवान शकर के जटाजूट मे फँस जाती हैं। उसके बाद धीरे धीरे पूर्व की तरफ कूच करती हुई, मानसरोवर आदि को घेरती तथा ब्रह्मपुत्र को प्लावित करती हुई असम मे उतरती हैं। चिरा पूँजी प्रदेश की सतत वर्षा उन घटाओ का अपना भार उतारना ही तो है। घटाओं की इस प्रदक्षिणा को वायुदेव अनुकूल परिस्थितियाँ पैदाकर नियत्रित करते रहते हैं। शकर के जटा जूट मे पहुँचकर वे घटाएँ फँस क्यो जाती हैं, शकर के साथ उनका अगाध प्रेम क्यो है? इसके लिए बहुत ही पुरानी तथा रोचक भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष की जिह्वा पर बसी हुई एक कहानी "गगा-गौरी सवाद' के रूप में प्रचलित है।

भूगर्भ शास्त्रियो का मानना है कि लाखो वर्ष पहले जहाँ इस समय बगाल की खाडी है वहाँ जमीन थी। पुरातत्ववेत्ता तथा मानव शास्त्र ज्ञाता भी यह मानते हैं कि पूर्वी एशिया मे उत्तम कोटि की सभ्यतापूर्ण कई जातियाँ अनेक जनपदों मे बँटकर बसी हुई थी। बगाल की खाडी का स्थान कभी सुसपन्न प्रदेश रहा और जहाँ इस समय हिमालय है वहाँ समुद्र था। राजस्थान भी उस जमाने मे समुद्री प्रदेश रहा था। एक

समय ऐसी बड़ी भूचाल आयी जिससे दंग खाड़ी का सारा प्रदेश वहाँ से सरककर हिमालय बना और वहाँ का समुद्रजल यहाँ आया। करोड़ों वर्ष पहले का यह रिश्ता अटूट ही रहा। पता नहीं, कब भूचाल आयी, कितने लोग ज़मीन में धँस गये, कौन बचा और कौन मरा। उस ज़माने में भारत के अन्य प्रदेशों के साथ इस खाड़ी-प्रदेश का गहरा संबंध रहा था। इस संबन्ध में एक कहानी प्रचलित है। वह यों है। एक बड़े नेक राजा उस प्रदेश के शासक थे। उनका विवाह तय हुआ वर्तमान केरल की एक कन्या के साथ। विवाह होनेवाला ही था कि भूचाल की घटना घटी। दुलहिन केरल में रह गयी और दुलहा उस ज़मीन के साथ गायब हो गया। दुलहिन का प्रेम बड़ा ही गहरा था। उसने दूसरी शादी करने से इनकार कर दिया। दुलहिन का पक्का विश्वास था कि दुलहा जिन्दा अवश्य होगा कहीं-न-कहीं और अवश्य मुझसे आ मिलेगा कभी-न-कभी। दुलहिन के सामने सागर था, तीनों तरफ़ पानी ही पानी। चूँकि उस पानी का उस प्रदेश के साथ संबन्ध था जहाँ से दुलहा आनेवाला था, इसलिए उसे विश्वास हो गया कि जलदेवी की आराधना करने से दूल्हे को जलदेवी वापस ला देगी। सो, उसी नाके पर खड़ी होकर जो संसार की भूमि का प्रारंभ और जल का अंत है, जिसे भारत के लोग कन्याकुमारी कहते हैं, अपने पति को वापस पाने के लिए तपस्या करने लगी। आज भी वह तपस्या जारी है और उस कन्या के दर्शन के लिए आज भी प्रतिवर्ष लाखों लोग कन्याकुमारी में पहुँचते हैं। कन्या पति पाये बिना तपस्या छोड़नेवाली नहीं है और पति उससे शादी करने के लिए आ नहीं रहे हैं। एक दिन एकाएक उसके सामने गंगा स्त्री के रूप में खड़ी हो गयी और बोली—

गंगा—मैं तुम्हारे लिए संदेश लायी हूँ। मैं उस पुरुष के यहाँ से आ रही हूँ जिनके विरह से तुम सूखी हो गयी हो और उनसे मिलने के लिए आतुर हो।

गौरी—तुम उनको कैसे जानती हो?

गंगा—मेरा नाम गंगा है। मैं उनके जटाजूट में रहती हूँ। तुम्हारा दुलहा भी तुमको पाने के लिए तप कर रहा है। तुम चाहो तो तुमको वहाँ मैं ले जा सकती हूँ।

गौरी—यह तो आश्चर्य की बात है। तुम कहती हो कि उन जटों में तुम बसती हो जिनको मेरे विरह में तपकर उन्होंने बढ़ाया हो।

गंगा—अवश्य, यद्यपि मैं उनकी जटा में बसी हुई हूँ तथापि उनके हृदय में तुम्हारा ही स्थान है। मुँह से वे तुम्हारा ही नाम लेते हैं। मैं उनकी जटावासिनी इसलिए बनी कि वे मुझे न तो अपने हृदय में स्थान देना चाहते हैं और न उनकी अंग-शैय्या पर ही।

गौरी—यह तो असंभव है, वे तुमको जटाजूट में नहीं रख सकते हैं। मेरे पति सच्चे भारतीय हैं। मुझे अपने दिल में रखकर किसी दूसरी को वह स्थान नहीं दे सकते हैं।

गंगा—तुम ऐसा न सोचो कि तुम्हारे पास आज मैं पहली बार आयी हूँ। मैं वर्षों से इधर से गुजरती रही हूँ। तुम्हारे चरणों तक आकर भी तुम्हारे सती धर्म से प्रभावित होने के कारण संकोच करती रही। मुँह खोलकर उनका संदेश तुम्हें सुना नहीं सकी। मैं प्रायः वर्ष में कम-से-कम एक बार तुम्हारे पास आती रही हूँ। अगर तुम मान जाओ तो मुमकिन है कि हम दोनों को उनके हृदय में समान स्थान मिल जाय। क्या तुम मेरे साथ चलने को राज़ी हो?

गौरी—कतई नहीं। इस देश की संस्कृति के अनुसार एक पति दो दाराओं को नहीं रख सकते। क्या तुम बता सकती हो कि उस पुरुष का नाम क्या है? और कहाँ रहते हैं?

गंगा—उनका नाम शंकर है। वे हिमालय के उच्च शिखर पर रहते हैं जो बर्फ से सदा धवलित रहता है और उनका वाहन वृषभ है।

कुमारी गौरी को विश्वास हो गया कि उनका दुलहा वही है जो वृषभ पर चढ़े कभी-कभी उनसे मिलने (पूर्वानुराग) आया करते थे। कुमारी को यह भी भरोसा हो गया कि उनका पति जिन्दा है और गंगा से कहला भेजा है।

गौरी—यह संभव नहीं है कि भारत के इस प्रदेश की प्रथा के अनुसार मैं उनके पास जाऊँ। हमारी सभ्यता यही है कि वे चाहें तो मेरे पास आवें। उनको अपने पास रखने के लिए मैं तैयार हूँ। तुम वापस जाओ और उनको बुला लाओ। मैं तुमको मांगा इनाम दूंगी।"

कुमारी की वार्तों से निराश होकर गंगा ने दक्षिण की तरफ़ से ही अपनी परिक्रमा को चालू रखा।

कहना न होगा कि उक्त लोककथा में भारत के भौगोलिक एकत्व की कितनी प्राणवान झाँकी अंकित की गयी है जिसका सिरा थाम कर भारतवर्ष की भावात्मक एकता के सिंहद्वार तक आसानी से पहुँच सकते हैं।

भारतीय संस्कृति नदी मूलक है। वैसे तो संसार की अधिकांश संस्कृतियाँ नदी मूलक ही हैं। कारण इसका यह हो सकता है कि सबसे पहला-प्राणी उदक से पैदा हुआ हो। इसीलिए ईश्वर का पहला अवतार भारतीय मत्स्य मानते हैं और पानी की पूजा करना भारतीय जनता की पुरानी और महत्वपूर्ण परंपराओं में एक है। यही कारण है कि भारतीय नदियों के तटों पर वारहवर्षीय मेले लगते रहते हैं। सबसे महत्वपूर्ण नदी भारतीयों के लिए गंगा है। इसलिए भारतीय जहाँ कहीं भी पानी छूता है उसे गंगाजल मान लेता है, चाहे वह नदी-जल हो अथवा कूप-जल। इसका विशेष कारण यह भी हो सकता है कि प्रायः सभी भारतीय नदियों का उद्गम, उनमें बहनेवाली धारा का प्रादुर्भाव एक ही जगह से है। इसीलिए सवेरे उठते ही "नदी नहान" भारतीय अपना धर्म मानता है। पानी में उतरते ही बोल उठता है:—

गंगे च यमुने चैव, गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

इन नदियों का नाम लेना भारतीय अपना धर्म क्यों समझते हैं? इसका भी एक भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और देशभक्ति का पूर्ण दृष्टिकोण है। जहाँ हिन्द-महासागर में वर्षा ऋतु की प्रारंभिक धाराएँ छा जाती हैं वे अपने साथ जलकुंभ लिए अविराम गति से उत्तर पश्चिम की तरफ दौड़ती हुई सबसे पहले कावेरी नदी को भरती हैं। फिर कृष्णा, गोदावरी, नर्मदा, सिंधु, यमुना, गंगा, ब्रह्पुत्र आदि नद-नदियों को पुष्कल जल से लबालब भर देती हैं। ये ही नदियाँ भारतीय जनता को प्राणवान नीर द्वारा अन्न तथा ऐश्वर्य देती रहती हैं। इनमे सबसे अधिक ऐश्वर्य शालिनी गंगा होने के कारण गंगा, जल का पर्यायवाची हो गया है। ध्यान रहे कि इन सभी नदियों का पानी अततोगत्वा उसी जगह पर पहुँच जाता है जहाँ से वह घटा कुंभों में भरकर भारत-भू को सस्यश्यामला बनाने के लिए प्रस्थान करती हैं। इससे हमारी भौगोलिक, सांपत्तिक और सांस्कृतिक एकता अटूट और अविभाज्य बन जाती है। इन नदियों का पानी पवित्र ही नहीं, अन्नदाता बनने के लिए आवश्यक बल-संपन्न

इसलिए भी समझा जाता है कि वह पहाड़ों-जंगलों से बहते हुए अपने साथ जमीन को उर्वरा बनाने योग्य खाद भी ले आता है। सारी जल-राशि में 99-फ़ी सदी उत्तर से दक्षिण की ओर बहनेवाला पानी है। इसी कारण से दक्षिण के सभी राजे-महाराजे, साधु-संन्यासी, संत-योगी, आचार्य-शिक्षक सांस्कृतिक प्रेरणा के लिए उत्तर की तरफ़ देखते रहे हैं, प्रेरणा करते रहे हैं।

अपने उद्गम, प्रस्थान, प्रवाह और मिलन-संगम के जरिए भारतीय जन-जीवन से लिपटी ये नदियाँ भी भारतीय आत्मा की एकमेव जीवंत सत्ता का ही निर्घोष कर रही हैं। इस तथ्य-ग्रहण में भारतीय मन को लवलेश भी शंका महसूस नहीं हो सकती है।

वास्तव में इस महान देश का अगर किसीने पूरा सर्वेक्षण कर उसका भौगोलिक तथा सांस्कृतिक नक्शा खींचा है तो सबसे पहले आचार्य शंकर ने ही यह कार्य किया था। मुश्किल से वे जब तीन दशक की भी उम्र के नहीं थे लगभग सवा हजार वर्ष पहले हिन्दुस्तान की परिक्रमा कर, उसके चारों सीमा-तटों का अवलोकन कर चार धाम बनाये जिनमें सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण बदरी-नारायणधाम कन्याकुमारी से दो हजार मील के फ़ासले पर आज भी अपना तेज विकीर्ण कर रहा है। श्री शंकराचार्य के समान क्रांत-दर्शी और तेजस्वी व्यक्ति को भारत की मिट्टी ही पैदा कर सकती है जिसमें मनीषी, कवि, पंडित, दर्शनशास्त्री, समाजवादी और राजनीतिज्ञ का समष्टिगत विकास द्रष्टव्य है। भारतीय संस्कृति की राशि में उनके अनुदान का विश्लेषण हजारों पृष्ठों में, कई ग्रंथों में किया जा सकता है और किया गया भी है। श्री शंकर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उत्तर से आये हुए जैन तथा बौद्ध धर्म को बुद्धि की अग्नि में तपाकर, तर्क की कसौटी में कसकर अद्भुत व अनोखा रूप बनाकर उत्तरापथ को ही दिया। उन्होंने भारत-धर्म के पाये उत्तर में ही मजबूत किये; वहीं पर अपनी जीवन-यात्रा भी समाप्त की। बारह हजार फुट ऊँचे केदारनाथ और बदरीनाथ के शिखरों पर खड़े होकर बारह सौ वर्ष पहले दक्षिण के अपने प्रदेश केरल की तरफ़ उन्होंने अपने अंतर्नेत्र से देखकर प्रेरणा की वाणी सुनायी होगी कि "प्रत्येक दक्षिण भारतीय को अपने को जीवन-मुक्त बनने के लिए ज्ञानोपार्जन करना पड़ेगा और अर्जित ज्ञान का विस्तृत रूप से व्यापन करना होगा, हिमालय की तरफ़ प्रयाण का अपना रुख बनाना अपने जीवन का कर्तव्य मानना होगा। यही आवाज प्रतिदिन बदरीनाथ से अलकनंदा में उतरती हुई नदियों की आवाज से मेलमिलाती हुई पूर्व समुद्र में लहरें उठाती हुई कन्याकुमारी के मंदिर की सीढ़ियों से टकराकर श्री शंकर का संदेश सुनाती रहती है।

श्री शंकराचार्य की आवाज को सुननेवाले दक्षिण भारतीयों ने विगत हजार वर्षों में अपना धर्म अच्छा निभाया, प्रतिभा-प्रामाणिकता के साथ निभाया। सभी दक्षिण भारतीय उन पूर्ववर्ती संस्कृति पुरुषों के अनुगामी हैं इसका विस्मरण एक निमिष के लिए भी नहीं किया जा सकता है।

दक्षिण भारत, जिसमें आंध्र, तमिल, केरल, कर्नाटक सम्मिलित हैं एक बहुत बड़ा भाग है। उच्च शिखरीय विंध्यरेखा हजारों वर्ष तक दक्षिण और उत्तर के बीच को भले ही बाधा-रेखा बनी रही हो, फिर भी दक्षिणापथ के चारों प्रांतों ने अपनी मौलिकता और प्रतिभा के द्वारा विन्ध्य को पारकर उत्तरीय भारत पर सांस्कृतिक विजय पायी थी। यह विजय-संपत्ति एक बहुत

बडी विरासत है। आज के जमाने का तकाजा है कि अगर उस महान गौरव को जो हमारे पूर्वजो ने कमाकर दिया है बनाये रखना है, विंध्य के उत्तर तथा दक्षिण के भू-भाग को सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा दार्शनिक दृष्टि से एक बनाना है तो इस देश की परंपरा मे पली पुसी हुई इस भारत-वसुंधरा की सुगंध में सनी हुई ऐसी एक वाणी की सम्यग् सृष्टि करनी होगी जिसके द्वारा अपने पितरो का गौरव बढा सकें और वर्तमान कर्तव्यो का पालन कर सकें। इस वाणी को भारत के राष्ट्रीय जागरण के वैतालिकों ने, भारतीय मुक्ति-संग्राम के सेनानियों ने राष्ट्र के पुनर्गठन के राजपुरुषो ने, आचार्य शंकर, महात्मा ईसा और और हजरत मुहम्मद के विश्वजनीन आदर्शों से छनकर अवतरित नवभारत के साक्षात् राष्ट्रपिता ने नाम दिया और उसको आगे बढाया, संपन्न किया। उसका नाम रखा "हिन्दी" जिसका काम है भारत को एकता को संपन्न करना। इस संपन्नता को कार्यान्वित करने का गुरुतर भार दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के ऊपर है। उसके कार्यकर्ता जब अपने राष्ट्र की प्राचीन तथा अर्वाचीन गरिमा को समझेंगे और उसे समृद्ध करने का तन मन धन से कार्य करेंगे तभी उसके जन्मदाता महात्मा गांधी के ध्येय की सिद्धि होगी, उनकी शहीद आत्मा को शांति मिलेगी।

भारत में अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने की अभिसंधि मे ऐसे ही लोग व्यस्त हैं जिन्होने अंग्रेजी छोड किसी भारतीय भाषा पर अधिकार नही पाया सदा साहबी ठाठ मे रहे और कभी ख्याल भी नहीं किया कि देश की जनता भी किसी भाषा मे संबंध रखती है और उसका साहित्य जहाँ तक शुद्ध साहित्य का संबंध है विश्व की किसी भी भाषा से पीछ नही है।

—महापंडित राहुल सांकृत्यायन

हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के हेतु होनेवाले सभी अनुष्ठानों को मैं भारतीय संस्कृति का राजसूय यज्ञ समझता हूँ।

—आचार्य क्षितिमोहन सेन
(शांति निकेतन)

राष्ट्रकवि डॉ० रामधारी सिंह "दिनकर"
हिन्दी सलाहकार, भारत सरकार,
नयी-दिल्ली

गांधीजी और हिन्दी प्रचार

गांधीवाद तथा समाजवाद के संक्रमणीय जीवन-दर्शन के युगचारण श्री दिनकरजी पर-सत्ता की मुलाजिमत में भी प्रच्छन्न नामों मे हुँकार भरते रहे थे कि "सुनूँ क्या सिंधु ! मैं गर्जन तुम्हारा, स्वयं युगधर्म की हुँकार हूँ" मगर "बंधी है लेखनी कहना मना है"। स्वतंत्रता के बाद, "उर्वशी" और "कुरुक्षेत्र" के लक्ष-लक्ष पाठकों को आपके दिल व दिमाग के दर्शन मिले। गद्य-पद्यात्मक कृतियाँ पुरस्कृत हुईं। डाक्टर बने, उपकुलपति भी बने, और संप्रति केन्द्र सरकार के हिन्दी सलाहकार पीठ को भी रोशन कर रहे हैं। मगर वस्तुतः राष्ट्रभारती के वरद पुत्र "दिनकर" "उदयाचल" से आज भी किसी "परशुराम की प्रतीक्षा में" दक्षिणायनी बने हुए है; अहिन्दी भारत को ही हिन्दी का भाग्य-विधायक मानते हैं।

गांधी-युग से पूर्व तक हिन्दी का प्रचार, साहित्यिक धरातल पर, प्रयाग का हिन्दी साहित्य-सम्मेलन करता था, काशी की नागरी प्रचारिणी सभा करती थी। स्वामी दयानन्द हिन्दी को आर्य भाषा कहते थे और उसका प्रचार उन्होंने, राष्ट्रभाषा के रूप में किया था। जहाँ तक हिन्दी के शिक्षा का माध्यम होने का प्रश्न है, इस दिशा में भी आदिप्रयोग आर्यसमाजियों ने आरंभ किये थे तथा स्वामी श्रद्धानन्द (पं० मुंशीराम) जी महाराज ने गुरुकुल की स्थापना करके इस कार्य का श्रीगणेश कर दिया था। किन्तु, अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी के विधिवत् प्रचार की दिशा में तब तक कोई क़दम उठाया नहीं गया था। तब हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन (मार्च, सन् 1918 ई०) के सभापति महात्मा गांधी चुने गये।

इन्दौरवाले सम्मेलन का भाषण तैयार करने के पूर्व गांधीजी ने रवीन्द्रनाथ, एनी बेसेंट, मालवीयजी, तिलकजी आदि देश के कुछ बड़े नेताओं से इस बारे में पत्र-व्यवहार द्वारा राय-मशविरा किया था कि—

1. क्या हिन्दी (भाषा या उर्दू) अन्तःप्रान्तीय व्यवहार तथा अन्य राष्ट्रीय कार्यवाहियों के लिए उपयुक्त एकमात्र राष्ट्रीय भाषा नहीं है?

2. क्या हिन्दी कांग्रेस के आगामी अधिवेशनों में मुख्यतः उपयोग में लायी जानेवाली भाषा न होनी चाहिए?

3. क्या हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों में ऊँची शिक्षा देशीभाषाओं के माध्यम से देना वांछनीय और संभव नहीं है? और क्या हमें प्रारंभिक शिक्षा के बाद हिन्दी को अपने

विद्यालयो मे अनिवार्य द्वितीय भाषा नही बना देना चाहिए?

"मैं महसूस करता हूँ कि यदि हमे जनसाधारण तक पहुँचना है और यदि राष्ट्रीय सेवको को सारे भारतवर्ष के जनसाधारण से सम्पर्क करना है, तो उपर्युक्त प्रश्न तुरन्त हल किये जाने चाहिए।"

(स गा वा खण्ड 14 पृ 14-50)

सभी नेताओ ने गाधीजी को अनुकूल उत्तर भेजे। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था, "वास्तव मे भारत में अन्त प्रान्तीय व्यवहार के लिए उपयुक्त राष्ट्रीय भाषा हिन्दी ही है। किन्तु मैं समझता हूँ कि दीर्घकाल तक इसे हम लागू नही कर सकेंगे।"

भाषा के सबन्ध मे गाधीजी के अपने विचार पूर्ण रूप से परिमार्जित और प्रौढ हो चुके थे। फिर भी इन्दौर जाने के पहले उन्होंने अपने समकालीन नेताओ से मत लेकर अपने विश्वास को और भी पुष्ट बना लिया। 29 मार्च, सन् 1918 ई० को इन्दौर मे सभापति के मच से गाधी ने जो भाषण दिया, उसके कुछ मुख्य अश नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"यह भाषा का विषय बडा भारी और बडा ही महत्वपूर्ण है। यदि सब नेता सब काम छोडकर केवल इसी विषय पर लगे रहें, तो बस है।

"शिक्षित वर्ग, जैसा कि माननीय पण्डितजी (मालवीयजी) ने अपने पत्र मे दिखाया है, अग्रेजी के मोह मे पड गया है और अपनी राष्ट्रीय मातृ-भाषा से उसे असन्तोष हो गया है।"

"हमे ऐसा उद्योग करना चाहिए कि एक वर्ष मे राजकीय सभाओ मे, काग्रेस मे, प्रातीय भाषाओं में और अन्य समाजो और सम्मेलनों मे अग्रेजी का एक भी शब्द सुनायी नही पडे। हम अग्रेजी का व्यवहार बिलकुल त्याग दें।....आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्रदान करें।

"हिन्दी भाषा की व्याख्या का थोडा-सा ख्याल करना आवश्यक है। मैं कई बार व्याख्या कर चुका हूँ कि हिन्दी वह भाषा है, जिसको उत्तर में हिन्दू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फ़ारसी लिपि मे लिखी जाती है। यह हिन्दी एकदम सस्कृत-मयी नहीं है। न वह एकदम फारसी शब्दो से लदी हुई है। देहाती बोली मे मैं जो माधुर्य देखता हूँ, वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयो की बोली में, न प्रयाग के पडितों की बोली में पाया जाता है। भाषा वही श्रेष्ठ है, जिसको जनसमूह सहज मे समझ ले।

"हिन्दू-मुसलमानो के बीच जो भेद किया जाता है, वह कृत्रिम है। ऐसी ही कृत्रिमता हिन्दी व उर्दू भाषा के भेद मे है। हिन्दुओ की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानो की बोली में सस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनो का स्वाभाविक सगम गगा-जमुना के सगम सा शोभित और अचल रहेगा। मुझे उम्मीद है कि हम हिन्दी-उर्दू के झगडो मे पडकर अपना बल क्षीण नहीं करेंगे। लिपि की कुछ तकलीफ जरूर है। मुसलमान भाई अरबी लिपि में ही लिखेंगे, हिन्दू बहुत करके नागरी मे लिखेंगे। राष्ट्र मे दोनो लिपियो का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इसमे कुछ कठिनाई नही है। अन्त मे जिस लिपि में ज्यादा सरलता होगी, उसकी विजय होगी।

"आज भी हिन्दी से स्पर्धा करनेवाली कोई दूसरी भाषा नहीं है। हिन्दी उर्दू का झगडा छोडने से राष्ट्रभाषा का सवाल सरल हो जाता है। हिन्दुओ को फारसी के शब्द थोडे बहुत

जानने पड़ेंगे। इस्लामी भाइयों को संस्कृत शब्दों का ज्ञान संपादन करना पड़ेगा। ऐसी लेन-देन से इस्लामी भाषा का बल बढ़ जायेगा और हिन्दू-मुसलमानों को एकता का एक बहुत बड़ा साधन हमारे हाथ में आ जायेगा। अंग्रेजी भाषा का मोह दूर करने के लिए इतना अधिक परिश्रम करना पड़ेगा कि हमें लाजिम है कि हम हिन्दी-उर्दू का झगड़ा न उठावें।"

(सं. गां. वां., खण्ड 24, पृ. 279-80)

गांधीजी आरंभ से ही सोचते आ रहे थे कि जो भाषा उत्तर के हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, पारसियों और क्रिस्तानों की रुचि की भाषा होगी, उसी भाषा को सारे देश को ग्रहण करना चाहिए। इस बार उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंच से उस भाषा की सिफ़ारिश की और सम्मेलन ने उसे पसंद किया।

जहाँ तक अंग्रेजी का सवाल है, गांधीजी ने अपने इन्दौरवाले भाषण में कहा था—

"कहना आवश्यक नहीं कि अंग्रेजी भाषा से मैं द्वेष नहीं करता हूँ। अंग्रेजी साहित्य-भंडार से मैंने भी बहुत रत्नों का उपयोग किया है। अंग्रेजी भाषा की मार्फ़त हमें विज्ञान आदि का खूब ज्ञान लेना है। अंग्रेजी का ज्ञान भारतवासियों के लिए बहुत आवश्यक है। लेकिन इस भाषा को उसका उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़-पूजा करना दूसरी बात है।"

अंग्रेजी का उचित स्थान इस देश में ज्ञान की भाषा का स्थान (लैंग्वेज आव् कांप्रेहेंशन) ही हो सकता है, शिक्षा और शासन के कार्य तो इसी देश की भाषाओं में किये जाने चाहिए। और यह केवल इसलिए नहीं कि उससे हमारे स्वाभिमान की रक्षा होती है, बल्कि इसलिए कि शासन और न्याय के काम जब जनता की भाषा में चलते हैं, तब उनसे जनता की शिक्षा होती है।

"हमारी कानूनी सभाओं में भी राष्ट्रीय भाषा द्वारा कार्य चलना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक प्रजा को राजनैतिक कार्यों में ठीक तालीम नहीं मिलती है। हमारे हिन्दी अख़बार इस कार्य को थोड़ा-सा करते हैं, लेकिन प्रजा को तालीम अनुवाद से नहीं मिल सकती है। हमारी अदालतों में ज़रूर राष्ट्रीय भाषा और प्रान्तीय भाषा का प्रचार होना चाहिए। न्यायाधीशों की मार्फ़त जो तालीम हमको सहज ही मिल सकती है, उस तालीम से आज प्रजा वंचित रह जाती है।"

"जब तक हम हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय और अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देते, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं।"

सन् 1918 ई. वाले इन्दौर-सम्मेलन में दो बातें बड़े महत्व की रहीं। एक तो यह कि गांधीजी ने सम्मेलन के मंच से अपनी हिन्दी-विषयक कल्पना की व्याख्या प्रस्तुत की और सभा ने उसे पसंद किया। और दूसरा वह प्रस्ताव[1] जिसके द्वारा दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। उस समय दक्षिण के चारों भाषा-भाषी प्रदेश एक ही मद्रास प्रेसिडेन्सी के अंग थे और गांधीजी राष्ट्रभाषा की कठिनाई को सबसे ऊपर मानते थे। "सबसे कठिन मामला द्राविड़ भाषाओं के लिए है। वहाँ तो कुछ

1. इस प्रस्ताव का आशय यह था कि प्रति वर्ष छह दक्षिण भारतीय युवक हिन्दी सीखने को प्रयाग भेजे जायें और हिन्दी भाषा-भाषी छः युवकों को दक्षिणी भाषाएँ सीखने तथा साथ-साथ वहाँ हिन्दी का प्रचार करने के लिए दक्षिण भारत में भेजा जाय।

प्रयत्न ही नहीं हुआ है। हिन्दी भाषा सीखनेवाले शिक्षकों को तैयार करना चाहिए।"

दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार के लिए इन्दौर-सम्मेलन ने छह सदस्यों की एक समिति बनायी, जिसमे गांधीजी और टण्डनजी भी थे। इसी सम्मेलन मे दक्षिण भारत मे हिन्दी प्रचार के लिए महाराज होलकर और सेठ सर हुकुमचन्द ने दस-दस हजार रुपयों के दान दिये। प्रचार के लिए सम्मेलन ने जो प्रस्ताव स्वीकृत किया, उसमे यह बात थी कि हिन्दी सीखने के लिए दक्षिण के छह नवयुवक उत्तर भारत बुलाये जायें।

इन्दौर-सम्मेलन 29 मार्च को हुआ था। 31 मार्च को गांधीजी ने समाचार-पत्रों को एक छोटा-सा लेख भेजा, जिसमे उन्होंने हिन्दी प्रचार समिति की रचना का जिक्र किया और कहा कि "हम ऐसे छह तमिल और तेलुगु भाषी होनहार और सच्चरित्र तरुणों के नाम चाहते हैं, जो तमिल और तेलुगू-भाषी जनता मे हिन्दी का प्रचार करना ही जीवन का ध्येय बनाने की दृष्टि से हिन्दी सीखना शुरू करें। प्रस्ताव के अनुसार इन्हें इलाहाबाद या बनारस मे रखकर हिन्दी सिखायी जायेगी। ....वैसे तो देश में एक बड़ा प्रबल आन्दोलन खड़ा होना चाहिए, जो हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप मे पब्लिक स्कूलों मे लागू कराने पर शिक्षा-अधिकारियों को विवश कर दे। परन्तु सम्मेलन ने महसूस किया कि मद्रास प्रान्त मे हिन्दी का प्रचार तुरन्त ही आरम्भ किया जाना चाहिए। इसीलिए उपर्युक्त प्रस्ताव रखा गया है।....समिति हिन्दी सिखाने के लिए इच्छुक लोगों को नि:शुल्क हिन्दी पढ़ाने के लिए तमिल और आन्ध्र जिलों में हिन्दी अध्यापक भेजने की बात सोच रही है।"

(स. गा. वा. खण्ड, 14 पृ. 291)

गांधीजी गर्म लोहे को ठंडा होने देनेवाले आदमी नहीं थे। सम्मेलन के बाद उन्होंने दक्षिण के कुछ प्रमुख नेताओं से लिखा-पढ़ी की और अखबारों मे लेख भी लिखे। 'गांधीजी के उक्त विचारों को पढ़कर दक्षिण के कुछ उत्साही, देशप्रेमी युवकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने हिन्दी पढ़ने की इच्छा प्रकट करते हुए गांधीजी से प्रार्थना की कि हिंन्दी पढ़ाने के लिए एक सुयोग्य अध्यापक को दक्षिण मे भेजा जाय।' इस प्रार्थना पर गांधीजी चुप नहीं रह सकते थे, न वे इस बात का इन्तजार कर सकते थे कि दक्षिण जाने को तैयार युवक कब और कहाँ मिलेंगे। निदान, हिन्दी की सेवा के लिए उन्होंने अपने सबसे छोटे और मेधावी पुत्र स्वर्गीय देवदास गांधी को मद्रास भेज दिया। देवदास की उम्र उस समय केवल अठारह वर्ष की थी। यह 12 मई, सन् 1918 ई की बात है।

मद्रास मे हिन्दी का पहला वर्ग ता. 12 मई, सन् 1918 ई में ही खुला और उसका उद्घाटन-समारोह होमरूल लीग के दफ्तर ग्राउंडे में मनाया गया। इस समारोह की अध्यक्षता डा० सी पी. रामस्वामी ऐय्यर ने की थी और उसका उद्घाटन श्रीमती एनी बेसेंट ने किया था। अध्यक्ष और उद्घाटिका, दोनों ने दक्षिण मे हिन्दी-प्रचार-योजना की भूरि-भूरि प्रशंसा की और लोगों का आह्वान किया कि वे इस योजना को हर तरह से सफल बनायें।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो, यह बात बोली तो बहुत दिनों से जा रही थी, किन्तु अब तक किसी भी नेता ने इस विचार को सक्रिय बनाने का प्रयास नहीं किया था। यह गांधीजी के व्यक्तित्व की महिमा थी कि वे जिस कार्य का शुभारंभ करते थे, देश उसे अपना पुनीत कार्य मानकर अपना लेता था। गांधीजी के उत्साह

का प्रभाव एनी बेसेंट पर इस ज़ोर से पड़ा कि अपने दैनिक पत्र 'न्यू इंडिया' में वे अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ हिन्दी लेख भी प्रकाशित करने लगीं। 'वे हिन्दी का राष्ट्रभाषा होना अत्यन्त आवश्यक और अंगरेज़ी का इस देश की राष्ट्रभाषा बन जाना देश के लिए खतरनाक समझती थीं। उनका कहना था कि जिस दिन अंगरेज़ी हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो जायगी, उस दिन समझ लेना चाहिए कि हमारी बरबादी शुरू हो गयी। उनकी राय में एक देश के मुट्ठी-भर लोगों का दूसरे देश के करोड़ों लोगों पर हुकूमत करना देश की भारी मुसीबत है। तिसपर भी उस देश की भाषा को मिटाकर विदेशी भाषा को वहाँ की जनता पर जबर्दस्ती थोप देना अत्यन्त विनाशकारी कार्य है।"

इन्दौर-सम्मेलन के प्रस्ताव के अनुसार दक्षिण के छह युवकों को हिन्दी सीखने को प्रयाग जाना था। ठीक छह तो नहीं, किन्तु पाँच युवक और युवतियाँ गांधीजी से प्रेरित होकर हिन्दी सीखने को प्रयाग गये। ये पाँच व्यक्ति थे, पण्डित हरिहर शर्मा और उनकी सहधर्मिणी, श्री वन्दे-मातरम् सुब्रह्मण्यम् और उनकी सहधर्मिणी तथा पण्डित शिवराम शर्मा। और जो शिक्षक इन्हें हिन्दी पढ़ाते थे, उनके नाम थे श्री हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि) और पण्डित गणेशदीन त्रिपाठी।

गांधीजी का पुण्य-प्रताप इतना बड़ा था कि जब देवदासजी ने मद्रास में हिन्दी वर्ग आरंभ किया, उसमें हिन्दी पढ़ने को मद्रास के कुछ बहुत अच्छे लोग आ गये, जिनमें से सर्वश्री सदाशिव ऐय्यर (हाईकोर्ट के न्यायाधीश), श्री वेंकटराम शास्त्री (सुप्रसिद्ध वकील), श्री के. भाष्यम् अय्यंगार, श्री एन. सुन्दर ऐय्यर, श्रीमती अंबुजम्माल, श्रीमती दुर्गाबाई, श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मद्रास में जो हिन्दी-कार्य आरंभ हुआ, उसका समर्थन केवल एनी बेसेंट की 'न्यू इंडिया' ही नहीं, मद्रास के सुप्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दू' आदि भी करते थे।

इन्दौर-सम्मेलन के प्रस्तावानुसार तथा गांधीजी की प्रेरणा से उत्तर भारत के जो युवक धीरे-धीरे दक्षिण को गये, उनमें से पं० प्रतापनारायण वाजपेयी, पं० रामानंद शर्मा, श्री क्षेमानन्द राहत, श्री रामभरोसे श्रीवास्तव, पं० हृषीकेश शर्मा, पं० अवधनन्दन, पं० रघुवरदयाल मिश्र, श्री जमुनाप्रसाद, पं० देवदूत विद्यार्थी, पं० राम-गोपाल शर्मा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सन् 1918 ई. में परिव्राजक स्वामी सत्यदेव भी हिन्दी-प्रचारक बनकर मद्रास पहुँच गये थे।

मद्रास में हिन्दी प्रचार का कार्य ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों धन की आवश्यकता भी बढ़ती गयी। इन्दौर में सेठ हुकुमचन्द और महाराज होलकर से बीस हज़ार की रकम गांधीजी को मिली थी और गांधीजी ने उसे सम्मेलन को दे दिया था, क्योंकि मद्रास का कार्य सम्मेलन का ही कार्य समझा जाता था। सन् 1920 ई. में अग्रवाल महासभा ने 50 हज़ार और श्री घनश्यामदास बिड़ला ने 10 हज़ार रुपये इस कार्य के लिए गांधीजी को दिये। आरंभ में इसी धनराशि से दक्षिण में हिन्दी प्रचार का कार्य चलता रहा।

सन् 1920 ई. तो भारतीय क्षितिज पर महात्मा गांधीरूपी सूर्य के उदय का वर्ष बन गया। उस समय से गांधीजी ने हिन्दी-प्रचार के कार्य को देश के तीन सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में स्थान दे

1. दक्षिण में हिन्दी प्रचार आंदोलन का समीक्षात्मक इतिहास। लेखक: श्री पी. के. केशवन नायर।

दिया। जब वे होमरूल लीग से सबद्ध हुए, अपने वक्तव्य मे उन्होंने घोषणा की कि—

'मेरी राय मे स्वराज्य शीघ्र प्राप्त करने का साधन स्वदेशी, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य, हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा मानना और प्रातो का भाषाओ के अनुसार नये सिरे से निर्माण करना है। इसलिए लीग को मैं इन कामो में लगाना चाहता हूँ।'

(कांग्रेस का इतिहास 161)

सन् 1921 ई मे असहयोग आन्दोलन के चलते सारा देश राष्ट्रीयता के आवेश से हिलने लगा और प्राय प्रत्येक प्रान्त में राष्ट्रीय विद्यापीठ, कालेज और स्कूल खुल गये, जिनमें प्रधानता अग्रेजी की नही, वरन् हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं की थी। शिक्षा के क्षेत्र मे यह नया आन्दोलन था तथा उससे हिन्दी का पक्ष, आपसे आप, प्रबल हो गया।

तमिलनाडु का सर्वप्रथम हिन्दी प्रचारक विद्यालय सन् 1922 ई मे ईरोड में खुला। उसका उद्घाटन प मोतीलाल नेहरू ने किया था और वह विद्यालय द्रविड कळकम् के प्रसिद्ध नेता श्री ई वी रामस्वामी नायक्कर के मकान पर खोला गया था।

दक्षिण मे हिन्दी का जो प्रचार कार्य चल रहा था, उसका निरीक्षण करने को बाबू पुरुषोत्तम दास टडन सन् 1920 ई मे दक्षिण भारत गये। उसी अवसर पर उनकी भेंट कामकोटि (काची के) शकराचार्यजी से हुई। स्वामी ने हिन्दी, कार्य करने के लिए एक सौ रुपये का दान किया।

गाधीजी अपनी भाषा नीति का प्रचार बहुत पहले से ही करते आ रहे थे, किन्तु इन्दौर सम्मेलन के बाद उन्होंने हिन्दी के कार्य को राष्ट्रीय व्रत बना दिया और हर मौके पर लोगों को वे यह समझाने लगे कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये बिना हमारा राष्ट्र कुण्ठित रहेगा।

हिन्दी शिक्षक की माँग करनेवाले तमिल भाइयों को उन्होंने 19-4-1918 को लिखा, "हम हिन्दी भाषा को हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे तक परस्पर व्यवहार की आम भाषा बना दें, तो फिर राष्ट्र सेवा करने की हमारी शक्ति कोई भी सीमा स्वीकार नहीं करेगी।"[1]

26 मार्च, सन् 1919 ई को मदुराई में सत्याग्रह आन्दोलन पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा— "आप में से जिन लोगों को पर्याप्त शिक्षा प्राप्त हुई है, वे यदि यह समझ लेते कि हिन्दी और केवल हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है, तो आप इस समय तक इसे किसी-न किसी तरह सीख लेते। लेकिन हम अपनी गलतियों को अब भी सुधार सकते हैं।"[2]

28 मार्च, सन् 1919 ई को तूत्तुक्कुडि मे बोलते हुए उन्होंने कहा, "जब आप भारत की राष्ट्रभाषा अर्थात् हिन्दी सीख लेंगे, तो आपके सामने हिन्दी मे भाषण करने मे मुझे बहुत खुशी होगी। यह आपके ऊपर है कि यदि चाहें तो मद्रास और अन्य स्थानों पर हिन्दी सीखने की जो सुविधा उपलब्ध है, उसका लाभ उठायें। जब तक आप हिन्दी नही सीखते, तब तक आप शेष भारत से अपने को बिलकुल अलग रखेंगे।"[3]

कांग्रेस जब गाधीजी के प्रभाव में आने लगी, वे यह कोशिश करने लगे कि कांग्रेस के मच से अधिक से अधिक भाषण हिन्दी मे हो।

सन् 1919 ई के दिसम्बर में हुई कांग्रेस मे ज्यादा भाषण हिन्दी मे हुए थे। गाधीजी को

1 स० गा० वा० खण्ड 14 पृ० 310।
2. स० गा० वा० खण्ड 15 पृ० 161।
3 स० गा० वा० खण्ड 15 पृ० 164।

यह मलाल था कि इस कांग्रेस के अध्यक्ष का भाषण हिन्दी में क्यों नहीं हुआ। किन्तु श्रीमती एनी बेसेंट ने अपने पत्र में यह लिख डाला कि इस बार की कांग्रेस राष्ट्रीय धरातल से उतरकर प्रान्तीय धरातल पर चली गयी थी, क्योंकि उसमें दिये गये भाषण अंग्रेजी में नहीं थे। श्रीमती बेसेंट की इस टिप्पणी का जवाब देते हुए, गांधीजी ने 21 जनवरी, सन् 1920 ई. को 'यंग इण्डिया' में लिखा—

"मुझे उनके (श्रीमति बेसेंट के) इस विचार से कि हिन्दुस्तानी के व्यवहार से कांग्रेस प्रान्तीय हो जाती है, सार्वजनिक रूप से मतभेद प्रकट करने में दुख होता है। कांग्रेस की लगभग समस्त कार्यवाही पिछले दो सालों के सिवा अब तक अंग्रेजी में किये जाने के कारण राष्ट्र को सचमुच काफ़ी हानि पहुँची है। मैं यह तथ्य भी बताना चाहता हूँ कि मद्रास प्रेसीडेन्सी के अतिरिक्त अन्य सभी प्रान्तों के राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधियों और दर्शकों में से अधिकांश अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी ही अधिक समझ सके हैं। इसलिए इसका एक बड़ा ही विचित्र-सा परिणाम यह हुआ है कि इन समस्त वर्षों में कांग्रेस-जैसी महती संस्था केवल देखने में राष्ट्रीय रही है, किन्तु वह अपने वास्तविक शैक्षणिक महत्व के कारण कभी राष्ट्रीय नहीं रही। इसलिए प्रश्न यह है कि इस प्रेसीडेन्सी (मद्रास) के 8 करोड़ 80 लाख लोगों का कर्तव्य क्या है। क्या भारत उनके कारण अंग्रेजी सीखे? या वे सत्ताईस करोड़ सत्तर लाख भारतीयों के लिए हिन्दुस्तानी सीखेंगे? स्वर्गीय न्यायमूर्ति कृष्णस्वामी, जिनकी सहजदृष्टि अचूक थी, यह मानते ` कि भारत के विभिन्न भागों के बीच विचारों के आदान-प्रदान का एकमात्र संभावित माध्यम हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।"

(सं. गां. वा. खण्ड 28, पृ. 511-12)

गांधीजी को जब होमरूल लीगवालों ने अपना नेतृत्व करने को कहा, तब भी गांधीजी ने यह शर्त रखी थी कि मैं किसी संस्था में शरीक तभी हो सकता हूँ, जब उसके सदस्य मेरे साथ सहमत हों। इस सम्बन्ध में श्री वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री को 18 मार्च, 1920 ई. को उन्होंने जो पत्र लिखा था, उसमें एक प्रमुख शर्त यह रखी थी कि—

"हिन्दी और उर्दू के मिश्रण से निकली हुई हिन्दुस्तानी को पारस्परिक संपर्क के लिए राष्ट्रभाषा के रूप में निकट भविष्य में स्वीकार कर लिया जाय। अतएव भावी सदस्य इम्पीरियल कौंसिल में इस तरह काम करने को वचनबद्ध होंगे, जिससे वहाँ हिन्दुस्तानी का प्रयोग प्रारंभ हो सके और प्रान्तीय कौंसिलों में भी वे इस तरह काम करने को प्रतिज्ञाबद्ध होंगे जिससे वहाँ, जब तक हम राष्ट्रीय कामकाज के लिए अंग्रेजी को पूरी तरह छोड़ देने की स्थिति में नहीं जाते, तब तक के लिए, कम-से-कम वैकल्पिक माध्यम के रूप में प्रान्तीय भाषाओं का उपयोग प्रारंभ हो सके। वे हमारे स्कूलों में हिन्दुस्तानी को देवनागरी लिपि या वैकल्पिक रूप में, उर्दू लिपि के साथ, अनिवार्य द्वितीय भाषा की तरह दाखिल कराने के लिए भी वचनबद्ध होंगे। अंग्रेजी को साम्राज्यीय संपर्क, राजनीतिक सम्बन्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की भाषा के रूप में मान्यता दी जायगी।"

(सं. गां. वा. खण्ड 17, पृ. 100-8)

मद्रास में हिन्दी प्रचार को बढ़ावा देने के लिए गांधीजी भाषणों और लेखों का प्रयोग करते ही रहते थे। 16 जून सन् 1920 ई. को 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा था—

"मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन हमारे द्राविड़ भाई-बहन, गंभीर भाव से हिन्दी का

अध्ययन करने लगेंगे। आज अगरेजी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए वे जितनी मेहनत करते है, उसका आठवाँ हिस्सा भी हिन्दी सीखने मे करें, तो बाकी हिन्दुस्तान, जो आज उनके लिए बन्द किताब की तरह है, उससे वे परिचित होंगे और हमारे साथ उनका ऐसा तारतम्य स्थापित हो जायगा, जैसा पहले कभी नही था।....कोई भी साधारण आदमी एक साल मे हिन्दी सीख सकता है। मैं अपने अनुभव से यह कह सकता हूँ कि द्राविड बालक बहुत आसानी से हिन्दी सीख लेते हैं। यह बात शायद ही कोई जानता हो कि दक्षिण अफ्रीका मे रहनेवाले सभी तमिल-तेलुगु भाषी लोग हिन्दी में खूब अच्छी तरह बातचीत कर सकते हैं।'

(स गा वा, खण्ड 17, पृ 634)

सन् 1920 ई से राष्ट्रीय आन्दोलन ज्यो ज्यो जोर पकडता गया, हिन्दी का आन्दोलन भी उसी अनुपात मे बढता गया। सन् 1925 ई में कानपुर-काग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि—

'यह काग्रेस तय करती है कि काग्रेस का, काग्रेस की महासमिति का कामकाज, आम तौर पर, हिन्दुस्तानी में चलाया जायगा। जो वक्ता हिन्दुस्तानी में नही बोल सकते, उनके लिए या जब-जब जरूरत हो तब, अगरेजी का या किसी प्रान्तीय भाषा का इस्तेमाल किया जा सकेगा।'

(राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी से)

गाधीजी ने अपने सतत चलनेवाले प्रचार से देश में वह हवा पैदा कर दी कि राष्ट्रीय सभा-सम्मेलनों मे वक्ता जब अगरेजी मे भाषण शुरू करते, तब अहिन्दी-भाषी श्रोता भी 'हिन्दी-हिन्दी' का नारा लगाने लगते थे। इस नयी हवा का असर देश के बडे लोगो पर भी पडने लगा। 6 अप्रैल, सन् 1920 ई को भावनगर (सौराष्ट्र) में गुजराती साहित्य-परिषद् का छठा अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। इस सम्मेलन में अपना अध्यक्षीय भाषण गुरुदेव ने हिन्दी मे दिया था। भाषण के मुखबन्ध में उन्होंने कहा था कि—

'आपकी सेवा मे खडा होकर विदेशीय भाषा कहूँ, यह हम चाहते नहीं। पर जिस प्रान्त में मेरा घर है, वहाँ सभा में कहने लायक हिन्दी का व्यवहार है नही। महात्मा गाधी महाराज की भी आज्ञा है हिन्दी में कहने के लिए। यदि हम समर्थ होता, तब इससे बडा आनन्द कुछ होता नहीं। असमर्थ होने पर भी आपकी सेवा मे दो-चार बात हिन्दी मे बोलूँगा।'[1]

सन् 1926 ई मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन भरतपुर मे हुआ था। गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उस सम्मेलन मे भी पधारने की कृपा की थी और हिन्दी मे बोलकर हिन्दी का पक्ष-समर्थन किया।

गाधीजी के प्रचार से तमिलनाडु मे हिन्दी के प्रति ऐसा उत्साह प्रवाहित हुआ कि प्रात के सभी बडे लोग हिन्दी का समर्थन करने लगे। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के आजीवन अध्यक्ष स्वय गाधीजी थे। राजाजी उसके उपाध्यक्ष थे। श्री ई. वी रामस्वामी नायक्कर हिन्दी-प्रचार के अत्यन्त उत्साही समर्थक थे। तमिल के विख्यात कवि श्री सुब्रह्मण्य भारती भारत की राष्ट्रीय चेतना के जाज्वल्यमान प्रतीक थे और हिन्दी प्रचार के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी। तमिल के दूसरे प्रकाण्ड कवि श्री मुरुगनार, जो अब साधक के रूप मे, रमणाश्रम (तिरुवण्णामलै) में रहते हैं, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल समर्थक थे।

1 यह सपूर्ण भाषण उस समय प्रकाशित 'शान्ति-निकेतन पत्रिका' म बगाक्षरो में छपा था।

उन्होंने हिन्दी के समर्थन में तमिल में एक छोटी-सी कविता भी लिखी थी, जिसका कच्चा-पक्का अनुवाद नीचे दिया जाता है।

जिस दिन भारत के सभी लोग,
अपनी पसन्द से चुनी हुई सबकी बोली
हिन्दी को अपनी जानेंगे,
जानेंगे केवल नहीं, वरन आसानी से
हिन्दी में करके काम-काज सुख मानेंगे,
बस, उसी रोज़ दासत्व न रहने पायेगा,
बस, उसी रोज़ सच्चा स्वराज्य आ जायेगा।

तमिल के महाकवि श्री सुब्रह्मण्य भारती राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रभाषा के पूरे समर्थक थे। अपनी छात्रावस्था में वे सन् 1893 ई. से लेकर 1902 ई. तक काशी में रहे थे और इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में संस्कृत और हिन्दी का विशेष अध्ययन करके प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे।

श्री राजगोपालाचारी, जो अब राजभाषा हिन्दी के कट्टर विरोधी बन गये हैं, उन दिनों हिन्दी के भारी समर्थक थे। जनवरी, सन् 1930 ई. के 'हिन्दी प्रचारक' नामक मासिक पत्र में उन्होंने छात्रों से अपील नामक एक लेख में यों लिखा था—

"अगर हिन्दुस्तानी भाषा सीखने की आवश्यकता के बारे में अब भी आपको सन्देह हो, तो जो लोग पिछली कांग्रेस में गये थे, उनमें से किसीसे भी बात करके देख लीजिये। जो प्रतिनिधि लाहौर गये थे और जिन्होंने कांग्रेस को देखा है, वे इस बात की गवाही भरेंगे कि हिन्दुस्तानी के ज्ञान के बिना राष्ट्रीय सम्मेलनों में उपयोगी भूमिका अदा करना किसीके लिए भी संभव नहीं है। इस कांग्रेस में सब से अधिक असुविधा तमिलनाड के प्रतिनिधियों को हुई, क्योंकि राष्ट्रभाषा की जानकारी उन्हें नहीं है। वे आपको बतायेंगे कि भारत के किसी भी भाग में यात्रा, वाणिज्य या व्यापार करने के लिए हिन्दुस्तानी का ज्ञान कितना ज़रूरी है। प्रत्येक छात्र का यह कर्तव्य है कि वह अपने अवकाश के समय का उपयोग राष्ट्र-भाषा सीखने के लिए करे। राष्ट्रभाषा की शिक्षा स्कूली पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग होना चाहिए। मगर इसके लिए तब तक इन्तज़ार करना बेकार है, जब तक शिक्षा के अधिकारियों को अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं होता। शिक्षा के अधिकारी जब तक यह नहीं समझते कि भारत के सभी प्रान्तों में, लड़कों और लड़कियों के स्कूली पाठ्यक्रमों में भारत की सामान्य भाषा का स्थान नहीं होना भारी गलती है, तब तक अपनी मदद हमें आप करनी चाहिए। यह भाषा बड़ी आसानी से सीखी जाती है। आप संस्कृत की लिपि सीखकर हिन्दुस्तानी तुरन्त आरम्भ कर सकते हैं।"[1]

हिन्दी प्रचार का कार्य राष्ट्र के रचनात्मक कार्यक्रम का अत्यन्त प्रमुख अंग था। हिन्दी-प्रचारक होना अपने आप में गौरव की बात थी, क्योंकि जो हिन्दी-प्रचारक होता था, वह गांधीजी का सीधा अनुचर समझा जाता था। समाज में हिन्दी-प्रचारकों की बड़ी इज़्ज़त थी और वे जो कुछ कहते थे, समाज पर उसका असर पड़ता था।

मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा सन् 1926 ई. तक प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन से संबद्ध रही। सन् 1927 ई. में साहित्य सम्मेलन से सभा का संबंध-विच्छेद हो गया और वह स्वतन्त्र संस्था के रूप में पंजीकृत करा दी गयी।

1. दक्षिण के हिन्दी प्रचार आंदोलन का समीक्षात्मक इतिहास से।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौबीसवाँ अधिवेशन भी सन् 1935 ई मे इन्दौर मे ही हुआ और सयोग ऐसा हुआ कि इस बार भी सम्मेलन के सभापति महात्मा गाधी ही हुए। इस समय तक दक्षिण भारत मे हिन्दी प्रचार की जो प्रगति हुई थी, उसके आकडे बताते हुए गाधीजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा—

"दक्षिण मे हिन्दी प्रचार सबसे कठिन कार्य है। तथापि अठारह वर्ष से हम वहाँ व्यवस्थित रूप मे जो कार्य करते आये हैं, उसके फलस्वरूप इन वर्षों में छ लाख दक्षिणवासियों ने हिन्दी मे प्रवेश किया, 42000 परीक्षाओ में बैठे, 8200 स्थानो मे शिक्षा दी गयी, 600 शिक्षक तैयार हुए और आज 450 स्थानो में कार्य हो रहा है। वहाँ हिन्दी की 70 किताबें तैयार हुई और मद्रास मे उनकी आठ लाख प्रतियाँ छपी। सत्रह वर्ष पूर्व दक्षिण के एक भी हाई स्कूल मे हिन्दी की पढाई नहीं होती थी, पर आज सत्तर हाई स्कूलो में हिन्दी पढाई जाती है। और आज तक इस प्रयास में चार लाख रुपये खर्च हुए हैं, जिनमें से आधे से कुछ कम रुपये दक्षिण मे ही मिले है।"

(राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी)

इस बीच बगाल, असम और उडीसा मे भी हिन्दी प्रचार का कुछ थोडा काम शुरू हो गया था। गाधीजी ने उन प्रान्तो की स्थिति का भी पर्यवेक्षण किया और कहा कि सम्मेलन को इन प्रान्तों में भी हिन्दी के प्रचार पर ध्यान देना चाहिए।

मद्रास में जहाँ-तहाँ जो शका खडी हो गयी थी कि हिन्दी के प्रचार से प्रान्तीय भाषाओ के विकास में बाधा पडेगी, उसका खडन करते हुए गाधीजी ने कहा कि "कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हम प्रान्तीय भाषाओ को नष्ट करके हिन्दी को सारे भारत की एकमात्र भाषा बनाना चाहते हैं। गलतफहमी से भ्रमित होकर वे हमारे प्रचार का विरोध करते हैं। मैं हमेशा से यह मानता रहा हूँ कि हम किसी भी हालत में प्रान्तीय भाषाओ को मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तो के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हम हिन्दी भाषा सीखें।

बगाल और दक्षिण भारत का नाम लेकर गाधीजी ने कहा कि 'बगाल और दक्षिण भारत को ही लीजिये, जहाँ अगरेजी का प्रभाव सबसे अधिक है। यदि वहाँ जनता की मार्फत हम कुछ भी काम करना चाहते हैं, तो वह आज हिंदी के द्वारा भले ही न कर सकें, पर अगरेजी द्वारा तो कर ही नहीं सकते।'

साहित्य सम्मेलन के चौबीसवें अधिवेशन का सबसे बडा महत्व यह था कि उसने गाधीजी की कल्पना की हिन्दी-हिन्दुस्तानी को प्रस्ताव द्वारा स्वीकार कर लिया। सम्मेलन के मच से गाधीजी अपना हिन्दी हिन्दुस्तानी-विषयक मत सन् 1918 ई में ही प्रकट कर चुके थे, किन्तु उस समय सम्मेलन ने इस विषय मे कोई प्रस्ताव नहीं किया था। सन् 1935 ई में गाधीजी ने अपने उसी मत को और भी स्पष्ट करके रखा।

'हिन्दी उस भाषा का नाम है, जिसे हिन्दू और मुसलमान, कुदरती तौर पर, बगैर प्रयत्न के बोलते हैं। हिन्दुस्तानी और उर्दू मे कोई फर्क नहीं है। देवनागरी मे लिखी जाने पर वह हिन्दी और अरबी में लिखी जाने पर वह उर्दू कही जाती है। जो लेखक या व्याख्यानदाता चुन-चुनकर सस्कृत या अरबी शब्दों का ही प्रयोग

करता है, वह देश का अहित करता है। हमारी राष्ट्रभाषा में वे सब प्रकार के शब्द आने चाहिए, जो जनता में प्रचलित हो गये हैं।'

सम्मेलन ने गांधीजी की व्याख्या स्वीकार कर ली, इस बात से उन्हें खुशी हुई। 'हरिजनसेवक' के 10 मई, 1935 वाले अंक में लिखते हुए गांधीजी ने कहा—

"पहला प्रस्ताव इस तथ्य पर जोर देता है कि हिन्दी प्रांतीय भाषाओं को नष्ट नहीं करना चाहती, किन्तु, उनकी पूर्तिरूप बनना चाहती है और अखिल भारतीयता के सेवा-क्षेत्र में हिन्दी बोलनेवाले कार्यकर्ताओं के ज्ञान तथा उपयोगिता बढ़ाती है। वह भाषा भी हिन्दी है, जो लिखी तो उर्दू में जाती है, पर जिसे मुसलमान और हिन्दू, दोनों समझ लेते हैं। इस बात को स्वीकार करके सम्मेलन ने इस सन्देह को दूर कर दिया है कि उर्दू लिपि के प्रति सम्मेलन की कोई दुर्भावना है। तो भी सम्मेलन की प्रामाणिक लिपि तो देवनागरी ही रहेगी। वह तो मुसलमानों के इस अधिकार को स्वीकार करता है कि अब तक जिस उर्दू लिपि में वे हिन्दुस्तानी भाषा लिखते आ रहे हैं, उसमें अब भी लिख सकते हैं।"

गांधीजी यह महसूस करने लगे थे कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के लिए यह काफ़ी है कि वह दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार को बढ़ाये। जहाँ तक अन्य अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी के प्रचार का सवाल था, इस काम के लिए गांधीजी साहित्य सम्मेलन की एक अलग शाखा कायम करना चाहते थे। सम्मेलन के इन्दौरवाले चौबीसवें अधिवेशन में उन्होंने उस विशाल कार्यक्षेत्र की थोड़ी चर्चा की थी जो लगभग खाली पड़ा था। दूसरे वर्ष यानी सन् 1936 ई. में सम्मेलन का पच्चीसवाँ अधिवेशन नागपुर में हुआ, जिसके सभापति श्री राजेन्द्रप्रसादजी थे। इसी सम्मेलन में गांधीजी की प्रेरणा से यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि हिन्दी-प्रचार का कार्य करने के लिए हिन्दी प्रचार समिति का संगठन किया जाय और इसका कार्यालय वर्धा में रखा जाय।" इसी प्रस्ताव के अनुसार राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का संगठन किया गया। यह समिति दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की ही तरह दक्षिण भारत के चारों प्रदेशों को छोड़कर भारत के लगभग सभी प्रदेशों में काम कर रही है। इसके सिवा, विदेशों में भी अनेक स्थानों पर समिति के परीक्षा-केंद्र हैं और वहाँ हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था है।

❧

हम तो ऐसी एक राष्ट्रभाषा चाहते हैं जिसे सारे प्रांतवासी समझ सकें और इसी की चेष्टा भी होनी चाहिए। यह भाषा यदि कोई हो सकती है तो वह हिन्दी ही हो सकती है। पंजाब से बंगाल तक तो यह कार्य सहज ही हो जायगा। मद्रास में भी संस्कृत का प्रचार कम नहीं है। इसलिए हिन्दी भविष्य-भारत की भाषा बनायी जा सकती है।

—लोकमान्य तिलक

श्री विष्णुप्रभाकर
818 कुण्डेवालान, दिल्ली-6

भाषा की राजनीति

कहानीकार, रेडियो नाटककार और उपन्यासकार श्री विष्णु प्रभाकर हिन्दी की विशिष्ट हस्तियों में से हैं नक्काशीदार वह महल जो अपनी खुरदरी-नींव के प्रति श्रद्धालु भी है। रचना प्रक्रिया में आदर्श अगर मंजिल है तो यथार्थ का आप अनिवार्य नसेनी मानते हैं। यही कारण है कि आप पुराने लेखकों में खपते नहीं, नये लेखक आप पर 'गांधीवाद" की छाप लगाते हैं। मगर आप हैं केवल मानवतावादी, यही आपकी खूबी है और सबसे बड़ी कमजोरी भी। दक्षिण में सभा द्वारा हिन्दी-अभियान को आप सांस्कृतिक पुनर्गठन की विशिष्ट, ऐतिहासिक प्रक्रिया मानते हैं।

20 वर्ष पूर्व 14 सितम्बर 1950 को हमारी विधान सभा ने देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किया था। इस निर्णय के बाद किसी मतभेद की गुंजाइश नहीं रह जानी चाहिए थी। लेकिन आज स्थिति यह है कि भाषा का प्रश्न दुर्भावनाओं के एक ऐसे चक्रव्यूह में फंस गया है जो दिलों को निरन्तर तोड़ रहा है। जिसे जोड़ना था वही तोड़ता है। इससे बड़ा दुर्भाग्य भी क्या कोई और हो सकता है?

माना जाता है कि यह सब कुछ पेशेवर राजनीतिक दलों और कुछ उलझे मस्तिष्कों के शग़ल और सरकार की प्रारम्भिक तत्परता और उदासीनता के कारण हुआ। किसी भी कारण से हुआ हो, लेकिन तन-मन को झुलसा देनेवाला एक विषाक्त वातावरण आज हमें आविष्ट किये हुए है। इस विष को पीनेवाले नीलकंठ-शंकर का आविर्भाव कब होगा अथवा होगा भी, इस क्षण तो स्वार्थी राजनेता प्राणपण से उसे रोकने की चेष्टा में व्यस्त हैं।

राष्ट्रभाषा का उद्देश्य विभिन्न भाषा-भाषियों को एक-दूसरे को समझने समझाने, एक दूसरे में सहयोग और मेल की भावना को बढ़ाने की सुविधा देना है। वह माध्यम है साथ रहने की कला की उपासना का, लेकिन जब यही शत्रुता का कारण बन जाती है, तो त्रस्त मानव अनायास ही कह उठता है, "काश, हम भाषा का आविष्कार न कर पाते।"

एक कहानी याद आती है—एक डाक्टर था। नारियों से उसे बहुत डर लगता था। उसका विश्वास था कि भाषा का सबसे अधिक दुरुपयोग नारी ही करती है। अपने औषधालय में आनेवाली नारियों को वह सबसे अन्त में ही देखता था।

एक दिन उसने क्या देखा कि एक नारी आकर चुपचाप एक कोने में खड़ी हो गयी है। उसे कुछ अचरज तो हुआ, पर वह अपने काम में लगा रहा। सोचता रहा कि अब उस नारी का भाषण आरम्भ हो, लेकिन आश्चर्य, वह तो एक शब्द भी नहीं बोल रही है। निश्चय ही वह मूक है, होने दो। लेकिन दूसरे ही क्षण अपने को ठगता हुआ वह उसके पास जा खड़ा हुआ। पूछा, "क्या बात है?"

नारी ने सहज भाव से अपना हाथ आगे बढ़ाया। कहा, "हाथ" डाक्टर ने देखा उसका हाथ जल गया था। वह तुरन्त अच्छी से अच्छी दवा लेकर आया और देर तक उसे समझाता रहा। लेकिन नारी ने बिना एक शब्द बोले उसकी सब बातें सुनीं और फिर चुपचाप वहाँ से चली गयी। फिर कई दिन बीत गये, डाक्टर बराबर उसकी राह देखता रहा। बराबर उसके बारे में सोचता रहा। आखिर एक दिन वह फिर आयी और पहले की तरह चुपचाप एक कोने में खड़ी हो गयी। डाक्टर ने उसे देखा। तुरन्त सब काम छोड़कर उसके पास आया और मुस्करा कर पूछा, "कैसी हो? हाथ तो ठीक हो गया न? अब तक क्यों नहीं आयी थी?"

फिर बिना एक शब्द बोले नारी ने सहज भाव से अपना हाथ आगे बढ़ा दिया और विनम्र स्वर में कहा, "बिल।"

उसका हाथ ठीक हो गया था। उसके व्यवहार से वह डाक्टर इतना अभिभूत हुआ कि उसने उससे दवा का एक पैसा भी नहीं लिया।

क्या ही अच्छा होता कि हम सब उस नारी के समान व्यवहार कर सकते। प्रारंभिक युग में ऐसा किया भी होगा, लेकिन क्या आज ऐसा सम्भव है? नहीं है। मनुष्य प्रगति की इतनी सीढ़ियाँ चढ़ चुका है, इतना ज्ञान उसने अर्जित कर लिया है कि भाषा के बिना उसकी मुक्ति नहीं।

तो यह भाषा क्या है? और यह हमारे लिए अनिवार्य क्या है? भाषाविज्ञान के पंडित कहते हैं कि भाषा मनुष्य का सबसे अद्भुत और मौलिक आविष्कार है। मनुष्य सहज भाव से जो कुछ वह अनुभव करता है, उसको अभिव्यक्ति देना चाहता है और अभिव्यक्ति देना बिना साधन के साध्य नहीं है। यह साधन ही नाना रूपों में होता हुआ भाषा रूप धारण कर लेता है। प्रारंभिक युग में स्पर्श, संकेत और ध्वनि अभिव्यक्ति के साधन थे। लेकिन वे भी उसका पूर्ण माध्यम नहीं बन सके। इन्हें भाषा की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। उदाहरण के लिए ध्वनि-भाषा की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। उदाहरण के लिए ध्वनि भाषा तभी हो सकती है जब वह सार्थक हो और मनुष्य के उच्चारण-अवयवों से निसृत होती है। भाषा की व्याख्या करते हुए पाणिनि ने लिखा है कि वह आत्मा और बुद्धि के द्वारा सब अर्थों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है।

भाषा में स्वर, अर्थ, रूप, भाव और बोध का ऐसा समन्वय रहता है कि वह मानवीय अभिव्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि तक अधिक-से-अधिक विस्तार देने में समर्थ हो जाता है।

अशरीरी भाव और बोध को केवल भाषा के द्वारा ही स्वर दिया जा सकता है। नृत्य की भी एक भाषा होती है। वह सभी रसों को स्वर देती है, लेकिन मनुष्य अपने रागात्मक संस्कार और बौद्धिक उपलब्धियों को उसके द्वारा रूपायित नहीं कर सकता।

ये सब भाषाविज्ञान की बातें हैं, लेकिन इस समय हम विज्ञान की बात इतनी नहीं कर रहे हैं, जितनी भाषा की ऐक्य सम्पादन करने की शक्ति की। भाषा को विशुद्ध भाषा विज्ञान के नियमों से समझा भी नहीं जा सकता। प्रश्न उठता है कि मनुष्य ने एक भाषा का ही व्यवहार करना क्यों नहीं सीखा? इसका उत्तर है कि नाना कारणों से जिनमें सबसे प्रमुख है प्रकृति, वह भिन्न भिन्न परिवेशों में रहता आया है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति का जो माध्यम भाषा है, वह भी भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई। वह अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है। इसी कारण एक ही कार्य सम्पादन करने के लिए अर्थात् मनुष्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देने को उसने नाना रूप ग्रहण किये। लेकिन यह भिन्नता मात्र व्यावहारिक है, आन्तरिक नहीं। अर्थात् शब्द की है अर्थ की नहीं। सागर की अनन्त लहरें एक-दूसरे से अलग दिखाई देने का भ्रम पैदा करती हैं। लेकिन क्या एक लहर को दूसरी से अलग किया जा सकता है? क्या वे एक ही विराट का अभिन्न अंग नहीं हैं। यही स्थिति मातृभाषाओं की है। एक विशेष मातृभाषा एक विशेष परिवेश के मनुष्य को एक विशेष प्रकार का स्वर देती है। लेकिन उन सभी स्वरों का अर्थ तो एक ही है। संसार की सभी भाषाओं में माता-पिता, प्रेम, रोटी सभी के लिए अपने-अपने शब्द हैं। लेकिन उन सबका अर्थ तो एक ही है। प्रेम सब कहीं प्रेम ही रहता है। भले ही अलग परिवेश के कारण उसे मोहब्बत, लव, प्यार कुछ भी कहकर क्यों न पुकारा जाए।

इस प्रकार भाषा ऐक्य-सम्पादन अर्थात् मिलन के लिए आविष्कृत हुई थी। आज यदि वह मनुष्य को खंडित करती है तो यह एक विडम्बना ही है। विविधता कभी भी खंडित करने के लिए नहीं होती। वह मनुष्य की मूलभूत एकता अर्थात् सांस्कृतिक एकता की पूरक होती है, विरोधी नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से हम अलग-अलग भाषा बोलकर अपने जीवन का कार्य चला सकते हैं, लेकिन मस्तिष्क और हृदय की जो भाषा है जो वह एक ही रहती है। तभी तो वह एक जाति की बुद्धि और समवेदना को दूसरी जाति के मस्तिष्क और हृदय के लिए सम्प्रेषणशील बनाती है।

फिर भी क्या भाषा मनुष्य के भावों को सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति दे पाने में समर्थ हो सकी है? नहीं हो सकी। कभी हो भी नहीं सकेगी। पूर्ण वही वस्तु हो सकती है जिसका निर्माण किया जाता है। भाषा का किसीने निर्माण नहीं किया। वह निरन्तर विकसित होनेवाला आविष्कार है। परिवर्तन और अस्थिरता उसके जीवन के चिन्ह हैं। पूर्णता और स्थिरता उसकी मृत्यु है।

तो कोई भी भाषा पूर्ण नहीं है और भिन्न-भिन्न भाषाएँ संस्कृति की भिन्नता को व्यक्त नहीं करती, बल्कि उसकी विविधता को उजागर करती हैं। विविधता शक्ति का प्रतीक है दुर्बलता का नहीं। मातृभाषा की आवश्यकता भी अनिवार्य

है, क्योंकि भाषा का अपनी धरती से गहरा संबंध है। हमारी धरती पर हमारी भाषाएँ ही हमारी अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकती हैं। भारत एक विशाल भूभाग है। अनेक भाषाएँ यहाँ बोली जाती हैं। लेकिन क्योंकि ये एक ही भूभाग से संबंध रखती हैं, इसलिए उनमें ऊपरी भिन्नता होने पर भी आत्मगत एकता है। उनका परिवेश एक-दूसरे से मूलरूप में भिन्न नहीं। लेकिन अंग्रेजी का ऐसा नहीं है। इसलिए वह हमारी रागात्मक और बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनने में समर्थ नहीं हो सकती। यह उसका अपराध नहीं है, स्वाभाविक असमर्थता है। वह हमारे हृदय में वास्तविक मनोराग को जगा देने की क्षमता पा ही नहीं सकती। उसकी आवश्यकता हो सकती है, क्योंकि विश्व आज सिमट रहा है और हम विवश हैं अपने पड़ोसी देशों को समझने में! उन देशों को हम उनकी भाषा के माध्यम से ही समझ सकते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि वे भाषाएँ कभी हमारी भाषाओं का स्थान ले सकेंगी। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में, प्रत्येक भाषा अपने ज्ञान और भाव की समृद्धि के कारण ग्रहण करने योग्य है, परन्तु अपने समग्र रागात्मक तथा बौद्धिक सत्ता के साथ जीना अपनी भाषा के संदर्भ में ही सत्य है। कारण स्पष्ट है। ध्वनि का ज्ञान आत्मानुभव से तथा अर्थ का बुद्धि से प्राप्त होता है।

इसी समस्या पर चर्चा करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है, भाषा को आप चाहे संस्कृति का अंग मानें, चाहे उससे भिन्न। दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वाक्यरचना की पद्धति पर निर्भर होती है। आप अपनी भाषा में कर्म को क्रिया से पहले बिठाते हैं या बाद में, यह आपकी परम्परागत जातीय चिन्तनप्रक्रिया पर निर्भर है। आप अपनी भाषा में किस तरह के विदेशी शब्द कितने परिमाण में ग्रहण करते हैं, यह आपके जातीय चरित्र के ऊपर निर्भर है। आप अपनी भाषा का सम्मान करते हैं, दैनिक जीवन में उसका व्यवहार करते हैं अथवा उसे पैरों तले रौंदते हैं और किसी अन्य भाषा को चढ़ाते हैं, यह आपकी सम्मान की भावना पर निर्भर है.... सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में जहाँ हिन्दी बोलना चाहिए, वहाँ हम अंग्रेजी में काम लेते हैं। परिवार के भीतर बचपन से अपनी सन्तान को हम डेडी, मम्मी और अंकल कहना सिखाते हैं। मानों यहाँ भी पारिभाषिक शब्दों की कमी हो। हमारे उच्च-मध्य वर्ग के लोगों की बहुत बड़ी अकांक्षा यह रहती है कि बेटा कान्वेंट में पढ़े, फर्राटे से अंग्रेजी बोले, मैजिस्ट्रेट बनकर लोगों पर हुकूमत करे। किसका सेवाभाव, किसके गांधी और बुद्ध, खाने के दाँत और दिखाने के और।"

एक प्रान्त का साक्षर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अंग्रेजी के माध्यम से बोलता है और इसे हम अपना गौरव मानते हैं। मानते हैं कि इससे राष्ट्रीय ऐक्य बढ़ा है, लेकिन क्या हम कभी यह भी सोचते हैं कि इस तथाकथित राष्ट्र-ऐक्य की जड़ें कितनी गहरी हैं? क्या यह मात्र राजनीतिक और व्यापारिक तल पर ही नहीं है? अंग्रेज सदा नगर से दूर सिविल लाइन में रहा है। उसकी अंग्रेजी ने भी सिविल लाइनों में रहनेवालों की संख्या बढ़ायी है। ऐसे लोग मन के मेल की बात कभी समझ ही नहीं सकते। जहाँ भेद-

विभेद का साम्राज्य हो, गाँव और नगर मे, जन-साधारण और भद्र वर्गों में, दूरी हो वहाँ शोषण ही पनप सकता है, और शोषण रिश्ता तोडता है, जोडता नही।

अग्रेजी हमारी सस्कृति और हमारे प्यार और दुलार की भाषा नही बन सकती। क्योंकि वह हमारे देश की मिट्टी से नही उपजी। वह हमारी अपनी नही, उधार की भाषा है और उधार ली हुई भाषा ऐक्य-सम्पादन नहीं कर सकती। वह भारत के जन मानस का स्वर भी नही बन सकती। हिन्दी कम से कम पन्द्रह-सोलह करोड जनों की भावना को व्यक्त कर सकती है। उनका शब्दकोश सस्कृत के शब्दों से अनुप्राणित है और सस्कृत भारत की अधिकाश भाषाओ का आधार है। आचार्य विनोबा के अनुसार उसके शब्दकोश का एक एक शब्द बोलता है। "समुद्र" एक शब्द है। "सम्+उद+रम्—सम अर्थात चारों ओर समान फैला हुआ, 'उद्' अर्थात ऊँचा उठा हुआ, "रम्" अर्थात अह्लाददायक, अर्थात् जो खेल रहा है जो उछल रहा है जो आनन्ददायक है, वही समुद्र है। वेद न कहा है, "इस हृदय मे समुद्र के समान असख्य भावनाएँ उठती हैं। यह हृदय समुद्र ही है। समुद्र का दृश्य हृदय मे प्रगट होता है, पर "सी" कहेंग तो क्या होगा? वह एक शब्द है। वह शब्द बोलता नहीं, मूक है।

तो ऐसी शब्दशक्ति है भारत मे। उसकी उपेक्षा करके बाहर के देवता की उपासना हम क्यो करें? विश्व से ऐक्य सम्पादन के लिए उसे स्वीकार करना एक बात है, परन्तु अपने घर मे कुल देवता के रूप मे उसे प्रतिष्ठित करना अपना ही अपमान करना है।

आज जो राजभाषा को लेकर वाद विवाद उग्र हो उठा है, उसके लिए केवल उत्तर या दक्षिण को दोष दे देने से मुक्ति नही मिल जाती। असल मे तो समूचा देश ही अबुद्धिवाद का शिकार हो गया है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार करने का आग्रह हिन्दी भाषाभाषियो की ओर से कभी नही आया। वह गौरव तो अहिन्दी भाषियो को ही प्राप्त है, लेकिन यह भी सच है कि राजभाषा स्वीकृत हो जाने के बाद बहुत से हिन्दी भाषाभाषी एक भावुक अबुद्धिवाद के शिकार हो गये। उन्होने अपनी मातृभाषा को राजभाषा के पद पर आसीन देखकर गर्व का अनुभव किया, लेकिन उस गर्व मे से जहाँ विनम्रता आनी चाहिए थी वहाँ, आया आग्रह और दम्भ। चाहिए यह था कि राजभाषा बन जाने पर वे हिन्दी के प्रचार और प्रसार का सारा कार्य अहिन्दीभाषियो को सौंप देते। कहते, "हिन्दी हमारी मातृभाषा है अवश्य, पर अब तो वह आप सबकी भाषा हो गयी है। आप जैसे चाहें, उसे संवारें-सजाएँ।

ऐसा नहीं हो सका। परिणामस्वरूप दूसरी ओर से प्रतिक्रिया हुई। हिन्दीभाषियो के गर्व मे उन्होने अपनी हीनता ही देखी। समझा कि अब वे द्वितीय श्रेणी के नागरिक बनकर रह जायेंगे। इसके लिए उनको दोष नही दिया जा सकता। दोष है हमारे अदूरदर्शी राजनेताओ का। उन्होने इस सकट को नही पहचाना। पहचाना तो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इसका दुरुपयोग ही किया। वास्तव मे इस समस्या का एक आर्थिक पहलू भी है। उसीके कारण प्रतिक्रिया तीव्र हुई। उनकी ओर से स्वर उठा, "हम हिन्दी सीख सकते हैं। लेकिन आप लोगों को भी हमारी भाषाएँ सीखनी होंगी।"

यह भी निरा अबुद्धिवाद था। हिन्दी भाषा-भाषियों को औरों की भाँति बहुभाषाभाषी होना ही चाहिए, लेकिन इसलिए नहीं कि किसीने उनकी हिन्दी पढ़ी है, तो वे भी उनकी मातृभाषा पढ़ेंगे, बल्कि इसलिए कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो संस्कृति और सभ्यता की दौड़ में पिछड़ जाएँगे। आज देश सिमटकर पास आ रहे हैं। प्रान्त तो पास होते ही हैं। यदि हम दूसरे प्रान्त के व्यक्ति से उसकी भाषा में बात कर सकते हैं, तो प्रेम बढ़ना स्वाभाविक है। यदि होलेण्ड जैसे छोटे-से देश का विद्यार्थी डच, अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन ये चार भाषाएँ सहज भाव से सीख सकता है, तो भारतवासी बड़ी सरलता से मातृभाषा, राजभाषा हिन्दी, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी और प्राचीन भाषा संस्कृत क्यों नहीं सीख सकते। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, वे कोई एक प्रान्तीय भाषा सीख सकते हैं, लेकिन यहाँ व्यापार नहीं आना चाहिए। व्यापार आया तो दूषित राजनीति की जय होगी, ऐक्य-सम्पादन स्वप्न बन जाएगा।

यह ऐक्य-सम्पादन तभी हो सकता है जब आग्रही न हों, सेवाभावी हों। हमारी भाषा विद्वानों की भाषा न हो, जन-साधारण की भाषा हो। वह शक्तिशाली भाषा हो, अर्थात् इतनी लचीली हो कि सबको ग्रहण करके चले। भाषा यदि सबल और उदार होती है तो उसका प्रयोग करनेवाले भी सबल और उदार होते हैं। शब्द मुख से नहीं, हृदय से निकलते हैं। भाषाशास्त्री मानते हैं कि जिस भाषा में हम सोचने लगते हैं, उसमें ज्ञान-विज्ञान का कोई भी पक्ष उतारा जा सकता है। परन्तु उस भाषा की पाचन-शक्ति दुर्बल नहीं होनी चाहिए।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, देवी सरस्वती के संबंध में शास्त्रों में बड़ी सुन्दर कल्पना की गयी है। वे सर्वशुक्ला कही गयी हैं। सबको लेकर भी किसी एक वर्ण की नहीं होतीं, शुक्ला ही बनी रहती हैं। जैसे सूर्य की किरणों के सात अपने-अपने रंग हैं, किन्तु उन सबका मिला हुआ एक सर्वशुक्ल रूप है। वैसे ही ज्ञान के क्षेत्र में भाषाओं की स्थिति है। भाषाओं के रूप भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उनमें निहित जो ज्ञान है, उसका रूप एक है। जो व्यक्ति इस सत्य को पहचान लेता है वह किसी भाषा से द्वेष नहीं कर सकता। प्रादेशिक भाषाएँ हिन्दी-रूपी फूल की पंखुड़ियाँ हैं। फूल की पंखुड़ियों से द्वेष करके कोई फूल को कैसे बचा सकेगा?

प्रत्येक भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में होना चाहिए, तभी उसका सभी देवताओं के तेज के राकांश से निर्मित नारायणीय रूप सम्पन्न होगा। तभी वह राष्ट्रभाषा होगी और तभी राष्ट्रहित सम्पादित होगा। इस प्रयत्न में सभी अहिन्दी भाषा-भाषियों का योग अपेक्षित है। प्रसन्नता की बात है कि हमने इस सत्य को पहचान लिया है; क्योंकि पारस्परिक आदान-प्रदान से उत्पन्न विविधता ही भाषा की शक्ति बन सकती है, तभी हम विश्वास के साथ कह सकते हैं, "एकहृदय हो भारत जननी।" हम यदि स्वार्थी लोगों की दूषित राजनीति से मुक्ति पा सकते हैं, तो निश्चय ही एक राष्ट्र के रूप में सोचने की शक्ति भी पा सकते हैं। राष्ट्र एक भूमिखण्ड मात्र नहीं है, वह एक प्रबुद्ध और संस्कृत मानव-समाज का समग्र रूप है, जो उस भूमिखण्ड को अपने ज्ञान और राग से उद्भासित करता रहता है।

पंडित देवदूत विद्यार्थी
'बिहार बाग'
तिपूणित्तुरा कोच्ची (केरल)

"हिन्दी प्रचार अपनी उपयोगिता के बल पर बढ़ेगा"

महात्मा गांधी की प्रेरणा से दक्षिण मे हिन्दी प्रचार के लिए आये हुए उत्तर भारतीय नवयुवकों मे बिहार निवासी देवदूतजी (पुराना नाम श्री देवनारायण पांडे) का व्यक्तित्व कई दृष्टियो से विशिष्ट रहा है। आचार विचार, आहार विहार सबम देवदूत जी समन्वयवादी हैं। उनका अधिकांश सेवा संबंध केरल से रहा है यहाँ तक कि उनका वैवाहिक संबंध भी श्री भारती देवी नामक एक शिष्ट शिक्षित केरलीय महिला स ही हुआ है। सभा के सफल प्रचारक, योग्य मंत्री प्रबल वक्ता, प्रतिभावान साहित्यिक तथा निर्भीक विचारक के रूप मे देवदूतजी विख्यात हो गये हैं। आपने कुछ समय तक आगरा, नया दिल्ली, गयाना आदि स्थानो म भी रहकर हिन्दी की महत्वपूर्ण सेवा की है। आपका 'कुमार हृदय का उच्छवास' आपकी भावुकता का सुदर परिचायक है।

संस्कृत और तमिल भाषाओ को छोड़कर, जो बहुत पहले से साहित्यिक भाषाओ के रूप में चली आती हैं आर्य परिवार और द्रविड परिवार की कही जानेवाली अन्य सब भारतीय भाषाओ का साहित्यिक विकास आज से करीब एक हजार वर्ष पहले शुरू हुआ था। संस्कृत भाषा सारे देश मे सामान्य साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक भाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। जब से मुसलमान इस देश मे आकर बसने और शासन करने लगे तब से उन्होंने हिन्दी (हिन्दवी) को अपना लिया। कई मुस्लिम कवियो की हिन्दी में रचनाएँ भी मिलती हैं। फारसी और अरबी भाषा के, जिन्हें मुसलमान अपने साथ लाये थे, शब्दों का व्यवहार हिन्दी में बढ़ने लगा। हिन्दी की इस शैली का नाम कालांतर मे देकनी और "गोस्वामी भाषा" कहलाती थी। तिरुवनन्तपुरम और तिरुनलवेली तक फैले बहुत से ऐसे मुसलमान पाये जाते हैं जो एक तरह की हिन्दी बोलते हैं जिसे दूसरे तुरुकु भाषा कहते हैं। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान मे हिन्दू मुसलमानो के द्वारा बोली जानेवाली आमफहम भाषा को हिन्दुस्तानी नाम दिया। अरबी लिपि में लिखी हिन्दुस्तानी उर्दू कहलाई और देवनागरी लिपि मे लिखी जाने पर हिन्दी, हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी नाम से सारे भारत मे फैल गयी।

जिस प्रकार भारत के सब प्रदेशों के शिक्षितों ने

संस्कृत को भारत की सामान्य सांस्कृतिक भाषा मानकर उसका उपयोग किया और उसके भण्डार को भरने में योग दिया, उसी तरह उन्होंने हिन्दी के साथ भी किया। हिन्दी का उन्होंने व्यवहार ही नहीं किया, वरन् उसकी सेवा भी की। आंध्र के 'पद्माकर', महाराष्ट्र के 'नामदेव', गुजरात के लाल्लू जी लाल और कृष्णदास और पंजाब के गुरुनानक आदि ने अपनी-अपनी भाषा में रचना करने के साथ-साथ हिन्दी को भी अपने पत्र-पुष्प चढ़ाये। सौ वर्ष पूर्व तिरुवितांकूर के महाराजा स्व० स्वाति तिरुनाळ् ने हिन्दी और ब्रजभाषा में सुन्दर कविताएँ लिखीं। टीपु सुलतान के समय से कोचिन राजपरिवार के लोगों को हिन्दुस्तानी सिखाने के लिए एक मुंशी रहा करता था। बाद को उस पद पर एक हिन्दी पंडित की नियुक्ति हुई।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अंग्रेज़ी शिक्षण का मूल उद्देश्य जो भी रहा हो, इसने भारतीयों का पश्चिम के आधुनिक विचारों से परिचय कराया। अगर वह सिर्फ एक सम्पन्न और उन्नत भाषा के तौर पर सिखायी जाती तो भारतीयों को लाभ ही लाभ होता। पर एक तो, उसने शिक्षा के माध्यम का स्थान ले लिया और प्रत्येक विषय की शिक्षा उसीके द्वारा दी जाने लगी। दूसरे, भारत की प्रादेशिक भाषाओं, मातृभाषाओं, संस्कृत और फ़ारसी-अरबी, इन भाषाओं को गौण स्थान दिया। अंग्रेजी स्कूल-कालेजों का सारा वायुमण्डल विदेशी था।

अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम होने के साथ-साथ सरकार की राजभाषा भी थी। अंग्रेजी जाननेवाले भारतीयों को छोटी-मोटी सरकारी नौकरी भी मिलने लगी। इससे अंग्रेज़ी सीखने की ओर स्वभावतः लोगों का झुकाव हुआ। अंग्रेजी पैसा कमाने के साधन के रूप में अधिकाधिक लोगों को आकृष्ट करने लगी। अंग्रेजी जाननेवाले समाज में इज्ज़त की दृष्टि से देखे जाने लगे। संस्कृत, अन्य प्रादेशिक भाषाओं तथा फ़ारसी आदि के पंडितों की कीमत नहीं रही। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों और बुद्धिमानों को अपने ही देश में अंग्रेजी नहीं जानने के कारण नीचा समझा जाने लगा।

विदेशी शासन के अधीन भारतीयों का मानस कुण्ठित होने लगा। भारतीय अ-भारतीय होने लगे। प्रबुद्ध विचारशील भारतीयों में चिन्ता बढ़ने लगी। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, बिपिन चन्द्रपाल, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय आदि जन-नायकों ने भारतीयों की बढ़ती दुर्दशा के विरुद्ध आवाज़ उठाई। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने देश को यह मंत्र दिया कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।" एक ओर देश को अंग्रेजी शासन से मुक्त करने का विचार ज़ोर पकड़ने लगा और दूसरी ओर देश की शिक्षा-प्रणाली को बदलने की आवाज़ उठाई जाने लगी।

श्री अरविन्द घोष ने कहा, 'राष्ट्रीय शिक्षा की नींव अपने विश्वास, अपने मस्तिष्क, अपनी आत्मा पर आधारित होनी चाहिए।' अंग्रेजी-शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य अंग्रेजों का हित साधना था, भारतीयों का नहीं। गुरुदेव टैगोर ने देश की दुर्दशा को देखकर कहा, "किसी भी देश में ऐसी दुर्दशा देखने को नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों

की जड़ें भूमि मे स्थित न होकर दूसरे पेड़-पौधो पर अमर बेल की तरह लटक रही हैं।"

* * *

गत शती के प्रारम्भ मे देश ने राजा राममोहन राय जैसा एक महापुरुष पैदा किया। वे अरबी और सस्कृत के विद्वान थे और उन्होंने अग्रेजी भी सीखी। उन्होंने हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई धर्म के ग्रथो का अध्ययन किया और देखा कि हिन्दू धर्म और समाज मे कई कुरीतियाँ और गलत धारणाएँ घुस गयी हैं जिसके परिणाम स्वरूप प्राचीन गौरवशालीनी हिन्दू जाति की अधोगति हो गयी है। उन्होने उपनिषदो का आधार लेकर ब्रह्म समाज नामक एक सगठन बनाया, हिन्दू धर्म को सुधरे रूप मे शिक्षित लोगो के सामने रखा और समाज सुधार के कई काम शुरू किये। ईसाई धर्म के यूरोपीय धर्म-प्रचारकों के, जो हिन्दू धर्म को दूषित रूप मे प्रस्तुत कर लोगो को अपने पूर्वजो के धर्म को त्याग देने और इसाई हो जाने के लिए गुमराह कर रहे थे, कुतर्कों और ग़लत-बयानियों का माकूल जवाब दिया तथा भारतीय समाज मे अपनी विरासत और सस्कृति के लिए एक नया आदर और श्रद्धा का भाव उत्पन्न किया। राममोहन राय को आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है। राममोहन राय ने अग्रेजी से भारत को होनेवाले लाभ को भी देखा। इसलिए अग्रेजी का विरोध नही किया। पर भारतीय भाषाओ की अवहेलना नहीं की। 1828 मे उन्होंने 'बगदूत' नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकाला। उस पत्र मे बगला, अग्रेजी और हिन्दी तीनों भाषाओं में लेख रहते थे। वे स्वय भी हिन्दी मे लिखा करते थे।

ब्रह्म समाज के एक दूसरे प्रमुख नेता बाबू-केशवचन्द्र सेन राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी के प्रबल समर्थक थे।

आर्य समाज के प्रवर्तक गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती सस्कृत के धुरन्धर विद्वान और ओजस्वी वक्ता थे। वे सब जगह सस्कृत में भाषण देते थे। केशव बाबू ने ही स्वामी जी को अपने कार्य के विस्तार के लिए हिन्दी मे बोलने का परामर्श दिया। तब से स्वामी जी हिन्दी मे बोलने लगे। स्वामी जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिन्दी मे लिखा और आर्य समाज के नियमो मे प्रत्येक सदस्य के लिए हिन्दी सीखना और उसका प्रचार करना एक कर्तव्य निश्चित कर दिया।

बगाल के एक अन्य विद्वान जस्टिस शारदाचरण मित्र भारतीयों मे एकता बढाने के उद्देश्य से सब भारतीय भाषाओं के लिए एक देवनागरी का व्यवहार करने का समर्थन करते थे। उन्होने एकलिपिविस्तार के लिए एक परिषद की स्थापना की और 'देवनागर' नाम से एक पत्र निकाला जिसमे देवनागरी लिपि में सब भारतीय भाषाओ के लेख छपा करते थे। मद्रास के कृष्णस्वामी अय्यर उनके एक बडे समर्थक थे।

भारत के सुप्रसिद्ध लोकप्रिय राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' के रचयिता बाबू बकिम् चन्द्र चैटर्जी को कौन नही जानता। वे बगला भाषा के एक यशस्वी लेखक थे। उन्होने कहा है "हिन्दी भाषा की सहायता से भारत के विभिन्न प्रदेशों मे जो लोग ऐक्य स्थापित करना चाहगे, वे ही प्रकृत बन्धु कहलाने योग्य हैं। चेष्टा कीजिये, कितने ही बाद क्यो न हो, मनोरथ पूर्ण होगा। हिन्दी भाषा द्वारा अधिकाश स्थानो का मगल-

साधन कीजिए। केवल बंगला और अंग्रेजी की चर्चा से काम नहीं चलेगा।"

'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी,' के विद्वान लेखक विख्यात भाषा-शास्त्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी हिन्दी को आज के भारतीयों की एकता और भारतीयता का प्रतीक मानते थे। उनके मत में, "हिन्दी ही भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है। ये सब होने के साथ-साथ हिन्दी (हिन्दुस्तानी) एक महान सम्पर्क साधक भाषा है।" उनका कथन है, "केवल बंगला या गुजराती, पंजाबी या मराठी का ज्ञान किसी व्यक्ति को प्रान्तों के संकुचित क्षेत्र तक ही रख सकता है। परन्तु हिन्दी या हिन्दुस्तानी को लेकर वह अखिल भारतीय बन जाता है।"

* * *

स्वराज्य, स्वभाषा और राष्ट्रीय शिक्षा—इन तीनों शब्दों ने भारतीयों के लिए जादू का काम किया। हिन्दी के एक कवि ने कहा—

जिसको न निज गौरव तथा
निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नरपशु निरा है
और मृतक समान है।

एक दूसरे कवि ने भारतीयों को मार्ग दिखाया—

निज भाषा उन्नति अहै
सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के
मिटत न हिय को शूल।

भारत की सब भाषाएँ (तमिल को छोड़कर) संस्कृत की पुत्रियाँ मानी जाती हैं। सब अपने विकास के लिए संस्कृत के अक्षय कोष से शब्द लेती हैं; सब समान आदर्श, विचार, भावना, अनुभूति, प्रतीक और प्रेरणा से अनुप्राणित हैं। उनकी वर्णमाला—देवनागरी समान है। लिपि भेद के कारण उनके चेहरे भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर उनकी आत्मा एक है।

हिन्दी सैकड़ों वर्षों से सब प्रान्तों की जनता के लिए सम्पर्क-भाषा का काम देती रही है। यह सीखने में भी सरल है। पचास वर्ष पहले हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए कभी कोई संगठित प्रयत्न नहीं हुआ था। यह अपने केन्द्र से चलकर सहज भाव से देश में चतुर्दिक फैल गयी। इसको सीखने के लिए न किसीसे कहा गया, न यह किसी पर लादी गयी। इसके अखिल भारतीय महत्व को बतलानेवाले अहिन्दीभाषी ही थे और इसका प्रचार करने का बीड़ा उठानेवाले भी वे ही थे।

* * *

महात्मा गांधी जब दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के उद्धार का काम कर रहे थे, तभी वे इस नतीजे पर पहुँच गये थे कि वर्तमान समय में हिन्दी का भारत की सामान्य भाषा के तौर पर अध्ययन-अध्यापन होना आवश्यक है, जिससे तमाम भारतवासी अपने देश की ही एक भाषा के द्वारा एकता-सूत्र में बँध जाएँ।

भारत का दक्षिणी भाग, विशेषकर मद्रास—तमिलनाडु—में हिन्दी की जानकारी अन्य प्रांतों की तुलना में कम है। इस कारण हिन्दी प्रचार का काम सबसे पहले मद्रास (शहर) में गांधीजी की प्रेरणा से शुरू हुआ। उन्होंने स्वामी सत्यदेव और अपने कनिष्ट पुत्र देवदास को प्रथम प्रचारक के रूप में मद्रास भेजा। सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर, डॉ० एनिबेसन्ट आदि कई गण्य-मान्य

सज्जनों ने हिन्दी प्रचार के कार्य में सहयोग दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, के तत्वावधान में शुरू किया हुआ काम बाद को 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के नाम से एक बड़े पैमाने पर पुनस्संगठित किया गया, जिसके आजीवन अध्यक्ष के पद पर महात्माजी चुने गये। तब से तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र और कर्नाटक में हिन्दी प्रचार का काम करने का दायित्व दक्षिण-भारतीयों पर आ गया। दक्षिण भारत के भाई-बहिनों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो सर्वत्र हिन्दी का स्वागत किया और हिन्दी सीखनेवालों की संख्या प्रत्येक देश में बढ़ने लगी।

महात्मा गान्धी की ही मन्त्रणा से दक्षिण भारत के चारों प्रान्तों के अलावा, अन्य अहिन्दी प्रान्तों में भी नियमित रूप से हिन्दी प्रचार का काम करने के लिए वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की गयी जिसके तत्वावधान में उन प्रान्तों में संगठित रूप से प्रचार कार्य हो रहा है और एक बड़ी संख्या में परीक्षार्थी उसकी परीक्षाओं में बैठा करते हैं। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त कई अन्य संस्थाएँ भी प्रचार-क्षेत्र में प्रशंसनीय काम कर रही हैं।

संख्या की दृष्टि से हिन्दी का स्थान संसार में तीसरा है। भारत के बाहर भी करीब 20 देशों में हिन्दी-शिक्षण का काम हो रहा है। उनमें कुछेक के नाम हैं:—अमेरिका, इग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, जापान आदि। इनमें यूनिवर्सिटियों की तरफ से या स्वतन्त्र रूप से हिन्दी सिखाई जाती है। जिन देशों में कई दशकों पूर्व भारतीय गये और बस गये, उनकी सन्तान मातृ देश और भारतीय संस्कृति के प्रति बहुत प्रेम और श्रद्धा का भाव रखती है और हिन्दी सीखने में उत्साह दिखाती है। कहीं-कहीं हिन्दी परीक्षाएँ भी चलाई जाती हैं। दक्षिण अमेरिका के 'गयाना' देश में, जहाँ भारतीय मूल जन-संख्या का आधा भाग हैं, कई विद्यार्थी सभा की 'विशारद' परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं। इन सब बातों से प्रकट है कि भारत की राष्ट्र-भाषा या राज-भाषा के तौर पर हिन्दी का महत्व दिनों-दिन बढ़ रहा है।

* * *

1918 में शुरू किया हुआ हिन्दी प्रचार का कार्य स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद काफ़ी बढ़ा जब कि अंग्रेजों के शासन-काल में इसे कई असुविधाओं और और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। गांधीजी के जीवनकाल में देश के लोगों ने हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा के तौर पर मान लिया था। इसलिए यही विश्वास किया जाता था कि देश के स्वतंत्र हो जाने पर हिन्दी को अनायास सांविधानिक तौर पर भारत की राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जायेगा। पर जब भारत के लिए गणतांत्रिक संविधान बनने लगा तब राष्ट्र-भाषा की समस्या सर्वसम्मति से हल करना इतना आसान नहीं पाया गया। आखिर 14 सितम्बर, 1949, को बहुमत से यह प्रस्ताव संविधान सभा में स्वीकृत हुआ कि "देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी संघ-सरकार की राज-भाषा होगी तथा उसमें हिन्दी अंकों के साथ-साथ अन्तर राष्ट्रीय अंकों का भी प्रयोग किया जायेगा।" वह दिन भारतीयों के लिए बड़े हर्ष का दिन था कि जब कि एक विदेशी भाषा के स्थान पर देश की एक भाषा को भारतीय राज-भाषा के तौर पर देश के नेताओं ने स्वीकार कर लिया।

किन्तु, इस निर्णय से देश की राष्ट्र-भाषा का प्रश्न हमेशा के लिए हल हो गया, सो नहीं हुआ।

संविधान सम्मत 15 वर्ष की अवधि पूरी होने के पहले ही ऐसा लगने लगा कि सरकारी काम-काज का माध्यम अंग्रेजी के बदले हिन्दी को नहीं बनाया जा सकेगा। कुछ अहिन्दी भाषियों ने अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी चालू करने का विरोध करना शुरू किया।

1965 में जब कि संसद में राजभाषा का व्यवहार बढ़ाने के लिए निर्णय होने लगा था, तब मद्रास में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन बड़े जोर से फूट पड़ा। फलस्वरूप, विरोधियों को शान्त करने के लिए संसद में एक विधेयक औपचारिक रूप में पास कर सरकार की नीति निर्धारित कर दी गयी कि जब तक प्रत्येक प्रांत की विधान-सभा इस आशय का प्रस्ताव पास नहीं कर देती कि अंग्रेजी पर अब रोक लगा दी जाए तब तक केन्द्र के सभी कामों के लिए हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी का भी प्रयोग चलता रहेगा। इस निर्णय से हिन्दी का विरोध करनेवाली कोई भी एक प्रादेशिक विधान सभा अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक भारत की अतिरिक्त राजभाषा बनाये रख सकती है। हिन्दी-भाषी प्रदेशों ने इसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा 'अंग्रेजी हटाओ'-आन्दोलन छेड़ दिया। इसका तुरन्त एक फल यह हुआ कि हिन्दी प्रदेशों में अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम या अनिवार्य विषय के स्थान से हटा दिया गया। (हाईस्कूलों में सब प्रदेशों में माध्यम के तौर पर कुछ वर्षों से प्रादेशिक भाषाएँ ही चलती हैं।) अंग्रेजी के विरुद्ध हिन्दीभाषियों का यह रुख अहिन्दी प्रांतों के लोगों को पसन्द नहीं आया।

केन्द्रीय शासन ने विरोध-भाव दूर करने के उद्देश्य से सब प्रांतों के सामने एक योजना रखी। उसे 'त्रिभाषा-सूत्री योजना' कहते हैं। उसके अनुसार प्रत्येक प्रांत के हाईस्कूलों में प्रत्येक विद्यार्थी को अनिवार्य तौर पर तीन भाषाएँ सीखनी पड़ेंगी—मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा, अंग्रेजी और हिन्दी।

मद्रास में द्राविड़ मुन्नेट्र कषगम द्वारा (जो हिन्दी-विरोध के बल पर आम चुनाव में जीत गया था) बनायी गयी नयी सरकार ने केन्द्र सरकार की त्रिभाषा-सूत्री योजना को अस्वीकार कर दिया और तमिल तथा अंग्रेजी, सिर्फ़ दो भाषाएँ हाईस्कूलों में सिखाने की घोषणा की। वह हिन्दी को तमिलनाडु के स्कूलों में किसी भी रूप में सिखाने के विरुद्ध थी। यहाँ तक कि उसने तमिलनाडु के स्कूलों से हिन्दी शिक्षकों के पोस्ट को हटा दिया। उधर हिन्दी भाषी प्रांतों ने किसी दक्षिणी भाषा को अपने यहाँ के स्कूलों में सिखाने का उत्साह नहीं दिखाया। फिर भी तमिलनाडु के सिवा शेष सब अहिन्दी प्रदेश त्रिभाषा-सूत्र के अनुसार हिन्दी सिखा रहे हैं। ऐसे आसार दिखाई दे रहे हैं कि हिन्दी प्रदेशों में भी एक-न-एक दक्षिणी भाषा सिखायी जाने लगेगी।

* * *

मद्रास में हिन्दी का विरोध नया नहीं है। तमिलनाडु में ब्राह्मण अल्पसंख्यक होने पर भी शिक्षा आदि में आगे रहने के कारण सरकारी नौकरियों में पहले अधिक थे। यह बात अब्राह्मणों को खलती थी। अब्राह्मण नेता 'जस्टिस पार्टी' नाम से एक संगठन स्थापित करके अब्राह्मणों को अधिक नौकरियाँ और अन्य

सुविधाएँ देने का आन्दोलन चलाने लगे। तत्कालीन सरकार की नीति जस्टिस पार्टी को उत्साहित करने की थी। इस तरह तमिलनाडु मे अब्राह्मण साम्प्रदायिकता की जड़ जम गयी। इस पार्टी ने अविभक्त मद्रास प्रान्त मे दो बार मंत्रिमण्डल बनाकर शासन भी किया। महात्मा गांधी के नेतृत्व मे कांग्रेस के मजबूत हो जाने से जस्टिस पार्टी बिखर गयी। बाद को श्री ई वी रामस्वामी नायकर जो कांग्रेस से अलग हो 'सेल्फ रेस्पेक्ट पार्टी' और बाद को 'द्राविड कषगम' के नाम से तमिलनाडु के कुछ अब्राह्मणों का संगठन बनाकर इस विचार का प्रचार कर रहे थे कि मद्रास के वे तमिलभाषा लोग जो अब्राह्मण कहे जाते हैं, द्राविड जाति (race) के हैं। उनकी सभ्यता, संस्कृति और भाषा आर्य जाति (दक्षिण के ब्राह्मणों और उत्तर भारतीयो) की सभ्यता, संस्कृति आदि से भिन्न, स्वतंत्र और पुरानी हैं, अब्राह्मण-आन्दोलन को जोर-शोर से चलाना चाहिए। हिन्दी-विरोध भी एक अनिवार्य अंग बन गया।

द्रविड़ कषगम के एक प्रमुख नेता श्री सी. एन. अण्णादुरै ने श्री नायकर की पार्टी से अलग होकर द्राविड मुन्नेट्र कषगम (द्राविड प्रगतिशील संघ) के नाम से एक नयी राष्ट्रीय पार्टी बनायी जिन्हें पिछले चुनावों में आशा से अधिक सफलता मिली। उस पार्टी ने श्री अण्णा के नेतृत्व मे शासन की बागडोर संभाली। मुख्य मंत्री श्री अण्णा ने तुरन्त हिन्दी को स्कूलों के पाठ्यक्रम से हटा देने का आर्डर निकाला और हिन्दी शिक्षकों का पद समाप्त कर उन्हें दूसरा काम सौंपने का एलान किया।

एक और अप्रत्याशित घटना हुई। राजाजी कांग्रेस से अलग होने के बाद कुछ समय से हिन्दी का विरोध करने लगे थे। शुरू से वे हिन्दी प्रचार के परम समर्थक थे। वे हिन्दी को उत्तर और दक्षिण भारत को मिलानेवाला सेतु कहा करते थे। हिन्दी को स्वराज्य-भाषा कहकर मद्रासियों से उसे सीखने की अपील भी की थी। उन्होने कहा था, "यदि भारतीय लोग राजनीति व्यापार या कला में एक रहना चाहते हैं तो हिन्दी ही वह भाषा है, जो समस्त भारतीयों का ध्यान आकर्षित कर सकती है, चाहे वे लोग अपने प्रदेशों मे कोई भी भाषा बोलते हों। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी का गहरा ज्ञान प्राप्त करना भारत के सभी लोगों के लिए शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।" (राजाजी ने ही मद्रास के प्रथम कांग्रेसी मंत्री-मण्डल के नेता और मुख्य मंत्री की हैसियत से हिन्दी को स्कूलों में एक अनिवार्य विषय बनाया था और अनिवार्य हिन्दी का विरोध करनेवालों को जेल की सजा दी थी।) लोगों को आश्चर्य हुआ कि अब उसी राजाजी ने हिन्दी विरोधी अण्णादुरै की पार्टी से गठबन्धन कर लिया और कहना शुरू किया कि केन्द्रीय शासन के कार्य मे हिन्दी का कोई स्थान नहीं रहना चाहिए; एकमात्र अंग्रेजी ही भारत की राजभाषा हो सकती है। (English ever, Hindi never) हिन्दी के सम्बन्ध मे राजाजी के नये विचार ने द्वेषाग्नि मे घृत का काम किया।

उधर द्राविड़-गौरव के अभिमानी, तमिल सभ्यता और तमिल संस्कृति की श्रेष्ठता के हिमायती श्री नायकर भी अंग्रेजी के समर्थन मे पीछे नहीं रहे। एक सार्वजनिक सभा मे उन्होंने कहा, (अखबारों के अनुसार) कि तमिल एक जंगली भाषा है!

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए—यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। देश के सब नेताओं और मनीषियों ने कहा है कि भारतीयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को रखना सर्वथा गलत और हानिकारक है। हाल में भारत के विश्वविद्यालयों के उप-कुलपतियों के सम्मेलन ने यह स्वीकार कर लिया है कि भारत में कालेजों की उच्च शिक्षा भी प्रादेशिक भाषा के माध्यम से देने की दिशा में तैयारी होनी चाहिए। उस सिफ़ारिश के अनुसार अब तक देश में 40 से अधिक विश्वविद्यालयों में वैकल्पिक माध्यम के तौर पर भारतीय भाषाएँ चल रही हैं। जब द्रा. मु. कषगम सरकार ने भी अंग्रेज़ी के बदले तमिल को कालेजी शिक्षा का माध्यम बनाने की दिशा में कदम उठाया तब अंग्रेज़ी के समर्थकों ने जो हिन्दी के भी विरुद्ध थे, कहना शुरू किया कि अंग्रेज़ी कालेजी शिक्षा का माध्यम रहे।

यह अत्यन्त खेद और चिन्ता की बात है कि स्वाधीनता प्राप्त हो जाने पर हम भारतीय नैतिक और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से ह्रासोन्मुख हो गये हैं।

आज के भारतीयों का मानस भारतीय नहीं रहकर प्रान्तीय, अभारतीय होता जा रहा है। वे प्रान्तों को एक-एक स्वतंत्र ईकाई मानने लगे हैं, उनकी दृष्टि, आकांक्षाएँ वैयक्तिक और प्रान्तीय हो गयी हैं। 'हम भारतीय पहले हैं और कुछ बाद को'—इसके बदले 'हम प्रान्तीय हैं, प्रान्त ही सब कुछ है' इस चेतना के वशीभूत हो हम संकुचित मानस का प्रमाण दे रहे हैं। और हमारी राष्ट्रीय भावना और एकता घट रही है। देश के स्वतंत्र होने के पहले महात्मा गांधी के नैतिक और राजनीतिक नेतृत्व में हम भारतीय एक हो गये थे—भारत माता की सन्तान, देशसेवक और देशभक्त, भाई-भाई अविभक्त तथा अखिल देश को अपनी पुण्य मातृभूमि माननेवाले देश में जहाँ चाहे जा सकते थे, रह सकते थे, इच्छानुसार कार्य कर जीवन निर्वाह का काम कर सकते थे और देश की स्वतंत्रता के लिए सब कुछ बलिदान कर सकते थे। पर आज क्या स्थिति है? आज हम अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए नैतिकता और देश भक्ति को ताख़ पर रखकर कुछ भी करने में हिचकते नहीं, भाईचारे के भाव को तिलांजलि दे सकते हैं, जाति, धर्म और प्रान्त के नाम पर अमानुषिक कर्म कर सकते हैं; पड़ोसी प्रान्त के निवासियों को ग़ैर समझकर उन्हें सता सकते हैं, लूट सकते हैं, उनके घर-द्वार जला सकते हैं, राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट कर सकते हैं। आज राष्ट्रवाद के स्थान पर प्रान्तवाद, भाषावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि आदि के नारे लगाकर देशद्रोह कर सकते हैं। भारत का नाम ग़ारत कर सकते हैं।

यह कहा जा सकता है कि वर्तमान काल के भारतीयों के लिए भारतीय राष्ट्र, राष्ट्रीय एकता और संस्कृति अर्थहीन शब्द हो गये हैं।

प्राचीन काल से विरासत के रूप में भारत को ऐसा कुछ मिला है जिसने हमको अनुप्राणित किया है और एक आध्यात्मिक सूत्र में बाँध रखा है।

"यूनानो मिश्र रूमा सब मिट गये जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी नामो-निशाँ हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा।"

* * *

भारतीय राष्ट्रीयता एक बिन्दु और सिन्धु दोनों है। राष्ट्रीयता एकप्रेरणा पूर्ण मनोवैज्ञानिक भावना है जिसका आधार एक भौगोलिक इकाई, संस्कृति और भाषा है। मनुष्य के लिए जैसे परिवार और समाज बनाना नैसर्गिक है वैसे ही अपनी चेतना को व्यापक बनाकर एक देश के सब निवासियों को अपना बनाने की उसकी आकांक्षा भी विकास के पथ पर एक प्रक्रिया है। श्री अरविन्द का कथन है, "राष्ट्रीयता सम्बन्धी हमारा आदर्श प्रेम और बन्धुत्व के आधार पर शुरू होता है और यह राष्ट्रीय एकता का अतिक्रमण करके मानव-जाति की एकता की कल्पना करता है।" गान्धीजी ने कहा है, "राष्ट्रीयता सम्बन्धी मेरा विचार यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाय कि आवश्यकता पड़ने पर सारा देश अपना होम कर सके जिससे मानव जाति जी सके। इसमें जाति-द्वेष के लिए स्थान नहीं है। यही हमारी राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता एक चुनौती है कि मनुष्य स्वार्थ रूपी केंचुल का परित्याग कर लोकसंग्रह को अपना धर्म बनावे।"

एक मनीषी का कथन है, "राष्ट्रीयता राजनीतिक सीमाओं अथवा गोलमुण्ड और गोलनासिका की बात नहीं है। किन्तु वह हृदय और आत्मा की बात है।" (Van Loon) डा० राधाकृष्णन कहते हैं कि "राष्ट्रीय एकता पत्थर और आरी-हथौड़े से नहीं बनाई जाती। यह तो मनुष्य के दिलों में चुपचाप उत्पन्न और विकसित होती है। यह एक धीमी प्रक्रिया है। पर यह स्थाई प्रक्रिया होती है।"

राष्ट्रीयता के लिए भौगोलिक आधार के साथ-साथ राष्ट्र की संस्कृति और भाषा भी अपेक्षित है। संस्कृति और भाषा पूर्वजों से प्राप्त वह धरोहर, वह प्रेरणा और प्रकाश है जो हमारे आत्म-सम्मान, आत्मविश्वास, साहस और निर्भयता को बनाये रखते हैं और हमें आगे बढ़ते रहने को प्रेरित करते रहते हैं।

संस्कृति और भाषा एक रुपये के दो पहलू की तरह हैं। जहाँ एक होगी, वहाँ दूसरी भी होगी। संस्कृति नीर है तो भाषा सरिता है। भाषा पुष्प है तो संस्कृति सुगन्ध है।

संस्कृति एक राष्ट्र की आत्मा है। यह उन प्रधान तत्वों को व्यक्त करती है जो जीवन के भौतिक, मानसिक, नैतिक धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में एक देश के निवासियों की सर्वोत्कृष्ट और अत्यन्त मूल्यवान उपलब्धियों को एक रूप और एक वास्तविकता प्रदान करते हैं।

एक भारतीय भाषा को भारत की राष्ट्र-भाषा या अन्तर-प्रान्तीय भाषा के तौर पर मान्यता देने की बात किसी उलटे दिमागवाले की फितूर नहीं है। देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासियों के पारस्परिक हार्दिक आदान-प्रदान के लिए, अंग्रेजी जैसी क्लिष्ट और विदेशी भाषा को, जिसका मूल, परम्परा और संस्कृति भिन्न है, अन्तर-प्रान्तीय सम्पर्क का या शिक्षा का माध्यम बनाने की बात करना क्या है, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता की अविच्छिन्नता को भंग कर देना है। यह कहना कि भारत की किसी एक भाषा को भारत की राजभाषा या राष्ट्रभाषा बनाना उसके बोलनेवालों को अन्यों की अपेक्षा अधिक फायदे में रखना होगा, ईर्ष्या, तंगदिली, या राजनीतिक दाव-पेंच है। अंग्रेजी जैसी भाषा को आधुनिक ज्ञान और अर्थ-सम्पादन का साधन मानकर उसमें

पाण्डित्य और कुशलता प्राप्त करना थोड़े-से ही लोगों के लिए साध्य हैं। उसे एक सीमा से अधिक महत्व देना राष्ट्र की भावात्मक एकता पर प्रहार करना और बुद्धि को कुण्ठित करना है; तथा सर्वसाधारण को, जिनका जीवनक्रम, जिन की आवश्यकताएँ थोड़े-से अंग्रेजी में चतुर लोगों से भिन्न हैं, अपना पूर्ण विकास करने और राष्ट्रीय जीवन के उत्कर्ष में अपना भाग अदा करने से वंचित करना है। इस देश में अंग्रेजी से लाभ उठानेवालों की संख्या बराबर न्यून ही रहेगी।* इस बात को ध्यान में रखकर अंग्रेजी को ऐच्छिक विषय के तौर पर पाठ्यक्रम में स्थान देना पर्याप्त है।

सीमान्त गांधी ने कहा है, "राष्ट्र की अपनी भाषा समाप्त हो जाती है तब वह राष्ट्र ही खतम हो जाता है। राष्ट्र की उन्नति के लिए भाषा की उन्नति के प्रश्न को सर्वाधिक महत्व देना चाहिए।....प्रत्येक जाति अपनी भाषा से ही पहचानी जाती है। अपनी भाषा के बिना कोई संसार में उन्नति नहीं कर सकता। जो जाति अपनी भाषा को भुला देती है, वह जाति संसार से मिट जाती है।"

यही कारण है कि एक विदेशी शक्तिशाली राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र पर शासन करना चाहता है तो सबसे पहले वह निर्बल राष्ट्र के गौरव, भाषा और इतिहास को नष्ट कर देने का प्रयत्न करता है और उसपर अपनी भाषा लाद देता है। (जैसा कि भारत में अंग्रेजों ने किया)

जो भी हो, राष्ट्रभाषा हिन्दी अपनी उपयोगिता के बल पर अवश्य बढ़ेगी ही। इसके लिए पुनः अर्पित करने का अवसर आया है।

हम सब राष्ट्रपिता के फौलादी संकल्प का नम्रता पूर्वक स्मरण करें और दुहरावें—

"हमें तब तक विश्राम नहीं लेना चाहिए जब तक हमारे विद्यालय एवं महाविद्यालय हमारी भाषाओं में शिक्षा देना आरंभ नहीं करते। वह दिन शीघ्र आना चाहिए जब हमारी विधान सभाएँ सब विषयों पर हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं में बहस करेंगी।"

जय भारत! जय हिन्दी!!

*वर्तमान समय में भारत में अपनी मातृभाषा के अलावा अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या 1.1 करोड़ है और मातृभाषा के अलावा हिन्दी जाननेवालों की संख्या 9·4 करोड़ है।

हिन्दी भाषा को हम केवल हिन्दुओं की भाषा बनाना नहीं चाहते हैं प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं जिसमें जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई सभी सम्मिलित हैं। इसलिए मैं इसे "आर्यभाषा" कहकर पुकारता हूँ।

—स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'
अजयनिवास, दिलशाद कालोनी,
शाहदरा दिल्ली 32

दक्षिण में हिन्दी के प्रचार में आर्य समाज का योग-दान

श्री क्षमचन्द्र "सुमन" उस वर्ग के साहित्यकार हैं जिनके दर्शन अब धीरे धीरे दुर्लभ होते जा रहे हैं। आपका राष्ट्रप्रेम प्रतिक्रियावादी नहीं है। आर्यसमाजी आदर्श संस्कार तथा गंभीर पांडित्य प्रगति के नाम पर प्रसरित अश्लील यथार्थता के प्रति सदा खड्गहस्त रहा है। राष्ट्रीय शिक्षालयों के संचालक, हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं के कृतिकार, दर्जनों पत्र पत्रिकाओं के संपादक की हैसियत से दशकों की आपकी सामाजिक शैक्षिक तथा साहित्य-सेवा के उपलक्ष्य में भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसेन द्वारा 'एक व्यक्ति एक संस्था' के रूप में आप अगर अभिनंदित हुए हों तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सम्प्रति आप गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर की प्रबंध समिति के प्रधान हैं।

वैसे तो आर्य समाज ने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के अनुसार सारे संसार में ही अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए हिन्दी को माध्यम के रूप में अपनाया था, किन्तु दक्षिण भारत में उसने अपने प्रचारक विशेष रूप से भेजे थे। महात्मा गांधीजी ने सन 1918 में अपनी अध्यक्षता में हुए अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में दक्षिण में हिन्दी प्रचार करने का जो महत्वपूर्ण तथा पुनीत संकल्प किया था उसकी सम्पूर्ति के लिए उन्होंने सर्वप्रथम अपने पुत्र देवदास गांधी को ही मद्रास भेजा। गांधीजी को इस कार्य के लिए इन्दौर नरेश और सेठ सर हुकमचन्द ने दस दस हजार रुपये की जो राशि भेंट की थी, उससे ही यह कार्य आगे बढ़ा था। महात्माजी द्वारा प्रारंभ किये गये हिन्दी-प्रचार के इस यज्ञ में यदि आर्य समाज और उसके द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं में तैयार किये गये कार्यकर्ताओं ने अपना सक्रिय सहयोग न दिया होता तो कदाचित् इस कार्य में उतनी प्रगति न हो पाती, जो आज दिखाई दे रही है।

इस क्षेत्र में सबसे प्रथम और अग्रिम स्थान यदि किसीको दिया जा सकता है तो वे हैं स्वामी सत्यदेव परिव्राजक। स्वामीजी आर्य समाज के उच्च कोटि के नेता और प्रचारक थे।

उन्हें भी महात्मा गांधी ने ही मद्रास जाकर हिन्दी का प्रचार करने की प्रेरणा दी थी। फलतः, अगस्त 1918 में स्वामीजी ने मद्रास में विधिवत् हिन्दी-कक्षाएँ चलाईं और फिर उनके लिए 'हिन्दी की पहली पुस्तक' नामक ऐसी पाठ्यपुस्तक तैयार की, जिससे हिन्दी न जाननेवाले छात्र सहज ही उससे रस ग्रहण कर सकें। स्वामीजी ने यों लिखा था—"मैं दक्षिण में हिन्दी-आन्दोलन के प्रति गहरी आस्था रखता हूँ। मैंने 14 वर्ष पूर्व हिन्दी का जो बीज वहाँ बोया था, वह आज एक महावृक्ष के रूप में परिणत हुआ है और उसकी छाया में सैकड़ों हिन्दी-प्रचारक एकत्रित होकर हिन्दी-साहित्य की चर्चा कर रहे हैं, यह देखकर मैं अत्यन्त मुग्ध हूँ।"

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के बाद उत्तर भारत से जो कर्मठ कार्यकर्ता दक्षिण में पहुँचे उनमें सर्वश्री प्रतापनारायण वाजपेयी, रघुवरदयालु मिश्र, रामानन्द शर्मा, अवधनन्दन, देवदूत विद्यार्थी (देवनारायण पांडे) आदि के नाम प्रमुख हैं। उक्त सभी महानुभाव यत्किंचित् आर्य समाज से प्रभावित थे।

इनके बाद सन् 1921 में दक्षिण में हिन्दी के कार्य को गति देने में उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध शिक्षण-संस्था गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, के प्राचीन स्नातक श्री एम. के. दामोदरन उण्णि ने उल्लेखनीय कार्य किया। सर्वप्रथम उन्होंने केरल की तिरुवितांकूर रियासत में हिन्दी-प्रचार के कार्य की नींव डाली थी। वे कुछ समय तक उस रियासत के राजघराने की राजकुमारी को भी हिन्दी तथा संस्कृत पढ़ाते रहे थे। उनका नाम आज भी वहाँ बड़े आदर से लिया जाता है। वे केरल के एट्टुमानूर नामक गाँव के निवासी और संस्कृत, हिन्दी तथा मलयालम के अच्छे पंडित थे। आज केरल में हिन्दी के प्रति जो प्रेम दिखाई देता है उसका प्रमुख श्रेय श्री दामोदरन उण्णि को दिया जा सकता है। उन्होंने केरल में जहाँ अनेक हिन्दी-प्रचार-केन्द्रों की संस्थापना की वहाँ अनेक युवकों को हिन्दी-अध्ययन तथा अध्यापन के मिशन में लगाया। उनके ऐसे शिष्यों में श्री एन. वेंकटेश्वरन, डॉ० के. भास्करन नायर, श्री पी. के. केशवन नायर आदि के नाम प्रमुख हैं। श्री उण्णि को केरल का प्रथम हिन्दी-प्रचारक कहा जाता है। गुरुकुलों में जहाँ संस्कृत और वैदिक वांङ्मय के प्रकाण्ड पण्डित तैयार किये जाते थे वहाँ हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिए सुयोग्य और कर्मठ मिशनरी भी ढाले जाते थे। श्री दामोदरन उण्णि ऐसे ही मिशनरी थे। तभी तो एक बार श्री श्रीनिवास शास्त्री ने चकित होकर कहा था—"गुरुकुलों ने मेरी इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है कि सिर्फ़ अंग्रेजी माध्यम से ही उच्च शिक्षा दी जा सकती है। मैं मानने लगा हूँ कि हिन्दी माध्यम के द्वारा भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जा सकती है।"

श्री दामोदरन उण्णि के साथ-साथ गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के प्रतिष्ठित स्नातक श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने भी सन् 1921 में बैंगलोर जाकर स्वामी सत्यानन्द के निरीक्षण और निर्देशन में हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रारंभ किया था। वहाँ के नेशनल हाईस्कूल के प्रधानाचार्य श्री वालसुन्दर अय्यर से भेंट करके उन्होंने उसमें हिन्दी की कक्षाएँ प्रारम्भ की थीं। श्री सिद्धान्तालंकार वहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जी के आदेश पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से 'हिन्दी-प्रचार-कार्य' के निमित्त ही भेजे गये थे। उन्हीं दिनों इन्होंने 'हाउ टू लर्न हिन्दी' नामक एक पुस्तक भी लिखी थी, जिससे अहिन्दी

भाषी सज्जन अंग्रेजी के माध्यम से हिन्दी सीख ओर पड़ सकें। श्री दामोदरन उण्णि और श्री सिद्धान्तालंकार के कार्य मे इतना अन्तर रहा कि श्री दामोदरन उण्णि ने केरलीय होने के कारण केरल में हिन्दी के प्रचार-कार्य में ही अपने को होम दिया और श्री सिद्धान्तालंकार केवल 3 वर्ष मे ही वहाँ से लौट आये। उन्ही दिनों मे श्री दामोदरन उण्णि के जो होनहार विद्यार्थी लाहौर के 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' से प्रशिक्षित होकर केरल लौट आये थे वे श्री पी. के. केशवन नायर थे। उन्होने 'मलयालम हिन्दी कोश' की रचना की है। हाल ही मे दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास नामक पुस्तक भी लिखी है। उनके द्वारा प्रशिक्षित अनेक छात्र केरल मे हिन्दी-प्रचार में सलग्न हैं। ऐसे महानुभावो मे श्री टी के गोविन्दन (जो बाद मे 'गोविन्द विद्यार्थी' नाम से प्रसिद्ध हुए) आजकल सगीत नाटक अकादेमी, नई दिल्ली, से सम्बद्ध हैं। इनकी कई हिन्दी कविताएँ उन दिनों सभा के पत्र 'हिन्दी प्रचारक' मे प्रकाशित हुई थीं। श्री गोविन्द विद्यार्थी ने बाद मे उत्तर भारत के कई हिन्दी पत्रो में भी कार्य किया था।

मद्रास मे जिन आर्य समाजी प्रचारकों ने हिन्दी के कार्य को आगे बढाया उनमे श्री क्षेमानन्द राहत का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री राहत ने हिन्दी-प्रचार-कार्य के अतिरिक्त मद्रास के साहूकारपेट से 'तिलक' नामक एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया था। इन्ही राहतजी ने बाद मे अजमेर से प्रकाशित हिन्दी की प्रमुख पत्रिका 'त्यागभूमि' के सम्पादन में भी श्री हरिभाऊ उपाध्याय को अपना अनन्य सहयोग प्रदान किया था। श्री राहत गुरुकुल वृन्दावन के प्रतिष्ठित स्नातक आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि के बड़े भाई हैं और आजकल 'स्वामी भगवान' नाम से जाने जाते हैं। इन्होने तमिल सीखकर कवि तिरुवल्लुवर के 'तिरुक्कुरल' नामक ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'तमिल वेद' नाम से किया था, जो सस्ता साहित्य मण्डल की ओर से प्रकाशित हुआ है। गुरुकुल कांगडी के स्नातक श्री केशवदेव विद्यालंकार को भी स्व० श्रद्धानन्द ने मद्रास मे हिन्दी प्रचारक के निमित्त भेजा था, जो बाद मे 'केशवदेव ज्ञानी' नाम से विख्यात हुए।

श्री दामोदरन उण्णि के बाद केरल मे जिन महानुभावों ने हिन्दी-प्रचार में योगदान किया उनमे श्री नारायण देव 'केरलीय' तथा श्री नारायण दत्त के नाम उल्लेखनीय हैं। उनका प्रारंभिक शिक्षण तथा पठन-पाठन उण्णजी के ही निरीक्षण मे हुआ था। उन्होंने ही इनके हाथ पर मिठाई रखकर इन्हें हिन्दी के प्रति आकर्षित किया था। उनके द्वारा प्राप्त महर्षि स्वामी दयानन्द के अद्भुत ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' को पढकर ही वे आर्य समाज की ओर झुके थे। पहले उन्होंने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा दिल्ली में सचालित 'ज्योति विद्यालय' और बाद में लाहौर के 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' में जाकर विधिवत् हिन्दी तथा संस्कृत का अध्ययन किया था।

कुछ दिन 'देव' जी गुरुकुल कागडी में भी पढे थे। वहाँ से दक्षिण मे जाकर इन्होंने कोट्टयम मे 'श्रद्धानन्द हिन्दी महाविद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय के द्वारा इन्होंने जहाँ अनेक प्रचारक तैयार किये वहाँ 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की केरल शाखा के भी वे प्रमुख कार्यकर्ता रहे। कुछ दिन तक उन्होंने उसकी पत्रिका 'केरल भारती' का भी

सम्पादन किया था और अभी पिछले दिनों ही वे सभा की सेवा से निवृत्त हुए हैं। देवजी हिन्दी के सुकवि और लेखक भी हैं। केरल के अन्य हिन्दी-प्रचारकों में श्री पद्मनाभ शास्त्री, श्री ई. करुणाकरन, श्री कृष्णदेव वाचस्पति, श्री ए. एस. बावा, श्री अभयदेव आदि आर्य समाजी हिन्दी सेवियों के नाम भी अविस्मरणीय हैं। उनमें कुछ महानुभाव गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, के स्नातक रहे हैं। वेदारण्य के श्री वेदरत्नम् पिल्लै और कुप्पुस्वामी आर्य के नाम भी दक्षिण के प्रचारकों में अग्रगण्य हैं। इसी शृंखला में श्री शंकरानन्द की हिन्दी सेवाएँ भी स्मरणीय हैं।

तमिल-भाषी प्रख्यात हिन्दी लेखक श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् की शिक्षा-दीक्षा भी लाहौर के दयानन्द उपदेशक विद्यालय में हुई थी और वहीं से वे आजाद हिन्द फ़ौज में चले गये थे। आज़ाद हिन्द फ़ौज के पत्र 'आज़ाद हिन्द' के हिन्दी संस्करण के सम्पादन में भी आपने उल्लेखनीय सहयोग दिया था। आज़ाद हिन्द फ़ौज का अभियोग समाप्त होने के उपरान्त वे दिल्ली में ही रह गये थे और पहले यहाँ के दैनिक 'अमर भारत' में कार्य किया तथा बाद में कई वर्ष तक 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादकीय विभाग से संबद्ध रहे। आजकल वे रूस में जाकर स्थायी रूप से बस गये हैं और वहाँ के 'विदेशी भाषा प्रकाशन गृह' में हिन्दी प्रकाशनों का कार्य देखते हैं। तमिल-भाषी हिन्दी-लेखकों में कदाचित् वे सबसे पहले महानुभाव हैं, जिन्होंने मेरे सतत अनुरोध एवं अविरत आग्रह पर मेरी 'भारतीय साहित्य परिचय' पुस्तकमाला के लिए 'तमिल और उसका साहित्य' नाम से तमिल साहित्य का इतिहास हिन्दी में लिखा। राजाजी और कल्कि की भी कई रचनाओं का इन्होंने हिन्दी में सफल अनुवाद प्रस्तुत किया है।

डा० एन. चन्द्रकान्त मुदलियार का प्रारंभिक हिन्दी शिक्षण लाहौर के 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' में हुआ था। अतः इनके वैशिष्ट्य का श्रेय भी मैं आर्य समाज को ही देना चाहूँगा। काशी की कचौड़ी गली के 'आर्यकुमार छात्रावास' में निवास करते हुए इन्होंने वहाँ के 'नित्यानन्द वेद विद्यालय' से संस्कृत वाङ्मय का जो गहन अध्ययन किया था वही उनके साहित्यिक उत्कर्ष की प्रबल तथा सुपुष्ट पीठिका है। उनके काशी-निवास के दिनों के सहाध्यायी स्वा० रामानन्द शास्त्री एम.पी. गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, के स्नातक हैं और वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय के उनके गुरु श्री देवदत्त शर्मा उपाध्याय भी इसी संस्था की विभूति हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, की मदुरै शाखा के मन्त्री श्री ए. सुमतीन्द्र की प्रारंभिक शिक्षा भी गुरुकुल गौरली (मेरठ), गुरुकुल हापुड़ और गुरुकुल आर्मोला (बरेली) में हुई थी।

कर्नाटक में हिन्दी के प्रचार की जो आधार-शिला प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और स्वामी सत्यानन्द ने रखी थी, उसपर भव्यभवन खड़ा करने में गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के प्राचीन स्नातक श्री धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने प्रशंसनीय कार्य किया। उन्होंने अपने भाषणों और कथाओं के द्वारा कन्नड़ जनता में जहाँ हिन्दी के प्रति अभूतपूर्व प्रेम जाग्रत किया वहाँ उच्च कोटि के संस्कृत वाङ्मय के आस्वाद की गम्भीर ललक भी उसमें उत्पन्न की। उनके साथ-ही-साथ प्रख्यात पत्रकार श्री रामगोपाल विद्यालंकार के छोटे भाई श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ, पंडित जमना प्रसाद श्रीवास्तव तथा पं. सिद्धनाथ पंत की हिन्दी-सेवाएँ भी इस क्षेत्र में अनन्य तथा उल्लेख योग्य हैं। श्री सिद्धगोपाल ने जहाँ हिन्दी के कर्मठ प्रचारक तैयार किये वहाँ श्री सिद्धनाथ पन्त ने

उसके संगठन पक्ष को सुदृढ किया। इस स्थान पर कर्नाटक के श्री रामचन्द्र अय्यर नामक उन सज्जन का उल्लेख करना भी परम आवश्यक है जो स्वा० श्रद्धानन्दजी की प्रेरणा पर कुछ दिन के लिए 'गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ' मे आ गये थे और वहाँ विधिवत् हिन्दी सीखकर बाद में बंगलोर चले गये थे। उन्होने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली से प्रभावित होकर वहाँ भी उस क्षेत्र के 'कंगेरी' नामक स्थान मे एक गुरुकुल की स्थापना सन् 1923-27 मे की थी। इस गुरुकुल के द्वारा श्री अय्यर ने ऐसे अनेक हिन्दी-प्रचारक तैयार किये, जो आज भी कर्नाटक मे हिन्दी-प्रचार कार्य में अग्रसर हैं। श्री रामचन्द्र अय्यर बाद मे 'भारत सेवक समाज' के सक्रिय कार्यकर्ता हो गये थे और आजकल दिल्ली मे ही निवास करते हैं।

दक्षिण के तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक प्रदेशो की अपेक्षा हैदराबाद रियासत में उन दिनो आर्य समाज का प्रचार बहुत अधिक था। वहाँ जितने भी आर्य प्रचारक गये उन्होने अपने विचारो का प्रचार करने के लिये हिन्दी को ही अधिकांशत अपनाया। वैसे तो वहाँ हिन्दी का प्रचार करने के निमित्त दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की एक शाखा बहुत पहले ही हैदराबाद मे स्थापित हो चुकी थी, परन्तु आर्य समाज के सांस्कृतिक तथा वैचारिक आन्दोलन से प्रभावित कुछ हिन्दी-प्रेमियो ने 'हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद' नामक संस्था की स्थापना भी सन् 1935 मे अलग से की थी। पहली संस्था ने मद्रास, कर्नाटक, और आन्ध्र के अन्य स्थानों से दीक्षित अहिन्दीभाषी प्रचारकों के द्वारा जहाँ सारे आन्ध्र में हिन्दी विद्यालयो का गठन किया वहाँ इस दूसरी संस्था के द्वारा सर्वश्री लक्ष्मीनारायण गुप्त, विनायक-राव विद्यालंकार, वंशीधर विद्यालंकार तथा प० नरेन्द्रजी आदि अनेक महानुभावों ने हैदराबाद के उर्दूमय वातावरण को हिन्दी की भावनाओं और संस्कारो मे ढाला। ये सभी सज्जन आर्य समाज की देन हैं। श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त के ममेरे भाई स्व० गजानन्दजी आर्य समाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। आर्य समाज के वार्षिक उत्सवो के अवसर पर जितने भी चोटी के आर्य नेता हैदराबाद आया करते थे, वे सब उन्ही के यहाँ ठहरा करते थे। उन्हीं के सम्पर्क के कारण श्री गुप्तजी मे हिन्दी प्रचार की उदात्त भावना उद्भूत हुई। श्री विनायकराव विद्यालंकार और श्री वंशीधर विद्यालंकार की शिक्षा दीक्षा गुरुकुल कांगडी मे हुई थी तथा प० नरेन्द्रजी मे लाहौर के 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' के संस्कार काम कर रहे थे। प० विनायकराव जी के पिता श्री केशवराव कोरटकर बडे ही हिन्दी-प्रेमी थे। वे काफ़ी दिन तक हैदराबाद रियासत के चीफ़ जस्टिस रहे थे।

श्री वंशीधर विद्यालंकार ने जहाँ उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी को अलग से प्रमुख स्थान दिलाया वहाँ उन्होंने हिन्दी प्रचार सभा की मासिक पत्रिका 'अजन्ता' के माध्यम से भी बहुत बडा कार्य किया। प्रख्यात भाषा शास्त्री डा० आर्येन्द्र शर्मा ने 'कल्पना' नामक मासिक पत्रिका के माध्यम से उस प्रदेश मे जहाँ हिन्दी का गौरव बढाया वहाँ अनेक हिन्दी लेखक भी तैयार किये। श्री शर्मा की शिक्षा प्रारंभ में स्वा० दर्शनानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित गुरुकुल बदायूँ मे हुई थी। 'कल्पना' के सम्पादक-मंडल के एक अन्य सदस्य श्री मधुसूदन चतुर्वेदी भी आर्य विचारधारा के हैं। वे सन् 1934-35 मे 'आर्यमित्र' के सम्पादक भी रहे थे। इनके अतिरिक्त गुरुकुल कांगडी के सुयोग्य स्नातक श्री मदनमोहन विद्या-सागर का भी इस क्षेत्र में अत्यन्त प्रशंसनीय

योगदान है। वे तो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (आन्ध्र) की ओर से सन् 1967 में एलूर में हुई 'हिन्दी महासभा' के अध्यक्ष भी मनोनीत हुए थे। हिन्दी महाविद्यालय के प्रधानाचार्य श्री कृष्णदत्त, श्री राजेन्द्रनाथ भारती, पं० भीष्मदेव, पं० कुमुदेव, राजवीर आर्य तथा श्री चन्द्रगुप्त आर्य आदि ऐसे अनेक महानुभाव हैं, जिन्होंने हैदराबाद में हिन्दी को आगे बढ़ाने में भरपूर सहायता की है। इनमें पं० कुमुदेव जी और श्री राजेन्द्रनाथ भारती की शिक्षा-दीक्षा दयानन्द उपदेशक विद्यालय, लाहौर में हुई थी। पं० भीष्मदेव जी ने जहाँ 'दक्षिणभारती' का सम्पादन किया था वहाँ हैदराबाद सत्याग्रह के दिनों में कृष्णदत्तजी 'दिग्विजय' के सम्पादक थे। श्री गयाप्रसाद शास्त्री 'श्रीहरि' की सेवाएँ भी इस क्षेत्र में अविस्मरणीय हैं। श्रीमती सुशीला विद्यालंकृता और श्रीमती सुशीला भारती ने भी अपनी क्षमताओं और सीमाओं के अनुरूप वहाँ हिन्दी के प्रचार में उल्लेखनीय कार्य किया है। गुरुकुल कांगड़ी के दूसरे स्नातकों में श्री सतीश दत्तात्रेय विद्यालंकार और शंकरदेव वेदालंकार भी हैदराबाद में हिन्दी का जागरण करने में पीछे नहीं रहे। सतीश जी 'आर्य भानु' के सम्पादक थे और शंकरदेवजी वहाँ अब भी सर्वोदय विचारधारा का प्रचार हिन्दी के माध्यम से कर रहे हैं। हैदराबाद राज्य के पहले लोकप्रिय मंत्री-मण्डल में शंकरदेवजी समाज-सेवा-मन्त्री थे।

हैदराबाद के हिन्दी-प्रचार का यह इतिहास अधूरा ही रह जायगा यदि यहाँ हमने अपने पूज्य गुरुदेव आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ का उल्लेख न किया। वे यद्यपि मूलतः मराठे थे, परन्तु उनका जन्म हैदराबाद रियासत में हुआ था। आर्य समाज के प्रभाव के कारण ही वे शिक्षा-प्राप्ति के लिये उत्तर में आये और बाद में यहाँ की सुप्रसिद्ध संस्था गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, में जम गये थे। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र उत्तर भारत था, परन्तु हैदराबाद रियासत के सांस्कृतिक जागरण में उन्होंने जो भूमिका निबाही, उसी की पृष्ठभूमि पर आज का सारा हिन्दी-आन्दोलन प्रतिष्ठित है। ऐसे ही एक दूसरे सन्त थे स्वामी रामानन्द तीर्थ। स्वामी जी ने जन-जागरण के लिए हिन्दी भाषा को अपनाने पर जो बल दिया उसी का उज्ज्वल अवदान आज सारे आन्ध्र प्रदेश में परिव्याप्त है। वे हैदराबाद में हिन्दी-आन्दोलन के सतत समर्थक रहे हैं। आन्ध्र के हिन्दी-प्रचार और साहित्यिक जागरण से यदि श्री ए. रमेश चौधरी 'आरिगपूडि' का नाम निकाल दें, तो वह आत्मा-विहीन निर्जीव शरीर की तरह ही रह जायगा। श्री रमेश चौधरी की हिन्दी-सेवाएँ ही उनका सजीव परिचय हैं। वे उच्चकोटि के लेखक और पत्रकार हैं। यह सौभाग्य की बात है कि इनकी प्रारंभिक शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में हुई थी और ये गुड़िवाड़ा (आन्ध्र प्रदेश) के निवासी हैं। यह चर्चा अपूर्ण ही रह जायगी यदि मैं श्री युद्धवीर और उनके 'दैनिक हिन्दी मिलाप' का उल्लेख यहाँ न करूँ। श्री युद्धवीर प्रख्यात आर्य संन्यासी महात्मा आनन्द स्वामी के सुपुत्र हैं और अपने पितृदेव के पदचिन्हों पर चलकर ही अपने पत्र के माध्यम से आन्ध्र में हिन्दी-प्रचार में अभूतपूर्व सहयोग दे रहे हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि आर्य समाज से शिक्षित, दीक्षित, प्रभावित कार्यकर्ता दक्षिण में जाकर हिन्दी,प्रचार में अपना योग न देते तो यह कार्य इतनी तेज से आगे न बढ़ता।

पंडित अवधनन्दन
64, पाटलीपुत्र कॉलोनी
पटना 13, (बिहार)

स्व० पंडित प्रतापनारायण वाजपेयी
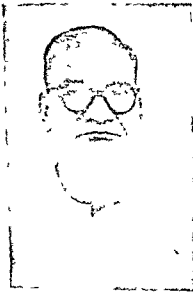
बिहार-निवासी पंडित अवधनंदन भी दक्षिण में हिन्दी प्रचार करने आये उन पुराने मिशनरियों में थे। सभा के तत्वावधान में यद्यपि उन्होंने दक्षिण के कई प्रदेशों में हिन्दी प्रचार का कार्य किया, तो भी तमिलनाडु उनका प्रधान सेवाक्षेत्र रहा। तमिलनाडु हिन्दी प्रचार सभा के मंत्री, केन्द्र सभा संयुक्त मंत्री, प्रधान संपादक आदि विविध हैसियतों से सेवा करनेवाले अवधनंदनजी सफल प्रचारक, प्राचार्य, सुयोग्य लेखक और प्रभावकारी वक्ता के रूप में विख्यात रहे हैं। 'शिक्षण कला', 'लवकुश', 'बाल-कृष्ण', 'हिन्दी स्वबोधिनी' आदि उनकी कई सुंदर रचनाएँ बहुप्रशंसित हुई हैं। भवन निर्माण, बागवानी, सार्वजनिक संपर्क आदि मामलों में भी आपने अपनी दक्षता का खूब परिचय देकर सभा की महान सेवा की। अवकाश-प्राप्ति के बाद अब आप पटना में रहते हैं।

दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार आन्दोलन ने उत्तर भारत से जिन नवयुवकों को राष्ट्रभाषा की सेवा के हेतु आकर्षित किया था उनमें स्व० प्रतापनारायण वाजपेयी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। दुबला-पतला छरहरा शरीर, गोरा रंग, चेहरे पर चेचक की दाग, चेचक की ही बीमारी से एक आँख नष्ट, साधारण धोती-कुरता पहने, एक हाथ में छोटा-सा बिस्तरा और दूसरे में लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य की कापी लिए हुए एक युवक ने सन् 19.0 के मार्च में मद्रास के हिन्दी प्रचार सभा के कार्यालय के एक छोटे-से प्रांगण में प्रवेश किया। उस समय महात्मा गांधी के प्रयत्न से दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का श्रीगणेश ही हुआ था। हिन्दी के सर्वप्रथम प्रचारक स्व० श्री देवदास गांधी अस्वस्थता के कारण अहमदाबाद लौट गये थे और उनके स्थान पर स्व० स्वामी सत्यदेवजी प्रचार कार्य कर रहे थे। सारे दक्षिण में चार-पाँच त्यागी नवयुवक ही हिन्दी का दीप अपने हाथों में लिये फिर रहे थे जिनमें दो-तीन दक्षिण के थे और दो-तीन उत्तर भारत से आये थे। वाजपेयीजी पटना कालिज में इन्टर पास हुए थे। महात्मा गांधी का आदेश पाकर पढ़ाई छोड़ दी और हिन्दी की सेवा करने मद्रास पहुँचे और तिरुच्चिरापल्ली को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। तिरुच्चि में स्व० डाक्टर राजन एक प्रसिद्ध सर्जन और उच्चकोटि के राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे। विलायत में डाक्टरी का अध्ययन करते समय ही उन्होंने भारत की आज़ादी के

आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया था। महात्मा गांधी जब दक्षिण अफ्रीका का मामला लेकर विलायत आये थे उसी समय डाक्टर साहब का परिचय गांधीजी से हो चुका था। डाक्टर राजन साहब के निमंत्रण पर वाजपेयीजी तिरुचिरापल्ली पहुँचे। दक्षिण के सभी राष्ट्रप्रेमी सज्जन तथा कांग्रेसी नेता महात्मा गांधी का आदेश मानकर हिन्दी सीखने लगे थे या सीखने के इच्छुक हो गये थे। स्व. डा० स्वामिनाथ अय्यर तिरुच्चि के एक लोकप्रिय डाक्टर और प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता थे। वाजपेयीजी के तिरुच्चि पहुँचने पर डाक्टर साहब ने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया और ले जाकर उन्हें अपने मकान में ठहराया। वे वाजपेयीजी से बिलकुल अपरिचित थे, पर थोड़े ही समय में दोनों में घनिष्टता उत्पन्न हो गयी। वाजपेयीजी हिन्दी और अंग्रेज़ी के अच्छे विद्वान और गीता के प्रेमी थे। अवकाश के समय डाक्टर साहब और उनके बंधुमित्र हिन्दी सीखते और वाजपेयीजी के साथ बैठकर देश के लिए स्वतंत्रता-प्राप्ति के साधनों पर विचार करते। अपने शील और स्वभाव के कारण कुछ ही दिनों में वाजपेयीजी तिरुच्चि के राष्ट्रीय नेताओं के प्रेम-पात्र बन गये।

सन् 1921 में महात्मा गांधी ने देश को स्वतंत्र बनाने के लिए सबसे पहला आन्दोलन—असहयोग आन्दोलन—आरंभ किया। गांधीजी ब्रिटिश सरकार के भक्त और समर्थक थे। पर 1918 के पंजाब हत्याकांड के बाद सरकार के ऊपर से उनका विश्वास उठ गया था और वे भारत को आज़ाद करने के प्रयत्न में लग गये थे। उनका आह्वान पाकर देश के लाखों व्यक्तियों ने सरकार के साथ असहयोग करने का व्रत लिया और निर्भय होकर जेल-यात्रा के लिए तैयार हो गये। तिरुच्चि के प्रमुख नेता थे डाक्टर राजन, डाक्टर स्वामीनाथ अय्यर आदि। ये सब लोग गिरफ्तार करके जेल में रख दिये गये। भला, ऐसे समय में वाजपेयीजी चुप कैसे रह सकते थे? वे भी आन्दोलन में कूद पड़े। नेताओं की गिरफ्तारी पर तिरुच्चि म्युनिसिपालिटी के मैदान में एक बृहत् सभा हुई जिसमें हज़ारों जनता की भीड़ एकत्रित हुई। सभा में वाजपेयीजी का जोरदार भाषण हुआ जिसमें उन्होंने अंग्रेज़ी शासन का कड़े शब्दों में विरोध किया। उनका भाषण अंग्रेज़ी में था और तिरुच्चि के प्रसिद्ध वकील श्री हालास्यम अय्यर ने उसका तमिल में अनुवाद किया था। उस भाषण की रिपोर्ट पाकर सरकार बहुत नाराज़ हुई और भाषणकर्ता और अनुवादकर्ता दोनों गिरफ्तार करके जेल में भर दिये गये।

छे मास की जेल की सज़ा भोगने के बाद वाजपेयीजी बाहर आये। उनका स्वास्थ्य पहले से ही क्षीण और शरीर दुर्बल था। उन दिनों जेलों में राजनैतिक क़ैदियों के साथ भी निम्न श्रेणी के क़ैदियों के जैसा ही बर्ताव होता था। उन्हें बहुत साधारण भोजन मिलता था और शारीरिक परिश्रम भी करना पड़ता था। वाजपेयीजी को जेल में बहुत कष्ट उठाना पड़ा जिससे उनका शरीर बहुत कमज़ोर हो गया और वे रोगग्रस्त हो गये। किन्तु उनमें अतुलनीय साहस था। कष्टों से घबराना तो वे जानते ही नहीं थे। जेल से छूटने के दूसरे ही दिन फिर एक सभा में उनका भाषण हुआ। यह भाषण भी उतना ओजस्वी था। इस बार उनके भाषण का अनुवाद डा० स्वामीनाथ अय्यर के बड़े भाई ने किया। दूसरी बार भी वही नतीजा हुआ। भाषणकर्ता और अनुवादक दोनों सज्जन सरकार की काल कोठरी में बंद कर दिये गये।

तीन वर्ष तक मदनपल्ली, ब्रह्मपुर और ईरोड आदि स्थानों में प्रचार करने के बाद इन पंक्तियों का लेखक सन् 1923 में तिरुच्चि पहुँचा। तिरुच्चि में तमिलनाडु हिन्दी प्रचार सभा का कार्यालय स्थापित हुआ था और उसका भार इन कंधों पर रखा गया था। उन दिनों स्व० पंडित रघुवरदयालु मिश्र तजाऊर में प्रचार करते थे। हम दोनों अक्सर मिलते रहते थे। उस समय वाजपेयीजी तिरुच्चि के सेन्ट्रल जेल में कैद थे। तिरुच्चि आने पर मैंने सुना कि जेल में वाजपेयीजी को टी बी हो गया है। और वे बहुत अस्वस्थ हैं। मेरी इच्छा हुई कि मैं उनसे जाकर मिलूँ। पर सरकार ने उनपर इतनी कड़ाई कर रखी थी, किसी को उनसे मिलने नहीं देती थी। मैंने मिलने की बहुत कोशिश की। पर असफल रहा। जेल के सुपरिंटेंडेन्ट ने कह दिया कि कलक्टर की आज्ञा के बिना कोई उनसे मिल नहीं सकता और केवल उनके रिश्तेदारों को उनसे मिलने की अनुमति दी जा सकती है। मैंने तजाऊर से पंडित रघुवरदयालु मिश्र को बुलाया और आपस में विचार किया। वाजीपेयीजी से मिलने की हमारी तीव्र इच्छा थी। इसलिए हम दोनों ने एक दरख्वास्त तैयार की कि हम बिहार से आये हैं और वाजपेयीजी के रिश्तेमंद हैं। उनकी बीमारी का समाचार पाकर हम इतनी दूर से उनको देखने आये हैं। हमें उनसे मिलने की अनुमति दी जाय। उस समय तिरुच्चि के कलक्टर श्री रदरफोर्ड थे, जो पीछे चलकर बिहार के गवर्नर बने। हमारी दरख्वास्त पर हम दोनों को उन्होंने अनुमति दी और दूसरे दिन हम दोनों जेल में वाजीपेयीजी से मिले। उनकी दशा देखकर हम लोगों का हृदय कांप गया। वे केवल अस्थि चर्म मात्र रह गये थे। चलने फिरने से भी लाचार हो गये थे। यक्ष्मा रोग ने पूरी तरह उनको ग्रास लिया था। वे एक चौकी पर बैठे हुए हम दोनों का इन्तजार कर रहे थे। दस मिनट तक की उनसे बातचीत के दौरान मालूम हुआ कि सरकार ने उनके गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर उससे माफी माँगकर बाहर जाने की सलाह अनेक बार दी। पर वे तो 'वज्रादपि कठोराणि' पुरुष थे। सरकार से क्षमा माँगकर बाहर आने की कल्पना भी उनके मनमें नहीं उठ सकती थी।

उनसे मिलने और उनकी दशा देखने के बाद हम लोगों ने उनकी रिहाई के लिए आन्दोलन आरंभ किया। तिरुच्चि के अनेक प्रमुख सज्जन कलक्टर से मिले और उनकी रिहाई पर जोर दिया। अंत में जब सरकार ने देखा कि उनकी जीवनलीला बहुत शीघ्र समाप्त होनेवाली है तब स्वयं उनको कैद से रिहा कर दिया और जेल के अम्बुलेन्स में लिटाकर डा. स्वामिनाथ अय्यर के घर पर पहुँचा दिया। रिहाई के तीसरे दिन उनका जीवन-दीप सदा के लिए बुझ गया। सारे तिरुच्चि में शोक छा गया। नगर के सभी नेताओं और सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने उनके पार्थिव शरीर की बिदाई में भाग लिया।

वाजपेयीजी तो चल बसे पर हम दोनों उलझन में पड़ गये। जेल में साक्षात्कार करते समय हम लोग वाजपेयीजी को सचेत करना भूल गये कि हमने उनका रिश्तेमंद घोषित करके उनसे मिलने की अनुमति प्राप्त की है। हम लोगों के बाहर आने के बाद जेलर उनसे मिलने गया और पूछा—"क्या ये दोनों आपके रिश्तेमंद थे?" सरल स्वभाव से वाजपयीजी ने कह दिया—'रिश्तेमंद नहीं, मित्र लोग थे।" बस, दूसरे ही दिन जेलर ने कलक्टर के पास रिपोर्ट कर दी कि हम दोनों ने गलत बयान देकर अनुमति प्राप्त की थी। बस, क्या था? हम दोनों पर झूठा बयान देकर

वाजपेयीजी के साथ साक्षात्कार की अनुमति लेने के अपराध में मुकद्दमा चल गया। हमारी घबराहट की सीमा नहीं रही।

तंजाऊर में श्री रघुवरदयालु मिश्र एक वकील साहब को हिन्दी सिखाते थे; नाम था श्री रामनाथ अय्यर। उन्हीं दिनों तिरुच्चि की एक अदालत में एक काबुलीवाले पर फ़ौजदारी का मुकद्दमा चला। वह न अंग्रेज़ी जानता था न तमिल; सिर्फ़ हिन्दुस्तानी समझता और बोलता था। उसको एक ऐसे वकील की तलाश थी जो उसकी बात समझकर उसकी ओर से वकालत कर सके। जब उसने सुना कि श्री अय्यर हिन्दुस्तानी जानते हैं तब वह उनके पास पहुँचा। अय्यर साहब हर तारीख़ पर उसके मुकद्दमे की पैरवी करने तिरुच्चि आने लगे। पर वकील साहब को अपने हिन्दुस्तानी-ज्ञान पर अभी पूरा भरोसा नहीं था। और उसपर भी काबुलीवाले की हिन्दुस्तानी समझने की क्षमता अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी। इसलिए वे कभी मिश्रजी को और कभी मुझे आदालत में दुभाषिये का कार्य करने के लिए ले जाते थे। इस प्रकार उस मैजिस्ट्रेट से हम दोनों का भी अच्छा परिचय हो गया था। संयोग से हमारे ख़िलाफ़ ज़िला मैजिस्ट्रेट का मुकद्दमा भी उसी अदालत में पेश हुआ। मैजिस्ट्रेट एक सज्जन पुरुष थे। हम लोगों की घबराहट देखकर उन्होंने धीरज दिलाया और आश्वासन दिया कि हमारा अपराध साबित हो जाने पर भी वे हमको कोई कड़ी सज़ा नहीं देंगे। फिर भी अपने पक्ष में सबूत तो पेश करना ही था।

हम दोनों ने एक लंबी-चौड़ी वंशावली बनायी जिसमें यह दिखाया कि हम लोग वाजपेयीजी के दूर के रिश्तेदार हैं। अनेक नामों की कल्पना की, अनेक बनावटी रिश्ते जोड़े और उसे अदालत में पेश किया। सरकार के पास हम लोगों के ख़िलाफ़ कोई सबूत तो था नहीं और उसके एक मात्र गवाह श्री प्रतापनारायण वाजपेयी स्वर्ग सिधार गये थे। संयोग से वाजपेयीजी के दादा, अस्सी साल के एक वृद्ध महाशय जीवित थे और पटना सिटी के वाजपेयी मुहल्ले में रहते थे। हम लोगों ने उनको पत्र लिखकर सारा मामला समझा दिया और प्रार्थना की थी कि उनसे पूछे जाने पर हमारी वंशावली को सही करार दें। आख़िर तिरुच्चिरापल्ली के मैजिस्ट्रेट ने पटने के मैजिस्ट्रेट के द्वारा उनसे पूछ-ताछ की। वाजपेयीजी के दादा ने अदालत में पेश की हुई हमारी वंशावली को सही बतलाया। इस तरह हमारी जान को छुटकारा मिला और ज़िला मैजिस्ट्रेट के सामने झूठा बयान देने के अपराध से हम लोग बरी हुए। मामला लगभग साल-डेढ़ साल तक चलता रहा और हर तारीख़ को हम लोग अदालत में हाज़िर होते रहे।

वाजपेयीजी पटना सिटी में वाजपेयी मुहल्ले के रहनेवाले थे। उनके माता-पिता और पत्नी का देहान्त हो चुका था। उनकी पत्नी सात वर्ष के एक बालक और चार साल की एक बालिका को छोड़कर स्वर्ग सिधार गयी थी। माता की मृत्यु के बाद बालिका का भी देहान्त हो गया। घर में उनके वृद्ध बाबा के सिवा अन्य कोई नहीं था। वे ही वाजपेयीजी के सात वर्ष के बालक भगवतीप्रसाद वाजपेयी का लालन-पालन करते थे। पटना सीटी में उनका अपना मकान था। उसी में वे अपने पौत्र के साथ रहते थे।

मृत्यु के पूर्व प्रतापनारायणजी ने इच्छा प्रकट की थी कि उनके सुपुत्र भगवतीप्रसाद को गुरुकुल कांगड़ी में अध्ययन के लिए भेजा जाय।

वाजपेयीजी की मृत्यु के बाद जेल से लाये गये उनके सामानो की जाच करते समय 'गीता रहस्य' के आवरण मे छिपाकर रखा हुआ 600 रुपये का एक नोट मिला। ये उनकी गाढ़ी कमाई के रुपये थे, जिसे उन्होने अपने पुत्र की शिक्षा के लिए सजोग कर रखा था। पर यह रकम गुरुकुल में प्रवेश के लिए पर्याप्त नही थी। इसलिए हमने 600 रु पटना में राजेन्द्र बाबू के पास भेजकर उनसे प्रार्थना की कि वे वाजपेयीजी के लडके को गुरुकुल भेजवाने का प्रबध करा दें और उसके लिए आवश्यक रकम की भी व्यवस्था कर दें। राजेन्द्र बाबू उस समय वकालत छोडकर सार्वजनिक कार्य करते थे और बिहार के प्रान्तीय काग्रेस के अध्यक्ष थे और शायद पटना म्युनिसपालिटी के चेयरमैन भी थे। मेरा पत्र पाकर वे वाजपेयीजी के पितामह से कई बार मिले और भगवतीप्रसाद को गुरुकुल भेजने के लिए आग्रह किया। किन्तु वृद्ध वाजपेयीजी कट्टर सनातन धर्मी थे और कागडी का गुरुकुल आर्य समाजियों की सस्था थी। भला वे अपने पौत्र को शिक्षा के लिए किसी आर्य समाज सस्था मे कैसे भेज देते? आज से 40-50 वर्ष पूर्व सनातन धर्मियों और आर्य समाजियो के बीच उत्तर भारत में घोर सघर्ष चला करता था। एक-दूसरे को अधर्मी, ढोंगी आदि नामों से सबोधित करते थे। इसलिए वृद्ध महाशय ने राजेन्द्र बाबू का आग्रह अस्वीकार कर दिया। दो-तीन साल तक राजेन्द्र बाबू प्रयत्न करते रहे। 1923 मे उन्होंने अपने पत्र मे लिखा था—

जीरादेई, सारन जिला
17 10 23

प्रिय अवधनन्दन जी,

आपका पत्र हस्तगत हुआ। मुझे बहुत खेद है कि आपसे पटने मे भेंट नही हुई। आपके पत्र का भी मैंने उत्तर नही दिया। आप कृपया क्षमा करें।

श्री वाजपेयीजी के पुत्र के सबध मे जो आपका अनुभव हुआ वही मेरा भी हुआ है। पर मैं एक बार और वृद्ध महाशय से जोर लगाऊँगा। यदि मान गये तो मान गये, नहीं तो फिर लाचारी रहेगी। वह जहाँ चाहेंगे वहाँ पर ही शिक्षा का प्रबध करना पडेगा।

600 रुपये मेरे पास ही पडे हैं। पर जब यह निश्चय हो जाय कि वह इस समय खर्च नहीं होनेवाला है तो उसको किसी बैंक में अच्छे सूद पर रखवा दूंगा। इधर का सूद तो मुझे ही देना चाहिए क्योंकि वह रकम मेरे ही पास है। बैंक मे जमा करने के समय मैं सूद साथ जमा कर दूंगा।

भवदीय,
राजेन्द्र प्रसाद

अत में राजेन्द्र बाबू असफल रहे। अपने पुत्र को गुरुकुल कागडी मे अध्ययन के लिए भेजने की स्व० प्रतापनारायण वाजपेयी की इच्छा पूरी नही हो सकी। वृद्ध महाशय ने पटना में ही अपने पौत्र भगवतीप्रसाद की शिक्षा का प्रबध किया। राजेन्द्रबाबू ने सूद के साथ रुपये वृद्ध महाशय को सौंप दिये।

इस तरह एक सच्चे देशभक्त और राष्ट्रभाषा हिन्दी के सेवक की कहानी समाप्त हुई। प्रताप नारायण वाजपेयी ने अपने परिवार, बच्चे तथा वृद्ध पितामह के कष्टों की परवाह न करके देश और हिन्दी की सेवा मे अपने को कुर्बान कर दिया।

★

पंडित रामानंदशर्मा
परमहसकुटीर पुनास, राणीटोलता
दरभंगा (बिहार)

राष्ट्रपिता का रोपा महावट—सभा
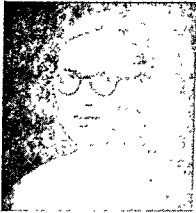
आप बिहार से 1920 के करीब दक्षिण में राष्ट्रभाषा का प्रचार करने आये थे। आंध्र, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु के कई उच्च विद्यालयों में हिन्दी सिखायी। आपकी साहित्यिकता एक संक्रामक चीज़ है। आपकी भाषा-शैली अनूठी होती है; वास्तव में आप शब्द-शिल्पी हैं। 'मानस-मंथन', 'पुनर्मिलन', 'पीया चाहे प्रेम रस' आदि उनकी कई सुंदर रचनाएँ निकली है। सभा के कई सग्रह-सकलनो का प्रकाशन आपके समर्थ संपादकत्व में हुआ है। कई वर्षो तक आप मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित "दक्खिनी हिन्द" नामक हिन्दी मासिक के प्रधान सपादक भी रहे। मद्रास की 'साहित्यानुशीलन समिति' आपकी अमर कीर्ति-पताका है। आजकल आप बिहार के दुमका मे 'कन्याकुमारी प्रकाशन' नामक प्रकाशन-संस्था के कर्णधार है।

बरगद का बीज कितना सूक्ष्म होता है, लेकिन समुचित पोषण और विकास का अवकाश पाकर वही किस विशाल वृक्ष में परिणत हो जाता है!

आज से आधी सदी पूर्व, जब यह देश विदेशियों का गुलाम था; और जब स्वराज्य या स्वतंत्रता का स्वप्न भी सुस्थिर नहीं हो सका था, तभी कर्मवीर गांधीजी ने इन्दौर के साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में सभापति-पद से यह घोषित किया कि 'राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है; और इस राष्ट्र की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है—अंग्रेज़ी नहीं!'

तब तक हिन्दी अपनी सहज मन्थर गति से पग बढ़ा रही थी—न कोई जोश-खरोश था, न विरोध-अवरोध की ही कोई आशंका थी।

गांधीजी की उस घोषणा से उपस्थित जन-समूह में एक हलकी-सी हलचल पैदा हुई और तत्काल कुछ धनराशि भी एकत्र हो गयी। किन्तु गांधीजी को उससे संतोष न हुआ—वह तो उत्साही कार्यकर्ता खोज रहे थे, जो अंग्रेज़ी के गढ़ में जाकर हिन्दी का प्रचार करें।

हिन्दीवालों में भाषा-प्रचार की वह उत्कट भावना नहीं जगी थी। गांधीजी ने इधर-उधर नज़र दौड़ाई; और अन्त में अपने प्रियपुत्र देवदास गांधी की ओर देखकर पूछा—क्या हिन्दी का झंडा लेकर मद्रास जा सकते हो?

क्योंकि मद्रास ही उस समय अंग्रेज़ी का गहन गढ़ समझा जाता था—जिसमें आज के चारों राज्य शामिल थे।

थे। देवदासजी गांधीजी के सुपुत्र थे और उन्हें हिन्दी का अल्प ज्ञान भी था। वह सहर्ष तैयार हो गये।

यह सन् 1918 ई. की बात है।

राजनीति के रंगमंच पर गांधीजी के उदय होने के पहले लीडर लोग जोशीले भाषण करने में ही निपुण होते थे, लेकिन गांधीजी कर्मवीर थे; और उनका आदर्श 'मानस' के राम के सिद्धान्त से मेल खाता था।

'जनि जल्पना करि सुजसु नासहि
नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पुरुष त्रिविध
पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन फल
एक फलइ केवल लागही।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर
एक करहि कहत न बागही॥

गुलाब में प्रत्यक्ष फूल ही प्रधान होता है। आम में मंजर एवं फल दोनों अफरात देखे जाते हैं; और कटहल का केवल फल ही गोचर होता है।

अपनी डींग हांकते हुए महारथी रावण को रणक्षेत्र में देखकर 'मानस' के राम का कहना है कि पाटल रसाल और पनस की तरह पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं। एक वह, जो गुलाब की तरह फूलते ही हैं अधिक—अर्थात् बातों की फुलझरी ही उनमें प्रधान होती है; दूसरे वे जो आम की तरह समतोल फूलते-फलते हैं—अर्थात् कहना और करना जिनमें दोनों ही प्रधान होता है। तीसरे वे, जो कटहल की तरह केवल फल-प्रधान होते हैं—अर्थात् जो कहते कम और करते अधिक।

कर्मवीर गांधीजी में वक्तृत्वकला की प्रधानता नहीं थी, वह बोलने में निपुण नहीं थे; किन्तु जो सोचकर कहते थे, उसकी पूर्ति में तन-मन-प्राण से तत्पर हो जाते थे।

हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है, प्रवास के अनुभवों से यह उनकी दृढ़ धारणा हो गयी थी। और जब उन्होंने भारतवर्ष का भ्रमण करके देखा, तब तो उनकी उस धारणा में प्रबल पंख भी लग गये। मातृभाषा उनकी गुजराती थी, हिन्दी का टूटा-फूटा ज्ञान ही उन्होंने प्राप्त किया था; और, अंग्रेजी में तो बैरिस्टर थे ही। फिर भी सामान्यतया वह जहाँ जाते थे गुजरात के बाहर, हिन्दी में ही बोलना अधिक पसंद करते थे। अपने इसी हिन्दी-प्रेम के कारण उन्होंने तत्कालीन हिन्दी-कर्णधारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद पर भी आसीन हो सके।

तत्कालीन मद्रास समस्त दक्षिणापथ का द्योतक था जिसमें तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड भाषाओं की प्रधानता थी। यही कारण था—कि अंग्रेजी का वह अभेद्य गढ़ बन गया था; क्योंकि तत्कालीन सत्ताधारी थे अंग्रेज, अंग्रेजी उनकी गर्वीली मातृभाषा ही नहीं, राज-भाषा भी थी। भारत में अपार भाषा-भेद की जानकारी के बल पर वे अंग्रेजी को ही शासन की भाषा बना चुके थे; क्योंकि नौकरी के लोभ में लोग उसको सोत्साह अपना भी रहे थे। साथ ही हिन्दी का प्रचार दक्षिण में नहीं के बराबर था। इसलिए दूरदर्शी एवं कट्टर राष्ट्र-भक्त गांधीजी ने राष्ट्रभाषा का सूत्र मजबूती से पकड़ा और अपने प्राण-प्रिय पुत्र को दूर दक्षिण में मद्रास भेज दिया।

मद्रास में उस समय होमरूल लीग के कारण अंग्रेजी महिला श्रीमती एनी बीसेंट की तूती बोल

रही थी। उनकी भारत-भक्ति अद्भुत गौरव की चीज थी—जिसपर देश-प्रेमी भारतीयों को अनूठा गर्व हो रहा था। दिव्य ज्ञान की पृष्ठ-पोषिका उस सुसंस्कृत मनस्विनी महिला ने नवयुवक देवदास गांधी को सप्रेम अपनाया; और, उन्हीं के नेतृत्व में मद्रास नगर में हिन्दी-प्रचार का झंडा फहराया गया।

मेधा-प्रतिभा एवं राष्ट्रानुराग के प्रतीक कतिपय मद्रासी जज, बैरिस्टर, वकील, डाक्टर एवं प्राध्यापकों ने भी हिन्दी सीखने का संकल्प किया और वे हिन्दी-वर्ग में शामिल भी हुए। देखा-देखी तथा देवदासजी की अनुपम श्रम-श्रद्धा के कारण हिन्दी-वर्गों की लोक-प्रियता क्रमशः बढ़ने लगी, मद्रास की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं ने भी सहयोग दिया; और दक्षिण के दूसरे नगरों से भी हिन्दी-प्रचारकों की माँग आने लगी। हिन्दी राष्ट्रीय भावना की सुदृढ़ प्रतीक मान ली गयी।

कर्मवीर गांधीजी ने एक अपील निकाली जिसमें उत्तर-दक्षिण के राष्ट्र-प्रेमी नवयुवकों को हिन्दी सीखने-सिखाने का व्रतधारी बनने को कहा गया था। इस अपील पर उत्तर से सर्वप्रथम स्वामी सत्यदेव परिव्राजक मद्रास आये और उन्होंने बड़े उत्साह के साथ प्रचार-कार्य को पुरस्सर किया। तदनन्तर उत्तर से कर्मठ देश-प्रेमी हिन्दी-भाषियों का एक दूसरा छोटा दल मद्रास पहुँचा जिसमें श्री प्रतापनारायण वाजपेयी और श्री क्षेमानन्दजी के नाम चिरास्मरणीय हैं। वाजपेयी जी ने तो हिन्दी में एक पत्र भी निकाला और वह राजनीति में भाग लेने के कारण दमन की क्रूरता के शिकार हुए—जेल में ठूँसे गये और मरणासन्न स्थिति में मुक्त होकर अमर शहीद हो गये।

तत्पश्चात् पं. हरिहर शर्मा (जो मद्रास के तमिल भाषा-भाषी हैं) के नेतृत्व में दक्षिण का एक दल हिन्दी-शिक्षार्थी के रूप में प्रयाग पहुँच और हिन्दी का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर मद्रास लौटा। हिन्दी-प्रचार की बुनियाद दक्षिण में दरअसल उन्हीं के हाथों डाली गयी जिसमें पं. हरिहर शर्मा और शिवराम शर्मा के नाम सादर उल्लेखनीय हैं। सच पूछा जाए, तो पं. हरिहर शर्मा ही दक्षिणी हिन्दी-प्रचारकों में सर्वाग्रणी हैं और उन्हीं को प्रचार का सर्वाधिक-श्रेय भी है।

शर्माजी गांधीजी के विश्वास-पात्र थे और क्रान्तिकारी दल से नाता तोड़कर उनके पास पहुँचे थे। उनका 'शर्मा' वाला वह नया नाम गांधीजी के सान्निध्य में ही प्रसिद्ध हुआ था। सेवा, सादगी, राष्ट्रानुराग और उच्च विचार के शर्माजी प्रतीक थे। गांधीजी के लगाये हिन्दी के उस छोटे पौधे को सींच-साँचकर आपने ही 'महावट' का रूप दिया।

उत्तर से एक तीसरा दल नवयुवकों का मद्रास पहुँचा हिन्दी प्रचार का व्रत धारण कर—जिसमें पहला नाम पं. श्री हृषीकेश शर्मा का सगर्व लिया जाएगा। इन्होंने दक्षिण में हिन्दी-प्रचारक विद्यालयों का सूत्र अपने हाथों में लिया और प्राचार्य के पद से सैकड़ों-हजारों युवकों को प्रशिक्षित किया; तेलुगु भाषा में पांडित्य प्राप्त करके 'हिन्दी स्वयं शिक्षक' नामक ऐसी सुबोध पुस्तक लिखी—जिसके माध्यम से आन्ध्र प्रदेश के सहस्रों लोगों ने घर बैठे हिन्दी सीखी। शर्माजी ने प्रचार-संगठन की मुख-पत्रिका 'हिन्दी प्रचारक' का भी बड़ी योग्यता के साथ संपादन किया। आजकल वह नागपुर में अपने जीवन-व्रत का पालन कर रहे हैं, 'विदर्भ हिन्दी-प्रचार' का सूत्र थाम कर।

दूसरा नाम आता है पं. रघुवरदयालु मिश्र का, जो उत्तर प्रदेश के फ़र्रुखाबाद जिले के

निवासी थे और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रेरणा से मद्रास पहुँचे थे। मिश्रजी ने तमिल सीखी और ऐसी योग्यता से प्रचार-कार्य में भाग लिया कि वह दक्षिण में अत्यन्त लोक-प्रिय हो गये और क्रमश केन्द्रीय प्रचार का सूत्र भी उनके हाथों में आ गया।

तीसरा नाम आता है प अवधनन्दन जी का—जिनके सपादन मे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने दक्षिणी दो रामायणो का सुन्दर अनुवाद प्रकाशित किया है। आप बिहारी हैं और बड़ी निपुणता के साथ प्रचार-क्षेत्र की सेवा की है सन् 1920 ई से ही। इनके साथ पं देवदूत विद्यार्थी का नाम भी सादर उल्लेखनीय हो जाता है—जो सन् 1920 ई में ही मद्रास पहुँचे और बडे ही उत्साह एवं योग्यता के साथ मद्रास और केरल में प्रचार-रथ का सचालन किया। विद्यार्थी जी उच्च कोटि के भावुक, कर्मठ, वक्ता और सगठक हैं। आपने केरल की मनस्विनी महिला भारतीदेवी का पाणिग्रहण किया और त्रिवुणितुरा में 'बिहार-बाग' का निर्माण करके आज-कल वह वहीं निवास करते हैं। आपमें साहित्यिक प्रतिभा उच्च कोटि की है और आप गद्यकाव्य के प्रणेता भी हैं। आपने कुछ वर्ष आगरा और कुछ वर्ष बिहार मे भी सपत्नीक काम किया है। भारतीदेवी ने मलयालम से कुछ उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। विद्यार्थीजी बिहारी हैं।

चौथा नाम उत्तर प्रदेशीय श्री रामभरोसे श्रीवास्तवजी का है जिनके एक प्रिय हिन्दी-शिष्य प्रचार-कार्य मे ऐसे चतुरशिरोमणि निकले कि वर्षों प्रचार का सूत्र अपने हाथ में रखा और ऐसी दक्षता दिखाई कि वर्षों एम पी. भी बने रहे। वही श्री मोटूरी सत्यनारायणजी पं. हरिहर शर्मा के बगलगीर थे, किन्तु क्रमशः ऐसा चमके कि सबको पीछे छोड़कर एकदम आगे निकल आये। आपकी मातृभाषा तेलुगु है, किन्तु आप हिन्दी ऐसी बोलते हैं कि सहज ही हिन्दी-भाषी प्रतीत होते हैं। तमिल, अंग्रेजी और मराठी-गुजराती मे भी आपकी ऐसी ही गंभीर गति है। सत्यनारायणजी का मस्तिष्क अद्भुत योजनाशील रहा है। 'सभा' की प्रगति मे सर्वाधिक छाप आपके दिमाग की ही बैठी है। आपने हिन्दी को उठाया और हिन्दी ने आपको उठाया—आज हिन्दी-प्रचारकों में सर्वाधिक श्री-सम्पन्न व्यक्ति आप ही दीखते हैं। सत्यनारायणजी सव्यसाची हैं, अनासक्त हैं—जीत-हार का बहुत ही कम असर पड़ता है आपके व्यक्तित्व पर। पं. हरिहर शर्मा के बाद हिन्दी प्रचार क्षेत्र में श्री सत्यनारायणजी का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है। आपने ही दक्षिण से 'ज्ञान-यात्री दल' का नेतृत्व किया, जिसका अनूठा स्वागत उत्तर में हुआ। यह आपके ही दिमाग का चमत्कार था जिससे दक्षिण भारत का हिन्दी प्रचार 'सम्मेलन' के सार्वातिक शासन से मुक्त हो सका और स्वतंत्रता-पूर्वक अपना अद्भुत विकास कर सका। सच कहा जाए, तो सत्यनारायणजी ने सम्मेलन से होड़ की और सभी क्षेत्रों मे अपने संगठन को वह आगे ले गये—प्रचार, प्रेस, परीक्षा, प्रकाशन, विद्यालय-संचालन, भवन-निर्माण, कार्यकर्ता सगठन सभी दिशा में सत्यनारायणजी की सूझ-बूझ ने अद्भुत चमत्कार दिखाया।

हाँ, सत्यनारायणजी की श्री-सपन्नता जहाँ अंचल उडाकर नाच उठी, वहाँ हरिहर शर्मावाली गांधीनुमा सादगी, संयम, प्रचारात्मक जोश-खरोश, पारस्परिक भाई-चारे की भावना सहसा सर्द साँस भी लेने लगी।

जब हम किसी उच्च आदर्श, किसी महत्वपूर्ण ध्येय की पूर्ति के लिए एक सस्था का सहारा

लेते हैं, तब हमारी त्याग-तपस्या ही उसकी जीवन-जयी साँस बनती है ; और जब हम संस्था को अपनी व्यक्तिगत उन्नति का सोपान बना लेते हैं, तब संस्था की आत्मा मर जाती है—उसकी श्री-संपन्नता भले ही मुस्कुराती रह जाए।

पं० हरिहर शर्मा के जमाने में प्रचारक व्रती होते थे, जीवन-वेतन लेते थे। संस्था जब अर्थ-संकट में पड़ती थी, तब अपने स्वल्प वेतन में भी वे सहर्ष कटौती स्वीकार करते थे ; और, जहाँ से जो आय प्राप्त होती थी, सब संस्था में पहुँच जाती थी। संस्था के लिए प्रचारक सगर्व जीते-मरते थे। उस समय न आलीशान भवन बने थे, न नफ़ीस मेज़-कुर्सी नज़र आती थी, न राग-द्वेष की ही कहीं झलक मिलती थी—न उत्तर-दक्षिण, तमिल-तेलुगु, कन्नड़-मलयाली नाम का कोई भेद-भाव ही दृग्गोचर होता था। वह छोटी संस्था अखिल भारतीय भावना की मंजुल मूर्ति बन रही थी।

सत्यनारायणजी की बुद्धिमत्ता ने संस्था को आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाया—प्रेस, परीक्षा और प्रकाशन से आय का स्रोत बढ़ा। उधर महात्मा गांधीजी ने संस्था को मजबूत करने के संकल्प से 15 दिन का अनमोल समय दिया और मद्रास आकर संस्था में टिके।

लगा, संस्था के आँगन में स्वर्ग ही उतर आया हो। धनागम भी खूब हुआ। सारा दक्षिण हिन्दी-प्रचार की इस संस्था के सौभाग्य पर इठला उठा।

प्रचारक पहले संस्था के अभिन्न अंग माने जाते थे—अन्तिम साँस तक उसकी सेवा करने की उमंग उन्हें सोत्साह प्रेरित रखती थी। सत्यनारायणजी की सूझ-बूझ से उसमें सरकारी सेवा के ढाँचे पर नियम-उपनियम बने ; और प्रचारक क्रमशः संस्था की 'नौकरी' करने लग गये। सेवा, आदर्श, त्याग और व्रत धीरे-धीरे अजनबी हो चले।

पहले हिन्दी का ही बोलबाला था। संस्था और उसके बाहर भी। अब अंग्रेजी और कुछ-कुछ मातृभाषा का महत्व बढ़ चला। यों पहले हिन्दी का व्रत जहाँ हमें अखिल भारतीय होने का गर्व भर रहा था, वहाँ अब हम क्षेत्रीय सीमा में सिमटने-सिकुड़ने लगे।

अर्थागम ने उस संस्था को अर्थ-प्रधान बना दिया—जो बदलते हुए जमाने के लिए अनर्थकारी नहीं समझा गया।

कोई संस्था जब विकास और विस्तार के पथ पर आती है, तब अर्थ की आवश्यकता बढ़ जाती है ; और, जब अर्थ का आशातीत आगम होता है, तब उसके सदस्यों का जीवन-स्तर भी ऊँचा हो जाता है ; और तब जीवन-वेतन की बन्धन-सीमा भी सहज ही टूट जाती है।

उस संस्था ने महात्मा गांधी की अध्यक्षता में अपनी रजत-जयन्ती खूब धूम-धाम से मनायी थी। कुछ लोगों ने व्यंग्य में काना-फूसी की—यह सत्यनारायणजी की रजत-जयन्ती है!

सचमुच उस समय संस्था की ईंट-ईंट सत्य-नारायणजी की जय बोल रही थी। यह स्वाभाविक ही था—व्यक्ति से संस्था बनती है ; और संस्था से अगर व्यक्ति न बना, तो संस्था का भविष्य धुँधला हो जाता है।

बापूजी ने पं० हरिहर शर्मा को संस्था-संचालन के लिए समय-समय पर आवश्यक धन बाहर से दिया था ; किन्तु उनकी मान्यता थी कि अगर संस्था जन-प्रिय है, तो क्षेत्रीय जनता ही उसके संचालन का भार अपने ऊपर ले।

रजत-जयन्ती के अवसर पर मद्रास ने बापूजी का यह आह्वान सहर्ष सुना; और संस्था के नाम पर प्रभूत धन प्राप्त हो गया।

प्रचार की दृष्टि से उत्तर ने बहुत कम लोगो को दक्षिण भेजा। जो गये भी, उनमे कुछ तो वापस चले आये; और जो रहे भी, उनकी संख्या उँगलियों पर, गिनी जाने लायक भी न थी। हाँ, जो ससंकल्प रह गये, उनके निर्देशन मे ऐसे सुयोग्य प्रचारक तैयार हुए जिनके बल पर आज हजारो की सख्या में दक्षिणी हिन्दी-प्रचारक हजारो केन्द्रों में सोत्साह हिन्दी-प्रचार कर रहे हैं।

वह सस्था आज अपनी, 'स्वर्ण जयन्ती' मनाने जा रही है, और उसे गर्व है कि सारे दक्षिण में आज उसके प्रचारको की सख्या बारह हजार से भी अधिक है जो छह हजार से भी अधिक केन्द्रो मे हिन्दी का प्रचार कर रहे हैं।

यही नहीं, आज से पचास वर्ष पूर्व मद्रास नगर के एक नगण्य कोने में, एक अनाकर्षक छोटे-से किराये के मकान में जो प्रचार-कार्य शुरू हुआ था, पं० हरिहर शर्मा के नेतृत्व में, वह अब अपनी विस्तृत जमीन पर तिमंजिले भव्य भवनों से सुसज्जित होकर अपने विशाल प्रेस, विविध परीक्षाओ, प्रकाशनों और विद्यालयो, कार्यकर्ता के निवास-निलयों तथा बाग-बगीचो के बीच अपनी श्रीवृद्धि की समुचित घोषणा कर रहा है।

महात्माजी ने अपने रचनात्मक कार्य-क्रम की जितनी योजनाएँ बनाईं उनमें हिन्दी-प्रचार की योजना आज सबसे महत्वपूर्ण तथा सबसे अधिक सक्रिय दीख रही है। असम, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, मैसूर, केरल, आन्ध्र—सभी राज्यों में राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर सहस्रश: उत्साही प्रचारक अडिग आस्था और निष्ठा से हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न दीख रहे हैं।

हाँ, तमिलनाड मे प्रचार की प्रगति पहले से ही कुछ धीमी रहती आई थी, अब उस राज्य के सत्ताधारियो की अराष्ट्रीय नीति के कारण वह मन्थरता भारी अवरोध में बदल चली है। बगाल के बुद्धिजीवियो का रुख भी बहुत-कुछ वैसा ही अवरोधात्मक प्रतीत होता है इस दिशा में। यह भी मिथ्या नहीं है कि जहाँ अवरोध-विरोध नहीं भी है, वहाँ भी राष्ट्रीयता की भावना से अधिक आज आर्थिक दृष्टि ही प्रबल होती जा रही है; और योग्यता-प्राप्ति से अधिक प्रमाण-पत्रो की माँग ही तीव्रतम हो चली है।

और, यह दुस्थिति केवल हिन्दी-प्रचार क्षेत्र के लिए ही लागू नही है। सभी क्षेत्रो में यही दृग्गोचर हो रही है—आज राष्ट्रीय भावना कोने में जा दुबकी है और क्षेत्रीय स्वार्थ की सीमा असीम होती चली जा रही है। यही नहीं, क्षेत्रीय सीमा भी क्रमश: अगणित घरौंदो में विभक्त हो रही है—कही जातिवाद का बोलबाला है, कही भाई-भतीजे की भावना जोर मार रही है, तो कहीं व्यक्तिगत स्वार्थ ही प्रचंड तांडव कर रहा है।

यह आश्चर्य ही है कि इतने विघटनों के बीच भी यह राष्ट्र, किसी पुरातन पुण्य-बल से, अब तक छिन्न-भिन्न नहीं हो सका है। आशा तो इसी की है कि अगर वह पुरातन बीज सुरक्षित रहा, तो राष्ट्रीय भावना के ठूँठ मे भी नई कोपलें निकल आएँगी।

हिन्दी प्रचार क्षेत्र के सर्वाधिक कार्यकर्ता इसी आशा और विश्वास के बल पर निराशा-निशा में भी, अटल अनुराग का दीपक जलाए चल रहे हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार 'सभा' की यह 'स्वर्ण जयन्ती' इसी अक्षय विश्वास को उद्घोषित करती जान पड़ती है।

✱

श्री तेजनारायण टण्डन
हिन्दी साहित्य मंदिर
55, चौपटियाँ रोड, लखनऊ-3

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा— एक उत्तर भारतीय की दृष्टि में

हिन्दी भाषी होते हुए भी दक्षिण के सैलानी साहित्यकार तथा चतुर्भाषी प्रदेशों के सभा के प्रचारकों से बहुपरिचित हिन्दी प्रकाशक कहे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य मंदिर जिसके कि आप संप्रति संचालक हैं हिन्दी भाषी विद्वानों के समस्तर पर अहिन्दी भाषी-हिन्दी लेखकों की रचनाओं के प्रकाशन में भी दिलचस्पी लेता है। इस संपर्क का उक्त लेख परिचायक है।

सभा की स्थापना जब हुई थी तब मैंने संसार का मुँह भी नहीं देखा था। रजत जयंती उत्सव 1946 में हुआ था, तब मैं सज्ञान हो चुका था। यदा-कदा 'हिन्दी प्रचारक' अथवा स्थानीय पत्रों में रजत जयंती उत्सव होने अथवा हो चुकने के समाचार छपा करते जिन्हें मैं बड़े चाव से पढ़ा करता था। तब मेरे बाल मन में उस समय भी सभा के प्रति अच्छी-खासी श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी।

समय आगे बढ़ता गया और समय के साथ मेरे भी पर निकलना शुरू हुआ। सभा के प्रति श्रद्धा तो पहले ही से थी; भक्ति भी शुरू हो गयी—जब मुझे पहली बार 1948 में 600 प्रतियों का एक मुश्त "'गबन': एक अध्ययन" का आर्डर मिला। विद्या मंदिर नामक मेरी प्रकाशन-संस्था को इस आर्डर ने उन कठिनाइयों में बड़ी राहत पहुँचाई थी।

फिर तो सभा से पत्र-व्यवहार संपर्क बहुत बढ़ गया। 'हिन्दी प्रचारक' में बड़े भाई डॉ. प्रेमनारायण टंडन परीक्षोपयोगी लेख लिखा करते थे। अतः जब 'हिन्दी प्रचारक' 'हिन्दी प्रचार समाचार' में समा गया तब भी वह नियमित रूप से आता रहा। बाद में जब पंडित रामानन्द शर्मा के संपादन में सभा के सहयोग से मद्रास सरकार ने 'दक्खिनी हिन्द' निकाला तो उसके भी नियमित दर्शन होने लगे। इन दोनों में मद्रास की केन्द्रीय सभा के समाचार विस्तृत रूप में छपा करते थे जिन्हें मैं स्वाभाविक ममता से पढ़ता था और

सोचता था—भगवान, क्या वह दिन भी आवेगा जब मैं मद्रास जाकर सभा को श्रद्धांजली पेश कर सकूँगा ?

सभा का केन्द्रीय कार्यालय गुलाबी और सफ़ेद चूने से पुता हुआ बहुत सुन्दर लग रहा था। तपोवन की-सी शांति और सौम्यता वहाँ थी जिससे अनायास ही हृदय गद्‌गद् हो उठता था। नारियल, केले और गुलाब मेंहदी के हरे-भरे पेड़ पौधे चारों तरफ़ फूल महक रहे थे। आधुनिकता और पुरातनता का अद्‌भुत समन्वय वहाँ दिखाई देता था। अपनी-अपनी भावना की बात है। पण्डित नेहरू भाखड़ा, नंगल, भिलाई आदि को तीर्थ स्थान कहते थे और वे वस्तुत हैं भी। पर मेरे लिए तो तीर्थ स्थान ये हिन्दी प्रचार सभाएँ और संस्थाएँ ही हैं। रामेश्वरम मे शिवजी के दर्शन करके मुझे जो खुशी मिलती है उससे कहीं अधिक इन प्रचार संस्थाओ के दर्शन-पर्शन करके मिलती है। अब यह दूसरी बात है कि आजकल जैसे मन्दिरो का वातावरण उतना पवित्र नहीं रहा उसी भाँति ये संस्थाएँ भी हिन्दी का प्रचार प्रचार अब पहले जैसी दिलचस्पी से नही कर रही हैं। पर मैं तो अभी भी उन्हें पहले जैसी श्रद्धा से देखता आ रहा हूँ।

महान आत्माएँ सदैव परोपकार ही करेंगी। पण्डित रघुवरदयालु मिश्र जीवन भर अर्थाभाव से पीड़ित रहे। सभा की वैतनिक सेवा मे थे, पर निर्वाह योग्य उतना खर्च ही सभा से लेते थे जितने मे अपना तथा अपने परिवार का साधारण तौर पर गुज़र-बसर हो सके। उनका भरा-पूरा परिवार था और उनके बच्चे भी उनकी ही भाँति आदर्श और आस्थावान थे।

मद्रास सभा का केन्द्रीय कार्यालय बहुत बड़ा है। एक भवन में सभा के प्रशासनिक विभाग है तो जरा हटकर दूसरे भवन मे प्रेस, साहित्य विभाग, लेखा विभाग और एक बहुत बड़े हिस्से में पुस्तक बिक्री विभाग हैं जो सभा का दाहिना हाथ हैं। एक स्वस्थ शरीर मे दाहिने हाथ का जो महत्व है वही सभा के लिए पुस्तक बिक्री विभाग को समझ लीजिए। बाएँ हाथ की ओर जो तिमंजिली इमारत दीख रही है वह महिला हिन्दी प्रचारक विद्‌यालय (अब बी ई-डी. कालेज और स्नातकोत्तर शिक्षा विभाग और महा-विद्‌यालय) है।

विगत बीस वर्षों से मेरा संबंध सभा के परीक्षा विभाग और पुस्तक बिक्री विभाग से रहा है। पुस्तक बिक्री विभाग यदि सभा का दाहिना हाथ है तो परीक्षा विभाग को एक स्वस्थ शरीर का मस्तिष्क समझिए। पूर्ण प्रजातांत्रिक ढंग से उसका गठन हुआ है। पाँचों प्रांतो (आंध्र, तमिलनाडु, मैसूर, केरल और मद्रास) से वोट द्‌वारा चुने गए योग्य और अनुभवी हिन्दी प्रचारक शिक्षा परिषद और परीक्षा समिति मे आते हैं और बड़ी कुशलता से पाठ्‌यक्रम का चयन करते हैं। सभा की परीक्षाओ मे प्रतिवर्ष लाखो परीक्षार्थी बैठते रहे हैं। उनकी व्यवस्था सुचारु रूप से करना, परीक्षक नियुक्त करना, पुस्तकों की जाँच (निष्पक्ष रूप से) कराना, यथासमय नियत तिथि पर परीक्षा-फल प्रकाशित कराना आदि दुरूह कार्य किसी साधारण व्यक्ति के बूते के नहीं हैं। इस विभाग को शुरू से ही सर्वश्री मो सत्यनारायण, रघुवरदयालु मिश्र जी, अवधनन्दन जी और बाद में एस महालिंगम जो बड़ी कुशलता से परीक्षा-मंत्री की हैसियत से सम्भालते रहे।

श्री महालिंगम जी ने बिक्री विभाग में बहुत प्रसिद्धि पाई थी। वहां उनको श्री सी. एन. पद्मनाभन जैसा अनुभवी सहयोगी सहायक मिला था तो यहां श्री गणपति ने भी इन्हें भर-पूर सहयोग दिया और उनके मंत्रित्व काल में परीक्षा विभाग की बहुत प्रसिद्धि हुई। बाद में श्री एन. वेंकटेश्वरन जी ने इस विभाग का वर्षों तक सुचारु रीति से संचालन किया। इस समय अनुभवी प्राचार्य श्री धर्मराजन जी इस विभाग का गुरुतर भार संभाले हुए हैं।

पुस्तक बिक्री विभाग सभा का एक प्रमुख विभाग है। सभा की आमदनी का दूसरा मुख्य स्रोत यही है। अतः इस विभाग का सफल संचालन ही सभा की आधारशिला है। प्रारंभ में श्री एस. महालिंगम इस विभाग के मैनेजर रहे। उनको श्री सी. एन. पद्मनाभन का भरपूर सहयोग मिला। मेरा पद्मनाभन जी से लगभग बीस वर्षों का परिचय है। पुस्तक विभाग के संचालन में पद्मनाभन जी ने जो मेहनत की वह स्पृहणीय है। मैं तो उनकी मेहनत का शतांश भी नहीं कर पाता।

श्री पद्मनाभन जी के बिक्री विभाग से हटने पर यहां का काम मंद पड़ गया। फिर उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी श्री वेंकटरामन जी अपनी शक्ति भर इसे संभालते रहे। अब श्री गोविंद अवस्थी जी और श्री एम. राजगोपाल राव के संयुक्त प्रयास से यह विभाग पुनः उन्नति के पथ पर अग्रसर है।

तीसरा नम्बर है शिक्षा विभाग का। श्री एस. आर. शास्त्री जी बहुत सालों तक यहां का कार्य संभालते रहे। उनके बाद श्री चंद्रमौली जी, श्री के. आर. विश्वनाथन आदि मंत्री रहे हैं।

सभा के साहित्य विभाग को दक्षिण के अनेक ख्यातिप्राप्त लेखकों और साहित्यकारों का सहयोग मिलता रहा। सर्वश्री रघुवरदयालु मिश्र जी, रामानंद शर्माजी, व्रजनंदन शर्माजी, वेंकटाचल शर्माजी, अवधनंदन जी, एस. महालिंगम जी, बालशौरि रेड्डीजी, आर. शौरिराजनजी प्रभृति कुशल लेखकों का साहित्य-विभाग को विशेष योगदान रहा। आजकल इस विभाग को हिन्दी के सुयोग्य लेखक और कई प्रशिक्षण कालेजों के प्राचार्य श्री पी. नारायण संभाल रहे है।

सभा का प्रेस विभाग बहुत श्रेष्ठ और उन्नत है। हिन्दी की नयनाभिराम छपाई के साथ-साथ दक्षिण की चारों भाषाओं और अंग्रेजी की सुंदर और शुद्ध छपाई प्रशंसा के योग्य है। आज उत्तर भारत में इलाहाबाद का सम्मेलन मुद्रणालय बहुत तरक्की पर है, पर मद्रास सभा का यह हिन्दी प्रचार प्रेस उससे टक्कर लेने लगा है। इन सबका श्रेय प्रेस के आदि-संचालक श्री हरिहर शर्माजी तथा उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी गोविन्द अवस्थीजी को है। अवस्थी जी के समय में तो प्रेस की आशातीत उन्नति हुई है।

सभा के वर्तमान प्रधान मंत्री श्री शा. रा. शारंगपाणि जी जहाँ एक कुशल प्रशासक सिद्ध हुए हैं वहाँ एक सफल पत्रकार भी हैं। वर्षों तक आप 'हिन्दी प्रचार समाचार' के प्रधान संपादक रहे। जब मद्रास सरकार ने 'दक्खिनी हिन्द' निकाला तब पं. रामानन्द शर्मा के अनन्य सहयोगी रहे। आज 'हिन्दी प्रचार समाचार' की चहुँमुखी उन्नति हुई है और उसका रजतजयंती उत्सव धूम-

धाम से मनाया गया। यह सब श्री शारंगपाणि की अटूट तपश्चर्या का सुपरिणाम है।

अभी एक बात तो रही ही जाती है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का पुस्तकालय और वाचनालय दक्षिण का सबसे बड़ा और समृद्ध पुस्तकालय और वाचनालय है। यहाँ लगभग 88,000 पुस्तकें हैं। वाचनालय में भारत भर की सभी श्रेष्ठ हिन्दी पुस्तकें और हिन्दी, अंग्रेजी तथा दक्षिणी भाषाओं में छपी पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। मद्रास शहर के लोग इस पुस्तकालय और वाचनालय से लाभ उठा चुके हैं और उठा रहे हैं। इस विभाग के सफल संचालन में श्री नरसिंहाचार्य और नामक्कल श्री एस वी. कृष्णन की सेवाएँ महत्वपूर्ण रही हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास का अतिथि-गृह प्राचीन और अर्वाचीन का अद्भुत सम्मिश्रण है; फर्श पक्का है, दीवारें सीमेंट की पुती हुई और नल पाइप से युक्त पलश के साथ बाथ रूम, सब ओर बिजली लगी हुई। बढ़िया सागौन की लकड़ी का तख्तनुमा चौड़ा पलंग जिसमें दो तीन व्यक्ति आराम से लेट सकें—यह सब तो आधुनिक ढंग का हुआ, प्राचीन ढंग के लिए छप्पर से छाई हुई फूस की छत। अतिथि-गृह के बाहर चारों ओर बालू बिछी हुई। मेरी शंका का समाधान यों किया गया कि मद्रास में पानी बहुत बरसता है, और तबीयत से बरसता है। मूसलाधार वर्षा से अच्छी खासी छत तड़क जाती है। फूस की छत उस आघात को आसानी से रोक लेती है और बाहर बिछी बालू कीचड़ होने नहीं देती। बालू और पानी के संयोग से चारों तरफ़ नारियल, केले आदि के अनेक वृक्ष सुशोभित हैं। चारों तरफ गुरुकुल का सा शांत वातावरण बहुत भला लगता है। थोड़ी दूर पर प्रधान मंत्री, संयुक्त मंत्री, परीक्षा-मंत्री आदि अधिकारियों के सादे एवं स्वच्छ निवास-गृह भी बने हैं।

सभा का क्षेत्रफल लगभग पाँच एकड़ में फैला हुआ है। गहरे गुलाबी और सफेद रंग से पुती हुई सभा की विशाल इमारत बहुत भव्य लगती है। कार्यालय और प्रेस के बीच में काफी जगह छोड़ी हुई है और बीच मे गांधी-मंडप बना हुआ है। वहाँ जो बड़ा स्टेज बना है, वह नाटक खेलने, पदवीदान-समारोह तथा अन्य उत्सवों के प्रयोग मे लाया जाता है। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति भी ऐसी ही बनी हुई है। दोनों में कोई भी घटकर नहीं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार में भी दोनों एक-दूसरे से बढ-चढकर हैं। दोनो को ही देखकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रारंभिक दिनों की रोमांचक स्मृति हो आती है।

आज तमिलनाडु सरकार की हिन्दी नीति अस्वस्थ है। हिन्दी का सर्वत्र बहिष्कार किया जा रहा है। स्कूलों से हिन्दी हटाई गयी है। सभा पर भी दो-एक हमले किये गये। विगत चार-पांच वर्षों में सभा की अर्थ-व्यवस्था को गंभीर धक्का पहुँचा है। लेकिन सभा के वर्तमान कर्णधारों का उत्साह और धैर्य देखकर दंग रह जाना पड़ता है। जिस उत्साह से यह स्वर्ण-जयंती समारोह मनाया जा रहा है, उसे देखकर मुख से वाह, वाह! निकलने लगती है। पर हम हिन्दीवालों ने अपनी पूर्वपरिचित उपेक्षा नीति का परिचय यहाँ भी दिया, जिसे लखकर आह! आह! मुख से निकलनी चाहिए। स्वर्णजयंती की इस मंगल बेला में मैं हीरक-जयंती और प्लैटिनम-जयंती भी अपनी आँखों से देखने की अभिलाषा रखता हूँ। एवमस्तु!

पंडित सिद्धनाथ पंत
नियर कोसमोस क्लब,
धारवाड़, S.K.

दक्षिण भारत में देवनागरी

पंडित सिद्धनाथ पंत, जिनकी गणना कर्नाटक के हिन्दी क्षेत्र के आदिम प्रचारकों में होती है, कई वर्ष तक सभा की कर्नाटक प्रांतीय शाखा के मंत्री रहे। आपके सक्षम संगठन के फलस्वरूप कर्नाटक में सभा की हिन्दी परीक्षाएँ अत्यंत लोकप्रिय हुई और उनमें अन्य प्रांतों की अपेक्षा कर्नाटक की परीक्षार्थी-संख्या कई साल तक बहुत बढ़ी-चढ़ी रही। अच्छे लेखक और सुबोध वक्ता पंत जी की बातें हास्य-व्यंग से भरी-पूरी रहती है। हँसाते-हँसाते ही विरोधी पक्ष पर गहरी चोटें लगाकर उसे गंभीर नीतियाँ बताने में आप सिद्धहस्त है। सेवा-निवृत्ति के बाद, आजकल आप अखिल भारतीय देवनागरी लिपि परिषद के मंत्री के नाते भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि के प्रचार कार्य में लगे है।

आज देश में भावात्मक एकता का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत हुआ है। भाषावार प्रांतों के उदय से भौगोलिक धरा पर विभिन्न भाषाभाषियों में वैमनस्य का संघर्ष उत्पन्न हो गया। इस वैमनस्य को मिटाने के लिये राष्ट्रीय चेतना का समन्वित विकास करना पड़ेगा। यह कार्य तभी संभव हो सकता है जब विभिन्न भाषाभ्यास-प्रणालियाँ सुगम हो जायँ। अतः एक सार्वदेशिक लिपि के रूप में देवनागरी का प्रचार करने की आवश्यकता है। राष्ट्रभाषा का आयोजन जितना पुराना है उससे पुराना है राष्ट्रलिपि का प्रचार। हिन्दी प्रचार के लिये कुछ सुदृढ़ संस्थाओं का संगठन हो जाने से देवनागरी का प्रचार भी तदंतर्गत माना गया। लेकिन एकलिपि, देवनागरी, का प्रचार-प्रसार एकभाषा, हिन्दी, तक सीमित रह गया।

राष्ट्रपिता गांधीजी ने हिन्दी को राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य-प्रणाली में अग्रस्थान दिया था। आजकल उसका महत्व सार्वजनिक तथा सरकारी क्षेत्रों में घटने लगा है जो राष्ट्र का दुर्भाग्य है। हिन्दी को कहीं त्रिभाषा-सूत्र में बांध दिया जाता है तो कहीं द्विभाषा-सिद्धांत की आड़ में अपदस्थ किया जाता है। यत्रतत्र देवनागरी की जगह रोमन या प्रांतीय लिपियों में हिन्दी की पढ़ाई होने लगी है। इस प्रकार राष्ट्रभाषा को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अलग करने का षड्यंत्र-सा चल रहा है। देवनागरी का प्रचार प्रबल होता तो कदाचित् हिन्दी प्रचार की प्रगति में कोई रुकावट पैदा नहीं होती।

देवनागरी लिपि के देशव्यापी प्रचार की चर्चा करते हुए हमें कलकत्ता की "लिपि विस्तार परिषद्" की याद आती है। सन् 1910 में

कलकत्ता हाई कोर्ट के जस्टिस शारदाचरण मित्र ने उक्त संस्था का संगठन किया था। परिषद् के प्रथम सम्मेलन में मद्रास गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य माननीय वी० कृष्णस्वामी अय्यर ने सारे देश के लिये राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी का समर्थन किया। देवनागरी की उपयोगिता का स्वीकार करते हुए कलकत्ता हाई कोर्ट के माननीय जज श्री सर्फुद्दीन और सेलम के राष्ट्रनेता श्री विजयराघवाचार्य ने, अपनी सहमति प्रकट की। लोकमान्य तिलक तथा बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी तो पहले ही से एकलिपि के प्रबल प्रतिपादक बन चुके थे। कालांतर में राष्ट्रलिपि का प्रश्न राष्ट्रभाषा में विलीन हो गया, अर्थात् गौण हो गया।

उत्तर भारत की अधिकांश भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाती हैं। हिन्दी और मराठी का तो कोई सवाल नहीं उठता। गुजराती और देवनागरी में नाम मात्र का अंतर है। पंजाबी और बंगाली लिपियाँ देवनागरी की विशिष्ट स्वरूप की हैं। भारत के बाहर नेपाल की भी लिपि देवनागरी है। किं बहुना, सारे संसार में संस्कृत भाषा की वर्णमाला देवनागरी-प्रचलित है। अब मात्र द्रविड़ भाषी प्रदेशों में देवनागरी का प्रचार करना शेष है। सन् 1936 में गांधीजी की स्वीकृति के साथ यह सुझाव मान लिया गया कि राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी का सर्वत्र प्रचार किया जाय। दक्षिण भारत की चार प्रांतीय भाषाएँ चार भिन्न भिन्न लिपियों में लिखी जाती हैं जो देवनागरी से सर्वथा भिन्न रूप-स्वरूप की हैं। फिर भी तमिल को छोड़ अन्य तीनों लिपियों की वर्णमाला देवनागरी के अनुकूल हैं। तमिल की विशेष ध्वनि-प्रणाली को भी ध्यान में रखते हुए चारों भाषाभाषी क्षेत्र दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार देवनागरी के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है। अब देवनागरी हिन्दी के माध्यम से दक्षिणोत्तर के सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त करना हमारा कर्तव्य है। इस कार्य के लिये सन् 1948 में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के कतिपय कार्यकर्ताओं ने "भारतीय देवनागरी परिषद" नामक एक संगठन स्थापित किया था जो पूज्य विनोबाजी से मार्गदर्शन प्राप्त कर आजकल बेंगलोर में केंद्रित हुआ है।

अब तक परिषद् का कार्य बहुत ही सीमित रहा और उसका संचालन भी विचार-विनिमयात्मक रहा। भविष्य में उसको कार्य-प्रणाली को योजनाबद्ध बनाने का निश्चय किया गया है। अतः परिषद् ने यह समयोचित समझा है कि सर्वोदय मार्ग से देवनागरी और हिन्दी का अन्योन्याश्रयी भावेरु आधार पर प्रचार किया जाय। कार्यक्रम में देवनागरी को प्रधान स्थान देते हुए अन्यान्य भारतीय भाषाओं का प्रचार भी किया जायगा। इस दिशा में कार्यप्रवृत्त होने के लिए पूज्य विनोबाजी का "गीता प्रवचन" प्रेरक साहित्य के रूप में (भारतीय भाषाओं का देवनागरी संस्करण) उपलब्ध है। देवनागरी के माध्यम से अन्यान्य भाषाएँ सीखने योग्य साहित्य का निर्माण कर दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा तथा वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने देवनागरी के देशव्यापी प्रचार को प्रश्रय दिया है। हमारी परिषद् ने देवनागरी लिपि में कुछ सामयिक साहित्य तथा भारतीय भाषा कोश के निर्माण का संकल्प किया है।

श्री पं. ब्रजनन्दन शर्मा
निदेशक, बालिका विद्या पीठ,
लखीसराय, मुंगेर, बिहार

दक्षिण-भारत : हमारा गुरु

परतंत्र भारत की मुक्ति का विशिष्ट रचनात्मक साधन मानकर राष्ट्रपिता के आह्वान पर दक्षिण में हिन्दी प्रचार के लिए बिहार से आनेवाले किशोर हिन्दी-भिक्षुओं में आप भी स्मरणीय हैं। दक्षिणी हिन्दी प्रचारकों की पहली पीढ़ी के साहित्य-गुरु अपने अग्रज श्री रामानंद शर्मा के साथ आप सालों तक आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में हिन्दी की अलख जगाते रहे। केन्द्र सभा, मद्रास के शिक्षा तथा साहित्य विभाग में रहते हुए सभा की परीक्षोपयोगी विविध स्तर की पुस्तकों की रचना में आपका सहयोग विशेष उल्लेखनीय है। संप्रति आप अपने प्रदेश में बालिका विद्यापीठ का संचालन कर रहे हैं।

दक्षिण भारत !
हमारा मार्ग-दर्शक !
नित्य स्मरणीय !
प्रतिदिन वंदनीय !
हमारा गुरु---महत्वपूर्ण गुरु !

यह श्रद्धांजलि उस दक्षिण भारत के प्रति अर्पित नहीं है—जो आदि शंकराचार्य, रामानुज या मध्व का था। यह श्रद्धांजलि उस दक्षिण भारत के चरणों में अर्पित है जो 1924 से 1946 तक था। क्योंकि यही अवधि हमारे दक्षिण भारत में निवास की है। उस समय मैं राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार कर रहा था। उस समय जो चित्र मैंने दक्षिण भारत का देखा उसीको यह श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ।

उस समय मेरी उम्र मुश्किल से 15 साल की थी, जब मैं भारत के सबसे पिछड़े राज्य के एक गँवई-गाँव (पुनास) से निकलकर इतनी दूर चला आया था। मैं ऐसा किशोर था जिसकी प्रारंभिक शिक्षा किसी तरह पूरी हुई थी। गांधीजी के असहयोग की आँधी में बहुत-से सरफिरे नौजवान स्कूल कालेजों का पढ़ना-लिखना छोड़कर गांधीजी के कामों में जुट गये थे। कुछ वैसे ही नौजवान दक्षिण में हिन्दी का प्रचार करने गये। उनमें मेरे बड़े भाई पं० रामानन्द शर्मा भी एक थे। मैं उत्तर प्रदेश के सीताकुंड नामक ब्रह्मचर्याश्रम में संस्कृत पढ़ने चला गया। दो या तीन साल के बाद जब वे घर आये, तो मेरी संस्कृत शिक्षा, ब्रह्मचारी वेश, गेरुआ वस्त्र आदि देखकर प्रसन्न नहीं हुए और मुझे घसीटते हुए दक्षिण ले गये।

कलकत्ते से मद्रास मेल में बैठकर हम लोग दक्षिण की ओर तेजी से भागे जा रहे थे। राज-महेन्द्री स्टेशन से गाड़ी खुली। पश्चिम दिशा लाल हो रही थी। गोदवरी के पुल पर से गाड़ी जा रही थी। भाई साहब की आज्ञा के मुताबिक मैंने अपना गैरिक वस्त्र, दण्ड, कमण्डल आदि गोदावरी को उधर ही से समर्पित कर दिया। मेरे जीवन की दिशा बदली।

आन्ध्र राज्य के गुंटूर शहर मे आधी रात को हम उतरे। मुझे एक हम-उम्र साथी वहाँ मिल गया। नाम था माडभूषी वेंकटाचारी अथवा सुरेन्द्र। वह भी स्कूल की पढाई छोड़कर राष्ट्र-भाषा सीखने हमारे अग्रज के पास शिष्यत्व कर रहा था। हम दोनो का साहचर्य बहुत मीठा रहा। दोनो हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद की परीक्षाएँ देते रहे। वहीं से मेरी तेलुगु की शिक्षा भी आरंभ हुई।

दो वर्षों के बाद मैंने भी हिन्दी प्रचारक बनकर पहले-पहल आचार्य रंगा के गाँव निडुब्रोलु में 80 रुपये मासिक वेतन पर काम करना शुरू किया। उस समय तक थोडी-बहुत तेलुगु आ गयी थी। सच पूछिये तो हिन्दी सिखाने के क्रम मे मैंने तेलुगु सीखी। यह मुझे मानना पड़ेगा कि मैं असफल हिन्दी प्रचारक रहा। क्योंकि जितनी तेलुगु मैंने सीखी, उतनी हिन्दी अपने विद्यार्थियों को नहीं सिखा सका। उसका एक कारण शायद यह भी था कि मैं 17-18 साल का किशोर और मेरे विद्यार्थी सब मुझसे दूने-तिगुने उम्र के। मेरा शासन वे नही मानते, मगर उनका रोब मुझपर गालिब हो जाता। दोनों अंग्रेजी के ज्ञान से शून्य। तेलुगु का सहारा मेरे लिए लाजिमी था। यों प्रारंभ में मेरा तेलुगु का ज्ञान काफ़ी विनोद की सामग्री प्रस्तुत करता रहा।

उसी क्रम में मैं जम्पनि, मूलपूरु, पेदरावूरु आदि गाँवों में हिन्दी का काम करता रहा। धीरे-धीरे मैं तेलुगु बोलने में पटु हो गया। नये लोग जल्दी नही समझ पाते कि मैं तेलुगू भाषा-भाषी नहीं हूँ। आगे चलकर तो मैंने कई तेलुगू ग्रथों का हिन्दी में अनुवाद भी किया। एक बार वड्लमूडि गाँव में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के हिन्दी भाषण का तेलुगू मे अनुवाद करके गर्व का अनुभव भी किया। उस समय कांग्रेस प्रेसिडेंट राष्ट्रपति ही कहलाते थे। उन दिनों मेरी हालत ऐसी हो गयी थी कि हिन्दी की अपेक्षा तेलुगू बोलने में ही मुझे आसानी मालूम होती थी।

उसी दरम्यान मैंने थोडी अंग्रेजी तथा संस्कृत भी सीखी। आज भी जो हिन्दी मुझे आती है, वह दक्षिण की सीखी हुई ही है। यहाँ आने के बाद से तो अन्य कोई काम कर ही नहीं पा रहा हूँ, यह सस्था छोड़कर।

मैंने ऊपर जिक्र किया है कि मेरा जन्म-स्थान भारत का सबसे पिछड़ा राज्य है। यह अपनी पुरानी सांस्कृतिक धरोहर, धार्मिक मान्यतायें और परम्परायें, सौंदर्य-बोध, मानवीय उत्तम मूल्य—सब, कुछ खो चुका है। उसके ऐतिहासिक कारणों मे जाने का यह मौका नही है। इसलिए दक्षिण भारत के समाज मे प्रवेश करने के बाद प्रारंभ के कुछ वर्षों में चकाचौंध में पड़ा रहा। वहाँ की सामाजिक व्यवस्था, सुन्दर परंपराएँ, कला-बोध, सब मैं अतृप्त नयनों से निहारता रहा। सबसे ज्यादा मैं वहाँ की महिलाओ की निर्भीकता,

परिश्रम, कार्यपटुता, सामाजिक कामों में उनकी प्रधानता, लड़कियों की शिक्षा की अनिवार्यता, उनका दो-एक काव्यों का अध्ययन, संगीत का अनिवार्य अभ्यास, सौंदर्य-प्रसाधनों का सौम्य प्रचलन, वेणी में नित्यप्रति फूलों का शृंगार आदि से प्रभावित होता रहा। ये सब बातें मेरे लिए अजूबा थीं। क्योंकि मेरी जन्म-भूमि में तो नारियां असूर्यंपश्या ही आदर्श समझी जाती रही हैं। मैंने उन्हें सदा अस्वच्छ, अशिक्षित, अकर्मण्य, प्रजनन की यंत्र मात्र देखा था। भोजन बनाना, बच्चों का लालन-पालन, घरों की सम्हाल का भी समुचित ज्ञान उनमें नहीं देखा था। वे जड़ गठरी बनकर पुरुषों के कंधों पर लदी रहतीं। दोनों की तुलना की तो ज़मीन-आसमान का अन्तर दीखा।

पहले मैं यह सब कौतूहल से देखता रहा। फिर उसकी खूबियाँ नज़र आने लगीं। क्रमशः यह धारणा बद्धमूल होने लगी कि जिस समाज का नारी-वर्ग उद्बुद्ध नहीं होगा, पुरुष के कंधों से कंधा मिलाकर चलनेवाला नहीं होगा, पुरुष की कमियों का पूरक नहीं होगा, उसमें स्वयं हीन भावना जब तक रहेगी, पुरुष वर्ग भी उसको सब तरह से समान नहीं मानेगा ; तब तक वह समाज प्रगतिशील नहीं हो सकेगा। आज की प्रगति की दौड़ में वह कोसों पीछे रह जायगा। यह पाठ मैं हज़ारों पुस्तकें पढ़कर भी नहीं सीख पाता। मेरे लिए यह प्रत्यक्ष पाठ था।

मुझे लगने लगा कि बिहार के पिछड़ेपन का कारण वहां का महिलासमाज है। उसमें आमूल परिवर्तन करने पर ही समाज में प्रगति आ सकती है। और उसका एक मात्र उपाय मुझे यह सूझा कि पुरानी पीढ़ी को तो बदला नहीं जा सकता है, हां नये पौधों को अलबत्ता नई शिक्षा के माध्यम से नये साँचे में ढाला जा सकता है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति निकम्मी है, यह बात तो बापू तथा अन्य विद्वान कह रहे थे। बापू की वह बात उस समय गले से पूरी तरह न उतरी हो, मगर आज तो इस शिक्षा के निकम्मेपन में कुछ सन्देह नहीं रह गया।

इसी दरमियान मेरा संपर्क महाराष्ट्र तथा गुजरात से भी हुआ। मेरी बेटी किरण पूना के कर्वे विश्वविद्यालय में पढ़ती थी। इस तरह मैंने करीब सारे दक्षिण भारत को देखा। महाराष्ट्र की बौद्धिक राजधानी पूना में भी हम पति-पत्नी ने कुछ दिन गुजारे।

मेरा हृदय कचोटने लगा कि बिहार की महिलाओं को कैसे बदला जाय? बीच-बीच में आदरणीय डा० राजेन्द्रप्रसाद—जो सभा के उपाध्यक्ष भी थे—कभी-कभी मद्रास आते तो कहते कि अपने प्रान्त में भी कुछ करने की बात सोचिये आप लोग। सारी बातों ने मुझे इस काम के लिए तैयार किया। अब मैं हिन्दी प्रचार का काम छोड़ने की बात सोचने लगा। कई बिहारी बंधुओं—खासकर आदरणीय पं० अवधनंदनजी की सहायता से हमने इसकी एक योजना बनायी। आदरणीय राजेन्द्रबाबू ने यह योजना देखी और उसमें सहायता देने का आश्वासन भी दिया। बाद में तो इस संस्था के संरक्षक भी बने और बड़ी मदद की। देश में जंगे-आज़ादी की उथल-पुथल शांत-सी हो गयी थी। स्वराज्य की मंजिल बहुत दूर नज़र आ रही थी। मैंने दक्षिण भारत छोड़ने की सारी मानसिक तैयारी कर ली। तब तक सभा की रजत-जयंती आ गयी और मित्रों ने आग्रह किया कि मुझे जयंती समारोह तक रुक

जाना चाहिये। और उसके बाद अलविदा कह-कर चला आया।

आज 24 वर्षों से उस प्रयत्न में लगा हुआ हूँ। मुंगेर जिले के लखीसराय नामक स्थान मे 150 एकड का विस्तृत मैदान लेकर उसपर बालिका-विद्यापीठ नामक सस्था की स्थापना कर नवीन शिक्षा यानी गाधीजी के आदर्शों की नीव पर शिक्षा तथा नारी-जागरण का कार्य कर रहा हूँ। इस काम मे मेरी पत्नी श्रीमती विद्यादेवी की पूरी और जागरूक मदद मिल रही है। वह न मिलती तो आज जितना हो पाया है, उसका आधा भी न हो पाता। बिहार के एक छोटे से गाँव की अनपढ़ लडकी जिसे विरासत में कुछ नहीं मिला था और जो मिट्टी का लोंदा थी, जिसने कभी स्कूल-कालेज का मुँह नहीं देखा, वह पटु, निर्भीक व्यवस्था व्यवस्थापिका तथा सचालिका की जिम्मेवारी खूबी से सम्हाल सकेगी, बडे-बडे अफसरो, मिनिस्टरो और नेताओं को अपनी चातुरी और बातों से प्रभावित कर सकेगी, अपनी योजनाएँ समझाकर मनवा लेगी—यह स्वप्न मे भी आशा नहीं की जा सकती थी। मगर 'मूक होई वाचाल'वाली उक्ति चरितार्थ हुई। यह सब कैसे सभव हो सका? हमारे राज्य के एक चीफ मिनिस्टर एक बार हमारे यहाँ ठहरे। सब कुछ देख सुनकर बडी गभीरता से उन्होने पूछा विद्या देवी से—आप बिहार की तो नहीं मालूम पडतीं, आप दक्षिण की हैं क्या? इस तरह के प्रश्न अकसर पूछ जाते रहे हैं। क्योंकि किसी बिहारी महिला से इतनी दक्षता और क्षमता की, इतनी सफाई की, इतनी अतिथिप्रियता की उम्मीद नहीं की जा सकती।

बात बिलकुल सही है। हममें जो भी क्षमता या सेवा का सस्कार आया, दृष्टिकोण बना, सफाई सीखी—यानी जो कुछ भी हममें अच्छा है, वह सब दक्षिण भारत का ही प्रसाद है। यदि हम दोनो दक्षिण न जाते, वहाँ लबी अवधि न बिताते, तो दोनों जड मिट्टी ही रह जाते। आज तक जो हम कर सके हैं यहाँ—बिहार में—और हमे कहना पडेगा कि उसकी सराहना सब समझदार व्यक्तियों ने की है, सख्या जब बडी भी होती जा रही है। इसीमे हम पति-पत्नी अपने जीवन की सार्थकता भी प्रतिबिंबित होते देख रहे हैं, वह सब कदापि न कर पाते यदि दक्षिण भारत रूपी गुरु के चरणो मे बैठकर शिक्षा ग्रहण नही करते। हमारा सब कुछ उसी गुरु का प्रसाद है। मुझमें लेने की शक्ति अल्प थी, अत अल्प ही ले सका। मगर वहाँ तो रत्नाकर की तरह अपार रत्नराशि पडी हुई है। गोता लगानेवाला और दम साधनेवाला आदमी चाहिए।

इसलिए दक्षिण भारत के प्रति हम दोनो प्रपन्न हैं। नित्य उसका स्मरण करते हैं। उसकी वदना करते हैं। दक्षिण भारत हमारा गुरु है, मार्गदर्शक है।

प्रेम का सागर

ऊपर की बात लिखकर ही यदि अध्याय समाप्त कर दूँ, तो अपने गुरु (दक्षिण भारत) के प्रति और अपने प्रति भी अन्याय करनेवाला होऊँगा। जो बातें ऊपर लिख गया, हूँ वह सिक्के का एक पहलू है। उसका दूसरा और भी अधिक उज्ज्वल भाग है, उदात्त है, जिसका ज़िक्र मैं आगे करने जा रहा हूँ। दक्षिण भारत तीन ओर सागर से घिरा है मानो उस रत्नाकर की गोद मे बैठा है। इसलिए सागर की गहराई,

भावोद्वेलन, तथा अनेक रत्नराशि भी उसके हिस्से में आयी है।

यों तो आज विश्व विभेदों को प्रधानता देकर टूक-टूक होता जा रहा है। कहीं संप्रदाय और धर्म के नाम पर, कहीं भाषा और संस्कृति के नाम पर, कहीं राष्ट्र और राज्य की दुहाई देकर, कहीं रंग और जाति का नारा लगाकर भयंकर जहर फैलाया जा रहा है। सिर्फ विघटन की, तोड़ने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है। जोड़ने की बात जैसे अब लोग जानते ही नहीं हैं। नतीजा हम आँखों के सामने देख रहे हैं—ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ और बेचैनी, अशांति और हिंसा की बड़ी भारी बढ़िया भयंकर गर्जन करती हुई सर्वनाशी बाँहें फैलाये सारी मानवता को अपने पेट में निगलती चली आ रही है। सारे विश्व का मानव आज त्रस्त है। सर्वनाश के कगार पर खड़ा है। इससे मुक्ति कैसे मिलेगी—यह सबसे बड़ा प्रश्न है।

मगर क्या ये विभेद सच्चे हैं? नहीं। ये विभेद प्याज के छिलके की तरह हैं। छिलके के नीचे छिलके हैं। उनको उतारते जाइये तो अन्त में प्राण काण्ड की तरह बच रहता है। इन विभेदों के बीच का मानव भी वैसा ही है। इन विभेदों के छिलके उतार दीजिये तो आपको विशुद्ध मानव के दर्शन होंगे।

हमारा सौभाग्य है कि हमने तमाम दक्षिण भारत में, उसके तमाम वर्गों और तबकों में उसी शुद्ध मानव के दर्शन किये। वही उदार, सरल, करुणा-विगलित, प्रेमपूर्ण मानव। कोई छल, धोखा, दुराव, द्वेष, निर्ममता नहीं। देवतातुल्य मानव।

हम उत्तर भारत के गाँव के साधारण व्यक्ति भाषा भिन्न, भोजन भिन्न, आचार भिन्न, जाति और संप्रदाय भिन्न। आकर्षण या विशेषता की कोई बात नहीं। विद्या, कला, वाक्पटुता, लेखन-कौशल, सुन्दर रथ अथवा "सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंति" वाले धन से हीन। साधारण 40 50 रुपये कमानेवाला व्यक्ति जिसकी समाज में कोई खास हस्ती नहीं होती। थोड़ी-सी हिन्दी की पूँजी। पढ़ाने-लिखाने की प्रणाली से भी अनभिज्ञ।

संयोग से मेरा कार्यक्षेत्र आन्ध्र देश के गाँवों में अर्ध-शिक्षित किसानों के बीच था। 1931 की बात है। उस समय मैं गुंटूर जिले के तेनाली तालुका, चेब्रोल गाँव में रहता था। मेरा विवाह 1929 ई. में हो चुका था। मेरी पत्नी गोद में एक बालिका शिशु (अब डा. किरण शर्मा, एफ. आर. सी. एस., लंदन) शारदा को लेकर चेब्रोल आयी। चेब्रोल के 15-20 कम्मा जाति के नौजवान किसान मेरे हिन्दी के विद्यार्थी थे। वहाँ की बात ही बताता हूँ।

विद्या देवी के आते ही चेब्रोल की किसान युवतियों ने जो प्रायः अशिक्षित या अर्धशिक्षित ही थीं (आज के मापदण्ड से) उनको हाथों-हाथ ले लिया। उस समय विद्यादेवी ठीक-ठीक हिन्दी भी नहीं जानती थीं। अंग्रेजी तो आज भी उनको नहीं आती है। तेलुगु जानने का तो कोई सवाल ही नहीं था। मगर देखा, प्रेम में भाषा कोई अन्तराय नहीं बनती। न वह तेलुगू जानती थी, न वे महिलाएँ हिन्दी जानती थीं। फिर भी वह दिनभर कभी इस घर में कभी उस घर में महिलाओं से घिरी रहतीं। यह नहीं कि वह नयापन का कौतूहल था। यही रवैया बरसों तक चला और सब जगह चला। मुझे आश्चर्य

होता कि वे लोग आपस में क्या बातें करती हैं? क्या समझती समझाती हैं? मगर उससे भी बढ़कर आश्चर्य तब हुआ जब कुछ ही दिनों बाद वह तेलुगू कुछ कुछ समझने तथा बोलने लगी। स्वच्छ और निस्वार्थ प्रेम की महिमा ही थी वह।

घर से हज़ारों मील दूर, नया परिवेश, आचार-विचार, रहन सहन। मगर 16 17 साल की विद्या देवी ने कभी शिकायत नहीं की कि मैं कहाँ चली आयी? मेरा मन नहीं लगता है, अथवा अमुक कठिनाई है।

मेरी साल भर की पुत्री शारदा (अब किरण) सबेरे छ बजे से रात के आठ बजे तक कहाँ रहती, कहाँ नहाती खाती या सोती सो मुझे या उसकी माँ को पता नहीं रहता। काफी रात बीतने के बाद कोई महिला उसको कंध पर सुलाए लाती और कहती—विद्या देवी, लो शारदा मेरे घर पर नहा खाकर सो गयी। कभी-कभी तो रात को भी नहीं लौटती। मगर कभी हम लोगों को उसके न आने की चिंता नहीं होती। हम निश्चिंत रहते कि वह कहीं भी प्रेम की गोद में ही होगी। एक बिल्कुल अनपढ किसान दम्पति श्री लक्ष्मय्या जी की वह बहुत लाड़ली थी। वह सबेरे उसे खिला-पिलाकर कंधे पर ले लेते और खेत खलिहान, बाज़ार मैदान सब जगह घुमाते चलते। उनको हिन्दी से कोई सरोकार नहीं था। किरण ने तोतली बोली वहीं सीखी जो तेलुगु हिन्दी मिश्रित थी। जैसे पानी लोतु है (पानी गहरा है)। मक्खन मलाई लगाकर महिलाएँ उसे अपने घर में नहलातीं। उसके कपड़े कई घरों में बनते और वहीं रहते। जब जहाँ उसका कयाम हो जाय। उन महिलाओं को राष्ट्र भाषा, स्वराज्य आदि बातों से कोई दिलचस्पी नहीं थी। न विश्वमानवता पर उनको व्याख्यान देना आता था।

मेरे घर में यदि एक सब्जी बनती तो खाने के समय पाँच से कम न रहती। किसी घर में कुछ अच्छा बनता, तो उसमें हमारा हिस्सा ज़रूर आता। पर्व-त्योहार में तो हमारे घर में मिठाई और पकवान की ढेर लग जाती। दही-दूध कभी खरीदने की नौबत नहीं आती। यह नहीं कि यह किसी खास वर्ग या किसान युवतियों का व्यवहार था। उसी जगह उच्चकुलीन, आचार-परायण ब्राह्मण के घर में भी, जो स्पर्श दोष ही नहीं, दृष्टि-दोष भी मानते थे, हम लोगों को अपार स्नेह मिला। घर के पुरुष ही नहीं, दकियानूस महिलाएँ, बूढ़ी आचारपरायणा विधवाएँ भी अपने सारे नियमों को ढीला करके अपने स्नेह की छाँव में हमें ले लेतीं। खिलाती-पिलाती रखतीं। यद्यपि वे जानती थीं कि हम किसी खास धर्म आचार या सम्प्रदाय को नहीं मानते हैं। हर वर्ण के लोगों के घरों में खाते-पीते हैं।

उस समय आन्ध्र के गाँवों में छ माह का हिन्दी का वर्ग चला करता था। कुछ नौजवान इकट्ठे होकर कुछ पैसा जमा कर लेते और छ माह के लिए किसी हिन्दी प्रचारक को बुला लेते। पता नहीं, वह छ महीनेवाली प्रथा कहाँ से चल पड़ी थी। शायद प्रचार के लिए लोगों के मन में यह बात बिठायी गयी थी कि हिन्दी इतनी सरल भाषा है जो छ महीनों में सीखी जा सकती है। मगर मैं अक्सर एक-एक गाँव में साल-साल भर रहा। अक्सर छ महीने काम करके चला जाता और फिर थोड़े दिनों के बाद पुन लोग बुला लाते।

यानी चातुर्मास के बदले षण्मास एक जगह बितानेवाले संन्यासी या खानाबदोश थे हम। हमारे पास सामान में मय एक ट्रंक, एक होल्ड-आल तथा एकाध टोकरी या और कुछ होता। दो घंटों में पैक किया और एक बैलवाली गाड़ी पर सारा सामान और परिवार को लादकर दूसरे गाँव में पहुँच गये। जहां गये वहां के लोगों ने खाट, बर्तन, पीढ़ा, चूल्हा-चक्की—यानी गृहस्थी का सारा सामान मुहय्या किया।

चेब्रोल से विदा लेना एक समस्या थी। देवताओं के देखने लायक वह दृश्य था। हम दोनों के जीवन की वह अनमोल धरोहर है। चलने के पहले हफ्तों से घर-घर निमन्त्रण खाते तथा नाश्ता करते, फल और कपड़ों की भेंट स्वीकार करते, अश्रुओं की माला पहनते रहे। चलने के दिन सैकड़ों नर-नारी सजलनेत्र विदाई दे रहे हैं और हम भी आंखों से अर्घ्य प्रदान कर रहे हैं। हमने भौतिक सम्पदा आज तक भी कुछ नहीं जोड़ी। मगर प्रेम और सौहार्द का बहुत बड़ा खजाना हमने जमा किया है, जिसका मोल आंका नहीं जा सकता।

हमारे दो लड़के उन्हीं गाँवों में पैदा हुए। इस मौक़े पर लोग कितनी परेशानी उठाते हैं। अमुक को बुलाते तो वहाँ भेजो, यह करो वह करो। हम अपने समाज से हज़ारों मील दूर थे। द्विजेन्द्र कोत्तारेड्डीपालेम में पैदा हुआ, शरत तेनाली में जन्मा, हर्ष मद्रास में। सब जगह दूसरी महिलाओं ने सारा भार सम्हाल किया। कभी कोई परेशानी उठानी नहीं पड़ी। और यह बर्ताव हमें सब जगह मिला। चेब्रोल, कोत्ता-रेड्डीपालेम वड्लमूडी, अइतानगरपालेम, मंतेन-वारिपालेम, तेनाली आदि गाँवों में सब जगह प्रेम का लहराता सागर मिला।

श्रद्धेय बन्धु अवधनन्दनजी के प्रेम ने मुझे आन्ध्र से मद्रास या तमिलनाडु बुला लिया। केन्द्रीय सभा में साहित्यसृजन का काम करने लगा। उसी समय मद्रास पर जापानियों ने बम गिराया। सारा मद्रास शहर वीरान हो गया। मैंने निश्चित होकर विद्यादेवी और बच्चों को चेब्रोल भेज दिया, मानो वह उनका मायका था। और सचमुच वह मायका ही था और आज भी है।

प्रचारक विद्यालय के प्रधान की हैसियत से मुझे कोयम्बत्तूर, दारासुरम (कुंभकोणम) तथा थोड़े दिनों अनन्तपुर में भी रहना पड़ा। मगर ज्यादा समय मद्रास में बीता। अन्य कार्यों के साथ त्यागरायनगर लेडीस क्लब का क्लास बराबर मैं ही लेता रहा। विद्यादेवी ने भी हिन्दी विशारद परीक्षा पास की और हिन्दी प्रचार में सहयोग देने लगीं।

इन स्थानों और मद्रास शहर में भी हमें कई सुशिक्षित तथा सम्पन्न परिवारों का अत्यधिक स्नेह, ममत्व और अपनापन प्राप्त हुआ, जिस कारण आन्ध्र छोड़ना अखरा नहीं।

श्री चिन्नास्वामी अय्यंगार, उनकी पत्नी तथा परिवार ने जो परम वैष्णव हैं, हमारे सारे परिवार को अपने परिवार में मिला लिया। मैं पुत्र बना, वे पिताजी तथा विद्यादेवी पुत्रवधू। हम लोगों को यह ख्याल नहीं आता कि कभी उन लोगों ने किसी मौक़े पर अपनी पुत्रवधुओं में तथा विद्यादेवी में कोई फ़र्क किया हो। बल्कि अपनों से अधिक आदर और प्यार दिया। हमारे

सुख-दुख की हमेशा चिन्ता रखी। आज इतनी दूर, इतने दिन गुजरने पर भी उनका वह प्यार घटा नहीं है। मेरी पुत्रवधू कविता बीमार पड़ी, तो बहन अंगुली ने लिखा कि तुरंत उसको लेकर यहाँ चले आओ। और हमने उसको भेजा भी। क्योंकि अंगुली बहन के अलावा डाक्टर और मेडिकल कालेज की लेक्चरर भी है।

मद्रास के हिन्दी प्रचारक परिवारों में एकाध को छोड़कर सबके साथ हमारा प्रगाढ़ स्नेह रहा। आज भी वह बना हुआ है।

कई कारणों से जब हिन्दी प्रचार के काम में रस नहीं मिलने लगा, तो वह काम छोड़ने का निश्चय किया। मगर उसके पहले मुझे अपने मित्रों से काफ़ी संघर्ष करना पड़ा, जिनमें उत्तर भारतीय बन्धुओं से बड़ी संख्या दाक्षिणात्य मित्रों की तथा हिन्दी प्रचारक बन्धुओं से अधिक अहिन्दीवालों की थी। उनका प्रबल तर्क यह था कि अभी तुम्हारे बच्चे छोटे छोटे हैं, उनकी शिक्षा तथा जीवन में व्यवस्थित होने का सवाल है। यह सब कर लो, तब दूसरे अनिश्चित काम में लगो। मगर मैं अपनी मूर्खता पर अडिग था। पिताजी—श्री चिन्नस्वामी अय्यगार ने मुझे बाँधना चाहा। कहा—"तुमको संस्था चलानी है, तो चलो; मैं अपने गाँव में अपना मकान देता हूँ, अपनी जमीन देता हूँ और भी सहायता करूँगा। मगर अभी मत जाओ।" लेकिन मैं जानता था कि मेरी अल्प शक्ति का अच्छा से अच्छा उपयोग कहाँ होगा।

मद्रास सेंट्रल स्टेशन पर कलकत्ता मेल में सवार होने को तैयार थे। गाड़ी छूटने में कुछ देर थी। सामान चढ़ा दिये थे। पचासों स्त्री-पुरुष बिदा देने के लिए सजल नयन खड़े थे। बहन अंगुली गाड़ी के अन्दर बैठकर फफक पड़ी। वह मुझसे बर्दाश्त नहीं हो सका। हृदयभर आया। एक बार मन में आया कि उतर जाऊँ, यात्रा स्थगित कर दूँ। इस स्नेह, कातरता, विह्वलता, अपनापन का मूल्य चुकाऊँ। यदि इस अव्याज आत्मीय स्नेहातिरेक का मूल्य न चुकाऊँ तो, मेरा जैसा कृतघ्न और अभागा कौन होगा? ऐसी अनमोल निधि कहाँ मिलेगी?

उसी समय मुझे कर्मयोगी श्री कृष्ण का गोकुल छोड़ना याद आया—"कर्तव्य प्रेम से बड़ा है।" जी को कड़ा किया। मगर गाड़ी चली, तो हृदय की बाँध टूट गयी। आँखों ने आदेश का पालन छोड़ दिया।

आज भी दक्षिण भारत की मानवता के अनेक भव्य महान, उदात्त चेहरे मेरी आँखों में झूलते रहते हैं। यदि कलम का धनी होता और समय रहता तो निम्नलिखित लोगों के शब्द-चित्र लिखकर कुछ ऋणपरिशोध करने का प्रयास करता। बसवलिंगय्या चौधरी, चन्द्रशेखरन, नरसय्या गारु, लक्ष्मय्या जी, पेद्द अब्बाय गारु, वेंकायम्माजी, डा० सूर्यनारायण, आलूरि सुब्बाराव उर्फ़ चक्रपाणी, मंतेन सुब्बराजु, कोटय्य दम्पति, इस्लाम साहेब, चिन्नस्वामी अय्यगार, डा० अंगुली, सीतादेवी, श्रीमति आद्यतय्या, स्व. डा कैप्टन गोपालन, डा. महालिंगम, गोविन्द अवस्थी आदि अनेक नाम और हैं।

आज 60 साल की उम्र में सिंहावलोकन करता हूँ, तो प्रश्न उठता है, हमने उन सैकड़ों लोगों को क्या दिया? कुछ नहीं। मगर पाया कितना? ओह! बड़ी निधि, अनमोल मोती, जीवन का अमृत रस, मानव का सर्वश्रेष्ठ धन प्रेम, स्नेह

सहानुभूति आदि। हजारों मील दूर से अजनबी बनकर गया। मगर किसीके मन में कोई शंका, कोई सवाल नहीं उठा कि यह कौन है? ब्राह्मण है या चांडाल, बिहारी है या महाराष्ट्री?

विश्वास है, दक्षिण आज भी मेरी कल्पना का नहीं, मेरा देखा हुआ जैसा ही है। मानव का वह निज स्वत्व राजनीति या क्षुद्र स्वार्थ से विकृत नहीं हुआ होगा। हमारा तथा हमारे परिवार का वह परम सौभाग्य था कि 20 वर्ष तक हम प्रेम-सागर में अवगाहन करते रहे। मानवसमाज के उस रूप का दर्शन किया, जो हिमालय से भी ऊँचा तथा गंगा से भी पवित्र और प्रवहृयान है।

आज जब कोई भाषा, सम्प्रदाय, राज्य, राष्ट्र आदि की विभाजनरेखा मानव-मानव के बीच खींचता है, तो मेरा मन दुखी हो जाता है। उसे मानने को वह तैयार नहीं होता है। उस अज्ञान और स्वार्थ के प्रति आक्रोश उभरता है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि संसार के सब भागों के मानव एक हैं। वह अपने हृदय का अमृत बाँधना चाहता है। मगर हम उस मिठास को चढ़ाना चाहें तब न? विभाजन की रेखाएँ खींचनेवाले अमृत में विष मिलाना चाहते हैं। उनसे सावधान रहने की आवश्यकता है—सर्वथा और सर्वदा।

*

मैं उत्तर भारत में सालों तक रह चुका हूँ। और अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि दक्षिण भारतवालों को हिन्दी का ज्ञान बहुत उपयोगी होगा।... मद्रास के एस. एस. एल. सी. कोर्स में हिन्दी को सम्मिलित कराने से अध्ययन व स्टैंडर्ड में कोई बाधा नहीं पड़ सकती है।

—भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन

होमरूल या स्वराज्य के लिए देश की एक सामान्य भाषा का होना बहुत जरूरी है। वह भाषा अंग्रेजी कभी नहीं हो सकती है और जिस दिन हो गयी उसी दिन यह समझ लेना चाहिए कि हमारे देश की बरबादी का प्याला ऊपर तक भर गया।

—डॉ. एनिबेसेण्ट

असल में तो हिन्दी भाषा है ही लचीली, तन्दुरुस्त बच्चों की तरह बढ़नेवाली और इसकी सर्व संग्राहक शक्ति तथा समन्वय शक्ति भी असीम है जिस भाषा को आज अपने तेरह उपविभाग संभालने पड़ते हैं उसको राष्ट्रभाषा की भूमिका धारण करने में कोई कठिनाई न होगी।

—आचार्य काका कालेलकर

श्री एस. महालिंगम, बी ए.
10-ए, अन्नम्माल स्ट्रीट
मद्रास 17

सभा के महान संरक्षक व संदर्शक

सभा के प्रशासन की गतिविधियों और उसके कार्यालय की सूक्ष्मतम परिपाटियों से सर्वाधिक परिचित कुछ इने-गिने लोगों में श्री महालिंगमजी का प्रमुख स्थान है। कार्यालय-व्यवस्थापक परीक्षा मंत्री, साहित्य मंत्री, प्रान्तीय मंत्री, संयुक्त मंत्री, कुलसचिव तथा प्रधान मंत्री के नाते आपने सभा की विविध एवं महत्वपूर्ण सेवा की है। मृदुभाषी एवं सुबोध लेखक श्री महालिंगम जी ने सभा के साहित्य प्रकाशन में भरपूर योग दिया है। आपकी लिखी कई पाठ्य पुस्तकें अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। आपकी "बच्चों की किताब" की प्रतियाँ लाखों की तादाद में बिकी हैं जो दक्षिण में ही नहीं, समस्त भारत के बिक्री-जगत में एक रेकार्ड सा है। कोशकार और अनुवादक के रूप में भी आप विख्यात हुए हैं। अवकाश-ग्रहण के बाद आजकल आप मद्रास में रहते हैं।

कोई भी विचार जब पहली बार समाज के सामने रखा जाता है तब वह एक बीज के रूप में होता है। लेकिन वह बीज पानी, हवा, खाद आदि अपने लिये आवश्यक वस्तुएँ पाकर कालक्रम में महान वृक्ष बनकर समाज की सेवा करने लगता है।

हमारे दीर्घदर्शी राष्ट्रपिता पूज्य महात्माजी ने भारत की एकता व मजबूती के लिये दक्षिण में राष्ट्रभाषा के प्रचार की आवश्यकता सन् 1918 में महसूस की। फलस्वरूप मद्रास शहर में एक हिन्दी वर्ग के रूप में इस आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। आज दक्षिण में कोई भी ऐसा गाँव नहीं जहाँ आपको हिन्दी जाननेवाले लोग पर्याप्त संख्या में नहीं मिलेंगे। पूज्य बापू का बोया हुआ बीज आज विशाल वृक्ष बनकर अपनी शीतल छाया व मीठे फलों से देश की सेवा कर रहा है। कहने की जरूरत नहीं कि यह विकास श्रद्धालु कार्यकर्ताओं और देशप्रेमी नेताओं के निःस्वार्थ परिश्रम का फल है। सभा की स्वर्णजयंती के इस ऐतिहासिक अवसर पर इन महान पुरुषों को याद करके उनके प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित करना हर हिन्दी प्रेमी का कर्तव्य है।

बुनियादी कार्यकर्त्ता—श्री देवदास गान्धी तथा स्वामी सत्यदेव दक्षिण के सबसे प्रथम हिन्दी प्रचारक थे। उनके बाद दक्षिण भारत के तथा उत्तर भारत के कुछ नवयुवकों ने महात्माजी की प्रेरणा पाकर हिन्दी प्रचार के पुनीत कार्य को

अपना जीवन लक्ष्य बनाकर इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

पंडित हरिहरशर्मा, जो सभा के प्रथम प्रधान मंत्री थे, श्री क. म. शिवरामशर्मा, श्री हृषीकेश शर्मा, श्री प्रतापनारायण वाजपेयी, श्री क्षेमानन्द राहत, श्री मोटूरी सत्यनारायण—जिन्होंने सन् 1937 से सन् 1961 तक सभा के प्रधान मंत्री पद पर रहकर सभा की सर्वतोमुखी उन्नति में हाथ बटाया—श्री रघुवरदयालु मिश्र, श्री अवधनन्दनजी, श्री देवदूत विद्यार्थी, श्री टी. कृष्णस्वामीजी, श्री रा. शास्त्री पं. रामानन्दजी, श्री व्रजनन्दनजी, श्री नागेश्वर मिश्रजी, श्री एस. वी. शिवरामजी, श्री सिद्धगोपाल जी, श्री पी. वें. सुब्रराववजी, श्री जमुनाप्रसादजी, श्री सिद्धनाथपंत, श्री दामोदरन उण्णि, श्री मुरतैयादास, श्री कृत्तिवास, श्री एस. पी. एस. राजन आदि के नाम इस सिलसिले में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पोषक—यद्यपि कुछ वर्षों के बाद हिन्दी प्रचार सभा का कार्य स्वावलंबी हो गया, प्रारंभिक दशा में इसके लिये आर्थिक सहायता की बड़ी आवश्यकता थी। यह सहायता पूज्य बापू ने अपने उदारहृदय मित्रों से दिलायी। सेठ जमनालाल बजाज, बड़ोदा के महाराजा, सेठ सर हुकुमचन्द, अग्रवाल महासभा, घनश्यामदास बिड़ला, डा० पी. जे. मेहता आदि इनमें मुख्य हैं। बादको सर्वश्री कर्नल गोपीनाथ पण्डाले, आर. एम. सीटी. अण्णामलै चेट्टियार, श्रीमती रंगाचारी, रंगस्वामी अय्यंगार-स्मारक समिति, कलकत्ता के श्री रामकुमार भुवालका आदियों ने सभा के भवन-निर्माण के लिये बड़ी रक़में प्रदान कीं।

सन् 1946-48 में सभा की रजतजयंती के अवसर पर पूज्य बापू की अपील पर देश भर में से ढाई लाख रुपये वसूल हुए जिसकी सहायता से सभा के कार्यकलापों में विशेष वृद्धि हुई।

महान मार्गदर्शक—अपना अमूल्य समय देकर जिन महान नेताओंने सभा का मार्गदर्शन कराया उनमें से कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय नीचे प्रस्तुत है :—

श्री राजाजी (श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य)

पूज्य बापू ने जब दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की, उन्होंने श्री राजाजी को अपना स्थानीय प्रतिनिधि नामजद करके, सभा के कार्य का निरीक्षण कर उसके कार्यकर्ताओं को मार्ग-दर्शन कराने का भार सौंपा। श्री राजाजी शुरू से सन् 1957 तक सभा के उपाध्यक्ष रहे उसकी उन्नति में मार्के की सेवा की। जब 1937 में प्रथम कांग्रेस मंत्री-मण्डल मद्रास में क़ायम हुआ, उसके प्रधान की हैसियत से मद्रास राज्य के स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य बनायी और स्कूली हिन्दी पाठ्य पुस्तकें सरकार की ओर से प्रकाशित करने का काम सभा को सौंपा। तभी से सभा की आर्थिक स्थिति में उन्नति होने लगी। सभा के विकास और उन्नति का अधिकतर श्रेय आप ही को है।

श्री के. भाष्यम अय्यंगार

श्री के. भाष्यम अय्यंगार मद्रास के सुप्रसिद्ध वकील थे और आपने कांग्रेसी मंत्री-मण्डल में कानून-मंत्री के पद को भी सुशोभित किया। सभा के प्रारंभिक काल से आप सभा को बड़ी मदद पहुँचाते रहे। सभा के लिए चन्दा वसूल करने में अपना अमूल्य समय देकर वे सभा के अधिकारियों के साथ घर-घर जाया करते थे। वे कई वर्षो तक सभा के प्रवर्तक (Director) तथा जीवन-पर्यंत सभा के निधिपालक-मण्डल के सदस्य

रहे। उनका घर सभा के कार्यकर्ताओं के लिए हमेशा खुला रहता था। सभा के पदवीदान-समारोहों में आपने कई बार अध्यक्षासन ग्रहण किया था।

डॉ पट्टाभि सीतारामय्या

डॉ पट्टाभि सीतारामय्या सभा के प्रारंभ से ही उपाध्यक्ष रहे। आपने सभा के पदवीदान-समारंभ में स्नातकों को अभिभाषण दिया था। जब काग्रेस के अध्यक्ष थे तब तिरुच्चिरापल्लि में सभा की शाखा के भवन का उद्घाटन किया। आप भी आजीवन सभा के निधिपालक मण्डल के सदस्य रहे।

डॉ सुब्बरायन

डॉ सुब्बरायन जब सन् 1923 में मद्रास सरकार के मंत्री थे, तभी सबसे पहले स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने की सुविधा करायी थी। इससे लाभ उठाकर कई जिला बोर्डों व मुनिसिपल काउन्सिलों ने अपने स्कूलों में हिन्दी अध्यापकों को नियुक्त किया। मद्रास के प्रथम काग्रेसी मंत्री मण्डल में आप शिक्षा मंत्री थे, तब भी सभा की बड़ी मदद की। भारत सरकार के हिन्दी आयोग के भी आप सदस्य थे।

श्री जमनालाल बजाज

श्री जमनालालजी जिन्हें पूज्य बापू अपना पाँचवाँ पुत्र मानते थे, शुरू से ही सभा की सहायता करते रहे। उनके दान के बल पर ही सभा का छापाखाना खोला गया। सभा के पुस्तक विक्री-विभाग की उन्नति करने में आपकी अमूल्य सलाहें सभा को बड़े काम की रहीं। आप भी आजीवन सभा के निधिपालक रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मद्रास अधिवेशन (सन् 1937) का आपने अध्यक्षासन ग्रहण किया था। आपके सुपुत्र श्री कमलनयनजी बजाज इस वक्त सभा के निधिपालक हैं और सभा के उच्च आदर्श को बनाये रखने में बड़ी सेवा कर रहे हैं।

श्री सजीव कामत

मद्रास के सार्वजनिक क्षेत्र में श्री सजीव कामत का प्रवेश सन् 1925 के करीब हुआ। आप बालचर, हरिजनसेवा आदि सार्वजनिक व राष्ट्रहित के कामों में दिलचस्पी लेते थे और उनकी उन्नति के लिए अपना अमूल्य समय प्रदान करते थे। सभा से आपका विशद संबन्ध रहा। आप लगातार सभा की कार्यकारिणी के सदस्य थे और कई वर्षों तक सभा के उपाध्यक्ष भी थे। कार्यकारिणी समिति की बैठकें आपकी अध्यक्षता में ही हुआ करती थीं। आपने सभा के सामने प्रस्तुत कई जटिल समस्याओं को सुन्दर ढंग से सुलझाया। मद्रास में जो भी प्रमुख व्यक्ति पधारते थे, उन्हें कामतजी सभा में अवश्य ले आते थे और सभा के कार्य से उनको परिचित कराते थे। कार्यकर्ताओं के आप बड़े हितैषी रहे और उनकी सहायता खुले दिल से करते थे। प्रति वर्ष हिन्दी प्रचार सप्ताह मनाने का क्रम आप ही के सुझाव से शुरू हुआ। उनकी निःस्वार्थ सेवा सभा के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। सरकार ने उनको जज का पद देना चाहा, लेकिन उन्होंने इसलिये स्वीकार नहीं किया कि जज बनने से सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी वे सेवा जारी नहीं रख सकेंगे।

श्री रामनाथ गोयन्का

मद्रास के व्यापारिक क्षेत्र में श्री रामनाथ गोयन्का का प्रमुख स्थान है। सभा से आपका संबन्ध बहुत पुराना है। आप कई वर्षों तक

सभा के प्रवर्तक रहे और उस हैसियत से कई अवसरों पर सभा का मार्ग-दर्शन कराया।

श्री काकासाहब कालेलकर

सभा की वर्तमान नियमावली के मूल निर्माता श्री काकासाहब कालेलकर हैं। आपने सन् 1933-34 में दक्षिण भारत का दौरा किया और प्रमुख हिन्दी प्रेमियों से मिलकर सभा के लिये धन-संग्रह किया। सभा के प्रथम पदवीदान समारंभ में आपने स्नातकों को अभिभाषण दिया।

श्री बी. जगन्नाथदास

भारत के सुप्रीमकोर्ट के अवकाश-प्राप्त जज श्री जगन्नाथदास सन् 1932 से सभा के कार्य में दिलचस्पी लेने लगे। उन दिनों वे वकालत करते और कांग्रेस के कार्यक्रमों में भाग लेते थे। आप सभा की कार्यकारिणी के तथा निधिपालक-मण्डल के सदस्य तथा कोषाध्यक्ष भी थे।

श्री न. वि. राघवन

सन् 1937 मार्च महीने में जब श्री हरिहरशर्मा ने सभा के प्रधान मंत्री-पद से इस्तीफ़ा दिया, तो पूज्य बापू ने सभा की बागडोर को श्री न. वि. राघवन के काबिल हाथों में सौंपा। श्री राघवन उस वक्त अकौंटेंट जेनरल के पद से रिटायर हुए थे। निःस्वार्थ, निर्भीक और पक्षपात-रहित सेवा के आप मूर्त रूप थे। आपने सभा के कार्य को सुसंगठित बनाया, प्रेस की व्यवस्था को सुधारा और कार्यकर्ताओं में नया उत्साह पैदा किया।

श्री के. पी. माधवन नायर

केरल प्रांतीय शाखा के कार्य में आप शुरू से ही बड़ी सहायता करते थे। आप वर्षों तक उसके अध्यक्ष रहे। केन्द्र-सभा के भी आप उपाध्यक्ष रहे।

श्री के. बालसुब्रह्मण्य अय्यर

श्री के. बालसुब्रह्मण्य अय्यर, एम.एल.सी., ने सभा की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष की हैसियत से कई वर्षों तक सभा का मार्गदर्शन कराया। समिति में विचारार्थ पेश होनेवाले विषयों पर आप निष्पक्ष भाव से विचार कर सही निर्णय करने में बड़ी सहायता करते थे।

श्री एन. सुन्दर अय्यर

मद्रास में जो हिन्दी का प्रथम वर्ग खुला, उसके आप हिन्दी विद्यार्थी बनकर हिन्दी सीखने लगे और अपना हिन्दी अध्ययन बराबर जारी रखा। केरल के हिन्दी प्रचार में आपने बड़ा योगदान दिया। बादको आपने मद्रास को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया, तब नगर के प्रचार कार्य में बड़ी सहायता पहुँचायी। आप सभा के कोषाध्यक्ष भी थे।

डॉ. बी. रामकृष्णराव

आप जब हैदराबाद सरकार के मुख्य मंत्री बने तब से सभा के कार्य में विशेष दिलचस्पी लेने लगे। वर्षों तक आप सभा के उपाध्यक्ष रहे और सभा में स्नातकोत्तर विभाग की स्थापना होने पर आप उसके कुलपति भी बने। सभा की सेवा करना वे अपना पुनीत कर्तव्य मानते थे।

अन्य :—

उपर्युक्त विभूतियों के अलावा दक्षिण के जिन प्रमुख पुरुषों ने सभा की विशेष सेवा की उनके नाम यों हैं—आन्ध्र के श्री टी. प्रकाशम, श्री कोण्डा वेंकटप्पय्या, स्वामी सीताराम, डा. गोपाल रेड्डी, श्री डी. श्रीनिवास अय्यंगार, तमिलनाडु के श्री एस. सत्यमूर्ति, श्री ए. रंगस्वामी अय्यंगार ("हिन्दू" के संपादक), सरदार वेदरत्नम पिल्लै, श्री आर.

श्रीनिवास अय्यर श्री पी एस जी रंगा नायुडु, डा० ई पी मधुरम, डा० आर महालिंगम, केरल के प्रो चन्द्रहासन, कर्नाटक के श्री निजलिंगप्पा, श्री आर आर दिवाकर, श्री निट्टूर श्रीनिवास राव, श्री सप्तगिरि राव, आदि ।

सबल समर्थक व सदर्शक —

हिन्दीप्रचार-कार्य के प्रबल समर्थको में सर्वश्री चित्तरंजन दास, भूलाभाई देसाई, डॉ राजेन्द्र प्रसाद, डॉ सरोजिनी नायुडु, डॉ पट्टाभि सीतारामय्या, रा र दिवाकर, आचार्य विनोबा भावे, पुरुषोत्तमदास टंडन, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, एस ए ब्रेल्वी, डॉ सैयद महमूद, शंकरराव देव, बी जी खेर, न कालेश्वर राव, पंडित मदनमोहन मालवीयजी, गंगाधरराव देशपांडे, शंकरलाल बैंकर, सर तेज बहादुर सप्रू, कन्हैयालाल मुंशी, सरदार पटेल, सी, वाई चिंतामणि, डॉ संपूर्णानन्द, के सी रेड्डी, अनंतशयनम अय्यंगार, अविनाशिलिंगम चेट्टियार, कुमारस्वामी राजा, वी एस श्रीनिवास शास्त्री, सी विजयराघवाचारी, के एफ नारिमन, श्रीमती कमला नेहरू, डॉ हार्डिकर, श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय, श्री अम्मु स्वामिनाथन, पट्टम ताणु पिल्लै डॉ अन्सारी, सी दुरैस्वामी अय्यंगार, देशोद्धारक नागेश्वर राव पंतुलु, आंध्र केसरी टी प्रकाशम, आचार्य एन जी रंगा, डॉ वरदराजलु नायुडु, वी नाडिमुत्तु पिल्लै, एम ए माणिक्कवेलु नायकर बी रामचंद्र रेड्डी, जमाल मोहम्मद साहब, अब्दुल हमीद खाँ, डॉ जी एस अरुण्डेल, पी एस शिवस्वामी अय्यर, दादा धर्माधिकारी, आर के सिध्वा, डॉ तथा श्रीमती कजिन्स, डॉ शास्त्री तथा हालास्यम (तिरुच्चिरापल्ली), जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफ अली, डॉ मेहताब, अच्युत पटवर्धन, लाल बहादुर शास्त्री, आचार्य नरेन्द्र देव और श्री कस्तूर बा गान्धी आदि राजनैतिक नेता,

सर्वश्री जे सी कुमरप्पा, जयदयाल-गोयदका (गीता प्रेस), पंडित हृदयनाथ कुंजरू, श्रीराम वाजपेयी, आर्यनायकम दपंति, सोफिया सोमजी, जी ए नटेशन जी, श्रीमती मुत्तु लक्ष्मी रेड्डी, सी. एफ आण्ड्रूज, वी रामदास पंतुलु, टी आर कृष्णस्वामी अय्यर (शबरी आश्रम, ओलवकोट) आदि समाज-सेवक,

सर्वश्री दीवान सर मिर्जा इस्माइल, सर के पी पुट्टन्न शेट्टी, सर एस पी राजगोपालाचारी, सर मुहम्मद उस्मान, सर पी एस शिवस्वामी अय्यर, सर टी विजय राघवचारी आदि विख्यात शासक,

आध्यात्मिक क्षेत्र में इस युग के अग्रिम नेता, ऋषितुल्य कामकोटिपीठाधीश श्रीश्री शंकराचार्य,

सर्वश्री पंडित अमरनाथ झा, प्रिंसिपल ध्रुव, सर पी सी रे, प्रो ए आर वाडिया, प्रो शुक्ल, प्रो० पी पी एस शास्त्री, ए रामराव (I E S) प्रो० बी एम श्रीकंठय्या, श्री जे पी विद्यार्थी (Inter University Board) श्रीमती मोना हेन्समैन, पीतांबर दत्त अग्रवाल, वासुदेवशरण अग्रवाल, ललिता प्रसाद शुक्ल, महादेवी वर्मा, पं रामनारायण मिश्र, पंडित सुन्दरलाल, प्रोफ़ेसर जबुनाथन (मैसूर) आदि शैक्षणिक क्षेत्र के नेता,

सर्वश्री सर अल्लाडि कृष्णस्वामी अय्यर, टी आर वेंकटराम शास्त्री, वी वी श्रीनिवास अय्यंगार, बशीरअहमत सईद, डॉ० पी वी राजमन्नार, जस्टिस पुराणिक (नागपुर) आदि क़ानून के विशेषज्ञ,

सर्वश्री बनारसी दास चतुर्वेदी, सी. आर. श्रीनिवासन, के. संतानम, ए. एन. शिवरामन, कल्कि कृष्णमूर्ति, एस. एस. वासन आदि संपादक विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनमें से कइयों ने समय-समय पर सभा का संदर्शन कर कार्यकर्ताओं को उत्साहित किया।

निरीक्षक :

पूज्य महात्माजी के आदेशानुसार मध्य भारत के निवासी श्री भाई कोतवाल ने जनवरी व फ़रवरी 1928 में दक्षिण के प्रमुख हिन्दी प्रचार केन्द्रों का निरीक्षण किया। भाई कोतवाल ने दक्षिण अफ्रीका में बापू के साथ कार्य किया था। बापू ने उन्हें सन् 1918 से 1928 तक हिन्दी प्रचार कार्य ने जो प्रगति की थी उसे आंकने और हिन्दी के प्रचारकों को उत्साहित करने श्री कोतवाल को भेजा। उन्होंने फरवरी 5 से 10 तक सेलम, ईरोड, तिरुच्ची, तेनकाशी, कल्लिडैक्कुरुच्चि, मदुरै, मन्नार्गुडी, तंजाऊर, कडलूर और मद्रास में दौरा किया। फिर ता. 29 फ़रवरी से 12 मार्च तक आंध्र के 16 केन्द्रों में गये। सन् 1934 में श्री पुरुषोत्तम दास टंडनजी ने दक्षिण के हिन्दी केन्द्रों में दौरा करके निरीक्षण किया। इनके आगमन से हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी विद्यार्थियों में विशेष उत्साह पैदा हुआ।

सबसे बड़ा सौभाग्य

पूज्य महात्माजी सभा के संस्थापक व आजीवन अध्यक्ष थे ही। साथ ही साथ जब कभी वे मद्रास आते ; सभा में अवश्य पधारते थे और सभा के कार्यों का निरीक्षण कर कार्यकर्ताओं को आवश्यक सलाह दिया करते थे। उन्होंने तीन अवसरों पर सभा के पदवीदान-समारंभों में अध्यक्षासन ग्रहण किया। सन् 1946 में सभा की रजत-जयंती की सदारत उन्होंने ही की। उस समय वे सभा में करीब दस दिन रहे, जहां दक्षिण के हज़ारों रचनात्मक कार्यकर्ताओं से मिलकर उनका मार्ग-दर्शन किया। उसी अवसर पर उन्होंने समूचे दक्षिण भारत की विजय-यात्रा की। इस यात्रा को उन्होंने 'हिन्दी यात्रा' कही। इसे सभा अपना सबसे बड़ा सौभाग्य मानती है।

*

अनेक कारणों से हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा बनने योग्य है। और उसमें उर्दू या फ़ारसी ही नहीं, वरन उत्तर और दक्षिण की विविध भाषाओं के प्रचलित शब्द भी चालू हों ताकि हिन्दी सबकी आत्मीय बने। वह दिन दूर नहीं जब कि पर-भाषा विषयक मुहताजी पर हिन्दुस्तानवाले लज्जित होंगे और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाकर अपने को धन्य मानेंगे।

—दीनबंधु सी. एफ़. एन्ड्रूस
(अमृतबजार पत्रिका, 8-8-1933)

श्री जी सुब्रह्मण्यम
45 S बरोडा स्ट्रीट,
मद्रास-17

सभा तो रह गयी, पर उसकी आत्मा ?

गांधीवादी रचनात्मक कार्यक्रम और सर्वोदय सिद्धान्तों में सने हुए श्री जी सुब्रह्मण्यमजी की गणना सभा के पुराने आदर्शनिष्ठ एवं कर्मठ कार्यकर्ताओं में होती है। सभा के प्रचारक संगठक प्रान्तीय मंत्री तथा संयुक्त मंत्री रहने के बाद आप इस संस्था के प्रधान मंत्री भी बने और महत्वपूर्ण सेवा की। विचारक, प्रशासक, लेखक और वक्ता के रूप में आप सार्वजनिक क्षेत्रों में सुपरिचित हैं। महात्मा गांधी, संत विनोबा, आचार्य तुलसी आदि के अनुवादक के तौर पर उन विभूतियों की तमिलनाडु यात्राओं के समय उनके साथ रहकर सेवा करने का परम सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ था। अवकाशग्रहण के बाद, आजकल आप अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के संयुक्त मंत्री हैं। संप्रति आप मद्रास में रहते हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा अपनी पचास वर्ष की सफल सेवा के बाद आज स्वर्णजयंती मना रही है, यह उचित ही है। इस अर्ध शतमान में इस संस्था की उपलब्धियों को देखते हुए उससे संबंधित हर व्यक्ति को गर्व करने का हक है। सभा की प्रतिष्ठा, सेवा और संगठन को मद्दे नज़र रखकर भारत सरकार ने इसे राष्ट्रीय संस्था करार कर इसकी पुष्टि की है।

कर्मठ कार्यकर्ताओं द्वारा राष्ट्रभाषा का शुभ संदेश दक्षिण के कोने कोने में फैला, यह इसका फल है। हर छोटे छोटे गाँव में हिन्दी के केन्द्र बने, शाखा संस्थाएँ बनीं, बच्चों बूढ़ों आदि सब तरह के तथा सब स्तर के लोगों—स्त्री पुरुषों—में, बिना किसी भेदभाव के राष्ट्रभाषा से ज्ञानवर्धन के सफल प्रयत्न हुए यह छोटी बात नहीं है।

इस प्रयास में सभा के तत्वावधान में हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग के जरिए दक्षिण के छात्रों में हिन्दी के प्रति विशेष ज्ञान तथा प्रेम उत्पन्न करने का क्रम कुछ वर्षों से प्रारंभ कर विद्या तृष्णा का परिचय दिया गया है जो बहुत ही स्तुत्य है। इन सारे कार्यकलापों में क्रमश भारत सरकार तथा अन्य दक्षिणी प्रांतीय सरकारों का योगदान जो अपेक्षित है रहता आ रहा है, सिवाय इसके कि तमिलनाडु की डी एम के सरकार अपनी पुरानी नीति के अनुसार हिन्दी को अपनी फूटी आँखों देखना नहीं चाहती और

अपने राज्य भर के स्कूलों में हिन्दी का पठन-पाठन-क्रम बिलकुल बंद कर दिया है।

उपर्युक्त कार्य-विस्तार सभा के लिखित उद्देश्य की पूर्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जो हमारे लिए गौरव की बात है। साथ ही साथ यही ऐसे मौके हैं जब हम जरा अंतर्मुखी होकर देखने की कोशिश करें कि हम कहाँ तक आगे बढ़े हैं, और आगे हमें कहाँ बढ़ना चाहिए।

इसके लिये हमें थोड़ा अतीत पर गौर करना होगा। भारत परतंत्र था। यहाँ की शिक्षा-दीक्षा, शिल्प-कला, व्यापार-वाणिज्य, उद्योग-धंधे, धर्म-संस्कृति, चिंतन-मनन, सुख-समृद्धि, रहन-सहन आदि की अत्यन्त उपेक्षा हो रही थी। लम्बी गुलामी के कारण भारतवासी निस्तेज रह गये। आपसी फूट, मनमुटाव, स्वार्थपरता के कारण हम कई गुटों में बंट गये। अंग्रेजी हुकूमत के कारण अंग्रेजी जानने और पढ़नेवाले विद्वान और बाकी सब पामर समझे जाने लगे। इसलिये भारत को इकट्ठा कर उसका चिंतन सही दिशा में मोड़ना अत्यंत आवश्यक था। इस रास्ते में विशेष अड़चन अंग्रेजी हुकूमत रही। अतः उसको हटाने का प्रथम संकल्प रहा, ताकि उसके बाद भारत को अपने ढंग से सही चिंतन का मार्ग खुल जाय।

इस ओर महात्मा गांधी ने आगे कदम उठाया। रचनात्मक कार्यक्रम का शंख बजा और देश भर में एक नयी स्फूर्ति फैल गयी। बिखरी हुई शक्ति इकट्ठी होने लगी और उस वक्त भारत का नवजागरण हुआ। देशहित में दिलचस्पी रखनेवाले आपस में मिल-जुलकर सह-चिंतन करने लगे जिसके फलस्वरूप अनेकों देश-सेवक निस्वार्थ सेवाभाव से राष्ट्रकल्याण-यज्ञ में अपनी आहुति देने लगे।

इसी परिपाटी में हिन्दी प्रचार सभा का भी जन्म हुआ, यह स्मरण रखने की बात है। ऐसी परिस्थिति में तत्कालीन सरकार इस संस्था को राजद्रोह का एक आधार-स्तंभ मान चुकी थी तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं; इसके फलस्वरूप सभा के मूर्धन्य कार्यकर्ताओं को जेल भी जाना पड़ा। उन दिनों हिन्दी का मतलब सिर्फ एक भाषा नहीं, बल्कि राष्ट्रीय एकता का प्रमुख जरिया था। याने, भारत के नवनिर्माण के कई साधनों मे हिन्दी भाषा का प्रचार भी एक साधन समझा जाता था। पीछे चलकर साधन को ही साध्य समझने की भूल हुई है ऐसा मालूम होता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी भाषा तथा साहित्य की एक प्रतिनिधि संस्था है। एक समय ऐसा भी आया जब कि यह संस्था राष्ट्रभाषा प्रचार के कार्य को अपनी ही साहित्यिक पृष्ट भूमि पर बनाये रखने के हेतु दक्षिण में हिन्दी प्रचार के उन्नायक महात्मा गांधी के विचार से अलग होने लगी। अपनी दूरदर्शिता के कारण महात्मा गांधी ने इस राष्ट्रभाषा का नामकरण "हिन्दुस्तानी" किया और उसका रूप आसान बोलचाल की हिन्दी-उर्दू बतलाया। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि हिन्दुस्तानी भाषा देवनागरी और उर्दू, दोनों लिपियों में लिखी जाए। सभा के अध्यक्ष के विचार हमने भी मान लिये और तदनुसार कुछ कार्य होता रहा।

इस बीच में भारत का संविधान बना और महात्माजी भी हमसे बिछुड़ गये। यद्यपि गांधीजी के प्रमुख अनुयायी लोगों के हाथ में देश-कल्याण की सारी जिम्मेदारी थी, फिर भी उनके विचारक्रम और कार्यक्रम पलटा खाने लगे और हिन्दुस्तानी को तिलांजली देकर सर्वत्र जोर-शोर से

हिन्दी को अपनाया। उधर गांधीजी के मरने के बाद भिन्न-भिन्न रचनात्मक कार्यक्रम मे लगे रहनेवाले इकट्ठे हुए और एक सर्वसेवा संघ का गठन हुआ। उस संगठन मे हमारा कोई खास ताल्लुक न रहा और हमने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा।

इससे एक मूलभूत कमी यह रह गयी कि दक्षिण मे हिन्दी कार्यकर्ता अपने को सिर्फ भाषा के प्रचारक मान बैठे और एक हद तक अन्य रचनात्मक कार्य-प्रवृत्ति से कट-से गये। नतीजा यह हुआ कि सभा के हजारो कार्यकर्ता सिर्फ शिक्षक बने और शिक्षणक्रम का पूरा ढाचा सरकारी आधार पर बनाया था। हम सबके सब 'सरकार-अभिमुखी' हो गये। इसमे थोडा-सा फ़ायदा भी अवश्य हुआ। शिक्षको के वेतन, मान तथा ओहदों में तरक्की हुई। बडे-बड़े कालेजों, विश्वविद्यालयो में 'हिन्दी' का प्रवेश हुआ और प्रतिभावान प्राध्यापक नियुक्त हुए। धीरे-धीरे ये सब अपने-अपने नियम-उपनियम आदि पाबंदी मे जकड़े गये। जब शिक्षा-क्रम ही सरकार के हाथ मे हैं तब शिक्षक, चाहे वे किसी भी दर्जे के हो, स्वतंत्र कैसे रह सकते हैं? कहने का मतलब यह है कि अपनी स्वतंत्रता के अभिन्न अंग रूप में हिन्दी का प्रचार हमने अपनाया, लेकिन आज हिन्दी के साथ हिन्दी के कार्यकर्ता भी पराधीन हो गये हैं!

बात है कि अब हम किसी भी तरह रह गये, सभा भी लोकसभा के अधिनियम के बल पर रह गयी, पर उसकी आत्मा तो निकल गयी!

संस्कृत के द्वारा देवनागरी लिपि को विश्वव्यापी लिपि कहा जा सकता है। आक्सफोर्ड और लन्दन मे, पेरिस, बर्लिन और टोकियो मे जहाँ जहाँ भी संस्कृत का अध्ययन होता है वहाँ वहाँ देवनागरी का अध्ययन होता है। उपर्युक्त नगरो मे तो देवनागरी के मुद्रणालय हैं जिनमें भारत की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर संस्कृत-ग्रंथ प्रकाशित होते हैं। देवनागरी लिपि भारतीय सभ्यता का विशेष अंग है। इसका स्थान कोई भी दूसरी लिपि कदापि नही ले सकती।

—डॉ रघुवीर

(कल्याण— सितंबर 1947)

भाषा एक न होने पर भारतीय एकता संभव नही है। हिन्दी को यदि भारत की एकमात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय तो सहज ही मे वह (एकता) संपन्न हो सकती है। शासक अंग्रेज इस प्रस्ताव से सहमत नही होंगे। क्योंकि उनका साम्राज्य फूट पर आधारित है और हिन्दी उस फूट की दुश्मन है।

—श्री केशवचन्द्र सेन ("सुलभ समाचार" 1876)

स्व. श्री ए. सी. कामाक्षिराव, एम. ए.,
(भूतपूर्व कोषाध्यक्ष)
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

स्वर्णजयंती तथा सभा का भविष्य

सभा की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के बाद श्री कामाक्षिराव ने मद्रास विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिन्दी) उपाधि ली। कई वर्ष तक मद्रास क्रिश्चियन कालेज में हिन्दी प्राध्यापक तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष के नाते सेवा की। आप अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ, लेखक तथा वक्ता थे। कई वर्ष तक आप साहित्यानुशीलन समिति, मद्रास, के अध्यक्ष रहे और उस नाते मद्रास के हिन्दी प्रेमियों को संगठित कर उनकी साहित्यिक अभिरुचि बढ़ायी। शिक्षा-परिषद के सदस्य और कोषाध्यक्ष के नाते आपने सभा की बहुमूल्य सेवा की। भारत सरकार की शिक्षा तथा सूचना-प्रसारण सलाहकार-समितियों के सदस्य रहे। तेलुगु की 'रंगनाथ-रामायण' का हिन्दी में अनुवाद किया जो बिहार राष्ट्रभाषा परिषद द्वारा प्रकाशित हुआ है।

बापूजी का यह पुण्य-प्रताप ही कहना चाहिए कि हिन्दी प्रचार कार्य का जो बीज उन्होंने दक्षिण में बोया वह दिन-दुगुना रात चौगुना बढ़ता गया और उनके द्वारा संस्थापित दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा अपनी स्वर्णजयंती भी मना चुकी है। इन पचास वर्षों में सभा ने लगभग एक करोड़ लोगों को हिन्दी का ज्ञान कराया, करीब दस हज़ार अध्यापकों को तैयार किया, लगभग दो हज़ार से अधिक केन्द्रों में हिन्दी परीक्षाएँ चलाती रही और सुदूर दक्षिण के कोने-कोने तक हिन्दी संदेश पहुँचाया। अब तक सभा ने जो कार्य किया, वह निस्संदेह स्तुत्य है। आज सभा एक ऐसे मोड़ पर खड़ी है जबकि उसे आज तक के अपने कार्य का मूल्यांकन करना चाहिए और युग की आवश्यकताओं के संदर्भ में अपने भावी कार्यक्रम का संकल्प कर लेना चाहिए।

जिस समय बापूजी ने हिन्दी प्रचार कार्य प्रारंभ करवाया, उस युग की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। हिन्दी का प्रचार सिर्फ भाषा का प्रचार नहीं था, बल्कि एक भावना का प्रचार था—स्वतंत्रता की भावना का और राष्ट्रीय एकता की भावना का। उन दिनों में हिन्दी सीखना, उतना ही स्वातंत्र्य संग्राम में योग देने का चिह्न था, जितना खद्दर पहनना और हरिजन-सेवा करना था। किन्तु आज परिस्थिति बदल गयी है। आज देश स्वतंत्र है; देश में भारतीय जनता के प्रतिनिधि शासन का कार्य संभाल रहे हैं, देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं को प्रोत्साहन मिलता जा रहा है और उन्हें राज्य के भीतर प्रशासन का माध्यम बनाने का तीव्र प्रयास हो रहा है। जहाँ तक हिन्दीतर प्रदेशों का प्रश्न है, उनमें आज हिन्दी सीखने के प्रति लोगों का वह आग्रह नहीं है

जो तीस पच्चीस वर्षों के पहले था। आज हिन्दी को लेकर राजनीतिक दाँव पेंच जोरों से चल रहे हैं। आज देश में विघटन की शक्तियाँ जोर पकड़ रही हैं और प्रादेशिक भावना उग्ररूप धारण कर रही है। जाति, भाषा आदि के नाम पर देश को छिन्न भिन्न करने की तीव्र चेष्टा हो रही है। 'सारा देश एक है' यह भाव लुप्त होता जा रहा है।

साहित्य का आदान प्रदान—इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय सस्कृति का उत्स एक ही है भले ही उसकी धाराओं के भाषागत बाह्य रूप भिन्न दिखायी पड़ें। इस सस्कृति की अभिव्यक्ति साहित्य, दर्शन और कला मे हुई है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है, कि भारतीय सस्कृति की मूलभूत एकता को भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाय ताकि लोगों में राष्ट्रीय एकता का भाव दृढ़ हो सके। यह तभी सभव होगा जब सभी भारतीय भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी के माध्यम से समस्त देश के सम्मुख आ जाय। यह इतना व्यापक और महत्वपूर्ण कार्य है कि सभा को वर्षों तक अपनी शक्ति और साधन इसमे लगाने पड़ेंगे। हर्ष का विषय है कि सभा ने इस दिशा म कार्य प्रारभ कर दिया है उसे तेज़ी के साथ आगे बढाने का सकल्प सभा को कर लेना चाहिए।

त्रिभाषा-सूत्र —दक्षिणी भाषाओं का प्रचार—केन्द्रीय सरकार ने सारे देश के लिए त्रिभाषा सूत्र मान्य ठहराया है। यदि इस सिद्धान्त को देश की एकता की दृष्टि से कार्यान्वित करना अनिवार्य है तो उचित यही होगा कि दक्षिणी प्रदेशों में हिन्दी दूसरी भाषा के रूप मे सिखायी जाय और उत्तर के प्रदेशों मे दक्षिण की किसी एक भाषा को दूसरी भाषा के रूप सिखाया जाय। आज हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों मे हिन्दीतर भाषाओं को विशेषत द्राविड भाषाओं को सीखने की सुविधाएँ नहीं के बराबर हैं। सभा न इस दिशा मे कार्य प्रारभ तो किया है, किन्तु कार्य की गुरुता और महत्व को दृष्टि में रखकर सभा को सुयोजित ढग से इस कार्य को आगे बढाना है। दक्षिणी भाषाओं को हिन्दी की सहायता से वैज्ञानिक ढग से सिखाने की दिशा मे काफी प्रयोग तथा अनुसधान अपेक्षित है। यह कार्य सभा अपने भाषा शिक्षण के अनुभव से करने मे सक्षम है। सभा का अगला कदम यह होगा कि वह एसे द्विभाषा पडितों को तैयार करे जो हिन्दी तथा किसी एक दक्षिणी भाषा मे प्रवीण हों और जो दक्षिणी भाषाओं के प्रचार को अपने जीवन का मिशन मानकर उस कार्य मे लग जाएँ।

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लिए आवश्यक हिन्दी शिक्षण —हिन्दी राष्ट्रभाषा होने कारण भविष्य मे उसका प्रयोग कई क्षत्रों मे होनेवाला है। अब सभा न हिन्दी के जिस रूप का प्रचार किया वह अधिकतर साधारण विचार-विनिमय का रूप था और अशत साहित्यिक रूप था। साधारण विचार-विनिमय के लिए जो भाषा योग्य अथवा आवश्यक है, वह भाषा वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। इसी तरह वैज्ञानिक क्षेत्रों में जिस भाषा का उपयोग होता है, वह साहित्यिक क्षत्र मे अनुपयुक्त है। आज के अपोलो के युग मे जब मनुष्य अपनी जीविका के उपार्जन के लिए समय से होड लगाकर कार्य करने मे तत्पर है उससे यह आशा करना निरर्थक है कि वह सभी क्षत्रों के लिए उपयोगी हिन्दी भाषा सीख ले। वैज्ञानिक, तकनिकी, वैद्यक, वाणिज्य, प्रशासनिक आदि भिन्न भिन्न क्षत्रों में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली और भाषा का रूप भिन्न भिन्न है। हर क्षेत्र के

लिए उपयोगी तथा आवश्यक शब्दावली का चयन बहुत हद तक केन्द्रीय निदेशालय के तत्वावधान में हो चुका है। सभा को अब चाहिए कि उस शब्दावली के आधार पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के अनुकूल हिन्दी का पाठ्यक्रम बनाये, पाठ्य-पुस्तकें तैयार करे और अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था करे। भाषा-शिक्षण में अपने पचास वर्ष के अनुभव के आधार पर सभा इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है और उसे करना भी चाहिए।

हिन्दी का राष्ट्रीय रूप:—स्पष्ट है कि हिन्दी का राष्ट्रीय रूप अभी बना नहीं है। हिन्दी भाषा का वह रूप राष्ट्रीय होगा, जो भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो। हिन्दी को राष्ट्रीय रूप प्रदान करने का भार हिन्दीतर प्रांतों पर है। प्रत्येक भाषा में प्रधानतया चार तत्व होते हैं—(1) शब्द-समूह (2) व्यावहारिक रचना (3) अभिव्यक्ति की शैलियाँ तथा (4) वाक्य-विन्यास। आज तक हिन्दी की वृद्धि और विकास की दिशा में बहुत ही कम काम हुआ है। शिक्षा मंत्रालय तथा केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने शब्द समूह तैयार किये हैं। किन्तु व्याकरणिक रचना में सुधार लाने तथा अभिव्यक्ति की शैलियों को अपनाने के संबंध में कोई कार्य नहीं हुआ है। वास्तव में सरकार की तरफ़ से यह कार्य हो भी नहीं सकेगा। सरकार भाषा का बना-बनाया रूप देश के आगे रख नहीं सकती। भाषा लिखते-लिखते और बोलते-बोलते बनती है। यह काम हिन्दीतर हिन्दी-शिक्षण-संस्थाओं का तथा वहाँ के हिन्दी लेखकों का है। दक्षिणी भाषाओं का कौन सा प्रयोग हिन्दी की आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दी में खप सकता है, हिन्दी की व्याकरणिक रचना का कौन-सा अंश हिन्दीतर भाषा-भाषियों के लिए जटिल है, उसमें कैसा सुधार लाने से हिन्दी की आत्मीयता अक्षुण्ण बनी रह सकती है, यह हिन्दीतर प्रांतों के हिन्दी लेखकों के द्वारा अनुसंधान और चर्चा का विषय है। सभा का यह कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही हिन्दीतर प्रांतों के हिन्दी लेखकों की विचार-गोष्ठियाँ आयोजित करे, और इसकी चर्चा करे कि कहाँ तक हिन्दी भाषा की व्याकरणिक रचना में सुधार लाया जा सकता है, और हिन्दीतर भाषाओं की अभिव्यक्ति की कौन-सी शैलियाँ हिन्दी में चल सकती हैं। इसके पश्चात सभा को चाहिए वह वैसी ही हिन्दी भाषा को लेकर पाठ्य-पुस्तकें बनाये और वैसी ही भाषा का प्रचार करे। जैसे उर्दू भाषा का रूप पहले दक्षिण में स्थिर हुआ, वैसे ही हिन्दी का राष्ट्रीय रूप दक्षिण में ही बनना चाहिए और बनेगा भी।

हिन्दी माध्यम से शिक्षण:—संविधान के अनुसार यद्यपि हिन्दी संघ की राजभाषा है, फिर भी अंग्रेजी को सह-राजभाषा के रूप में अनिश्चित अवधि तक मान लिया गया है। आज केन्द्र सरकार के सभी कार्यालयों में अंग्रेज़ी के माध्यम से कार्य चल रहा है और उसका अनुवाद हिन्दी में हो रहा है। होना तो यह चाहिए कि पत्राचार मूलतः हिन्दी में हो और उसका अनुवाद अंग्रेज़ी में हो जाय।

अब विद्यालयों की स्थिति देखी जाय। दक्षिण में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषाओं को माध्यम बनाने का तीव्र प्रयत्न हो रहा है। जब यह पूर्णतः कार्यान्वित हो जाएगी, तब दक्षिण के युवक जिन्होंने अपनी प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा पायी होगी, अपने राज्य को छोड़कर किसी दूसरे राज्य में, सरकारी या गैर-सरकारी संस्थाओं में कार्य करने योग्य नहीं रह सकेंगे। दक्षिण के विश्वविद्यालय न तो हिन्दी के माध्यम के पक्ष में हैं, न अंग्रेज़ी को

महत्व देने के पक्ष मे हैं। इस तरह देश के एक बहुत बडे भाग के युवकों को देश भर मे कही भी जाकर कार्य करने से वंचित किया जा रहा है, और यह देश के हक मे अच्छा नही है। इस स्थिति को दूर करने के लिए सभा को साहस के साथ कदम उठाना चाहिए। उसे अब सिर्फ हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्य के शिक्षण मात्र से सतुष्ट नही होना चाहिए। उसे अब हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने की दिशा में कदम बढाना चाहिए। उसे अपनी परीक्षाओ के पाठ्य क्रम को ऐसा बना लेना चाहिए कि सभा की स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण स्नातक किसी भी विश्व-विद्यालय के स्नातक से किसी भी तरह कम न हो। इस कार्य को अपने ऊपर उठाने के लिए यदि सभा को अपने सविधान में कुछ सशोधन करना पडे तो भी यह कार्य-भार उसे सभालना चाहिए। यह राष्ट्र की सामयिक मॉग है। इस मांग की पूर्ति करना सभा का कर्तव्य है। और इस राष्ट्रीय कार्य में योग देना सघ सरकार का तथा जनता का कर्तव्य है।

※

मराठी, गुजराती, बगला तमिल आदि भाषाऐं प्रातीय भाषाएँ हैं जो उनके नाम से ही ध्वनित होता है। मगर हिन्दी हिंद की भाषा है उसका कोई प्रातीय नाम नहीं है। बग आमार', "आमार देश' गा सकते हैं ' महाराष्ट्र देश अमुचा ' कहकर महाराष्ट्र-वासी फूले अग नहीं समाते हैं। मगर हिन्दी मे यह प्रातीय अभिमान सभव नहीं है। इसके लेखका का लक्ष्य हिन्द होता है। हिन्दी राष्ट्र के मुँह से बोलती है।

—श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर

हिन्दी केन्द्रीय सरकार और ससद की भाषा अवश्य ही होगी और राज्यिक भाषाऐं भी पारस्परिक आदान प्रदान के हेतु इसका व्यवहार करेंगी। दक्षिण भारत के लोगो को भविष्य मे भारत सरकार के साथ सपर्क रखने तथा सर्वभारतीय विषयो मे हिस्सा लेने के लिये या उसमे सबधित सिद्धान्त पर अपना प्रभाव विस्तार करने के हेतु हिन्दी सीखना बहुत ही आवश्यक है।

—श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

भारत की राष्ट्रभाषाओ की अखड पीढी मे हिन्दी खरी उतर आती है। इसकी शब्द समृद्धि 69 प्रतिशत बोलनेवाला के लिए बहुत कुछ परिचित है। फलत हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना नही है वह तो राष्ट्रभाषा है ही। ऐतिहासिक कारणो से यह भाषा राष्ट्रभाषा बनने के लिए ही निर्मित हुई है।

—के एम मुन्शी

श्री एन. वेंकटेश्वरन,
'सुभद्रालयम्', प्लाट नं. 9, बालाजी नगर,
तिरुवाक्कम, मद्रास-26

हिन्दी आंदोलन का दक्षिण पर बहुमुखी प्रभाव !

श्री एन. वेंकटेश्वरनजी सभा की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के बाद सभा की केरल प्रांतीय शाखा में काम करने लगे। बाद, कोच्चि-राजपरिवारवालों के कालेज में हिन्दी-प्राध्यापक बने। कुछ ही वर्ष बाद आप सभा की केरल शाखा के प्रांतीय मंत्री नियुक्त हुए। उसके बाद मद्रास आकर केन्द्र सभा के परीक्षा-मंत्री, साहित्य-मंत्री, शिक्षा-मंत्री, नगर-मंत्री और संयुक्त मंत्री भी बने। आप हिन्दी संस्कृत और मलयालम के अच्छे विद्वान हैं। हिन्दी और मलयालम में आपकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित है। आप सुवक्ता, सुकवि और अनुवादक भी हैं। अवकाश-ग्रहण के बाद, आप मद्रास में साहित्यिक कार्यों में लगे हुए हैं। संप्रति, आप साहित्यानुशीलन समिति, मद्रास के अध्यक्ष हैं।

यह निर्विवाद सत्य है कि भारत के स्वातन्त्र्य की उपलब्धि के लिए जब जन-संगठन और संघर्ष की अनिवार्य आवश्यकता रही तब हमारे देश के तत्कालीन राजनीतिक एवं राष्ट्रीय नेताओं के सरदार महात्मा गांधी की प्रेरणा और प्रयत्न से 'हिन्दी-आंदोलन' का भावनापूर्ण कार्यक्रम अहिन्दी प्रदेशों के लोगों के सामने अत्यन्त आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया गया था और स्वतन्त्रता की सिद्धि के लिए उपयुक्त साधनों में राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी स्थान मिल गया।

उन दिनों अर्थात् आज से पच्चास या बावन सालों के पहले दक्षिण भारत में कहीं कोई हिन्दी-प्रचार का विरोध नहीं करता था। उस समय तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम इन चारों भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों के अनेकों राष्ट्र-प्रेमी स्त्री-पुरुष अपने पराधीन एवं पीड़ित 'भारत-देश' के सर्वाधिक लोकप्रिय जननायक गांधीजी के श्रीमुख से निकले सभी आदेशों को सिर-आंखों स्वीकार करने में बड़े हर्ष और गर्व का अनुभव करते थे।

हिन्दी को भारत की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना को पहचानने और परिपुष्ट करने के लिए उपयुक्त सर्वोत्तम साधन मानकर स्वीकार करने का उत्साह दक्षिण भारत भर में उन दिनों खूब उमड़ रहा था। अतः हिन्दी-आन्दोलन के प्रारंभिक युग में दक्षिण भारत के सैकड़ों लोग न केवल अपने लड़कों और लड़कियों को हिन्दी

सीखने की प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया करते थे, बल्कि वे स्वय हिन्दी-वर्गों में शामिल होकर भरसक हिन्दी की जानकारी हासिल करने की कोशिश भी किया करते थे। उन दिनों के कई हिन्दी-वर्ग ऐसे होते थे जिनमें कई छोटे-बडे परिवारों के दादा-दादी, माता पिता, मामा मामी, पति पत्नी, भाई-बहन, पुत्र पुत्री आदि सभी प्रकार के रिश्तों के स्त्री पुरुष एकसाथ बैठे राष्ट्रभाषा हिन्दी का ज्ञान पाकर देश-सेवा करने की खुशी का अनुभव करते थे।

उस युग के हिन्दी वर्गों मे जब अमीर गरीब, वकील जज, किसान-व्यापारी, मालिक-मजदूर, अध्यापक विद्यार्थी आदि सभी प्रकार के स्तरों और ओहदों के स्त्री-पुरुष शामिल होकर अध्ययन करते थे तब उनके बीच का उच्च-नीच भाव बहुधा विस्मृत हो जाता था और वे एक दूसरे के प्रति सहपाठी होने के नाते भ्रातृ-भाव प्रकट करते थे। अत उन दिनो भ्रातृ-भाव और सौहार्द का सन्देश देनेवाली एव जन-मन को जोडनेवाली अभूतपूर्व शक्ति के रूप में हिन्दी का समादर दक्षिण में होता था।

प्रारंभिक युग मे दक्षिण भारत में जो हिन्दी-आदोलन हुआ था वह केवल एक भाषा के प्रचार मात्र का साधारण शैक्षणिक आदोलन नही रहा बल्कि पराधीन भारत की शिथिल जन शक्ति को केन्द्रीकृत एव परिपुष्ट करने का राष्ट्रीय आदोलन माना गया था। इसलिए हिन्दी आदोलन के जरिये दक्षिण भारत मे समय समय पर हुए सत्याग्रह आदोलन, स्वदेशी आदोलन, मदिर प्रवेश आदोलन, हरिजन आदोलन, मद्य निषेध-आदोलन, कानून भग आदोलन आदि विविध प्रकार के राष्ट्रीय एव सामाजिक आदोलनों मे सक्रिय भाग लेने के लिए हजारों स्वय-सेवक और सैनिक तथा सैकडों जननायक प्रशिक्षित होकर प्रस्तुत हुए थे। वास्तव मे दक्षिण की जनता पर हिन्दी आदोलन का राष्ट्रीय प्रभाव सबसे प्रबल रहा था क्योकि सबसे पहले हिन्दी वर्गों से प्रेरणा पाकर ही यहाँ के कई स्त्री पुरुष स्वातत्र्य सग्राम मे शरीक हुए थे। उन दिनो के अनेकों हिन्दी प्रचारकों तथा हिन्दी विद्यार्थियों को कई प्रकार की यातनाएँ और कठिनाइयाँ झेलनी पडती थीं। कहीं-कहीं उनको जेल जाने के मौके भी मिलते थे। वे जेलो मे भी हिन्दी वर्ग सगठित करके अपने रचनात्मक आन्दोलन को जारी रखा करते थे जिससे देश के कई नेता लोग अपने कारावास के कडवे अनुभवों को हिन्दी की मिठास से स्वादिष्ट बनाया करते थे। हिन्दी प्रचार कार्य के साथ राष्ट्रीय एव रचनात्मक कार्यक्रमो को भी प्रगति और प्रोत्साहन देने के अपराध से अपना घर बार छोडकर उत्तर भारत की तरफ़ भाग जाने की नौबत भी हिन्दी प्रचारकों के समक्ष आयी थी। इस प्रकार हिन्दी आदोलन की वजह से प्रारभ काल मे कई दक्षिण भारतीय लोग आर्य समाजी, सिख धर्मावलम्बी, सस्कृत और हिन्दी के विद्वान, राष्ट्र-सेवक, समाज-सुधारक, सत्याग्रही, क्रातिकारी आदि भी हो गये। आज भी ऐसे लोगो मे से कई सज्जन दक्षिण के काग्रेसी नेता, समाजवादी और साम्यवादी प्रचारक बने हुए हैं जिनको हिन्दी आदोलन की प्रेरणा से ही अपने वर्तमान कार्यक्षेत्र मे स्थान और सम्मान सप्राप्त हुए थे। अत इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दक्षिण के राष्ट्रीय एव राजनैतिक वातावरण मे हिन्दी आन्दोलन के कारण जो अद्भुत चेतना और अपूर्व जागृति हुई थी, उसीसे प्रेरित होकर सैकडों आदर्श निष्ठ, चरित्रवान, त्यागी, कर्मठ एव निस्वार्थ स्त्री पुरुष महात्मा गाधी के द्वारा सचालित स्वातत्र्य सग्राम में स्वेच्छा से सक्रिय भाग लेने का सौभाग्य सप्राप्त कर सके थे। इतना ही नहीं, अपितु विदेशी

आधिपत्य से छुटकारा पाने के उद्देश्य से जो महान राष्ट्रीय संग्राम उस समय चल रहा था, उसमें प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय भाग लेने की सुविधा, क्षमता और साहस न रखनेवाले हजारों साधारण स्तर के लोगों को उन दिनों के हिन्दी आंदोलन में शरीक होकर स्वयं संतृप्त और कृतकृत्य मानने का सुयोग अवश्य मिलता था। उन साधारण लोगों के लिए ऐसा मानसिक संतोष सर्वथा आवश्यक था, क्योंकि उसके अभाव में वे अपने आप को कदापि देशभक्त भारतीय मानकर कृतार्थता का अनुभव नहीं कर पाते थे। अतः उन दिनों के हिन्दी प्रेमी और हिन्दी विद्यार्थी ऐसे स्वभाव के स्त्री-पुरुष थे जो यथासंभव हिन्दी के साथ ही साथ खादी पहनने का व्रत भी रखा करते थे। कई हिन्दी प्रेमी लोग अपने घरों में तकली और चर्खा चलाने का कार्य भी बराबर करते थे।

जिन-जिन घरों में हिन्दी का प्रवेश हुआ उन सबका पुराना विलासमय वातावरण एकदम बदलने लगा। उन घरों के लोग सादगी-पसन्द, खद्दर-धारी, देश-प्रेमी, स्वार्थ-त्यागी, परोपकारी एवं स्वावलंबी बन गये। हिन्दी की नीरव क्रांति के फलस्वरूप अकस्मात् सुधरे हुए कई घरानों के अनेकों प्रतिष्ठित धनी एवं प्रशस्त स्त्री-पुरुष ही आगे चलकर दक्षिण भारत में हुई आजादी की लड़ाई और सामाजिक क्रांति के प्रबल समर्थक और उदार पोषक साबित हुए थे। इस सत्य को सिद्ध करने के लिए अनेकों प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

हिन्दी प्रचारक लोग महात्माजी के बताये समग्र रचनात्मक कार्यक्रमों की पूर्ति में सहर्ष योगदान करते थे। नतीजा यह हुआ कि उन दिनों के सभी प्रकार के राष्ट्रीय एवं रचनात्मक कार्यकर्ता लोग हिन्दी-प्रचारकों और हिन्दी विद्यार्थियों का अधिक सहयोग प्राप्त कर लेना परम आवश्यक मानते थे। इसलिए राष्ट्रीय एवं रचनात्मक कार्यक्रमों के सिलसिले में आयोजित सभी सम्मेलनों और बैठकों में तथा चर्चाओं और गोष्ठियों में हिन्दी प्रचारक लोग भी अवश्य आमंत्रित हुआ करते थे और उनके सुलझे हुए व्यावहारिक सुझावों का स्वागत और सम्मान खूब किया जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारे देश को स्वतंत्र बनाने के प्रसंग में हुए सभी प्रकार के कार्यकलापों में हिन्दी प्रचारक लोगों का महत्वपूर्ण हाथ अवश्य रहा था, जिससे उन दिनों के हिन्दी प्रचारक दक्षिण के राष्ट्रीय और सामाजिक क्षेत्रों में अत्यन्त आदरणीय एवं अनिवार्य माने जाते थे। दक्षिण के उन हिन्दी सेवियों के अतीत गौरव की गाथा सर्वदा स्मरणीय और स्पृहणीय रहेगी।

आजादी के पहले के हिन्दी आंदोलन के मूल में 'जन-संपर्क' और 'जन-सेवा' की भव्य भावना सर्वथा प्रबल रही थी। दक्षिणी जनता हिन्दी को भारत की बहुजन-भाषा मानती थी। भारत के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, प्रादेशिक एवं आध्यात्मिक समन्वय के लिए हिन्दी ही सबसे अधिक सक्षम और उपयुक्त भाषा मानी जाती थी। भारत की प्राचीन संस्कृति की गरिमा और महत्व की सुरक्षा करने की क्षमता हिन्दी में विद्यमान है, ऐसा विश्वास दक्षिण के लोग करते थे। हिन्दी को एक प्रगतिशील एवं विकासोन्मुख सजीव भाषा मानकर दक्षिण के साधारण लोग उसकी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक समझते थे। व्यापार और तीर्थाटन के लिए हिन्दी का ज्ञान रखना लाभदायक माना जाता था। वास्तव में, जिस भाषा को जनता हृदय से अपना लेती है, उसका प्रभाव उसकी बहुमुखी जिन्दगी के प्रत्येक पहलू पर पड़े बिना नहीं रहता है।

राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रचलित हिन्दी आन्दोलन के प्रारंभ के सैकड़ों सालों के पहले ही हिन्दी अथवा

हिन्दुस्तानी का प्रभाव दक्षिण के धार्मिक क्षेत्र मे खूब प्रकट हो चुका था। प्राचीन काल से लेकर उत्तर भारत के सैकडो साधु-सन्त तथा तीर्थयात्री स्त्री-पुरुष दक्षिण के रामेश्वरम, कन्याकुमारी, तिरुपति, श्रीरंगम, कांची, मद्रावलम्, मैसूर, शृंगेरी, मधुरा, वर्कला आदि स्थानो के पुण्य मंदिरों की तरफ बराबर आया करते थे। अत उनकी हिन्दी या हिन्दुस्तानी से दक्षिण के कई धार्मिक लोग पहले ही सुपरिचित हो चुके थे। उन लोगो को तुलसीदास की रामायण, सूरदास के पद, मीरा के गान आदि भक्तिपूर्ण रचनाओ के प्रति सहज श्रद्धा होती थी और वे उनका अध्ययन धार्मिक दृष्टि से करना बहुत पसन्द करते थे। अत दक्षिण के कई कथा-प्रवाचक पण्डित लोग अपने प्रवचनो मे हिन्दी की प्राचीन भक्तिरसपूर्ण कविताओ का प्रसगानुकूल उद्धरण सुनाया करते थे। दक्षिण के रामभक्त सत-कवि सगीताचार्य महात्मा त्यागराज के समकालीन एव तिरुविता-कूर राज्य के राजा 'स्वाति-तिरुनाळ्' के रचे कुछ हिन्दी कीर्तन और भजन इस बात के लिए प्रमाण माने जा सकते हैं कि हिन्दी का स्वागत और सम्मान दक्षिण के धार्मिक क्षत्र मे बहुत पहले ही हो चुका था।

तिरुविताकूर, कोचिन, सामोतिरी, चिरक्कल आदि स्थानो के कई धार्मिक एव श्रद्धालु राज-परिवारों में हिन्दी-शिक्षकों की नियुक्तियां केवल धार्मिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए होने लगी थी। उसका यही परिणाम निकला कि दक्षिण भारत के कई श्रेष्ठ एव प्रतिष्ठित खानदानो तथा राज-भवनो के अन्त पुरों मे भी हिन्दी स्वच्छन्द विचरण करने लगी। अपना सच्चा राष्ट्रीय एव क्रांति-कारी महत्व प्रकट करने का अवसर हिन्दी को वहाँ भी उपलब्ध हुआ।

इस प्रकार हिन्दी आन्दोलन के प्रभाव मे आकर दक्षिणापथ के सर्वस्तरीय और वर्णों के जनगण ने अपने जीवन का आदर्श और लक्ष्य ही बदल डाला। पुराने धार्मिक आदर्शों को नवीन रूप और मूल्य प्रदान किया, जिससे उनकी दकियानूसी धारणाओं और अन्ध विश्वासों में आमूल परिवर्तन आ गये। इसी प्रकार साधारण जनता की धार्मिक श्रद्धा और आचार विचारो मे भी हिन्दी के प्रभाव से कई प्रकार के क्रांतिपूर्ण परिवर्तन आ गये। भावात्मक श्रद्धा और अन्ध भक्ति के स्थान पर क्रियात्मक निष्ठा और त्याग की आवश्यकता लोग महसूस करने लगे। यह विश्वास लोगो मे प्रबल होने लगा कि 'जन-सेवा' और 'राष्ट्र-सेवा' का धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। कई अनाचारों और अन्ध-विश्वासों के जटिल जाल से मुक्त होने का साहस लोगो मे उत्पन्न हो गया। इस प्रकार हिन्दी आदोलन के बहाने जिन आदर्शों और विचारो का प्रचार हो रहा था उनके प्रति अमीर-गरीब सभी प्रकार के लोग तीव्र गति से आकर्षित होते गये जिससे दक्षिण भारत के जन-जीवन मे आश्चर्य-पूर्ण क्रांति मच गयी।

दक्षिण भारत की जनता के सामाजिक जीवन में भी हिन्दी आन्दोलन के कारण कई सुखद परिवर्तन हुए। हिन्दी-वर्गों में दक्षिण के स्त्री-पुरुष सह-शिक्षा का लाभ उठाते थे और राष्ट्रीय सम्मेलनों, त्योहारों, बैठको तथा चर्चा गोष्ठियों मे वे लोग बडी खुशी से मिल-जुलकर भाग लेते थे। उनके पारस्परिक सहयोग और व्यवहार में प्राय सच्चरित्रता, सम्मान और सेवा-परायणता की अपूर्व गरिमा प्रकट होती थी। उनके बीच में धर्म-भेद, जाति-भेद, देश-भेद, भाषा-भेद आदि कृत्रिम एव अस्वाभाविक भेद-भावो का असर बिलकुल नहीं प्रकट होता था। सबके सब अपने को हिन्दी परिवार के मानने मे गर्व का अनुभव करते थे। हिन्दी आदोलन के प्रभाव से दक्षिण के

समाज में कई अन्तर्प्रान्तीय, विजातीय एवं द्वि-भाषीय स्त्री-पुरुष एक दूसरे से विवाहित होकर जीवन बिताने का साहस प्रकट करते थे। उनके विवाहों के निमंत्रण-पत्र हिन्दी में छापे जाते थे। इसके अलावा साधारण विवाहों में भी हिन्दी-अक्षर-युक्त मुद्रिका बनवाने का उत्साह उन दिनों के लोगों में कम नहीं था। इस प्रकार दक्षिण के विवाहोत्सवों में भी हिन्दी का सम्मान खूब होता था।

दक्षिण के सामाजिक जीवन में विधवा नारियों की हालत बहुत ही शोचनीय रही थी। लेकिन हिन्दी आंदोलन में शामिल होकर हिन्दी सीखने और सिखाने का कार्य करने से दक्षिण की अनेकों विधवाओं ने अपनी आजीविका का नवीन मार्ग ढूंढ़ निकाला और स्वावलम्बी होकर जीने और अपनी कमाई की रोटी खाने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया। उन्हें देखकर अन्य कई आश्रयहीन औरतों ने भी उनका अनुकरण करना उचित और आवश्यक समझा जिससे हिन्दी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेनेवाले पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ने लगी। आज भी हिन्दी पढ़नेवालों में ज्यादा संख्या महिलाओं की रहती है। वास्तव में दक्षिण के हिन्दी आन्दोलन का स्थायी और विकासोन्मुख प्रभाव यहाँ के पुरुषों की अपेक्षा नारियों पर ज्यादा पड़ा है। हिन्दी ने दक्षिण की कई अनाथ एवं निराश्रय नारियों के दुःखी एवं मर्मभेदक जीवन में आशा और उत्साह की उमड़ती तरंगें जगा दी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रारंभ काल के हिन्दी आन्दोलन से प्रभावित होकर, दक्षिण भारत के खेतों में दिन-रात काम करते रहनेवाले सैकड़ों किसान, कारखानों, यन्त्रालयों तथा दूकानों में पिसते रहनेवाले बहुत-से मजदूर, होटलों और महलों में रसोई बनाते और परोसते रहनेवाले अनेकों नौकर, काम की खोज में बेकार मारे मारे फिरते रहनेवाले कई शिक्षित युवक, अनाथालयों और आश्रमों के अन्धकार में टटोलते सड़नेवाले बीसों आश्रयहीन छात्र, ठीक समय पर शुल्क जमा कर अपनी पढ़ाई जारी रखने में बिलकुल असमर्थ होने से स्कूलों और कालेजों से भाग जानेवाले चालीसों विद्यार्थी, चोरी की ताक में चक्कर काटते रहनेवाले दसों छद्म-वेषधारी आवारे युवक आदि विविध क्षेत्रों और स्तरों के हजारों स्त्री-पुरुष असीम आशा और सुदृढ़ विश्वास के साथ हिन्दी देवी की आराधना करने लगे। उन्होंने स्वयं हिन्दी पढ़ी और सभा की विभिन्न परीक्षाएँ पास कर लीं। उसके पश्चात् उनमें से कई होनहार और परिश्रम-शील युवकों ने अपने आस-पास के लोगों को हिन्दी पढ़ाने का कार्य संभाला। वे दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रचारक बने।

इस प्रकार हिन्दी आन्दोलन के फलस्वरूप एक ओर दक्षिण भारत के कई स्त्री-पुरुषों की बेकारी और गरीबी बड़ी आसानी से मिटने लगीं तो दूसरी ओर समाज के अनेकों नगण्य एवं साधारण लोगों की प्रतिष्ठा सामाजिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र में अभूत-पूर्व ढंग से बढ़ने लगी। वास्तव में दक्षिण के आर्थिक क्षेत्र में हिन्दी आन्दोलन की देन सर्वथा स्पृहणीय एवं स्मरणीय है!

दक्षिण के शैक्षणिक क्षेत्र में भी हिन्दी आंदोलन का प्रभाव महत्वपूर्ण रहा है। कई अशिक्षित अथवा अपूर्ण-शिक्षित युवकों को हिन्दी के सहारे सुशिक्षित और उपाधि-धारी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अपनी हिन्दी उपाधियों के बल पर कई लोग प्रादेशिक भाषा, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी आदि में पांडित्य और दक्षता प्राप्त करके डिग्री-धारी बन सके हैं। हिन्दी में 'विशारद', 'विद्वान' आदि उपाधि-परीक्षाओं में विजयी होकर अनेकों लोग खानगी-तौर से अध्ययन करके

विश्वविद्यालयों की बी.ए, एम.ए, पी.एच-डी. आदि उच्चतम डिग्रियाँ प्राप्त कर सके हैं। ऐसे कई लोग इस समय दक्षिण के स्कूलों और कालेजों में अध्यापक, प्राध्यापक, प्रोफ़ेसर आदि ऊँचे पदों पर काम कर रहे हैं। सचमुच हिन्दी आन्दोलन का वरद हस्त पाकर ही वे अपने जीवन में इतनी उन्नति कर सके हैं, यह बात वे स्वयं अवश्य स्वीकार करते हैं और इस आंदोलन के प्रति सर्वथा आभारी रहते हैं।

दक्षिण के अनेकों हिन्दी विद्वान उत्तर भारत जाकर वहाँ के विविध विश्वविद्यालयों में भरती होकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके हैं और समय-समय पर दक्षिण के हिन्दी शिक्षकों के लिए घोषित विशेष रियायतों और सुविधाओं से लाभ उठा सके थे। अन्यथा उनको अपनी उन्नति करने का सुअवसर इतनी आसानी से उपलब्ध होना संभव नहीं था।

हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रभाव दक्षिण की तेलुगु, तमिल, कन्नड और मलयालम इन चारों भाषाओं तथा उनके विकासोन्मुख साहित्यों पर अवश्य पड़ा है। हिन्दी के प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं के अच्छे अच्छे अनुवाद यहाँ की उन चारों भाषाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। हिन्दी के आधुनिक साहित्यकारों में प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनन्द्र, दिनकर, पंत, बच्चन आदि की रचनाओं का स्वागत और सम्मान दक्षिण की चारों प्रमुख भाषाओं में खूब हो रहा है। इसी प्रकार यहाँ की चारों भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवादों के द्वारा यहाँ के महान कवियों, उपन्यास-लेखकों, कहानी-कारों आदि से हिन्दी संसार भी बराबर परिचित और प्रभावित हो रहा है। यद्यपि यहाँ की प्रादेशिक भाषा तथा हिन्दी—दोनों के साहित्य के आदान-प्रदान का अनिवार्य कार्य इस समय एक हद तक संपन्न हो रहा है, तो भी तुलनात्मक दृष्टि से एक दूसरे का अध्ययन, अनुशीलन, अनुसंधान आदि करने की तरफ समुचित ध्यान नहीं दिया जा रहा है। यह एक ओर सन्तोष-जनक बात है कि अब दक्षिण भारत में ऐसे कई हिन्दी-कवि, हिन्दी उपन्यास-लेखक, हिन्दी-कथाकार, हिन्दी-लेखक उदीयमान हो रहे हैं जो अपनी मौलिक रचनाएँ हिन्दी-संसार के सामने बड़े उत्साह से प्रस्तुत करने लगे हैं। उन सब की मातृभाषा दक्षिण की कोई न कोई प्रादेशिक भाषा ही है। अहिन्दी प्रदेशों के उन हिन्दी-साहित्यकारों की कई रचनाएँ केन्द्र-सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की तरफ से समय-समय पर पुरस्कृत भी हुई हैं। यह भी बड़े हर्ष और गर्व की बात है कि अब दक्षिण भारत से 'युग प्रभात', 'राष्ट्रवाणी', 'भारतवाणी', केरल भारती', 'हिन्दी पत्रिका,' 'केरल ज्योति' आदि कई पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में भी प्रकाशित हो रही हैं। अपने विशाल और अगाध साहित्य क्षेत्र में दक्षिण की चारों भाषाओं के साहित्य-प्रेमी लोग हिन्दी भाषा और उसके बृहत् साहित्य को भी बड़े हर्ष और गर्व के साथ समुचित एवं सम्मानपूर्ण स्थान अवश्य प्रदान किया करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आखिर यह बात भी बताये बिना रहना बिलकुल उचित नहीं प्रतीत होता है कि दक्षिण के सरकारी क्षेत्रों के प्रशासकों पर भी हिन्दी-आन्दोलन का जबरदस्त प्रभाव बराबर पड़ता ही रहा है। यह सभी जानते हैं कि स्वराज्य-प्राप्ति के पहले, अंग्रेजों के जमाने की दक्षिणी सरकारों को लोकमत का आदर करके हिन्दी-आन्दोलन के आगे कई बार सिर झुकाना पड़ा था, जिससे उनको अपने यहाँ के कई स्कूलों और कालेजों में हिन्दी भाषा को भी एक पाठ्य-विषय के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस हुई। उन

सरकारों ने भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी को या तो ऐच्छिक रूप से, नहीं तो अनिवार्य रूप से स्कूलों में पढ़ाने की समुचित व्यवस्था बहुत पहले ही की थी। मैसूर, तिरुविताँकूर, कोचिन् आदि देशी-नरेशों के राज्यों में भी हिन्दी का प्रवेश बहुत पहले ही प्रायः सभी शैक्षणिक संस्थाओं में हो चुका था। इस प्रकार परतन्त्र भारत में भी दक्षिण के लोगों के हिन्दी-आन्दोलन को यथासंभव प्रोत्साहन और प्रगति उपलब्ध हो रही थी। लेकिन स्वतंत्र भारत में यद्यपि हिन्दी 'राजभाषा' अथवा 'संघ-भाषा' के नाम से संविधान के द्वारा घोषित की गयी है, तो भी बड़े खेद के साथ कहना ही पड़ता है कि उसके प्रचार और प्रसार में अनिवार्य रूप से सक्रिय सहयोग प्रदान करने के लिए भारत के अहिन्दी राज्यों की सरकारों को बाध्य नहीं किया जा रहा है। अतः आज मद्रास या तमिलनाडु की सरकार 'हिन्दी-विरोध' और 'हिन्दी-बहिष्कार' की आत्म-घातक और देशद्रोही नीति अपनाने के लिए सर्वथा स्वतंत्र हो गयी है। इसका परोक्ष प्रभाव आन्ध्र, मैसूर और केरल जैसे अन्य दक्षिणी राज्यों पर भी हिन्दी के प्रतिकूल अवश्य पड़ रहा है। इतना ही नहीं, अब भरात के अन्यान्य अहिन्दी प्रदेशों में भी हिन्दी के विषय में कई प्रकार की गलत-फहमियाँ फैलाने का संगठित षड्यन्त्र प्रबल हो रहा है। हिन्दी को लेकर जनता के सामने कई प्रकार की समस्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। हिन्दी भाषा की अविकसित और असमर्थ दशा एवं स्तर के बारे में कई प्रकार की अतिशयोक्ति-पूर्ण कमियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। इसके नाशकारी परिणाम से होनेवाला नुकसान संपूर्ण भारत-वासियों को झेलना पड़ेगा। लेकिन इन बातों से हिन्दी आन्दोलन के प्रचारकों को निराश या निष्क्रिय होने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें पूर्वाधिक साहस और आत्मविश्वास के साथ अपना काम करते रहना ही चाहिए, क्योंकि उनका साथ देने के लिए दक्षिण के हज़ारों लाखों विचारवान और विवेकशील तथा बुद्धिमान और भविष्य-द्रष्टा लोग प्रस्तुत हैं। वे अब भी हिन्दी का राष्ट्रीय महत्व और उपयोग जानकर हिन्दी पढ़ने में तथा अपनी सन्तानों को पढ़ाने में पूर्वाधिक उत्साह और दिलचस्पी अवश्य दिखा रहे हैं। हमारे देश में इतना अधिक हिन्दी-विरोध होते हुए भी 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के कई विद्यालयों, वर्गों तथा जलसों में दक्षिण की बहुसंख्यक जनता पूर्वाधिक खुशी से लगातार भाग लेती रहती है और सभा-द्वारा संचालित प्रारंभिक तथा उच्च परीक्षाओं में बराबर शामिल होकर उत्तीर्ण होने में गर्व का अनुभव करती है। अपनी ऐसी साधना से वह स्वयं अपने आप को कृतार्थ एवं धन्य मानकर सन्तुष्ट रहा करती है। यह हिन्दी आन्दोलन के शुभ भविष्य के सुन्दर शकुन हैं। अतः आशा है कि दक्षिण की जनता 'हिन्दी' को कदापि नहीं छोड़ना चाहेगी और नहीं छोड़ सकेगी, क्योंकि उसने अपने पिछले पचास वर्षों की कठिन तपस्या से उस हिन्दी को अपने यहाँ प्रतिष्ठित किया है जिसने यहाँ के हज़ारों स्त्री-पुरुषों के राष्ट्रीय, राजनैतिक, सांस्कारिक, धार्मिक तथा आर्थिक जीवन पर अपना बहुमुखी प्रभाव डालकर उन सबको प्रगतिशील और परिश्रमी बनाने का महान कार्य किया है। अतः देश का भविष्य यह प्रमाणित करेगा कि हिन्दी के प्रति दक्षिण भारतीय लोग कदापि कृतघ्न नहीं बनेंगे।

श्री पा. वेंकटाचारी,
संयुक्त मंत्री (प्रशासन व शिक्षा),
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

सभा की प्रचार-संगठन प्रणाली

सभा की शिक्षा-दीक्षा के बाद श्री वेंकटाचारी ने हिन्दी प्रचारक, संगठक, व्यवस्थापक, प्रधानाध्यापक और प्रांतीय मंत्री के नाते सभा की तमिलनाडु शाखा की सेवा की। बाद, मद्रास में केन्द्र सभा के अर्थ मंत्री नियुक्त हुए। सम्प्रति, आप सभा के संयुक्त मंत्री (प्रशासन) के नाते काम कर रहे हैं। आप अच्छे लेखक, वक्ता और अनुवादक हैं। गीता प्रेम तीर्थयात्रा और विनोबाजी की भूदान-यात्रा के समय तमिलनाडु में उनके साथ रहकर तमिल अनुवादक के नाते उनकी सेवा करने का सौभाग्य आपको भी मिला था।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा एक स्वैच्छिक सार्वजनिक संस्था है, जिसके संस्थापक स्वयं महात्मा गांधीजी थे। गांधीजी के विचार में भारतीय भाषाओं का प्रचार स्वतंत्रता आंदोलन का एक अभिन्न अंग रहा था। इसलिए गांधीजी के रचनात्मक कार्य-क्रम में मातृभाषा की शिक्षा तथा राष्ट्रभाषा प्रचार, दोनों के महत्वपूर्ण स्थान रहे थे। हिन्दी प्रचार का कार्य शुरू से सिर्फ भाषा प्रचार का कार्य मात्र नहीं रहा है, बल्कि राष्ट्रीयता के प्रचार का कार्य रहा है। पहले यह स्वतंत्रता आंदोलन का एक अभिन्न अंग रहा। देश के स्वतंत्र होने के बाद यह कार्य देश की राष्ट्रीय एकता का साधन माना गया है। कहा जाता है कि जितनी जल्दी देश की जनता हिन्दी को अपना लेगी, उतनी जल्दी सारे देश की एकता की भावना का अनुभव सभी कर सकेंगे।

उपरोक्त महान उद्देश्य की पूर्ति ही दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का एक-मात्र लक्ष्य है। सभा के विभिन्न कार्यों के संगठन व संचालन में सबसे बड़ी सफलता इस लक्ष्य की सिद्धि में निर्भर है।

शुरू से ही सभा का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है कि दक्षिण में हिन्दी प्रचार कार्य दक्षिण के साधनों तथा दक्षिण के लोगों के द्वारा ही संगठित व संचालित होना चाहिए। यह कार्य सेवा तथा प्रेम के द्वारा स्वेच्छा से हो, किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती न रहे। यह सभी जानते हैं कि दक्षिण में स्वेच्छा से जो हिन्दी सीखना चाहते हैं, और जो हिन्दी प्रचार तथा अध्ययन द्वारा देश की जनता की सेवा करना चाहते हैं, उन्हींकी अमूल्य साधना और तपस्या से पिछले पचास

सालों के अन्दर दक्षिण में सभा का कार्य खूब संचालित हो रहा है।

सभा के संगठन व संचालन में प्रधान तथा महत्वपूर्ण स्थान हिन्दी प्रचार कार्य में लगे हुए हिन्दी प्रेमी लोगों, हिन्दी प्रचारकों तथा सभा के सदस्यों का है। हिन्दी प्रेमी सदस्यों के सहयोग तथा मार्ग-दर्शन में हिन्दी प्रचारकों के द्वारा सभा के कार्य का संचालन होता है। सदस्यों के चुने हुए प्रतिनिधि तथा प्रचारकों के द्वारा चुने हुए प्रचारक-प्रतिनिधि दोनों सभा की व्यवस्थापिका समिति के प्रमुख अंग हैं, सभा की सर्वोच्च समिति व्यवस्थापिका समिति है। सभा के सभी कार्यों का अनुमोदन तथा नियंत्रण इसीके द्वारा होता है। तीन साल में एक दफ़े इस विराट समिति का चुनाव सभा के सदस्यों तथा प्रचारकों के द्वारा होता है। सभा की कार्यकारिणी समिति को चुनने का अधिकार भी इसी व्यवस्थापिका समिति का है। कार्यकारिणी समिति सभा की कार्य-संबंधी-नीति का निर्धारण करती है तथा समय-समय पर इसकी बैठकें हुआ करती हैं। इसमें सभा के सभी कार्यों के संबंध में विचार विनिमय होता है तथा उसके निर्णय के अनुसार कार्रवाई होती है। सभा की कार्यकारिणी समिति में भी प्रचारकों से चुने हुए प्रतिनिधि रहते है, विभागीय अधिकारी भी उसमें आमंत्रित होते है। शुरू से सभा की अपनी यह उत्तम परंपरा रही है।

जहाँ कार्य-संचालन तथा प्रशासन संबंधी नीति का निर्धारण कार्यकारिणी समिति द्वारा होता है, शिक्षा, परीक्षा तथा साहित्य संबंधी बातों में आवश्यक सलाह, सुझाव तथा योजनाएँ सभा की शिक्षा परिषद द्वारा प्रस्तुत होती हैं। शिक्षा परिषद का चुनाव भी प्रचारकों में से तथा प्रचारकों के द्वारा होता है।

चल तथा अचल संपत्ति का संरक्षण न्यासी मंडल अथवा 'निधिपालक मण्डल' द्वार होता है जिसके सदस्य भी व्यवस्थापिका समिति द्वारा चुने जाते हैं। इस तरह सभा के संगठन और संचालन में व्यवस्थापिका समिति, कार्यकारिणी समिति, शिक्षा परिषद, न्यासी मण्डल—चारों का अपना-अपना स्थान है तथा सबकी सम्मिलित जिम्मेवारी है। सभा के विभिन्न कार्य विभागीय अध्यक्षों के निरीक्षण में प्रचारकों तथा कार्यकर्ताओं द्वारा संचालित होते है।

दक्षिण के चारों प्रान्तों में, चार भाषाओं के आधार पर, चार प्रान्तीय सभाओं का संगठन हुआ है। तमिलनाडु के लिए तिरुच्ची में, आन्ध्र के लिए हैदराबाद में, केरल के लिए एरणाकुलम में तथा कर्नाटक के लिए धारवाड़ में प्रान्तीय सभाओं का प्रधान कार्यालय स्थित है। प्रांतों में प्रचार कार्य का संगठन तथा संचालन प्रान्तीय सभाएँ करती हैं।

प्रत्येक प्रान्तीय सभा के कार्य के संचालन तथा निरीक्षण के लिए उन प्रान्तीय सभाओं के सदस्यों तथा प्रचारकों के द्वारा एक कार्यकारिणी समिति का चुनाव किया जाता है। प्रचारकों के चुने हुए प्रतिनिधि भी उसमें रहते हैं। चल तथा अचल संपत्ति का संरक्षण प्रान्तों में भी प्रान्तीय सभा के न्यासी मंडल द्वारा होता है। प्रांतीय सभाओं का अपना संविधान है, वे अपना आय-व्ययक अलग बनाती हैं तथा कार्यसंचालन में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता है।

पिछले पाँच दशकों में सभा के कार्य की जो प्रगति हुई और उसके संगठन में जो शक्ति रही

उसके आधार पर दक्षिण में हिन्दी प्रचार को तीव्र बनाने के लिए संसद के 14/1964 अधिनियम द्वारा सभा एक राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित हुई है। इससे हिन्दी भाषा तथा हिन्दी शिक्षण की उपाधियाँ तथा सनद देने का अधिकार संसद द्वारा सभा को प्राप्त हो गया है। शैक्षणिक क्षेत्र में इसका बड़ा मूल्य है। अब सभा एक राष्ट्रीय महत्व की संस्था के रूप में अपने संविधान के अनुसार काम करती रहती है।

सभा एक सार्वजनिक, राष्ट्रीय स्वावलंबी संस्था है। शुरू से सभा का आय-व्यय के देखने से इसका पता चलेगा कि यह संस्था कभी आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर नहीं रही है। सभा के संचालन के लिए ज़रूरी सालाना व्यय करने के लिए आमदनी के साधनों का भी उचित प्रबन्ध किया गया है। सभा का जो खर्च है, उसमें 95% तक सभा के भिन्न-भिन्न कार्यकलापों द्वारा आमदनी के रूप में बराबर मिलता रहा है। अर्थात् सभा के खर्च के लिए आमदनी के भी अपने निश्चित साधन हैं। हिन्दी वर्गों का संचालन, पुस्तक प्रकाशन तथा परीक्षाओं का संचालन आमदनी के मुख्य साधन हैं। हाँ, जनता से दान, सदस्यता-चन्दा भी वसूला जाता है जो कुल आय-व्ययक में लगभग 5% होगा। हिन्दी पढ़नेवाले स्वेच्छा से स्वयं शुल्क देकर पढ़ते हैं, किताब खरीदते हैं, परीक्षा-शुल्क अदा कर परीक्षा लिखते हैं। यह इस संस्था की जन-प्रियता का लक्षण है। यही सभा की असली स्वावलंबी शक्ति है। हाँ, कुछ विशेष कार्यकलापों के लिए हिन्दी प्रेमी सज्जनों से कभी-कभी दान आदि वसूला जाता है।

हाँ, अब केन्द्र सरकार की पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुछ निश्चित शैक्षणिक कार्य के लिए, कुछ अंश तक सभा अनुदान प्राप्त करती है। सार्वजनिक निःशुल्क हिन्दी वर्ग, स्नातकोत्तर अध्ययन विभाग तथा हिन्दी प्रचारकों के प्रशिक्षण तक ये कार्य सीमित हैं। इसके अलावा कुछ खास कार्यकलापों के लिए सरकारी सहायता भी समय-समय पर सभा प्राप्त करती है। इस प्रकार की रकम सब मिलाकर सभा के वर्तमान सालाना आय-व्ययक में लगभग 10% तक होगी।

हाँ, सभा का सौभाग्य यह रहा है कि सभा की भिन्न-भिन्न परीक्षाएँ केन्द्र सरकार तथा भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भिन्न-भिन्न सरकारों द्वारा स्कूलों और कालेजों में नियत करने के लिए स्वीकृत हैं। इस तरह सभा के संगठन तथा विकास के लिए सभी दिशाओं में सरकार का सक्रिय सहयोग तथा संरक्षण प्राप्त हो रहा है। सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की स्वीकृति तथा सभा की परीक्षाओं को मान्यता देकर सभा को एक स्वावलंबी संस्था बनाने में सरकार से जो योगदान प्राप्त है वह बड़ा महत्वपूर्ण है।

सभा की परीक्षाएँ सिर्फ़ सरकार द्वारा ही नहीं, किन्तु कई विश्वविद्यालयों द्वारा तथा अन्तर विश्वविद्यालय बोर्ड द्वारा भी मान्यता प्राप्त हैं। भारत के कई विश्वविद्यालयों में सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकें पाठ्यक्रम में नियत हैं। सभा के संगठन के अन्तर्गत निम्न लिखित कार्य संचालित हैं:—

1. दक्षिण भर में प्रचारकों द्वारा सार्वजनिक हिन्दी प्रचार तथा हिन्दी वर्गों का संचालन-सार्वजनिक विद्यालयों का संचालन।

2. दक्षिण में सभा द्वारा विद्यालयों तथा प्रशिक्षण-विद्यालयों का संगठन तथा संचालन।

3. शिक्षा मंत्रालय की आर्थिक सहायता प्राप्त सार्वजनिक निःशुल्क हिन्दी वर्गों तथा हिन्दी विद्यालयों का संचालन।

4. साहित्यिक पुस्तकें व सभा की परीक्षाओं तथा स्कूल-कालेजों के विद्यार्थियों के उपयोगार्थ पुस्तकों का प्रकाशन।

5. भिन्न-भिन्न स्तर की परीक्षाओं का संचालन:—प्रारंभिक परीक्षा से लेकर स्नातकोत्तर परीक्षा तक।

6. प्रचार के अन्य संगठन कार्य:—सभा-समारोह, हिन्दी विद्यार्थी मेला, भाषा सम्मेलन, हिन्दी प्रेमी लोगों तथा प्रचारकों का सम्मेलन एवं हिन्दी नाटक प्रदर्शन आदि।

7. अन्तर-प्रांतीय भाषाओं का अध्ययन और आदान-प्रदान कार्य।

सभा के संगठन में एक खास विशेषता यह है कि प्रचारकों को अपने यहां हिन्दी वर्गों तथा विद्यालयों के संचालन में पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। स्थानीय परिस्थिति, उपलब्ध साधनों व सुविधाओं के अनुसार स्थानीय प्रचार कार्य का संचालन प्रचारक करते हैं। ऊपर से किसी दूसरे का आदेश या निर्देश की प्रतीक्षा में वे नहीं रहते हैं। स्वयं प्रेरित अपनी शक्ति द्वारा कार्य संचालन होता है जिससे प्रत्येक केन्द्र का विकास संभव होता है तथा वह स्वयंपूर्ण भी रहता है। प्रत्येक केन्द्र तथा विद्यालय स्वयंपूर्ण एवं स्वावलंबी होने से सभा की शक्ति मजबूत बनती है। स्कूल कालेजों में हिन्दी शिक्षा का जो प्रबन्ध है, उससे भी पर्याप्त सहायता सभा को मिलती है।

शिक्षा-मंत्रालय की आर्थिक सहायता से सभा द्वारा जो खास योजनाएँ कार्यान्वित की जाती हैं वे भी लोकप्रिय हैं। इससे भी सभा के कार्य बढ़ाने में बड़ी मदद मिलती है तथा विद्यार्थी-संख्या बढ़ती है।

सभा द्वारा प्रारंभिक स्तर की पुस्तकों से लेकर साहित्यिक पुस्तकों तथा कोषों तक का प्रकाशन होता है जो बहुत लोकप्रिय हैं। प्रधानतः दक्षिण के कई हाईस्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सभा की पुस्तकें नियत हैं। इन प्रकाशनों के अवलोकन से इसका पता चलेगा कि इन पुस्तकों के तैयार करते वक़्त, इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि इन पुस्तकों से प्रधानतः अहिन्दी भाषा-भाषियों की आवश्यकता की पूर्ति हो, तथा ऐसे लोगों को हिन्दी शिक्षण में मदद मिले जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। सभा का अपना प्रेस है जिसमें ये छापी जाती हैं।

सभा की प्रवेशिका, विशारद, प्रवीण, पारंगत, तथा प्रचारक परीक्षाएँ भिन्न-भिन्न सरकारों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा मान्यता प्राप्त हैं तथा सभा की उपाधि परीक्षाएँ अन्तरविश्वविद्यालय बोर्ड द्वारा मान्यता प्राप्त हैं।

इसका विशेष ध्यान रखा जाता है कि जो हिन्दी सीखते हैं उनको उस भाषा में बोलने का अभ्यास मिले; वे सिर्फ़ साहित्यिक ज्ञान प्राप्त करना मात्र नहीं, लेकिन भाषा के प्रयोग में भी पर्याप्त शक्ति प्राप्त करें, इसी उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान में रखकर सभा अपनी परीक्षाओं का पाठ्यक्रम निर्धारित करती है।

केन्द्र सभा तथा प्रांतीय सभाओं की चल व अचल सपत्ति कुल मिलाकर लगभग बीस लाख रुपये तक की है। केन्द्र सभा तथा प्रान्तीय सभाओं के अपने-अपने विशाल भवन हैं, जहाँ से सभा के सभी प्रशासनिक तथा संगठन कार्य संचालित हैं। इसके अलावा कई प्रचार केन्द्रों में भी स्थानीय सभाओं के अपने भवन बने हुए हैं। केन्द्र सभा तथा चारों प्रान्तीय कार्यालयों में प्रेस हैं जहाँ आठ भाषाओं में छपाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

केन्द्र सभा का आय-व्ययक सालाना 10 लाख रुपये से ज्यादा है। इसके अलावा, चारों प्रांतीय सभाओं का कुल-मिलाकर लगभग 25 लाख रुपये का है। इसमें लगभग 46% शिक्षण कार्य में, 25% साहित्यिक कार्य में, बाकी प्रचार संबंधी कार्यों में खर्च होता है। प्रान्तीय सभाओं को केन्द्र सभा से अनुदान दिया जाता है तथा अन्य कई तरह की सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। इतना होने पर भी सभा के लिए अब तक कोई स्थायी निधि सुरक्षित नहीं है—सालाना चालू आमदनी से ही सभा के सभी कार्यों का संचालन करना पड़ता है।

अब तक सभा द्वारा तीन सौ पैंसठ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें विभिन्न परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों से लेकर, कोश तथा शोध-ग्रंथ तक शामिल हैं।

केन्द्र सभा में लगभग 200 प्रचारक तथा कार्यकर्ता काम करते हैं तथा प्रान्तीय सभाओं के अधीन लगभग एक सौ प्रचारक तथा कार्यकर्ता प्रशासन, प्रचार व संगठन कार्यों में लगे हुए हैं। इस प्रकार हिन्दी प्रचारकों, सदस्यों तथा कार्यकर्ताओं के अथक परिश्रम तथा अमूल्य सेवा व सहयोग से ही सभा की प्रगति संभव हो रही है।

सभा का प्रधान लक्ष्य है—दक्षिण में प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो तथा वे अपनी मातृभाषा के साथ हिन्दी द्वारा भी कार्यसंचालन की शक्ति प्राप्त करें। इससे देश की राष्ट्रीय तथा भावात्मक एकता भी मजबूत होगी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जन-तांत्रिक सिद्धान्त पर सभा का कार्य संगठित और संचालित है।

✶

नागरी लिपि सबसे अधिक वैज्ञानिक है। शॉर्टहैंड के आविष्कारक सर आईज़क पिटमैन ईस्ट इंडिया कंपनी के नौकर होकर यहाँ आये। उन्होंने हिन्दी वर्गीकरण देखा। हमारा वर्गीकरण ध्वनि पर है, इसे देखकर उन्होंने कहा कि ये विश्व के पूर्णतम अक्षर हैं। सैयद अली बिलग्रामी ने अपने जाति-बंधुओं से कहा था कि समय बचाना चाहते हो तो अपने बच्चों को नागरी सिखाओ। वी कृष्णस्वामी अय्यर ने भी कहा था कि "मैं तमिल तेलुगुवालों से अपील करता हूँ कि वे अपनी लिपि छोड़कर नागरी लिपि अपनावें। शारदाचरण मित्र ने भी ऐसी ही सलाह दी थी। पर हम रूढ़िवादी हैं। जहाँ रूढ़ि है वहीं नाश है।

— राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

श्री एस. धर्मराजन
परीक्षा-मंत्री
द. भा. हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास-17

सभा की परीक्षाओं का विकास-क्रम

सभा की शिक्षा-दीक्षा के साथ श्री धर्मराजन ने संस्कृत की भी अच्छी शिक्षा प्राप्त की। आप मद्रास विश्वविद्यालय के 'हिन्दी विद्वान' और 'संस्कृत शिरोमणि' हैं। प्रचारक, संगठक, व्यवस्थापक, प्रधानाध्यापक आदि कई हैसियतों से सेवा करने के बाद संप्रति आप सभा के परीक्षा-मंत्री के नाते कार्य कर रहे हैं।

पहले पहल सन् 1918 में मद्रास में हिन्दी प्रचार का कार्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्यालय, प्रयाग की तरफ़ से प्रारंभ हुआ। उस समय मद्रास में "हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग कार्यालय" के नाम से एक शाखा काम कर रही थी। अतः तब साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में मद्रास शाखा के द्वारा हिन्दी परीक्षाओं का संचालन होता था। पहली परीक्षा का नाम "प्राथमिक" रखा गया था और आज भी सभा की पहली परीक्षा उसी नाम से चलायी जाती है। इसके बाद जो दूसरी परीक्षा चलायी गयी उसका नाम "प्रवेशिका" रखा गया था। वर्तमान "मध्यमा" परीक्षा ही उन दिनों प्रवेशिका कहलाती थी। प्रारम्भ से तीसरी परीक्षा का नाम "राष्ट्रभाषा" ही रखा गया था जो आज भी उसी नाम से संचालित हो रही है। योग्यता और स्तर की दृष्टि से आरंभ काल की परीक्षाएँ कठिन और ऊँची रहा करती थीं।

प्रारंभ काल में राष्ट्रभाषा परीक्षा के बाद "तुलसी रामायण" परीक्षा नाम की एक परीक्षा चलायी जाती थी। इसमें केवल रामचरित मानस पर ही प्रश्न पूछे जाते थे। यह परीक्षा अधिक समय तक नहीं चली, क्योंकि प्राचीन साहित्य का अध्ययन बहुत कम लोग ही कर पाते थे।

चूंकि उस समय साहित्य सम्मेलन की तरफ़ से ही ये हिन्दी परीक्षाएँ चलायी जाती थीं, इसलिए प्रमाण-पत्रों पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अधिकारियों एवं मद्रास शाखा के संचालक पूज्य श्री हरिहर शर्मा जी तथा परीक्षा-मंत्री श्री मो. सत्यनारायण जी के हस्ताक्षर रहा करते थे।

सन् 1927 से हिन्दी साहित्य सम्मेलन, से अलग होकर मद्रास में "दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा" के नाम से एक स्वतंत्र संस्था क़ायम हो गयी, जो मद्रास सरकार द्वारा पंजीकृत भी

हो गयी। तब से हिन्दी परीक्षाएँ सभा द्वारा स्वतन्त्र रूप से सचालित होने लगीं। सभा की प्रारभिक परीक्षाओं के नाम प्राथमिक, मध्यमा और राष्ट्रभाषा रखे गये और प्रमाण-पत्रों पर सभा के परीक्षा मत्री और प्रधान मत्री के हस्ताक्षर दिये जाने लगे।

धीरे धीरे जब हिन्दी पढनेवालो की सख्या बढ गयी तब दक्षिण भारत के विभिन्न केन्द्रों में हिन्दी पढ़ाने के लिए योग्य हिन्दी प्रचारकों की आवश्यकता हुई। अच्छे एव लोकप्रिय प्रचारको को तैयार करने के लिए एक हिन्दी प्रचारक विद्यालय ईरोड मे चलाया गया। वही सभा का प्रप्रथम हिन्दी प्रचारक विद्यालय कहा जाता है। वह विद्यालय ईरोड में श्री ई वे रामस्वामि नायकर के मकान मे चलाया गया। इसलिए उसका ऐतिहासिक महत्व भी स्मरणीय है।

सभा की राष्ट्रभाषा परीक्षा मे उत्तीर्ण लोगों को उस विद्यालय मे भरती कर उन्हें प्रचारक बनने की शिक्षा दी जाती थी। उस विद्यालय में शिक्षा प्राप्त लोगों के लिए जो परीक्षा चलायी गयी थी उसीका नाम "हिन्दी प्रचारक परीक्षा" रखा जो आज भी जारी है। उस प्रचारक परीक्षा में उत्तीर्ण लोगो को "हिन्दी प्रचारक सनद" मिलती थी। यद्यपि उस समय की प्रचारक परीक्षा आजकल की प्रचारक परीक्षा से बिलकुल भिन्न रही, तो भी वह काफी लोकप्रिय हो गयी थी। उस समय की प्रचारक परीक्षा मे शिक्षा-शास्त्र सबन्धी कोई विषय नियत नहीं था। लेकिन प्राचीन साहित्य, आधुनिक साहित्य, उर्दू एव साधारण ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। सन् 1930 में हिन्दी प्रचारक परीक्षा मे साहित्य के उपर्युक्त विषयो के साथ शिक्षण कला का विषय भी जोडा गया और उसके लिए भी प्रश्न-पत्र दिया गया।

सन् 1937 मे गवर्नरों द्वारा शासित ग्यारह प्रांतों मे कांग्रेस के मत्रिमण्डल स्थापित हुए। उस समय मद्रास प्रात के अन्तर्गत तमिलनाड्, आध्र राज्य (हैदराबाद रियासत छोडकर) केरल का मलबार प्रदेश और कर्नाटक की मैसूर रियासत छोडकर बाकी प्रदेश भी मिले हुए थे। मद्रास प्रात के प्रधान मत्री श्री राजाजी बने। उन्होंने स्कूलों मे फर्स्ट फ़ार्म से थर्ड फार्म तक हिन्दी को अनिवार्य विषय बना दिया। अत हिन्दी अध्यापकों की मांग बढी। तब वे सभा के प्रचारक विद्यालयों मे शिक्षण प्राप्त लोगों को स्कूलो मे नियुक्त करने लगे। इस प्रकार सभा की प्रचारक परीक्षा को सरकार से मान्यता प्राप्त हुई। उसके बाद "हिन्दी प्रचारक परीक्षा" अन्यान्य आधुनिक प्रशिक्षण विद्यालयों की पाठ्य-प्रणाली के अनुसार पुनर्गठित रूप मे चलायी जाने लगी। अत हिन्दी प्रचारक परीक्षा के दो खण्ड बनाये गये। एक साहित्य खण्ड और दूसरा प्रशिक्षण खण्ड। सभा की प्रवीण परीक्षा को साहित्य खण्ड माना गया। प्रशिक्षण खण्ड मे शिक्षा के सिद्धात, पाठशाला-प्रबन्ध, बाल-मनोविज्ञान, शिक्षण पद्धति, भाषा-शिक्षण, तुलनात्मक व्याकरण आदि विषय नियत किये गये। स्वतत्र भारत में केन्द्र सरकार ने जब हिन्दी प्रशिक्षण के लिए एक प्रकार का आदर्श पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया, तब सभा ने भी उसको स्वीकार किया। तदनुसार सन् 1964 से साहित्य खण्ड "प्रचारक" परीक्षा से अलग कर दिया गया। प्रचारक परीक्षा के पाठ्यक्रम में प्रशिक्षण के उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य का इतिहास, समालोचना, भाषा विज्ञान और

तुलनात्मक व्याकरण भी जोड़े गये। दो प्रश्न-पत्र उनके लिए निश्चित हुए। यह नियम भी रखा गया कि सभा की प्रवीण या समकक्ष परीक्षा में उत्तीर्ण लोग ही प्रशिक्षण के लिए प्रचारक विद्यालयों में शामिल हो सकेंगे। अब की प्रचारक परीक्षा में प्रशिक्षण के तीन प्रश्न-पत्र, साहित्य तथा समालोचना का एक प्रश्न-पत्र, भाषा विज्ञान तथा तुलनात्मक व्याकरण का एक प्रश्न-पत्र, इस प्रकार पाँच प्रश्न-पत्रों के अलावा एक प्रायोगिक परीक्षा भी चलायी जाती है।

सन् 1930 में सभा ने निश्चय किया कि एक उपाधि परीक्षा भी चलानी चाहिए। इस निर्णय के अनुसार जिस उपाधि परीक्षा का आयोजन हुआ, उसका नाम राष्ट्रभाषाविशारद रखा गया। इसमें पाँच प्रश्नों का लिखित उत्तर देने के अलावा मौखिक परीक्षा भी देनी पड़ती थी। विशारद परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए प्राचीन पद्य, आधुनिक पद्य, नाटक, गद्य, निबंध, कहानियाँ, व्याकरण, साहित्य का इतिहास आदि विषयों का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। इस परीक्षा में उत्तीर्ण लोगों को उपाधि प्रदान करने के इरादे से जो प्रथम पदवीदान समारंभ सन् 1931 में मनाया गया उसमें आचार्य काका कलेलकर ने स्नातकों को उपाधि प्रदान की और दीक्षांत भाषण भी दिया। तब से हर साल सभा की तरफ से पदवीदान समारंभ मनाया जा रहा है। प्रारंभ में उपाधि पत्रों पर सभा के संस्थापक और आजीवन अध्यक्ष पूज्य महात्माजी के हस्ताक्षर रहा करते थे। अतः उन उपाधियों का बहुत अधिक महत्व माना जाता था।

अब तक "सभा" के कुल पैंतीस पदवीदान समारंभ हुए हैं, जिनमें कई नेता, राष्ट्रीय कार्यकर्ता और साहित्यकार महानुभाव महत्वपूर्ण दीक्षांत भाषण दे चुके हैं।

सन् 1934 में सभा की शिक्षा-परिषद् ने यह अनुभव किया कि "राष्ट्रभाषा विशारद" के बीच में स्तर, पाठ्य-क्रम व श्रेणी की दृष्टि से बड़ा अन्तर है। अतः इन दोनों परीक्षाओं के बीच में "राष्ट्रभाषा विशारद चुनाव" नामक एक परीक्षा भी चलाने का निश्चय किया गया। तदनुसार चुनाव परीक्षा सन् 1934 से 1936 तक चली। बाद सन् 1937 में इस चुनाव परीक्षा के बदले राष्ट्रभाषा परीक्षा में तीन लिखित प्रश्न-पत्र रखे गये और इसका स्तर बढ़ाया गया। इसमें उत्तीर्ण लोगों को सीधे राष्ट्रभाषा विशारद परीक्षा देने की अनुमति दी गयी।

अनुभवों से यह देखा गया कि "राष्ट्रभाषा" और "राष्ट्रभाषा विशारद" इन दोनों परीक्षाओं के बीच में एक और परीक्षा का होना आवश्यक है। अतः सन् 1939 में पूर्ववत् राष्ट्रभाषा के दो ही प्रश्न-पत्र रखे गये और "प्रवेशिका" नामक एक नयी परीक्षा चलाने का निश्चय किया गया। इसमें दो लिखित पत्रों के अलावा एक मौखिक परीक्षा भी चलायी जाने लगी। उस प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक साल की अवधि पूर्ण होने पर ही विशारद परीक्षा देने की अनुमति देने का निश्चय भी किया गया। "राष्ट्रभाषा विशारद" में चार लिखित पत्र तथा मौखिक परीक्षा रखने का प्रबन्ध भी इसी अवसर पर किया गया।

सन् 1948 में शिक्षा-परिषद् ने निश्चय किया कि सभा की उच्च परीक्षाओं में हिन्दी के साथ

प्रादेशिक भाषा का भी स्थान रहे तो अच्छा होगा। दक्षिण के हिन्दी विद्यार्थी अपनी प्रादेशिक भाषा में भी पाडित्य प्राप्त करेंगे तो उनका कार्यक्षेत्र व्यापक बनेगा। तद्वारा सास्कृतिक समन्वय करने मे अपना योगदान भी वे कर सकेंगे। अत उसके बाद प्रवेशिका और विशारद में प्रातीय भाषा का एक प्रश्न पत्र भी जोडा गया।

सन 1939 में विशारद उत्तीर्ण स्नातकों की उच्च साहित्य के अध्ययन में अभिरुचि बढाने के उद्देश्य से 'विशेष योग्यता' नामक एक परीक्षा भी चलायी गयी। यद्यपि उस समय प्रवेशिका में उत्तीर्ण होने के एक साल के बाद ही विशारद परीक्षा मे बैठने की अनुमति देने का नियम रहा था, फिर भी अनुभव से देखा गया कि बहुत-से परीक्षार्थी पूर्णतया एक साल अध्ययन नहीं करते थे, परीक्षा तारीख से तीन-चार महीने के पहले ही अध्ययन प्रारम्भ करते थे और अपूर्ण तैयारी के साथ परीक्षा देते थे। फलत अधिकतर लोग अनुत्तीर्ण हो जाते थे। अनुत्तीर्ण होने पर उनका उत्साह घट जाता था तो वह स्वाभाविक था। इसलिए सभा ने यह निश्चय किया कि विशारद परीक्षा के दो भाग कर दिये जायँ—'पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध'। पूर्वार्द्ध में हिन्दी के दो पत्र और प्रादेशिक भाषा का एक पत्र रखे गये और उत्तरार्द्ध मे हिन्दी के दो पत्रो और मौखिक परीक्षा का क्रम रखा गया। प्रवेशिका और विशारद उत्तरार्द्ध मे प्राचीन पद्य के विषय भी जोडे गये।

सन् 1945 में जब पूज्य महात्माजी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का नाम हिन्दुस्तानी रखा और अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया कि हिन्दी के अध्ययन करनेवालो को देवनागरी और फ़ारसी दोनो लिपियो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, तब उनके आदेश को कार्यान्वित करने के हेतु सभा ने अपनी प्राथमिक, मध्यमा तथा राष्ट्रभाषा परीक्षा मे दस अकों के उर्दू लिपि का एक ऐच्छिक प्रश्न भी पूछने का प्रबध किया। इस मे उत्तीर्ण परीक्षार्थियो के प्रमाण-पत्रों पर उर्दू लिपि मे उत्तीर्णता का जिक्र भी किया जाता था। सन् 1947 से प्रवेशिका तथा विशारद में 15 अकों का उर्दू लिपि का ऐच्छिक प्रश्न जोड दिया जाने लगा।

सभा की हिन्दी परीक्षाओ को अधिक लोकप्रिय बनाने और उन्हें सुव्यवस्थित एव सुसगठित करने के उद्देश्य से प्रारभिक परीक्षाओं के सचालन का भार प्रांतीय सभाओ को सौंपने का निश्चय किया गया। उसके अनुसार सन् 1949 में आध्र शाखा ने यह भार अपने ऊपर ले लिया। तत्पश्चात् 1954 में कर्नाटक शाखा ने यह कार्य करना शुरू किया। उसके बाद अन्य प्रांतों ने भी उनका अनुसरण किया। यद्यपि अब प्रारभिक परीक्षाओं का सचालन सभा की चारों प्रांतीय शाखाओं की तरफ़ से होता है, फिर भी पाठ्य-क्रम, प्रश्न-पत्र तथा परीक्षा सबधी नियत्रण आदि अब भी केन्द्र सभा के द्वारा ही होते हैं। अब सभा की तरफ़ से चलायी जानेवाली प्राथमिक, मध्यमा और राष्ट्रभाषा परीक्षाएँ प्रारभिक वर्गों के विद्यार्थियों के लिए हैं। प्रवेशिका, राष्ट्रभाषा-विशारद और राष्ट्रभाषा प्रवीण—ये सभा की मुख्य उच्च परीक्षाएँ हैं। इनके अलावा प्रशिक्षण देने के लिए "हिन्दी प्रचारक" परीक्षा भी चलायी जाती है। सभा की सभी उच्च परीक्षाएँ केन्द्र सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हैं।

मुद्रालेखन मे अभ्यास देने के हेतु सभा मुद्रालेखन की तीन परीक्षाएँ भी—प्रारभिक, उच्च, तीव्रगति चलाती है।

भारतीय-भाषा-समन्वय तथा तद्वारा राष्ट्र की भावात्मक एकता को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से सभा दक्षिणी भाषाओं की (तमिष्, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़) परीक्षाएँ भी चला रही है। ये परीक्षाएँ उत्तर-भारत भर में लोक-प्रिय बनती जा रही हैं।

सन् 1964 में केन्द्र सरकार ने संसदीय अधिनियम के द्वारा सभा को राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित किया तो सभा स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से विश्वविद्यालय विभाग के द्वारा एम.ए./पारंगत, पी.हेच-डी/साहित्याचार्य तथा बी.ई.डी (हिन्दी प्रचारक का सुधरा रूप) की परीक्षा भी चलाती है।

सभा की परीक्षाओं का संचालन आधुनिक एवं वैज्ञानिक ढंग से होता है। परीक्षाएँ किसी हाई स्कूल तथा कालेज में वहाँ के प्रधान अध्यापक के केन्द्र व्यवस्थापकत्व में ही चलायी जाती हैं। साधारणतया उच्च परीक्षाएँ मुख्य शहरों में ही चलती हैं। परीक्षा केन्द्र से उत्तर-पुस्तकें सीधे सभा को मंगायी जाती हैं। वहीं से वे जांच के लिए विभिन्न परीक्षकों के पास भेजी जाती हैं। जाँच का कार्य अत्यंत गोपनीय एवं वैज्ञानिक ढंग से कराया जाता है। सहायक परीक्षकों की जांच की कमियों को सुधारने के लिए प्रधान परीक्षक और प्रधान परीक्षकों के कार्य की जाँच के लिए परीक्षा समिति आदि जिम्मेवार माने जाते हैं। असावधानी और पक्षपात की गुंजाइश किसी प्रकार भी नहीं होने पाती है, इसका समुचित प्रबंध रहता है। अंत में सभा की परीक्षा-समिति ही परीक्षा-फलों पर विचार कर अपनी स्वीकृति देती है। परीक्षा समिति की स्वीकृति के बिना कदापि परीक्षा-फल घोषित नहीं किया जाता है।

सभा की प्रारंभिक तथा उच्च परीक्षाओं में उत्तीर्ण होनेवाले परीक्षार्थियों को प्रणाम-पत्र, उपाधि-पत्र देने के अलावा सभा प्रत्येक परीक्षा में सर्वप्रथम, द्वितीय और तृतीय आनेवाले होनहार परीक्षार्थियों को पुरस्कार, स्वर्णपदक आदि देने की व्यवस्था भी करती है। उपाधि परीक्षाओं में विजयी होनेवाले स्नातकों को सभा खादी के शाल अथवा विद्याम्बर भी प्रदान करती है। प्रणाम-पत्र वितरणोत्सव, पदवीदान समारंभ आदि जलसे मनाकर हिन्दी विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ाने का प्रबंध भी सभा समय-समय पर करती है। इस प्रकार सभा अपनी परीक्षाओं को लोकप्रिय और उपयोगी बनाने के प्रयत्न में सर्वथा अग्रसर रहा करती है। अतः सभा की परीक्षाएँ दक्षिण भारत में बहुत अधिक लोकप्रिय हो चुकी हैं। विदेशों में भी सभा के विविध परीक्षा केन्द्र हैं। प्रतिवर्ष इनमें शामिल होनेवालों की संख्या बढ़ती रहती है।

स्वराज्यपूर्व तथा स्वाधीनोत्तर वातावरण में दक्षिणी सूबों की सरकारों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा कालांतर में जबकि सभा के अनुकरण पर निजी परीक्षाएँ चालू होने लगीं, तो सभा की परीक्षार्थी-संख्या पर विपरीत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। मगर दक्षिणापथ की प्रौढ़ आबादी को हिन्दी-दीक्षा प्रदान करने में सभा का अनिवार्य सहयोग भविष्य में भी निर्विवाद माना जायगा।

जय हिन्द ! जय हिन्दी ! !

✱

स्व० श्री श्रीगिरिराजु रामाराय
भूतपूर्व कार्यालय-व्यवस्थापक
द भा हिंदी प्रचार सभा मद्रास 17

सभा का सांस्कृतिक कार्यकलाप

स्व० श्री रामरावजी सभा के सबसे पुराने टक्कों म थ। बाद उन्होंने परीक्षा पुस्तक और कार्यालय विभागा के व्यवस्थापक के तौर पर भी सेवा की। आप तलुगु और हिन्दी के अच्छ लेखक थ। उनके लेखो म हास्य-व्यग का पुट खूब होता था। आप अच्छ अभिनता और नाट्क निर्देशक भी थ। तेलुगु म आपके कुछ नाटक प्रकाशित हैं। आपने तलुगु फ़िल्मा के लिए सवाद भी लिखे हैं। सभा क समारोहों म आपका नाटकाभिनय अक्सर हुआ करता था।

भारतीय सस्कृति एक है—यह निर्विवाद है, लेकिन भाषा की विभिन्नता के कारण इसका रूप बदल गया है। इसके अखड रूप का महात्मा गाधीजी सपना देख रहे थे। सपने को साकार करने के लिए उ होने जिन साधनों को अपनाया उनमे एक है हिन्दी प्रचार। अब हम देखेंग कि हिन्दी प्रचार आदोलन ने इस दिशा में कहाँ तक सफलता पायी।

अब तक लोग समझते आ रहे हैं कि हिन्दी प्रचारक का उददेश्य लोगों को अ, आ, इ, ई' सिखाना है। सो तो ठीक है लेकिन इसमे और एक आतरिक भावना है। जब महात्माजी ने राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रभाषा का प्रस्ताव पेश किया उसके पीछे भारत को एक सूत्र में बाँधने की भावना भी शामिल थी।

प्राचीन भारत में सस्कृत भाषा भारतीय सम वय का एक जबरदस्त साधन हुई, जो आज तक कायम है। मध्यकाल मे फारसी ने सास्कृतिक समन्वय की बहुत कुछ मददकी थी, मगर उस प्रयत्न में असफलता ज्यादा हुई। बाद अग्रेजी आयी। वह भारत के राजनैतिक व सामाजिक समन्वय को बढाने के लिए एक शक्तिशाली साधन बन गयी। लेकिन वह पढे-लिखे लोगो तक ही सीमित रही। अब हिन्दी ने उसकी जगह ले ली है।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा महसूस करने लगी कि सामाजिक वातावरण को आनद और उल्लासमय बना दिया जाय और साथ ही साथ हिन्दी का प्रचार भी हो जाय। इसी दृष्टि से नृत्य सगीत, नाटक इत्यादि मनोविनोद का कार्यक्रम बनाया गया था। इसकी व्यवस्था तो थके हुए दिमाग को विश्राम देने के उद्देश्य से नहीं हुई, बल्कि लोगों के मन में समन्वय की भावना को कायम करने के उद्देश्य से हुई।

मनोविनोद का कार्यकलाप किसको रुचता नहीं? लोग काफ़ी तादाद में इन कार्यकलापों में शामिल होने लगे। दक्षिण भारत कर्नाटक संगीत का केन्द्र-स्थान तो है; पर वे हिन्दुस्तानी संगीत में भी दिलचस्पी दिखाने लगे। उत्तर और दक्षिण की संगीत-कला सभा के अहाते में पाली-पोसी गयी। इस शाखा का उद्घाटन श्री बुलसु सांबमूर्तिजी के करकमलों से हुआ। एक संगीत विद्यालय खुल गया जिसमें तबला, तानपूरा, हारमोनियम आदि उपकरण भी रखे गये थे। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए शहर भर में शाखाएँ खोली गयीं। इन शाखाओं के द्वारा हिन्दी का प्रचार जोर पकड़ने लगा, साथ-साथ उत्तर दक्षिण का मेल-मिलाप बढ़ने लगा, भ्रातृभाव का संचार होने लगा। अब कौन कह सकता है कि हिन्दी प्रचार सभा केवल भाषा प्रचार करनेवाली संस्था है?

उत्तर से कई गवैये बुलाये गये। सर्वश्री रामचंद्र, नारायण व्यास आदि प्रसिद्ध गवैयों ने अपने शास्त्रीय संगीत से लोगों को मुग्ध कर दिया। दक्षिण से ज्ञान-यात्री मंडल के दो-तीन दल उत्तर भारत में गये और अपनी-अपनी कलाओं को प्रदर्शित किया। इसका असर यह हुआ कि विभिन्न प्रांतों के लोगों के मन में यह भावना दृढ़ बन गयी कि "हम सब एक हैं" और सांस्कृतिक विभेदों को जो मानते हैं वह भावना हमेशा के लिए मिट गयी। राजनैतिक व सार्वजनिक नेताओं के मन में यह बात आ गयी कि द. भा. हिन्दी प्रचार सभा तो सिर्फ़ भाषा का प्रचार करनेवाली संस्था नहीं बल्कि उत्तर और दक्षिण के बीच में जो खाई है उसपर पुल बांधनेवाली भी है।

प्रदर्शिनियों में भाग लेना सभा का मुख्य कार्यक्रम रहा। इनमें केवल हिन्दी की किताबों को दिखाना प्रधान न था। भारतीय समन्वय को सुझाते हुए, कई तरह के चित्र प्रदर्शिनियों में रखे जाते थे, जो असंख्य लोगों को आकर्षित करते थे। इन चित्रों को देखने के बाद कितने ही लोगों की आँखें खुलीं। वे सोचने लगे कि किस दुर्भाग्य ने हम भाई-भाई को अलग कर दिया है?

इस तरह की प्रदर्शिनियाँ अकसर कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलनों के अवसर पर चलाई जाती थीं। इन्दौर, कानपुर, देहली, हैदराबाद, तिरुवनंतपुरम, मैसूर आदि प्रधान नगरों में प्रदर्शिनियाँ चलाई गयीं। खासकर सभा के रजतजयंती उत्सव के अवसर पर प्रदर्शिनी हुई, उसका प्रभाव लोगों पर पड़ा। पूज्य महात्माजी उसमें पधारे और उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की। इन प्रदर्शिनियों में लाखों जन आते थे और चित्रों से कई विषयों को जान लेते थे।

विद्यालय के छात्र-छात्राएँ कभी-कभी सैर-सपाटे, उल्लास-यात्रा में जाते थे। इसकी उपयोगिता के बारे में लिखने की जरूरत नहीं है। मन बहलाने के लिये तो ठीक है पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव इनपर ज्यादा पड़ता है। इसमें सैद्धांतिक या शैक्षणिक महत्ता ही नहीं, उसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी है। इस दिशा में सभा ने जो कार्य किया है, वह सराहनीय है।

किसी भी प्रचार के लिये नाटक व रंगमंच को छोड़ और कोई जबरदस्त साधन नहीं है। मनोविनोद के साथ-साथ सांस्कृतिक उन्नति के लिये भी यह प्रबल साधन है। कहना ठीक होगा कि रंगमंच संस्कृति की आधार-शिला है। इतने जबरदस्त साधन को सभा कैसे

छोड़ती ? उस वक्त सभा का अपना रंगमंच न था, इसलिये बाहर के "हालों" में खेलते थे। सभा के वार्षिकोत्सव, प्रमाणपत्र वितरणोत्सव तथा पदवीदान समारंभ के अवसरों पर नाटक जरूर खेला जाता था। नाटक-मंडलियाँ आन्ध्र, तमिल, केरल व कर्नाटक शाखाओं की तरफ से भी कायम हो गयीं, लेकिन केवल आन्ध्र में श्री उन्नव राजगोपाल कृष्णय्याजी की मातहती में बहुत कुछ आगे बढ़ सकीं। वे खुद अभिनेता थे। वे जनता से पैसा चंदा के रूप में वसूल कर नाटक-मंडली को चलाते थे। मद्रास में केन्द्र-सभा की तरफ से कभी-कभी नाटक खेले जाते थे। उन दिनों के हमारे सफल अभिनेता श्री जमुनाप्रसाद को हम भूल नहीं सकते। उनका 'वीराभिमन्यु' देखने का सौभाग्य मुझे मिला। उस समय से लेकर, याने 1928 से, नाटकीय प्रवृत्ति खूब चलती आयी है। सभा की तरफ से कला विभाग कायम कर दिया गया।

सभा को अपनी इच्छापूर्ति के लिए दो सज्जनों की मदद मिल गयी। श्री विश्वनाथनजी प्रबंधक बन गये और श्रीरामराव अभिनय, गाना व नाच के निदेशक। इन दोनों के सहयोग से सभा की नाटकीय प्रवृत्ति में चार चाँद लग गये।

बस, सभा के अहाते के अंदर एक कलामंडप की स्थापना हुई। परदे वगैरह तैयार हो गये। पोशाक, गहने वगैरह खरीद लिये गये।

चारों प्रांतों पर इसका असर पड़ा। नाटकीय प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। सभी मंडलियाँ अपनी-अपनी कला को मद्रास में प्रदर्शित करने को उत्सुक थीं। केन्द्र सभा ने इसका इंतजाम किया था। स्पर्धाएँ चलायी गयीं। विजेताओं को पुरस्कार दिलवाये गये। श्री रामराव को, नाटकों के द्वारा हिन्दी प्रचार करने के उपलक्ष्य में पूज्य बापू ने एक प्रमाणपत्र दिया था।

मद्रास में नाटक के प्रति इस उत्साह ने केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर खींचा। हिन्दी तो राष्ट्रभाषा बन गयी है। उन्होंने सोचा, नाटकों के द्वारा हिन्दी के प्रचार पर जोर क्यों न दें। उनको मद्रास में बने-बनाये साधन मिल गये। उन्होंने कहा, हम 60 प्रतिशत खर्च का भार उठायेंगे, और तुम लोग नाटकों के द्वारा हिन्दी का प्रचार करो। नाटक से संबन्धित सभी उपकरण व सामग्री के लिए सरकार की तरफ से धन मिला। इस कला-विभाग के द्वारा कई तरह के नाटक दक्षिण के बड़े बड़े शहरों में खेले जा चुके हैं। यह नाटक-मंडली हर जगह पर लोगों की प्रशंसा का पात्र बन गयी। सारे नाटकों का प्रदर्शन श्री रामराव के निर्देशन में हुआ करता था। ध्यान देने लायक बात यह है कि विविध जगहों पर प्रेक्षकों से जो पैसा वसूल किया गया था, वह वहीं की संस्था को ही दिया गया।

कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा हिन्दी प्रचार में चार चाँद लगानेवाले सभा के एकनिष्ठ प्रचारकों तथा दक्षिण के हिन्दीप्रेमी नागरिकों में सर्वश्री जमुनाप्रसाद, उन्नव राजगोपालकृष्णय्या, शोर्ले-ब्रह्मय्या, अटलूरि रामराव, वेमूरी बंधु, गिरिराजु रामाराव, कृष्णमूर्ति, टी पी वीरराघवन, श्रीनिवासन, चावलि सूर्यनारायणमूर्ति आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। सभा के उत्तरोत्तर विकास के साथ उक्त सांस्कृतिक पहलू का आज भी कालोचित मेल बिठाना सर्वाधिक श्रेयस्कर है।

*

स्व० श्री मु. नरसिंहाचार्य
(भूतपूर्व व्यवस्थापक, साहित्य-विभाग
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास)

सभा के प्रकाशन-कार्य का विकास

स्व० श्री नरसिंहाचार्यजी ने पुस्तकपाल, साहित्य-विभाग के व्यवस्थापक और 'हिन्दी प्रचार समाचार' के सह-संपादक के तौर पर सभा की बहुत सेवा की। कर्मठ गांधीवादी श्री नरसिंहाचार्य ने कांग्रेसी आंदोलन के सिलसिले में कारावास भी भोगा था। मृदुभाषी श्री नरसिंहाचार्य हिन्दी और तेलुगु के अच्छे लेखक थे। 'आंध्र संस्कृति' आदि उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हैं। आप अच्छे चित्रकार भी थे और अपनी इस प्रतिभा से सभा के पुस्तकालय को सजाने-सँवारने में आपने बहुत परिश्रम किया।

सभा ने भाषा के प्रचार के कार्य में प्रकाशन के महत्व को बहुत पहले से ही पहचान लिया था। एक तरह से हम यह मान सकते हैं कि सभा की स्थापना के साथ ही सभा के प्रकाशन-कार्य का श्रीगणेश हुआ था। महात्माजी ने अपने बेटे देवदास को प्रथम हिन्दी प्रचारक बनाकर दक्षिण में भेजा था। इस तरह दक्षिण में हिन्दी प्रचार का औपचारिक रूप से प्रारंभ हुआ था। प्रचार कार्य में देवदास की सहायता के लिए बाद को जब महात्माजी ने स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को भेजा था, तभी से हिन्दी प्रचार के क्षेत्र में प्रकाशन-कार्य की नितान्त आवश्यकता को महसूस किया गया था। यह 1918 ईस्वी की बात थी। उसी साल दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मद्रास कार्यालय के रूप में स्थापना हुई थी।

कुछ इने-गिने शिक्षित सज्जनों को अंग्रेजी माध्यम से हिन्दी सिखाना एक बात थी तथा जनता के बीच जाकर हिन्दी प्रचार के द्वारा राष्ट्रीय भावना को जागृत करना एक और बात थी। कहने का मतलब यही है कि भाषा के प्रचार कार्य ठीक तरह से संपन्न होने के लिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता थी। स्वामी सत्यदेव ने इलाहाबाद के इण्डियन प्रेसवालों की कुछ चुनी हुई पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा हिन्दी पढ़ाने की कोशिश की थी। लेकिन इसमें उनको सफलता नहीं मिली थी। इसका एकमात्र कारण था, जो पाठ्य पुस्तकें हिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्यार्थियों के लिए तैयार की गयी थीं, वे दक्षिण की अहिन्दी जनता के लिए बिलकुल निरुपयोगी व अनुपयुक्त साबित हुई।

यहीं से सभा के प्रकाशन-कार्य का प्रारंभ हुआ जो आगे चलकर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए एक महान

प्रकाशन विभाग के रूप में परिणत हुआ। सत्यदेव परिव्राजक ने दक्षिण की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप यहाँ के हिन्दी नौसिखुओं के विशेष उपयोग के लिए "हिन्दी की पहली पुस्तक' का सकलन किया था। इस तरह सभा के प्रकाशन कार्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा यह कार्य स्वामी सत्यदेवजी के हाथों हुआ। आगे की पाठ्य पुस्तकों की परंपरा की इसमे नींव डाली गयी थी, ऐसा हम मान सकते हैं।

स्वामी सत्यदेव एक साल के बाद ही दक्षिण के हिन्दी प्रचार कार्य को पंडित हरिहर शर्मा जी के हाथ सौंपकर चले गये। सन् 1927 तक यद्यपि सभा इलाहाबाद के साहित्य सम्मेलन के मद्रास कार्यालय के रूप में चलो थी तथापि दक्षिण की आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्य पुस्तकों की रचना के द्वारा प्रकाशन का कार्य एक निश्चित गति से आगे बढता ही रहा। सभा की पाठ्य पुस्तकों के निर्माण की प्रारंभिक अवस्था में उत्तर से आगत अन्यान्य प्रचारक बन्धुओं मे श्री देवदूतजी आदि ने ज्यादा दिलचस्पी ली थी।

सन् 1927 से महात्मा जी की सलाह के अनुसार सभा का साहित्य सम्मेलन से संबंध विच्छेद हुआ तथा सभा के प्रचार के विस्तार के साथ-साथ पाठ्य पुस्तकों की माँग भी बढने लगी। अब दक्षिण के अनुभवी प्रचारकों ने स्वय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का कार्यभार अपने कधों पर लिया। पंडित हरिहर शर्मा तथा पंडित क म शिवराम शर्मा ने स्वबोधिनी की कल्पना की तथा उसे एक स्वरूप भी दिया गया। प्रचार के कार्य में इस स्वबोधिनी के द्वारा आशातीत सफलता मिली थी।

यही स्वबोधिनी बाद को श्री मोटूरि सत्यनारायण तथा पंडित अवधनन्दन जैसे अनुभवी शिक्षकों के हाथों एक स्थाई व सशोधित रूप अपना सकी। कामचलाऊ हिन्दी के समग्र रूप को अंग्रेजी माध्यम से दक्षिण के विद्यार्थियों के सामने रखने के द्वारा इस स्वबोधिनी ने (Self-Instructor) भाषा शिक्षण के क्षेत्र में एक उथल-पुथल मचा दी थी। इसकी लोकप्रियता इतनी बढ गयी थी कि दक्षिण की चारों प्रान्तीय भाषाओं मे भी इसके रूपान्तर हुए। सभा के प्रकाशन-कार्य की गति मे यह दूसरा मोड था। इसकी सफलता के फलस्वरूप श्री एस. रामचन्द्र शास्त्रीजी का 'सरल हिन्दी व्याकरण' तीन भागों में बडे ही वैज्ञानिक ढग से निकाला गया। इसके बाद श्री शास्त्री तथा श्री बालचन्द्र आपटे के द्वारा रचित 'हिन्दी व्याकरण' सभा के तत्कालीन प्रकाशनों में उल्लेखनीय है।

इसी समय सभा की एक और सर्वमान्य व अत्यंत प्रचलित पाठ्य पुस्तक का आविष्कार हुआ था। इसके आविष्कर्ता सभा के एक अनुभवी शिक्षक-प्रचारक श्री एस महालिंगम हैं। इन्होंने इसे इतने वैज्ञानिक ढग से तथा सरल विधान में लिखा था कि सभा के सारे प्रकाशनों से बढ़कर यह लोकप्रिय हुई। यह है 'बच्चों की किताब' जिसकी लाखों प्रतियाँ अब तक बिकी हैं और अब भी बिकती रहती हैं।

अब हम सभा के प्रकाशन विकास के पथ के तीसरे मोड पर पहुँचते हैं। अब तक सभा की परीक्षाओं की रूप-कल्पना सपन्न होकर परीक्षाएँ क्रमबद्धता के साथ चलने लगी थी। प्रारंभिक परीक्षाओं तथा उच्च परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के अनुरूप विभिन्न पाठ्य पुस्तकों व अपठित ग्रंथों की आवश्यकता बढने लगी। सभा के प्रकाशन

विभाग की जिम्मेदारियाँ भी क्रमशः बढ़ने लगीं। एक तरह से इस जमाने को हम संकलन-युग का प्रारंभकाल कह सकते हैं। विभिन्न स्तरों की परीक्षाओं के लिए पद्य-संग्रह, कहानी-संग्रह, एकांकी-संग्रह तथा निबंध-संग्रह तैयार करने का गुरुतर भार सभा ने अपने ऊपर लिया था। इसके पहले ही पंडित हृषीकेश शर्मा ने सभा के लिए दो कहानी-संग्रह—'मजेदार कहानियाँ' तथा 'रसीली कहानियाँ'—तैयार किये थे। इस प्रसंग में श्री रामानन्द शर्मा तथा व्रजनन्दन शर्मा के नाम भी स्मरणीय हैं। इन दोनों प्रचारक बन्धुओं ने इस समय के सभा-प्रकाशनों की प्रगति में पर्याप्त योग दिया था। श्री रामानन्दजी ने 'चयनिका', 'मधुमंजरी', 'संक्षिप्त तुलसी रामायण' तथा 'प्राचीन पद्य संग्रह' आदि संकलनों से सभा के प्रकाशन कार्य को आगे बढ़ाया तो श्री व्रजनन्दनजी ने 'सत्याग्रही', 'चालीस साल बाद' तथा 'नवपल्लव' आदि अपनी रचनाओं से सभा को आभूषित किया।

यहाँ पंडित रघुवरदयालुजी मिश्र तथा पंडित अवधनन्दन की रचनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। 'सरल हिन्दी', भक्त बालक ध्रुव तथा 'हैदरअली' आदि सभा के प्रकाशन पंडित मिश्रजी की लोकप्रियता के प्रतीक हैं। उसी तरह पंडित अवधनन्दन की विभिन्न रचनाएँ 'पांडव-वनवास', 'अर्जुन', 'बालकृष्ण', 'लवकुश' तथा 'भरतमिलाप' आदि आज भी बहुत प्रचलित हैं।

साहित्य सम्मेलन से अलग होने के बाद सभा के प्रथम प्रधानमंत्री की हैसियत से पंडित हरिहर शर्माजी ने सभा की परीक्षाओं को सुव्यवस्थित करने तथा तदनुरूप प्रकाशन कार्य में स्फूर्ति लाने में पर्याप्त प्रयास किया था। इस दिशा में श्री मोटूरि सत्यनारायणजी की सेवाओं का यहाँ ज़िक्र करना समीचीन होगा। सभा के साहित्य मंत्री के नाते श्री सत्यनारायणजी ने सभा के सारे प्रकाशन कार्य का नये सिरे से पुनर्नवीकरण संपन्न किया था तथा सभा की प्रारंभिक व उच्च परीक्षाओं को सुव्यवस्थित कर उन्हें क्रमबद्ध रूप से चलाने का उन्होंने काफी प्रयास किया था। उनकी संगठन-शक्ति तथा कार्यदक्षता के कारण सभा के प्रकाशन-कार्य-चेतना भर गयी थी।

इसी समय मद्रास राज्य के शासन-सूत्र को कांग्रेस मंत्रिमंडल ने अपने हाथ में ले लिया था। श्री राजाजी जो सभा के उपाध्यक्ष थे मुख्य मंत्री बने। उन्होंने मद्रास राज्य के सभी माध्यमिक (मिडिल) स्कूलों में हिन्दी को अनिवार्य विषय बनाया था। पहले, दूसरे तथा तीसरे फॉरमों के लिए उपयुक्त रीडरें तैयार करने का कार्य श्री राजाजी ने सभा को सौंपा। श्री राजाजी की इच्छा थी कि ये तीनों रीडरें मद्रास राज्य के लिए ही नहीं, अपितु भारत के अन्यान्य राज्यों के लिए भी उत्तम आदर्श हो सकें। महात्माजी के निर्वचन के अनुकूल इस माला का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखा गया तथा इन रीडरों को तैयार करने में भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री ज़ाकिर हुसैन जी की सहायता ली गयी थी। इस कार्य के लिए उन्होंने एक मौलवी को जामिया मिलिया से मद्रास भेजा था। इनकी निगरानी में सभा ने हिन्दुस्तानी I, II और III तैयार कर प्रकाशित किया। उन रीडरों की प्रामाणिकता की जाँच करने के लिए श्री राजाजी ने उनको मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद के पास भेजकर उनकी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। तीन साल तक दक्षिण के मिडिल स्कूलों में इनका खूब प्रचलन हुआ था।

सभा की परीक्षाओं की आवश्यकता तथा हाईस्कूलो व मिडिल स्कूलों की मांग के अनुसार सभा रीडरो, कहानी सग्रहो, एकाकी सग्रहो तथा जीवनियो को तैयार कर प्रकाशित करने लगी, तो सभा के प्रकाशन-कार्य में आशातीत प्रगति होने लगी। इस सिलसिले में श्री भालचन्द्र आप्टे तथा श्रीकंठमूर्ति की 'हिन्दुस्तानी रीडर', श्री रघुवरदयालु मिश्र रचित 'सरल हिन्दी' आदि प्रकाशन उल्लेखनीय है।

सभा के विभिन्न स्तर के तथा विविध विषयो के प्रकाशनो के पठन पाठन मे प्रचारको तथा विद्यार्थियो के उपयोगार्थ विभिन्न कोशों की आवश्यकता महसूस होने लगी। बहुत पहले ही श्री जय्याल शिवन्न शास्त्री ने सभा के लिए हिन्दी-तेलुगु और तेलगू हिन्दी कोशो की रचना की थी। उसके प्रकाशन के बाद 'हिन्दी-तमिल कोश', 'हिन्दी कन्नड कोश' तथा 'हिन्दी-मलयालम कोश' आदि विभिन्न कोशो का प्रकाशन भी सपन्न हुआ। श्री जय्याल शिवन्न शास्त्री की दूसरी रचना 'हिन्दी-तेलुगु व्याकरण' भी बहुत प्रसिद्ध हुई थी। ये सारे प्रकाशन हिन्दी सीखने व सिखाने में दक्षिण के प्रचारकों तथा विद्यार्थियो के लिए वरदान साबित हुए।

प्रातीय भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सीखने-सिखाने के लिए आवश्यक सभी ग्रथो तथा हिन्दी भाषा के ज्ञान को बढा लेने के लिए आवश्यक हिन्दी ग्रथो के प्रकाशन का, यहाँ तक आते-आते इतना विकास हुआ कि सभा से प्रकाशित स्वबोधिनियो, व्याकरणों, कोशो, रीडरो, कहानी-सग्रहो, एकाकी सग्रहो, कविता सग्रहों तथा जीवनियो के द्वारा दक्षिण भारत के चारों प्रातों में खूब हिन्दी का प्रचार-प्रसार सपन्न हो गया था। प्रचार कार्य मे सभा की इस आशातीत सफलता का सारा श्रेय सभा के प्रकाशन विभाग को जाता है, इसमे कोई सदेह नहीं है।

इस सफलता के अभियान में सभा के प्रकाशन के पथ का चौथा मोड आ जाता है। सभा ने हिन्दी के अलावा अन्यान्य प्रातीय भाषाओं के प्रचार के कार्य को भी सीमित मात्रा मे ही सही, अपने हाथ में लिया। हिन्दीभाषी लोगों को दक्षिणी भाषाएँ सिखाने के उद्देश्य से सभा ने पहले-पहल 'तेलुगु-स्वयशिक्षक' प्रकाशित किया। इसके ख्यातिप्राप्त लेखक पडित हृषीकेश शर्मा थे। इसकी सफलता के फलस्वरूप सभा ने क्रमश श्री महालिंगम से 'तमिल-स्वयशिक्षक', श्री मदाकिनी बाई से 'कन्नड स्वयशिक्षक' तथा श्री भारती विद्यार्थी से 'मलयालमस-वयशिक्षक' तैयार कराके प्रकाशित किया।

इस सिलसिले मे हम "तुलनात्मक हिन्दी व्याकरण" के प्रकाशन को सभा के प्रकाशन कार्य के विकासक्रम में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मान सकते हैं। इस ग्रथ मे भाषा-शिक्षण-कला में द्राविड भाषाओं के व्याकरणों के हिन्दी व्याकरण के साथ तुलनात्मक अध्ययन के महत्व पर प्रकाश डाला गया। इन सारे प्रकाशनो के प्रचार का शुभ परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत के राज्यों में दक्षिणी भाषाओं के प्रति दिलचस्पी पैदा हुई। केन्द्रीय सरकार ने उत्तर भारत में दक्षिणी भाषाओं के प्रचार के लिए जो आयोजना बनायी थी, उसको कार्यान्वित करने का भार सभा को सौंप दिया। हिन्दी निदेशालय के तत्वावधान मे सभा की दिल्ली-शाखा ने इस आयोजना के अतर्गत चारो दक्षिणी भाषाओ के स्वय शिक्षक (Self Instructors) तैयार कर प्रकाशित किये

थे जो आज उत्तर भारत के राज्यों में भी बहुत ही लोकप्रिय हुए हैं। इनके द्वारा हिन्दी विद्यार्थी तमिल, तेलुगु आदि दक्षिणी भाषाओं के प्रति आकृष्ट हुए हैं।

इसके फलस्वरूप सभा ने हिन्दी परीक्षाओं के साथ-साथ दक्षिणी भाषा-परीक्षाओं की भी एक आयोजना बनायी है। सभा विभिन्न स्तरों की इन परीक्षाओं के लिए चारों दक्षिणी भाषाओं में रीडरें, गद्य-संग्रह, पद्य-संग्रह, जीवनियाँ, कहानी-संग्रह आदि पाठ्यपुस्तकें विभिन्न स्तरों में तैयार करने के प्रयत्न में है। केन्द्रीय सरकार के अनुदान से यह कार्य निकट भविष्य में ही संपन्न होनेवाला है।

सभा के प्रकाशन-कार्य-विस्तार में हिन्दी तथा दक्षिणी भाषाओं का निकटतम संपर्क स्थापित करने का श्रेय 'अनुवादमाला' व 'अनुवाद अभ्यास' को है। हिन्दी से दक्षिणी भाषाओं में तथा दक्षिणी भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद करने की शक्ति विद्यार्थियों में बढ़ाने के लिए सभा ने बहुत पहले ही अनुवादमाला का विभिन्न स्तरों में आयोजन कर पाँच भागों में प्रकाशित किया था। इन अनुवादमालाओं ने कई साल तक हिन्दी विद्यार्थियों की अद्भुत सेवा की थी। हाल ही में इस आयोजना को आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित कर अनुवाद-अभ्यासमाला के अंतर्गत पाँच भाग प्रकाशित किये गये हैं। इस तरह सभा हिन्दी प्रचार के विस्तार के साथ दक्षिणी भाषाओं की भी सेवा, पर्याप्त मात्रा में सारे भारत में संपन्न कर रही है।

आज सभा के प्रकाशन कार्य का विस्तार इतना बढ़ गया है कि हिन्दी प्रचारक पुस्तकमाला के अन्तर्गत करीब 300 पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई हैं तथा हर साल इनमें से करीब 60 पुस्तकों का पुनर्मुद्रण बराबर संपन्न होता है। हर साल इन पुनर्मुद्रणों की लगभग 4 लाख प्रतियाँ छपकर सारे दक्षिण में वितरित होती हैं। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष दस से पन्द्रह तक नयी पुस्तकों का निर्माण भी संपन्न होता है। यह सारा प्रकाशन व पुनर्मुद्रण का कार्य संपन्न करने का भार सभा का साहित्य-विभाग संभालता है। अब तक सभा के प्रकाशन कार्य का विस्तार भाषाओं के प्रचार-प्रसार में सीमाबद्ध था। शिक्षा, परीक्षा तथा प्रचार संबंधी प्रकाशनों पर ही सभा ने अपनी सारी शक्ति केन्द्रित की थी। जब इन क्षेत्रों में सभा को पूरी सफलता मिली तथा सभा के प्रकाशन कार्य का आशातीत विकास हुआ तो सभा ने प्रकाशन कार्य के एक नितांत नये क्षेत्र में पदार्पण करने का निश्चय किया। दक्षिणापथ के साहित्य व संस्कृति-परिचायक प्रकाशनों का यह क्षेत्र सभा के लिए एकदम नया ही है, ऐसा हमें नहीं मानना है।

सभा बहुत पहले से अपने मुखपत्र के द्वारा साहित्यिक आदान-प्रदान का कार्य कर रही थी। 'हिन्दी प्रचारक', 'दक्षिण भारत' आदि विभिन्न नामों से गुजरते हुए यह मुखपत्र सुविधा व आवश्यकता के अनुसार आरंभ से ही साहित्यिक व सांस्कृतिक रचनाओं को भी स्थान देता आ रहा है। जब 'दक्षिण भारत' नाम से 1952 से अलग साहित्यिक पत्रिका आठ-दस साल चलायी गयी, तब इसके द्वारा जो साहित्यिक प्रकाशन कार्य संपन्न हुआ, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दक्षिण के चारों प्रांतीय साहित्यों व संस्कृतियों की विशिष्ट रचनाएँ 'दक्षिण भारत' में कई साल तक प्रकाशित होती रही थीं। अब इस सिलसिले

मे सभा के प्रकाशन कार्य की दो योजनाएँ उल्लेखनीय हैं—(1) दक्षिणी साहित्य माला, (2) दक्षिणी अनुवाद साहित्य माला। दक्षिणी साहित्य माला के अतर्गत दक्षिण की चारो भाषा, साहित्य, कला, सस्कृति मूलक परिचायात्मक, समीक्षात्मक तथा तुलनात्मक स्वतत्र रचनाओ का प्रकाशन होता है। अनुवाद साहित्यमाला का उद्देश्य स्पष्ट है। दक्षिण के चतुर्भाषी प्रदेशो के साहित्यकारों की उत्तम कृतियो के प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद द्वारा राष्ट्रभारती तथा हिन्दी की विशिष्ट रचनाओ के रूपान्तर द्वारा दक्षिणी साहित्यो के भण्डार को भरना सास्कृतिक आदान-प्रदान का सर्वश्रेष्ठ अग है ही। 'तेलुगु साहित्य', 'तमिल साहित्य', 'आध्र सस्कृति', 'तमिल सस्कृति', 'तमिल और हिन्दी का भक्ति साहित्य' तुलनात्मक अध्ययन, प्रभृति ग्रथो के साथ चारों साहित्यों की विविध विधाओ (काव्य, कथा, उपन्यास, जीवनी) की उज्ज्वल कृतियों के अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं और कई कृतियाँ प्रकाशनाधीन हैं।

सभा अपने प्रकाशन के कार्य-विस्तार के बल पर सारे भारत से सबध स्थापित कर ले, यही आज सभा का लक्ष्य है। इस लक्ष्यसिद्धि की साधना में प्रकाशन-कार्यविस्तार सभा का एक प्रबल अस्त्र साबित होगा। इस उपलक्ष्य में सभा की भावी आयोजनाओं की एक रूपरेखा यहाँ खीचना समीचीन होगा।

सभा दक्षिण की चतुर्मुखी साहित्य संस्कृतियों की विवरणात्मक व तुलनात्मक कृतियों के प्रकाशन का विस्तार करना चाहती है। सस्कृति के आधार पर हिन्दी तथा दक्षिणी भाषाओ की एकता व अभिन्नता की निश्छलम सीमाओं को स्पष्ट करना चाहती है। नागरी लिपि के आधार पर दक्षिणी साहित्यिक सपत्ति से उत्तर भारत को परिचित कराना चाहती है। सारे भारत के हिन्दी पाठकों तथा शिक्षा सस्थाओ के लिए उपयुक्त कृतियों के प्रकाशन के द्वारा अपने प्रकाशन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहती है। अपने प्रकाशन कार्य विस्तार के इन सारे सकल्पो की सिद्धि के लिए योग्य मौलिक लेखकों व अनुवादकों को तैयार करने तथा उनको उचित प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक आयोजनाएँ बनाना चाहती है।

पिछले पचास सालों के सभा के प्रकाशन-कार्य के विकास के क्रम को देखते हुए हम यह आशा कर सकते हैं कि सभा अपने प्रकाशन कार्य विस्तार के भव्य भविष्य का अवश्य साक्षात्कार करेगी। भारतीय पुस्तक प्रकाशन के इतिहास में सभा अपने लिए उचित स्थान प्राप्त कर लेगी, इसमें कोई सदेह नही है।

*

अग्रेज यहाँ केवल शासक के रूप मे रहे हैं। वे भारत सतान बनना नही चाहते थे। इसलिए उनकी भाषा की जड भी यहाँ कभी नहीं जम सकती है। अग्रेज़ी साहित्य और अग्रेजो की विचार शैली का प्रभाव भले ही हमपर पड़े, किंतु यह सभव नहीं कि अग्रेजी भाषा हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा बने और बनकर स्थिर रहे। राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही बन सकती है।

—आचार्य काका कालेलकर

श्री एम. सुब्रह्मण्यम, बी.ए.
मंत्री, द. भा. हिन्दी प्रचार सभा, (तमिलनाडु—पांडिच्चेरी शाखा)
65, अरबिन्दो स्ट्रीट, पांडिच्चेरी

सभा के चन्द अनन्य हिन्दी-साधक— एक संस्मरण

श्री एम. सुब्रह्मण्यम हिन्दी और तमिल के अच्छे विद्वान और लेखक हैं। हिन्दी प्रचारक, संगठक, सह-संपादक, प्रधानाध्यापक और शाखा-मंत्री के तौर पर आपने सभा की बहुत सेवा की है। कुछ समय तक आपने दिल्ली, आगरा, उड़ीसा आदि केन्द्रों में भी जाकर हिन्दी प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण कार्य किया है। संप्रति, आप दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (तमिलनाडु) की पांडिच्चेरी-शाखा के मंत्री हैं।

यह सच है कि सैकड़ों हजारों हिन्दी प्रचारकों ने देश की एकता के लिए हिन्दी को दक्षिण में फैलाना अपना राष्ट्रीय-धर्म समझा और उसके लिए अपना सब कुछ अर्पण किया। यद्यपि ऐसे-बहुत से कार्यकर्ता समस्त दक्षिण भारत में थे, तो भी मैं कुछ ऐसे कार्यकर्ताओं के संबन्ध में ही संस्मरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिनके निकट संपर्क में मैं आ सका था और जिनसे मुझे विशेष प्रेरणा मिली थी।

1935 की बात है। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों में दो बातें मुझे बहुत अधिक पसंद आयीं। वे बातें थीं खादी का प्रचार और हिन्दी का प्रचार। खादी मैंने तुरन्त अपनायी। लेकिन हिन्दी मेरे लिए नयी चीज थी। इस बीच में स्थानीय हिन्दी प्रचार सभा का परिचय मिला। एक छोटे-से कमरे में मेरे प्रथम हिन्दी गुरु श्री गो. कृष्णमूर्तिजी हिन्दी वर्ग चला रहे थे। श्री कृष्णमूर्तिजी उन कर्मठ हिन्दी प्रचारकों में एक हैं जो मौन रूप से गांधीजी के आदेशानुसार हिन्दी का प्रचार कर रहे थे। स्वच्छ खादीवेष और अनाडंबर सूरत से हमजैसे नौजवानों को उन्होंने आकृष्ट किया। जब वे कुंभकोणम कालेज में पढ़ रहे थे तब गांधीजी और राजाजी की प्रेरणा से कालेज की पढ़ाई छोड़कर स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़े थे।

इन्हीं दिनों एक दिन नागपट्टणम शहर में संपन्न एक हिन्दी समारोह में मंच पर देखा कि एक गोरे, मोटे एवं नाटे, हँस-मुख, गांधी टोपी पहने हुए व्यक्ति विराजमान हैं। समारोह के बाद अपनी टूटी-फूटी हिन्दी के साथ मैं उनसे मिला। ये व्यक्ति थे स्वर्गीय रघुवरदयालु मिश्रजी। ये उत्तर भारत के होते हुए भी दक्षिणवालों के साथ जल्दी ही हिल-मिल गये थे। वे तमिल भाषा की तरह अच्छी तमिल बोलते थे।

उन्होंने तमिलनाडु के तिरुच्चि और मधुरा शहरों में अच्छा कार्य किया था। श्री मिश्रजी आजीवन दक्षिण में हिन्दी का प्रचार करते रहे। आखिर अपने गुणों का आदर्श हमारे जैसे प्रचारकों के लिए छोड़कर स्वर्गवासी हो गये।

इसके पश्चात् मेरी भेंट श्रीमान भालचन्द्र आप्टेजी से हुई। जब वे कोयंबत्तूर हिन्दुस्तानी प्रचारक विद्यालय के प्रधानाचार्य बनकर आये थे तब उनके आगमन से हमारे विद्यालय में एक नया उत्साह फैल गया। आदर्श अध्यापक के समस्त गुणों से वे सपन्न थे। काशी विद्यापीठ के 'शास्त्री' उपाधिधारी वे अपने को सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव का शिष्य बताने में गर्व का अनुभव करते थे।

श्री आप्टेजी केवल साहित्य के कर्मज्ञ ही नहीं थे परंतु शिक्षाशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे विषयों में को पढ़ाने में भी कुशल थे। वे सफल अध्यापक और कुशल संगठक भी थे। अपनी मातृभाषा मराठी के अलावा वे हिन्दी, अंग्रेजी और तेलुगु के अच्छे विद्वान थे तथा तमिल एवं कन्नड़ का भी कामचलाऊ ज्ञान रखते थे। श्री आप्टेजी ने अपना संपूर्ण जीवन दक्षिण में हिन्दी प्रचार के लिए बिताया था। श्री आप्टे जी ने दिल्ली शाखा के मंत्री की हैसियत से साहित्य समन्वय के लिए जो कार्य किया वह भी स्मरणीय है।

1940 की बात है। तिरुच्चिराप्पल्लि में हिन्दी अध्यापकों के एक प्रशिक्षण शिविर में मेरी पंडित अवधनन्दन जी से भेंट हुई। वे हमेशा शुद्ध भाषा सिखाने और सुन्दर लिपियां लिखवाने पर ध्यान देते थे। जब भी इस प्रकार का शिविर या विद्यालय चलता था पंडित जी इसमें आते और शिविरार्थियों अथवा विद्यार्थियों में से हिन्दी प्रचार सभा में कार्य करने योग्य व्यक्तियों को चुन लेते थे और उन्हें सभा के अधीन कार्य करने बुला लेते थे। उन्होंने इस प्रकार जितने भी प्रचारक चुने थे, लगभग वे सबके सब सभा के योग्य और सफल प्रचारक बने हैं। मुझे उनके मार्गदर्शन में कई वर्षों तक कार्य करने का सौभाग्य मिला। पंडितजी बड़े ही परिश्रमशील व्यक्ति हैं। पुस्तक लिखने में उन्हें बड़ा आनंद आता था। उनकी भाषा सरल, विषय लोकप्रिय और प्रतिपादन आकर्षक रहता है। उनकी लिखी हुई 'बालकृष्ण', 'पांडववनवास' आदि पुस्तकें इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। अहिन्दी प्रांतों में हिन्दी सिखाने के संबन्ध में उन्होंने जो विशेष शोध कार्य किया है वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। पंडित जी हमेशा प्रत्यक्ष पद्धति से हिन्दी पढ़ाने पर जोर देते आये हैं। इसे दृष्टि में रखकर उन्होंने प्राथमिक वर्ग के विद्यार्थियों के लिए 'बच्चों की किताब' नामक पुस्तक श्री महालिंगम जी के सहयोग के साथ लिखी। वह अपने ढंग की एक मात्र पुस्तक है। इसके अलावा उन्होंने सभा की प्रारंभिक परीक्षाओं के लिए 'हिन्दी रचना' नामक पुस्तक की दो 'सीरीस' भी लिखी हैं। वे भी अद्वितीय हैं। पंडित जी को तमिल साहित्य और संस्कृति से बड़ा प्रेम रहा है। 'तमिल भाषा और संस्कृति' शीर्षक हिन्दी में लिखित उनकी किताब उनके तमिल-प्रेम की सुन्दर मिसाल कही जा सकती है। वे सह-कार्यकर्ताओं के सुख-दुख में बराबर भाग लेते थे। तमिलनाडु के प्रत्येक जिले में हिन्दी प्रचार सभा के मंत्री के नाते उनका संबंध और मैत्री कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ हुई थी।

इसी सपर्क के बल पर तमिलनाडु में सभा का अपना मकान बनाने के लिए दान वसूल करके जमीन खरीदी। आखिर सभा का अपना भवन

भी बन गया। यही पंडित जी की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। पंडित जी हिन्दी प्रचारक बनकर बिहार से दक्षिण आये और दक्षिण में रहते हुए अपनी वेषभूषा में, खान-पान में और रहन-सहन में भी पूर्ण रूप से दाक्षिणात्य बन गये। आज पंडित जी सभा की सेवा से अवकाश प्राप्त कर अपने गाँव में रह रहे हैं। आज भी उनके लिखने का कार्य जारी है।

पं. अवधनन्धन जी के द्वारा ही मुझे दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्राण, यशस्वी प्रधान मंत्री मोटूरि सत्यनारायण जी के निकट संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। शीघ्र ही मैं समझ गया कि श्री सत्यनारायण जी चौमुखी प्रतिभावाले हैं। दक्षिण भारत में, जहाँ चार भाषाएँ बोली जाती हैं, हिन्दी को कोने-कोने में पहुँचाने के लिए उन्होंने समय-समय पर जो योजनाएँ बनायीं और उन्हें कार्यान्वित किया है सब दूसरी संस्थाओं के लिए भी अनुकरणीय हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को जो आज से 52 वर्ष पहले एक छोटी-सी संस्था के रूप में आरंभ हुई, अत्यन्त विशाल और महान् लोकप्रिय बनाने का सारा श्रेय उनको है। सभा ने आज एक विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया है। हिन्दी के प्रचार के लिए समय-समय पर जो साधन इकट्ठे किये और जिनका सदुपयोग किया गया, उन सब में हम श्री सत्यनारायण की दूरदर्शिता और सूझ-बूझ का सुन्दर परिणाम पा सकते हैं।

पूज्य बापू को निमंत्रित कर श्री सत्यनारायण ने सभा की रजत जयंती को (सन् 1946) इस ढंग से मनाने की व्यवस्था की कि स्थानीय प्रतिष्ठित एवं धनी लोग स्वयं उस कार्य में धन-तन से सहायता करने तैयार हुए। राष्ट्रभाषा हिन्दी का रूप, उसके प्रचार की पद्धति आदि के सम्बंध में उनके विचार इतने प्रबल, सुस्पष्ट और सुलझे हुए हैं कि केवल दक्षिण में ही नहीं, किन्तु पूर्व और पश्चिम भारत में भी हिन्दी के प्रामाणिक व्यक्ति और मार्गदर्शक माने जाते हैं। हिन्दी के लिए उनकी गयी सेवाओं की मान्यता देने के उपलक्ष्य में भारत सरकार ने उन्हें "पद्मश्री" और "पद्मभूषण" की विरुदों से भी सम्मानित किया है।

श्री सत्यनारायण जी ने आगरे में अखिल भारतीय हिन्दी परिषद की स्थापना की जिसके तत्वावधान में "अखिल भारतीय हिन्दी महाविद्यालय" भी चला। उसमें प्रतिवर्ष चौदहों भाषाएँ बोलनेवाले कई स्त्री-पुरुष शिक्षा पाते थे। यह संस्था इतनी अच्छी तरह चली कि बाद को उसे केन्द्र सरकार ने लेकर स्वयं चलाना शुरू किया। सभा की सेवा से अवकाश प्राप्त करने पर भी हिन्दी की सेवा से उन्होंने अवकाश नहीं प्राप्त किया है। श्री सत्यनारायण जी को एक संस्था ही कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

मुझे आगरे में पंडित देवदूत विद्यार्थी के साथ भी कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। उनके आकर्षक व्यक्तित्व, मधुर भाषण और संगठन चातुर्य ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में ही नहीं, अखिल भारतीय हिन्दी परिषद में भी उसके मंत्री की हैसियत से काम करते समय भी सब पर अच्छा प्रभाव डाला है। सुदूर बिहार के निवासी होते हुए भी श्री देवदूत जी ने केरल की एक अध्यापिका से विवाह कर लिया। दोनों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो सेवा की है वह हिन्दी प्रचार के इतिहास में चिर स्मरणीय है। श्री देवदूतजी इस समय केरल में रहते हैं और वे अब भी घर बैठे-बैठे हिन्दी की सेवा ही कर रहे हैं।

दो पुराने प्रचारकों का उल्लेख करना छूट गया है। वे हैं पं. हरिहरशर्मा और दूसरे श्री एस.

रामचन्द्र शास्त्री। प० हरिहर शर्मा सभा के प्रथम प्रधान मंत्री रहे। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना करके उसीकी सेवा में कीर्ति शेष भी हुए।

श्री एस रामचन्द्र शास्त्री ने सभा में साधारण प्रचारक की हैसियत से उठकर अंत में प्रधान मंत्री पद को भी सुशोभित किया। वर्षों तक कालेजों मे हिन्दी प्राध्यापक के रूप मे भी कार्य करते रहे। विश्वविद्यालय की कमिटियो में भी हिन्दी के प्रतिनिधि के रूप मे कई वर्षों तक सदस्य रहे। कालेज-हाईस्कूलो मे हिन्दी शिक्षण सबंधी बातों की जानकारी श्री शास्त्रीजी जितनी रखते थे उतनी शायद ही सभा के अन्य कार्यकर्ता रखते थे।

श्री मुत्तैय्यादास तमिलनाडु हिन्दी सभा के एक प्रचारक ही नही अपितु वे बडे देशभक्त और गाधी भक्त भी थे। उनकी सेवा और देशभक्ति के कारण उन्हें लोग 'भारत संतान मुत्तैयादास' कहा करते थे। सभा की सेवा से निवृत्त होने पर वे अधिक दिन जीवित नही रह सके।

सभा के पुराने प्रचारको में श्री ग सुब्रह्मण्यम और श्री व सु कृष्णस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं। दोनो सफल संगठक थे। तमिलनाडु में जगह-जगह पर संपन्न प्रचार व प्रचारक सम्मेलनों एव हिन्दी विशारद तथा प्रचारक विद्यालयों को चलाने के लिए स्थान का प्रबध करना, वर्ष भर के लिए विद्यालयों के छात्र-छात्राओं के भोजन, आवास और शिक्षा की निशुल्क व्यवस्था करना आदि कार्य इनके जिम्मे थे। इन कष्ट-साध्य कार्यों को मुस्तैदी के साथ वे निभा लेते थे।

इन्हींकी श्रेणी के कार्यकर्ताओं में एक श्री एस महालिंगम हैं जो वे कार्यालय संबधी सभी कार्यों से परिचित थे। अत वे सभा के प्रधान मंत्री श्री सत्यनारायणजी के दाहिने हाथ समझे जाते थे। प्रशासन कार्य की व्यस्तता के बीच में भी समय निकालकर वे सरल भाषा में लेख, कहानी और पुस्तकें भी लिखा करते थे। सभा की सेवा में ये अधिक वर्ष परीक्षा मंत्री की हैसियत से कार्य करते रहे। और परीक्षा विभाग के हर कार्य को विश्वविद्यालय के ढंग पर व्यवस्थित रूप उन्होंने दिया।

श्री देवराजनजी भी श्री महालिंगम की तरह सभा के अनन्य सेवक रहे। वे सभा के अर्थ-मंत्री रहे। उस समय अर्थ विभाग का सुन्दर ढग से संगठन किया। वे मौन सेवी थे जो हमेशा कार्यरत रहते थे और अपने विभाग के कार्य में बहुत ही कड़े रहते थे। इसलिए अर्थ मंत्री की हैसियत वे बहुत ही सफल रहे।

अन्य कार्यकर्ताओं में सभा के वर्तमान विशेषाधिकारी श्री एस. चन्द्रमौली, वर्तमान प्रधान मंत्री श्री शारंगपाणि, श्री ई. तंगप्पन, श्री पा. वेंकटाचारी, श्री आर के. नरसिंहन इस लेख के लेखक और पी नारायण आदि हैं। इनको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उपर्युक्त जितने भी सेवक-साधक हैं उनके साथ कार्य करके अपनी योग्यता और अनुभव को बढाने का अवसर मिला। अत' वर्तमान प्रतिकूल परिस्थिति में भी ये अपने बुजुर्गों का सदेश घर-घर पहुँचा रहे हैं। वैसे तो ये सब मूलत' शिक्षक हैं। चलते-चलते इनकी रुचि और अनुभव के कारण ये भिन्न-भिन्न कार्यों में लगाये गये। श्री चन्द्र-मौलीजी शिक्षक, संगठक, मंत्री आदि सभी प्रकार के काम कर चुके हैं। श्री शारंगपाणीजी संस्कृत, तमिल हिन्दी और अंग्रेजी के अच्छे जानकार हैं और संपादन कार्य में इन्होने काफी अनुभव प्राप्त किया है। इस लेख के लेखक को तमिलनाडु से बाहर भी जाकर कार्य करने का सुअवसर मिला।

श्री पी. नारायण जी को भी इस प्रकार देश के कई भागों में रहकर हिन्दी का संदेश पहुँचाने का अवसर मिला है। ये केरलवासी होते हुए भी तमिलनाडु में बहुत रह चुके हैं और विद्यालय के शिक्षक के रूप में अधिक लोकप्रिय हैं। किसी प्रकार की दलबंदी और पक्षपात में न पड़कर अपने विचारों को निर्भीकता से कहने में इनकी वाणी और भाषा इन्हें बहुत सहायता देती है।

उपर्युक्त हिन्दी-साधक स्वतंत्रता प्राप्ति को उज्वल आदर्श, लक्ष्य मानकर हिन्दी का प्रचार करते जाते थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमने आशा की कि हमारे स्वप्न साकार होंगे। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि अब भाषा के नाम पर जो वैमनस्य और द्वेष भाव उत्पन्न हुआ है वह हमारे प्रचार कार्य में घातक प्रभाव डाल रहा है। देश की एकता के लिए, साहित्यिक और सांस्कृतिक समन्वय के लिए हिन्दी की जरूरत है। इसे हिन्दी प्रचार सभा ही कर सकती है। इस के लिए भी उसे जीवित रहना है। क्या इसे देश के कर्णधार समझेंगे? राष्ट्र कवि श्री सुब्रह्मण्य भारती के स्वर में उपरोक्त साधकों की भी यही पुकार है कि "तण्णीर विट्टे वळर्तोम, सर्वेशा इप्पयिरै; करुक तिरुवुळमो" अर्थात्—हे ईश! हमने इसे पानी से सींचा और आँसू देकर इसे बढ़ाया। क्या तुम्हारी इच्छा है कि यह मुरझा जाय?

*

मैंने तहरीर के लिए वह ज़बान अख्तियार की है जो हिन्दुस्तान के तमाम सूबों की ज़बान है यानी हिन्दवी जिसे भाखा कहते हैं। क्योंकि इसे आम लोग बखूबी समझते हैं और बड़े तबके के लोग भी पसंद करते हैं।

—गार्सां द तासीं

(हिन्दी के फ्रेंच विद्वान सन् 1760)

हिन्दी भाषा की सहायता से भारत के विभिन्न प्रदेशों के बीच जो लोग ऐक्य-बंधन स्थापित कर सकेंगे वे ही सच्चे भारतबंधु नाम से अभिहित किये जाने योग्य हैं। (हिन्दी भाषार सहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये याहारा ऐक्य बंधन स्थापित करिते पारिबेन ताहाराई प्रकृत भारतबंधु नामे अभिहित हइबार योग्य—बंगला मूल)

—श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

हिन्दी का सरकारी ज़ुबान हो जाना मुसलमानों के लिए आगे चलकर बड़ी न्यामत साबित होगी। हिन्दी अदीब और शायर बनने के लिए मुसलमानों को ज्यादा से ज्यादह बारह सौ लफ़्ज़ संस्कृत से सीखने पड़ेंगे। यह कोई मुश्किल काम नहीं है। इसके अलावा हिन्दी और उर्दू में कोई फर्क नहीं है।

—"जोश" मलीहाबादी

श्री पी. नारायण
साहित्यमंत्री
द भा हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास-17

सभा की शिक्षा तथा प्रशिक्षण-पद्धति

श्री पी नारायणजी सभा के अत्यत भावुक, आदर्शनिष्ठ, सरल एव कर्मठ कार्यकर्ताओ मे से एक हैं। सभा की शिक्षादीक्षा के बाद आपने काशी विद्यापीठ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे जाकर हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त की। 'हिन्दुस्तानी सेवादल' का प्रशिक्षण प्राप्त श्री नारायणजी महात्मा गाधी के स्वातत्र्य आदोलनो मे भाग लेकर कारावास भी भोग चुके हैं। आप हिन्दी और मलयालम के प्रभावकारी लेखक, वक्ता और कवि भी हैं। अनुशासन प्रियता और नियमितता उनके व्यवहार की विशिष्टताएँ हैं। दक्षिण के कई प्रादेशिक केन्द्रो मे हिन्दी प्रचारक विद्यालय के सचालन में आपने योग दिया, कई वर्ष तक केरल के प्रचारक विद्यालयो मे प्रधानाचार्य भी रहे। आप के प्रशिक्षण-कौशल से असम, मणिपुर, उडीसा आदि सुदूर हिन्दी केन्द्र भी लाभान्वित हुए। सप्रति, आप सभा के साहित्य-मत्री हैं।

एश्या मे योरोपीय साम्राज्यवाद का सदा यह उसूल रहा है कि विजित देशो मे अपने न्यस्त हितों की स्थायी रक्षा के लिए सबसे पहले उस देश की जबान व इतिहास को मृतप्राय करके विजयी देश की भाषा और इतिहास को थोपा जाए। यह काम भारत में लार्ड मेकाले ने योजनाबद्ध रूप में अमल करने का दुस्साहस किया जिससे सिद्ध हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य का सही स्थापक मेकाले था न कि लॉर्ड क्लाइव। सन् 47 अगस्त के बाद क्लाइव की सेना भारत छोड़ने के लिए मजबूर हुई। मगर 25 सालों का युवा स्वतंत्रभारत अब भी मेकाले की शिक्षा नीति के अपस्मार से मुक्त नही हो पाया है। अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के दोष व दुष्परिणामों को भारत के राजपुरुषों के पहले ही संस्कृति-नेतृत्व ने यथासमय भाप लिया तथा सन् 1875 से ही पर-शासन की हर तरह की बाधाओ के बावजूद भारत में स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षा-विधि का समानांतर प्रयोग चल निकला। इस प्रयोग के खतरे को बखूबी समझकर ही ऐसी सस्थाओ के बीच धर्म के आधार पर फूट डालने (अलीगढ तथा हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा राजा राममोहनराय, सर सय्यद अहमद खाँ जैसे भारतीय नेताओं पर अपनी मुहर लगाने से भी ब्रिटिश-शासक बाज नही आये। मगर सर्वश्री दयानद, श्रद्धानंद, लाला हसराज, रामतीर्थ, विवेकानन्द, लोकमान्य, गोखले, चिपलूणकर, आचार्य कर्वे, रवीन्द्र, महात्मागांधी, भगवानदास, नरेन्द्रदेव, जाकिर हुसेन प्रभृतियो ने

गुरुकुलकांगड़ी, डेकान एजुकेशन सोसाइटी, वंगीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद, शांतिनिकेतन (विश्वभारती) थाकरसी भारतीय महिला विद्यापीठ, बिहार, काशी, वनस्थली व गुजरात के विद्यापीठ, वृन्दावन महाविद्यालय, जामिया मिलिया इस्लामिया, आंध्र कलाशाला, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा आदि राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं का जाल-सा बिछाकर भारतीय आत्मसत्ता की सुरक्षा का जो शानदार यत्न किया उससे स्वराज्य-सिद्धि तो हुई ही, साथ ही स्वतंत्र राष्ट्र के पुनर्गठन का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। उपरोक्त राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं के उपलक्ष्यों में भले ही तनिक वैविध्य रहा हो जैसे कुछ आर्यसमाजी थीं और कुछ स्वतंत्र शिक्षा-धर्म तथा स्त्री शिक्षा-प्रेरित थीं। अन्य कुछ राष्ट्रीय असहयोग-आन्दोलन जनित थीं। और सभा का क्षेत्र दक्षिण की मातृभाषाओं से राष्ट्रभाषा का गठबंधन का रहा। फिर भी इन शिक्षालयों में प्रवृष्ट छात्र-छात्राओं के राष्ट्रीय-संस्कार-गठन विषयक अनेक बातों में अद्भुत समता भी द्रष्टव्य है। जैसे (1) समय और शक्ति का दुरुपयोग न होने देने के लिए अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम नहीं माना (2) विद्यार्थी शिक्षक को अपने जीवन का आदर्श मानते थे। (3) शिक्षक अध्यापन को जीविकोपार्जन का साधन नहीं मानते थे। अतः पारिश्रमिक कम होने पर भी अपनी रुचि के अनुकूल मानकर शिक्षा-दान करते रहे। (4) विषयों में अंतर होने पर भी अपने देश की सच्ची हालत को छात्रों के सम्मुख रखने की कोशिश होती थी। (5) शिक्षार्थी के चरित्र पर बराबर ध्यान दिया जाता रहा। (6) अध्ययन निःशुल्क रहता था छात्रावास-जीवन कम खर्च का रहा। (7) स्वदेशीव्रत तथा सर्वधर्मी भाव को सर्वाधिक महत्व प्राप्त था। सांप्रदायिकता के प्रति घोर विरोध बरता जाता था।

उक्त राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ संख्या में भले ही सरकारी शिक्षालयों से तुल न सके परन्तु शिक्षा-व्यवस्था व फल-परिणाम की दृष्टि से सर्वाधिक अभिनन्दनीय तथा कालांतर में सरकारी शिक्षा-संस्थाओं की भी पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हुईं।

प्रस्तुत निबंध के शीर्षक से उक्त भूमिका का सांगत्य स्पष्ट है। राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास का शोध-छात्र इस सत्य का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकेगा कि मेकाले की शिक्षा प्रणाली का मुकाबला जबकि उत्तरापथ की दर्जनों राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ सम्मिलित रूप में करती रहीं तब विंध्य के इस पार दक्षिण के चारों सूबों में उपरोक्त राष्ट्रीय-शिक्षा-यज्ञ में सर्वाधिक हव्यार्पण करनेवाली अकेली संस्था 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' थी। सन् 1918 से अब तक इस महिमामयी शिक्षा संस्था ने गांधी-धर्म तथा राष्ट्र-भाषा के माध्यम से दक्षिण के लक्षलक्ष बाल-युवा-प्रौढ़ समाज में, नारी वर्ग में, जंगल-पहाड़-नदी-नालों को लांघकर, घर-घर, गलीगली दिन रात, हिमवर्षातप झेलकर घूम-भटककर सामाजिक, राजनैतिक सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा शिक्षाक्षेत्र में समन्वय और एकता का जो शंख फूँका, वैचारिक व वैकारिक विप्लव पैदा किया, रचना चेतना दी, राष्ट्रीय शिक्षा की प्रभावकारी भूमिका बाँधी, विचित्र विडंबना ही कहिये कि बंधन-मुक्त भारत में उस महानिधि का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है। खैर,

यद्यपि गांधीजी के पूर्व, भारत में गणनीय राष्ट्रनेता, समाज और शिक्षा-सुधारक प्रकट हो चुके थे, कांग्रेस भी गतिशील थी फिर भी अन्ततोगत्वा गांधीजी ही राष्ट्रपिता कहलाए। कारण स्पष्ट है। भारत की सांस्कृतिक परंपरा की परख करते हुए राष्ट्र के दशमुखी पतन में बहुमुखी उत्थान, स्वयं भरके, स्वयं जीकर गांधीजी

ही भर सके थे। राष्ट्रीय शिक्षा का सारथ्य भी उन्होने स्वीकारा और विविध प्रदेशो के विद्यापीठों के भी वे सस्थापक रहे। दक्षिण भारत में हिन्दी शिक्षा-प्रसार भी उनकी राष्ट्रीय शिक्षा योजना का विशिष्ट अंग बनकर प्रकट हुआ। वैसे तो सभा अपनी बहुस्तरीय परीक्षाओं तथा पाठ्यपुस्तक-प्रकाशनो के माध्यम से हिन्दी शिक्षा-सदेश दक्षिण मे ही नही अपितु अहिन्दी भारत भर मे पहुँचाती रही मगर सभा का सर्वाधिक ठोस कार्य रहा योग्य कार्यकर्ताओ के प्रशिक्षण-हेतु विद्यालय-व्यवस्था करना। इस मामले मे गाधीजी विशेष सजग थे और उनकी मान्यता के मुताबिक ही इन विद्यालयो के स्नातक, हिन्दी शिक्षक, हिन्दी प्रचारक, हिन्दी भिक्षु अथवा हिन्दी मिशनरी भी कहलाये।

गाधीजी की नजर मे शिक्षक आजादी का सिपाही, रचनात्मक कार्यकर्ता तथा गाधीय आदर्शों के सेवा-नेतृत्व का प्रतीक था। विश्व के जन विप्लव के इतिहास में विद्रोही जन समूह को आगे ठेलनेवाले नेता, हथियारबद सेना को समरागण में झोंकनेवाले सेनापति बहुतायत से मिलते हैं। मगर उत्तम समाज-गठन के लिए उत्तम व्यक्तित्व-रचना पर अटल विश्वास रखकर व्यक्ति के आजीवन प्रशिक्षण के लिए आश्रमों और विद्यापीठों को देश व्यापक महत्व देनेवाले जननायक गाधी अन्यत्र दुर्लभ हैं। किसी भी दिशा अथवा क्षेत्र मे कार्यक्षम बनने की गाधीय प्रशिक्षण व्यवस्था दक्षिण आफ्रिका के "फिनिक्स आश्रम" से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विद्यालयों तक कायम रही।

प्रचारक तत्व:—हिन्दी प्रचारक का क्षेत्र पाठशाला का तग कमरा मात्र नहीं है। वस्तुतः उसकी कर्मभूमि प्रौढ समाज है। महल से झोपडी तक, विवाह-मण्डप से स्मशान तक उसका रंगस्थल है। स्वतंत्र भारत में भी अहिन्दी प्रदेशों के बच्चों को ही आज भी स्कूल के वर्गों मे हिन्दी शिक्षा की सुविधा प्राप्त है। अहिन्दी भारत की समूची शिक्षित व अशिक्षित प्रौढ आबादी हिन्दी-शिक्षा प्रचारक से ही पा सकती है। यह काम न तो हल्का है और न सरकार द्वारा ही सपन्न हो सकनेवाला है। इसके अलावा हिन्दी, हिन्दी भारत को भाले ही महज भाषा प्रतीत हो मगर अहिन्दी भारत में हिन्दी-गंगा का अवतरण राष्ट्रीय भावना तथा समन्वय-चेतना के रूप मे हुआ था। अत हिन्दी प्रचारक के व्यक्तित्व गठन में सार्वजनिक सर्वोदय कार्यकर्ता के विशिष्ट गुण निहित होने होंगे। गांधीजी के अठारहो कार्यक्रमो तथा विनोबा के ग्यारह व्रतों के प्रति उसमें निष्ठा अनिवार्य होगी। उसके विचार उच्च होंगे और जीवन सादा व प्रलोभ रहित। व्यवहार और सगठन-कौशल उसके साधन होंगे, समाज के विविध स्तरों में प्रवेश करके, विविध वाद-विवादो के टट्टर-टक्कर से बचकर समरस भावेन अपने हिन्दी-मिशन को लोकरजक बनाना प्रचारक-धर्म है। सभा, जलसा, पर्व, उत्सव, नाटक, नृत्य, वाद्य-संगीत आदि प्रचार के अनिवार्य उपकरणो का अवसरोचित उपयोग करते हुए वह अपने केन्द्र का ऐसा आपरित्याज्य अग माना जायगा कि उच्चस्तरीय नागरिक उसकी विनीत कार्यकुशलता पर मुग्ध होंगे, मध्यश्रेणी पर उसकी सर्वतोमुखी सगठन-शक्ति व सामान्य ज्ञान की धाक जमेगी। वर्ज्य और श्रमिक वर्ग का वह विश्वस्त सहारा माना जायगा। किसी भी प्रकार के उत्सव मे, जन-सपर्क मूलक हर योजना मे उसकी उपस्थिति, निष्पक्षवाणी उपादेय मानी जायगी। काम वह अथक श्रम से करेगा मगर श्रेय से दूर भागेगा। उसे जनता से विश्वस्त नेतृत्व का निमत्रण

मिलेगा। मगर वह ओहदा, पदवी, अभिनन्दन की पकड़ से बचकर पिछली कतार का सदा सेवक रहेगा। उसकी सादगी पर वैभव कुरबान होगा। राष्ट्र की बड़ी से बड़ी हस्तियाँ भी उसकी छोटी-सी सभा में आने तथा उसके हाथ की सूत-माला पहनने के लिए अपने व्यस्त कार्यक्रम में भी समय निकालना चाहेंगी। उसका नाम हिन्दी होगा, धाम हिन्दी होगा, उसकी गली हिन्दी होगी। उसकी डाक के पते में "हिन्दी प्रचारक" ही पर्याप्त है। अपने दारिद्रय से अनजान उस हिन्दी प्रचारक का सेवा-वैभव सर्वत्र अपनी भव्यता से आपूरित रहेगा। ऐसे प्रचारक की हिन्दी दक्षिण में ब्रिटिश सरकार की नजर में विद्रोहिणी ठहरायी गयी और इसी अपराध में हिन्दी प्रचारकों को कारावास का दण्ड भी भुगतना पड़ा। मगर इन राष्ट्रीय शिक्षकों ने सुन्दर मौका मानकर जेलों के अन्दर भी हिन्दी प्रचार का विद्रोह जारी रखा जिसकी वजह से ये प्रचारक दक्षिण के श्रेष्ठ राजपुरुषों, स्वतंत्र भारत के मंत्रियों और राज्यपालों के "हिन्दी गुरु" भी कहलाये।

शिक्षक तत्व :—चूंकि प्रचारक का बुनियादी कर्तृत्व शिक्षा-दान है अत: अपने विषय की पूरी लियाकत और उसे परोसने की कला हासिल करना हिन्दी प्रचारक का शिक्षक-धर्म है। शिक्षा के मूल सिद्धान्तों के साथ अहिन्दी प्रदेश में हिन्दी अध्ययन की सफलता के लिए हिन्दी तथा प्रदेश भाषाओं की व्याकरण, वाक्य रचना मूलक तारतम्य दृष्टि रखनी होगी। अलावा इसके हिन्दी अध्यापन राष्ट्रीय शिक्षा होने के कारण अपने राष्ट्र की ऐतिहासिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक गतिविधियों का ज्ञान भी उपादेय होगा। साथ ही अपने युग के विश्वजीवन का सामान्य ज्ञान भी उसके लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है।

सभा की शिक्षा, व पाठ्यक्रम में बड़ी सावधानी के साथ उक्त दोनों तत्वों को गुंफित रखा गया है और सभा के विद्यालय उक्त तत्वों की उत्तम प्रयोगशाला रहे हैं। अपने हर आन्दोलन अथवा संस्था-स्थापना के मूल में चूंकि गांधीजी कार्यकर्ता की पूर्णता को सदा महत्व देते रहे हैं अत: दक्षिण के हिन्दी विद्यालयों को प्रारंभ से ही योग्य आचार्यों का निरीक्षण प्राप्त रहा। इन विद्यालयों के प्रति गांधीजी की दिलचस्पी इतनी गहरी थी कि उन्होंने अपने 'हरिजन' साप्ताहिक में भी आवश्यक निर्देश सुझाये थे।

पहले ही उल्लेख हुआ है कि राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतंत्रता-संग्राम के साधन के रूप में गांधीजी के नेतृत्व में हिन्दी का प्रवेश हुआ था। अत: हर श्रेणी की जनता में और नहीं तो कम से कम हिन्दी पढ़कर राष्ट्र सेवा करने की उमंग भरी हुई थी। उस समय चूंकि स्कूली पाठ्यक्रम में हिन्दी निषिद्ध बनी हुई थी इसलिए खानगी तौर पर, विविध संघ-समिति अथवा क्लबों में ही हिन्दी-पढ़ाई संभव थी। इन वर्गों में बच्चे-प्रौढ़, वकील, डाक्टर, व्यवसायी आदियों की मिश्रित भीड़ होती थी। शिक्षण सिद्धान्त के अनुसार के वर्गीकरण, पाठन-पद्धति आदि की गुंजाइश कम होती थी। फिर भी ऐसी कक्षाओं का नजारा भी कम अद्भुतकारी नहीं था। एक परिवार की तीन चार पीढ़ियाँ (दादा, माँ, बेटी, पोता) एक ही परीक्षा की तैयारी इन वर्गों से करती थीं, प्रमाण-पत्र वितरणोत्सव में भाग लेती थीं। अत: प्रारंभ काल में सभा के वर्गों के अध्यापन के लिए उच्चारण व्याकरण-शुद्धि के साथ साहित्यिक योग्यता ही पर्याप्त मानी गयी थी। कालांतर में हिन्दी शिक्षा की व्याप्ति के साथ हिन्दी प्रचारकों के पढ़ाई संबन्धी अनुभवों के आधार पर बच्चों और प्रौढ़ों के लिए भिन्न स्तर की पुस्तकें सभा

प्रकाशित करने लगी। जब सन् 1936 के बाद दक्षिण की स्कूलों में हिन्दी का प्रवेश होने लगा और सरकार की तरफ से प्रशिक्षित शिक्षकों की मांग होने लगी तो सभा के शिक्षाक्रम में प्रशिक्षण का भी महत्व बढ़ता गया तथा सभा के अनुभवी शिक्षक कार्यकर्त्ताओं द्वारा शिक्षण कला, मातृभाषा और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण जैसी पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। कालांतर मे अहिन्दी भाषियों के लिए निर्मित सभा का हिन्दी प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम इतना लोकप्रिय हुआ कि इसे पूर्व और पश्चिम भारत की हिन्दी संस्थाओं ने ही नहीं अपितु अहिन्दी प्रदेशों के लिए निर्मित केन्द्र सरकार के हिन्दी प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम ने भी आदर्श मानकर स्वीकारा।

सभा के शिक्षा-परीक्षा-पाठ्यक्रम के क्रमिक अध्ययन से ज्ञात होगा कि दक्षिण की अपढ़ प्रौढ़ आबादी को इतने बड़े पैमाने पर सभा ने ही साक्षर किया और ज्ञान-पिपासा भर दी। खर्चीली स्कूल, कालेजी शिक्षा पाने में असमर्थ लक्ष लक्ष गरीब किशोरों को अंग्रेजी कम, पूर्ण शिक्षा सुलभ कर दी। सभा का शिक्षा-संबल पाकर ही घर की तंग दीवारों में बंद दक्षिण के नारी-वर्ग को अपने व्यक्तित्व-विकास का सुनहला मौका प्राप्त हुआ और इस मौके का पूरा लाभ भी पुरुषों से अधिक स्त्रियां ही उठा सकी हैं। सभा के शिक्षा क्रम ने अंग्रेजी के मोह में मातृभाषा को भूलनेवालों मे स्वभाषा-प्रेम भरा तथा भारतीय भाषाओं के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन व साहित्यानुशीलन की नींव डाली। कालांतर में दक्षिण के इन्हीं उद्बुद्ध हिन्दी प्रचारक-लेखकों ने दक्षिणी साहित्य को भी प्रभावित किया तथा अनुवाद प्रक्रिया द्वारा दक्षिण के प्रगल्भ कलाकारों की भाषा-प्रदेश बद्ध कीर्ति को राष्ट्र व्यापक बनाया।

पर शासन कालीन प्रारंभिक कक्षा की एक अदनी पुस्तिका के पन्नों में भी बरतानिया-जाति की वरिष्ठता परिलक्षित होती थी। सभा की निर्भय शिक्षा साधना ही विदेशी सरकार के गढ़ दक्षिण के अंग्रेजी दम्भ को विचलित कर सकी। सभा की प्रारंभिक पुस्तक खोलते ही दक्षिण का किशोर, राम और रहीम, सीता-रशीदा के वार्तालाप का (कौमी एकता) सचित्र पाठ पाता है। अपने प्रदेश के परिचित वातावरण, परिचित संत, वीरों की जीवन-कथा सरल हिन्दी-वाक्यों में सहजता से ग्रहण करता हुआ अपनत्व का अनुभव करता है। उसके कंठ मे चढ़ बैठती हैं "रुको नहीं झुको नहीं, बढ़े चलो, बढ़े चलो" की पंक्तियां। इस क्रम से उच्चतर पर आते-आते उसे हिन्दी की विधा-शैलियों के साथ मातृभाषा तथा सामान्य ज्ञान के विविध विषयों को अनिवार्य अध्ययन-सुविधायें प्राप्त होती हैं। यो कम खर्च तथा कम समय में हाज़िरी-बन्धन बिना राष्ट्रीय-हिन्दी शिक्षक की छाया में वह पूर्ण शिक्षित नागरिक बनता है। सभा के शिक्षा-क्रम में खड़ी बोली,[1] उर्दू, अवधी, ब्रजभाषा साहित्य सहित दक्षिणी भाषा-साहित्य के उच्च-स्तरीय अध्ययन के साथ हिन्दी माध्यम से इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नागरिक शास्त्र, शासनविधान, भाषा विज्ञान आदि विषयक स्नातक स्तरीय पाठ्यक्रम को भी स्थान प्राप्त था। यहां तक कि राष्ट्रीय गीतों के साथ कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत-शैलियों की जानकारी भी अनिवार्य मानी गयी थी। सन् 1964 में सभा को प्राप्त विधेयक के अनुसार अब स्नातकोत्तर तथा अनुसंधान पक्ष को भी शिक्षाक्रम मे विधिवत् सम्मिलित किया गया है।

प्रशिक्षण-विकास :—सभा की प्रारंभिक परीक्षाएँ जब दक्षिण के स्कूली छात्रों में विशेष लोकप्रिय होने लगी तो स्कूलो मे हिन्दी प्रवेश पर अनुकूल

दबाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः 1930 से सभा का ध्यान स्कूली शिक्षा के लिए हिन्दी प्रशिक्षण व्यवस्था की ओर उन्मुख हुआ। पहले सभा की उपाधि परीक्षा विशारद, फिर प्रवीण के साहित्य खण्डों के साथ अल्पकालिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम जोड़ा गया। 1935 के बाद कांग्रेस मंत्रिमंडल के चालू होने पर स्कूलों में हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा पर जब तत्कालीन मुख्यमंत्री राजाजी ने बल दिया (स्वराज्य पूर्व सारा दक्षिण, शासन की एक इकाई के अंतर्गत था) तो सभा ने प्रशिक्षण सम्बन्धी सभी विषयों को अपना कर विधिवत् वर्ष भर का पाठ्यक्रम बनाया जो आज भी सरकारी हिन्दी प्रशिक्षण व्यवस्था की बनिस्बत पूर्ण व प्रगतिशील है। सभा के प्रशिक्षण विकास का मूलमंत्र रहा है "सार सार को गहि रहे।" तदनुसार प्रशिक्षण मूलक नूतन प्रयोग आज भी चालू है जिसका अधुनातन मिसाल है सभा का वर्तमान हिन्दी प्रचारक/बी.एड. प्रशिक्षण पाठ्यक्रम।

सभा के शिक्षालय:—चारों दक्षिणी सूबों में सभा के विविध स्तर के विद्यालयों का इतिहास भी कम रोचक नहीं है। सही उच्चारण तथा मुहावरेदार वाक्य शैली आदि की जानकारी की दृष्टि से सभा के प्रारंभकालीन शिक्षालयों में उत्तर प्रदेश, बिहार आदि हिन्दी प्रदेशीय शिक्षकों की नियुक्ति विशेष महत्वपूर्ण रही। अहिन्दी भारत के लिए यह भी गौरव का विषय है कि दक्षिण में पहला हिन्दी वर्ग एक अहिन्दी भाषी ने (गांधीजी के कनिष्ठ पुत्र देवदास गांधी) लिया था। जब हिन्दी भाषी शिक्षकों का दक्षिण में आगमन हो रहा था इसी दौरान में दक्षिणी युवक युवतियों की हिन्दी-शिक्षा का प्रबंध उत्तर के विविध केन्द्रों में भी होता रहा। देखने में साधारण लगने पर भी सभा के हिन्दी वर्गों में, शिक्षालयों के उद्घाटन समारोह में भारत के उच्चकोटि के नेता व शिक्षाविदों की उपस्थिति इन वर्गों की दूर व्यापक अहमियत की गवाही देती थी। 1924 में जब केन्द्रीय विद्यालय मद्रास में खोला गया तो उसमें दक्षिण के चारों भाषाई छात्रों को प्रवेश दिया गया और यह मिश्रित आदर्श कालांतर में अन्य सूबों के विद्यालयों में भी जारी रहा। इन पंचामृत-शिक्षालयों (मलयालम, तेलुगु, कन्नड़, तमिल और हिन्दी) में आगत देश-विदेशों के नेता, शिक्षक तथा साहित्यिक-संदर्शकों के मुग्ध उद्गार रहे—"बढ़िया कार्य! बिना इसके देश में एकता नहीं आ सकती है—(डॉ. एस. एन. हर्डिकर)

सभा के इन शिक्षालयों में छात्रावास की अनिवार्यता के कारण सुगठित, अनुशासित दिनचर्या तथा स्वावलंबी जीवन-कला का सुनहला वातावरण कायम रहा। इन विद्यालयों में गुरुजन भी शिक्षार्थियों के साथ ही रहते थे। गुरु-शिष्यों का शिक्षा-संपर्क इतना गहरा था कि कक्षा सूर्य-प्रकाश में चलती थी और रात की चाँदनी में भी। सभा के शिक्षालय व छात्रवास में जहाँ किसी उपासना-गृह की पावनता विराजमान रहती थी वहाँ जीवन-रस का चतुर्मुखी स्रोत भी बहता था। स्वावलंबन-व्रत इस कदर पक्का था कि पकाना-परोसना, बर्तन मांजना, पाखाने की सफाई और बागबानी भी गुरु-शिष्य मिलकर करते थे। धोबी को कपड़ा देना जातिभाव का द्योतक माना जाता था। थोड़े में संत विनोबा के ग्यारहों व्रतों का निष्ठा से पालन किया जाता रहा। भोजनालय में एकत्रित विविध जाति-धर्म-भाषा प्रदेशीय मजमा कबीर तुलसी और रहीम के दोहापाठ के साथ विविध प्रदेशीय व्यंजनों का भी आस्वादन करता था। प्रातः सांध्य-प्रार्थनाओं के गीतों के भाव, कहना मुश्किल है कि, ईश्वभक्ति-प्रधान होते थे या देश-भक्ति-प्रधान। इस संबंध में

डॉ० पी. के. केशवन नायर के उद्गार उल्लेखनीय हैं जो 1924 में इस शिक्षालय के छात्र रहे हैं— "मकान किराये का था। छात्रावास भी उसीमे था। सुविधा बहुत कम थी। क्लास में बेंच, डेस्क, कुर्सी-मेज़ आदि उपकरण नहीं थे। चटाई बिछाकर उसी पर बैठकर हम लोग अध्ययन करते थे। अध्यापक भी पढ़ाते समय आसन बिछाकर एक छोटी डेस्क सामने रखे बैठते थे। अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रभाव-पूर्ण वातावरण मे, मद्रास जैसे बड़े शहर मे वह छोटा-सा विद्यालय निम्नकोटि का माना जा सकता है। लेकिन हमारे लिए वह "तक्षशिला गुरुकुल" था। 1932 के एक ऐसे ही शिक्षालय के अन्तेवासी तथा उपरोक्त गुरुशिष्य-संपर्क के पावन तीर्थ में पर्वस्नात स्नातक की हैसियत से इस निबंध के लेखक का भी अतर्क्य मत है उन 'गुरुकुलों' के जीवन-साधक कुलगुरुओ के शिक्षा-संस्कार के मुकाबले में आज के प्रोफसरों का निष्क्रिय पोथी-ज्ञान कितना थोथा और बेजान है। कहना न होगा कि सभा की शिक्षा व प्रशिक्षण व्यवस्था ने हज़ारों स्नातक व प्रशिक्षकों को आकर्षित किया। गैर सरकारी क्षेत्र मे सभा का यह कार्य सरकारी कॉलेजों को भी लज्जित करनेवाला सिद्ध हुआ। सरकारी शिक्षालयों के बी ए, एल.टी, बी.टी. अथवा बी-एड, जब गुलाम शिक्षा का तमगा लगाये अपनी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा को भूलकर पर-भाषा, पर-भूषा, पर-साहित्य और पर-संस्कार ढोये, राष्ट्र के तत्कालीन इंकलाबी माहौल से नादान बने, महज़ रोज़ी की तमन्ना लिए स्वदेश मे भी परदेसी-सा जीवन यापन करते थे तब सभा के राष्ट्रीय शिक्षक-स्नातक स्वदेशी चेतना से भरपूर सत्याग्रही बनकर राष्ट्र की बन्धन-मुक्ति के लिए पर-सत्ता के कारागारों का बंधन भी स्वीकार करते रहे नौकरी या आमदनी की चिन्ता-बिना, जनता में राष्ट्रीय-शिक्षा-संस्कार भरते रहे, गांधी व कांग्रेस के समस्त आदर्शों के संदेश-वाहक बने अहर्निश वैचारिक विप्लव-सृजन मे निरत रहते थे। भाषा, जाति, धर्म उत्तर-दक्षिण-भेद माने बिना सारे देश का भ्रमण-दर्शन तथा मातृभाषा और हिन्दी में साहित्यिक आदान-प्रदान—ये सारे महत् कार्य इन्हीं स्नातकों से बन पड़े थे। जब भी ज़रूरत पड़ी, सभा के स्नातक-प्रशिक्षकों ने अंग्रेज़ी स्वयं सीखी। मगर अंग्रेज़ी स्नातकों को हिन्दी के लिए सभा के स्नातकों की सदा शरण लेनी पड़ी और हिन्दी के साथ अपने जीवन के प्रति एक नूतन दृष्टि भी हासिल होती रही।

स्वतंत्र राष्ट्र मे सभा की शिक्षा व प्रशिक्षण का मूल्यांकन '—राष्ट्रपिता द्वारा मज़बूत यह सभा छोटे बीज के समान फूटकर ज़माने के आंधी, तूफानों पर हावी होकर, अपने ही बल पर पल-बढ़कर सारे दक्षिण को ही नहीं, अपितु संपूर्ण अहिन्दी भारत को भी छायादान करने लायक बनी। उसके शिक्षालयों के हज़ार हज़ार स्नातकों ने समूचे दक्षिण की रचना-चेतना का नेतृत्व किया, राष्ट्रीय शिक्षा की नींव डाली, अहिन्दी भारत मे राज-भाषा-यज्ञ निर्विघ्न रूप से संपन्न किया। विश्व-राष्ट्रों की मुक्ति के इतिहास में देखा जाता है मुक्ति में सहायक जन-संस्थाएँ ही स्वतंत्र शासन की प्राण नाड़ियाँ बनती हैं। *मगर स्वतंत्र भारत में तो ऐसी संस्थाओं का योजनाबद्ध तेजोवध* चालू है। दिल्ली राष्ट्र की रीढ़ मानी जाती है। मगर विघटनकारी तत्वों से भय खाकर आज वह पवित्र संविधान का पातिव्रत्य भंग भी (संशोधन) जायज़ मान बैठी है। सभा की शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्रणाली भी अपनी जन-संजीविनी मौलिकता खोकर पराभव कालीन शिक्षा-क्रम की नकल करने के लिए विवश की जा रही है। अहिन्दी भारत की करोड़ों जनता का सांस्कृतिक नेतृत्व करनेवाली सभा की महान ऐतिहासिक विरासत का यह अवमूल्यन स्वतंत्र भारत का दुर्भाग्यपूर्ण दृष्टि-दोष माना जायगा।

श्री शा. रा. शारंगपाणि, एम.ए.,
प्रधान मंत्री,
द. भा. हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास-17.

भारत के राष्ट्रीय नवोत्थान में प्रादेशिक भाषाओं का योगदान

राष्ट्रपिता के आह्वान पर परतंत्र भारत की मुक्ति का विशिष्ट रचनात्मक साधन मानकर हिन्दी सेवा-क्षेत्र में आपका आना हुआ। सतत अध्यवसाय व लगन के बल पर सभा के स्थायी प्रचारक की हैसियत से संस्था की विविधमुखी सेवा करते हुए संप्रति आप सभा के उच्चतम प्रधान-मंत्री-पद का दायित्व संभाल रहे हैं। उक्त पद तथा हिन्दी-प्रचारक-भावना के प्रति आपकी सुधीर निष्ठा ऐतिहासिक महत्व रखती है जिसे आपके सहयोगी सर्वथा अनुकरणीय भी मानते हैं। पत्रकारिता आपका प्रियंकर विषय है। उसके माध्यम से आप अपनी मातृभाषा तमिल तथा हिन्दी में तर्कनिष्ठ भाषण-कला और गल्प, निबंध तथा समीक्षा मूलक लेखन-कला को भी प्रस्फुटित कर सके हैं। संस्कृत तथा संगीत के प्रति भी आपका सांस्कृतिक रुझान है। प्रस्तुत "स्वर्णजयंती-ग्रंथ" के संपादन में भी आपकी धवल-केशी प्रगल्भता स्वयंसिद्ध है।

जैसे इतिहास राजनीति को बनाता है वैसे राजनीति भी इतिहास को बनाती है; और दोनों को ही बनानेवाला जनमत होता है। पारस्परिक प्रभावों की इसी क्रिया-प्रक्रिया-प्रतिक्रिया की अटूट शृंखला की कड़ियाँ मात्र हैं राष्ट्रीय उत्थान, पतन और नवोत्थान। विचारों के आघात-प्रतिघात से उद्भूत चक्रक्रम की निरंतर गति में सामाजिक मूल्य, मापदण्ड और मान्यताएँ बदलती रहती हैं, चिरस्थायी होकर रह नहीं पातीं। सापेक्ष दृष्टि से किसीका सर्वाधिक महत्व होता है, तो वह है केवल जनमत का। जनमत को प्रभावित कर अनुकूल बनाने का सर्वोत्तम साधन है जनभाषा। यही कारण है कि संसार के सभी नेताओं और दार्शनिकों ने अपने विचार-प्रचार के लिए जनभाषाओं का सहारा लिया है।

भारत में भी प्राचीन काल से लेकर यद्यपि गंभीर शास्त्रार्थ और सिद्धांत-निरूपण का कार्य साधारणतया संस्कृत में चलता था, तथापि जन-संपर्क और प्रचार के लिए उत्तर में पाली, अपभ्रंश आदि से और दक्षिण में द्राविड भाषाओं से ही काम लिया जाता था। बौद्ध युग में पाली का और

मध्यम युग में अपभ्रंशों और बोलियों का प्रयोग यही प्रमाणित करता है। दक्षिण के विख्यात धर्माचार्यों के समय में और बाद भी धर्म-प्रचार और जन-संपर्क के लिए प्रादेशिक भाषाओं से ही काम लिया गया। यही कारण है कि मुगल काल में शासकों की भाषा से भिन्न होने पर भी अवधि में लिखा 'रामचरित-मानस" ही सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य रहा। बाद, ईस्ट इंडिया कंपनीवालों ने भारत में अपनी प्रशासनिक सुविधा और व्यापारिक सफलता के लिए ईसाई धर्मप्रचार द्वारा अनुकूल वातावरण तैयार करना चाहा, तो उनको भी प्रादेशिक भाषाओं का सहारा लेकर ही आगे बढ़ना पड़ा। विदित है कि करीब इसी तरह से हिन्दी का खड़ीबोली गद्य युग भी शुरू हुआ।

लेकिन ब्रिटिश शासन काल में शासकवर्ग ने सोचा कि भारत में अंग्रेजी शासन की स्थिरता एवं सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि देश में अंग्रेजी भाषा का व्यवहार ही नहीं, आधिपत्य भी हो। इसलिए उन्होंने देश के सभी मामलों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी के व्यवहार को प्रोत्साहित किया। मेकाले ने इसके लिए संगठित योजनाएँ बनायीं। शिक्षण संस्थाओं में, न्यायालयों में, सरकारी कार्यालयों में, सर्वत्र ही अंग्रेजी का आधिपत्य होने लगा। शिक्षित वर्ग का सांस्कृतिक झुकाव भी अंग्रेजी भाषा साहित्य, समाज और संस्कृति पर आधारित होने लगा। अपनी देशी भाषाओं और संस्कृति से अपरिचित या अल्प परिचित होने के कारण शिक्षितों में अपनी देशी भाषा और संस्कृति के प्रति उपेक्षा-भाव और अंग्रेजी भाषा और संस्कृति के प्रति आदर-भाव बढ़ने लगा। धीरे धीरे प्रचार की गति यहाँ तक बढ़ गयी कि विदेशी शासक ही नहीं, उनके स्वदेशी समर्थक भी यह दावा करने लग गये कि साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में अंग्रेजी और अंग्रेजों की बराबरी करना भारत के लिए असंभव है और इसलिए भारत का कल्याण इसीमें है कि भारतीय जनता जी जान से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर उससे अधिकाधिक लाभ उठाए।

भारतीय मनीषी और देशभक्त उपर्युक्त दावे को एक चुनौती समझने लगे और प्रतिक्रिया के रूप में देश में स्वदेशी, स्वराज्य, स्वभाषा और स्वसंस्कृति का एक जबरदस्त आंदोलन शुरू हुआ। महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द, राजा राममोहन राय, केशबचंद्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, शरच्चन्द्र चटर्जी आदि विभूतियों ने अपनी प्रबल वाणी और लेखनी से भारतीय नवोत्थान के इस आंदोलन को बहुत बल देकर आगे बढ़ाया।

आरंभ में, नवोत्थान का यह आंदोलन धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। देश की धार्मिक महत्ता और मान्यताओं को समझाने के लिए वाणी और लेखनी का सहारा लिया गया। महर्षि दयानंद ने आर्यसमाज का सिद्धांत-ग्रंथ "सत्यार्थ-प्रकाश" हिन्दी में लिखा, जिसका आशातीत प्रचार होने लगा। रामकृष्ण परमहंस ने अपने साधना-समन्वय के तत्वों को सुबोध रीति से सरल कहानियों द्वारा समझाने के लिए बंगला का सहारा लिया। नरसी मेहता, तुकाराम आदि ने अपने भक्ति-मार्गों के प्रचार के लिए गुजराती और मराठी का सहारा लिया। उत्तर और दक्षिण के सनातनी भक्त और संत पहले ही से अपने धार्मिक प्रवचनों के लिए प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का सहारा लेते थे। इन भाषाओं में सर्वत्र ही भक्ति-विषयक तथा धर्म-विवेचनात्मक अनेक ग्रंथ रचे गये।

साहित्यिक क्षेत्र को इसी प्रकार बंकिम बाबू, शरत बाबू, रवीन्द्र बाबू आदि धुरंधरों ने उपन्यास, कहानी, नाटक, काव्य आदि बंगला-रत्नों से खूब विभूषित किया। रवीन्द्र बाबू की "गीतांजलि" पर तो नोबल पुरस्कार भी दिया गया। बंगला-साहित्य की इस नवोन्नति की देखादेखी अन्य प्रांतों में भी साहित्यिक नवोत्थान का संगठित प्रयत्न होने लगा। सभी प्रादेशिक भाषाओं में नयी शैली और नयी विधा की हज़ारों रचनाएँ नवभारत की नवचेतना को अभिव्यक्त करने लगीं। इस दिशा में मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के प्रतिभावान लेखकों ने महत्वपूर्ण काम किया है। फलस्वरूप, आज सभी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक संपत्ति यथेष्ट मात्रा में बढ़ गयी है।

नवोत्थान के इस देशव्यापी आंदोलन में देश की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित रचनात्मक कार्यक्रम और स्वतंत्रता-आंदोलन ने इस महायज्ञ में काफ़ी ईंधन चढ़ा दिया। परिणामस्वरूप, देश में अभूतपूर्व राष्ट्रीय चेतना दावानल की तरह भभक उठी। देशभक्त पत्र-पत्रिकाओं ने उसे प्रज्वलित रखने में भरपूर योग दिया। इसके परोक्ष प्रयोजन के रूप में प्रादेशिक भाषाओं की बहुत श्रीवृद्धि होने लगी। पंजाब में लाला लाजपतराय, महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक, आंध्र में नागेश्वरराव पंतुलु तथा प्रकाशम पंतुलु, तमिलनाडु में राजाजी, रंगस्वामी अय्यंगार, चोक्कलिंगम तथा कल्कि कृष्णमूर्ति, केरल में के. पी. केशव मेनोन तथा दामोदर मेनोन, कर्नाटक में गंगाधर राव देशपांडे तथा आर. आर. दिवाकर अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में समाज-सुधार, राजनैतिक स्वतंत्रता और नवचेतना-संबंधी प्रभावकारी लेखों और भाषणों से जनता को नवोत्थान के पथ पर आगे बढ़ाते रहे। इस दृष्टि से बंगला की 'आनंद बज़ार पत्रिका', उड़ीया के 'युगांतर', पंजाबी के 'पंजाब केसरी', हिन्दी के 'आज', 'भारत', 'प्रताप', 'हिन्दुस्तान', 'नवजीवन' व 'हरिजनसेवक', उर्दू के 'इमरोज़' व 'अल हिलाल', गुजराती के 'वन्दे मातरम' व 'हरिजनबंधु', मराठी के 'केसरी', तमिल के 'स्वदेश मित्रन', 'दिनमणि', 'तमिळ-नाडु', 'विमोचनम' व 'आनंद विकटन', तेलुगु के 'स्वराज्य', 'आंध्र पत्रिका', व 'आंध्र प्रभा', कन्नड़ के 'तायनाडु', मलयालम के 'मातृभूमि' व 'मनोरमा' इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं की सेवाएँ अविस्मरणीय रहेंगी।

जब लाजपतराय, तिलक, मालवीयजी, महात्मा गांधी, राजाजी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस, सत्यमूर्ति, प्रकाशम, पट्टाभि जैसे नेताओं के भाषण प्रादेशिक भाषाओं में मूल में या अनूदित रूप में छपते थे, यह कहना मुश्किल होता था कि उनका साहित्यिक महत्व अधिक है या राजनैतिक महत्व। हिन्दी के मैथिलीशरण और दिनकर, तमिल के भारती और नामक्कल रामलिंगम पिल्लै, मलयालम के वळ्ळत्तोल और शंकर कुरुप जैसे प्रत्येक प्रादेशिक भाषा के प्रतिभावान कवियों ने राष्ट्रीय नवोत्थान के भावों को सुंदर काव्य-रूप देकर उन भाषाओं को यथेष्ट मात्रा में समृद्ध किया है।

कला के क्षेत्र में भी यह नवचेतना प्रतिबिंबित होने लगी। नृत्य, संगीत, नाटक, चित्र आदि सभी क्षेत्रों में यह नवचेतना अभिव्यक्त होने लगी, तो प्रादेशिक भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में भी उसकी खूब चर्चा होने लगी। इससे उन कलाओं के विकास में बहुत सहायता होने लगी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस नवचेतना को स्थायी रूप से प्रगति के पथ पर गतिशील रखने के

लिए कई कदम उठाये गये हैं। साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, ललितकला अकादमी, भारतीय ज्ञानपीठ आकाशवाणी आदि के पुरस्कार-विजेताओं की विस्तृत सूचियों को देखने से पता चलता है कि नवोत्थान के बाद अब देश में प्रादेशिक भाषाओं, उनके साहित्यों, साहित्यिकों, कलाकारों आदि की कितनी बड़ी प्रगति हुई है।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रादेशिक भाषाएँ शिक्षा-माध्यम हो गयी हैं। यही नहीं, अनेक प्रदेशों में प्रादेशिक भाषाएँ शासन माध्यम भी हो गयी हैं। यद्यपि अब तक न्यायालयों में उनको समुचित स्थान नहीं मिला है, तथापि आशा कर सकते हैं कि निकट भविष्य में ही वह भी मिल जाएगा।

प्रादेशिक भाषाओं के प्रश्न को राष्ट्रभाषा के प्रश्न से अलग करके देखना ठीक नहीं। राष्ट्रीय चेतना के पूर्ण विकास के लिए राष्ट्रभाषा के साथ प्रादेशिक भाषा का भी पर्याप्त ज्ञान रखना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाओं में हिन्दी के साथ किसी प्रादेशिक भाषा के ज्ञान पर भी जोर दिया जाता है।

आज की इस प्रबुद्ध दशा में कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि भारतीय भाषाएँ विकसित नहीं हैं और अंग्रेजी का पल्ला छोड़ें तो भारत का कल्याण नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय नवोत्थान की इस नवचेतना का श्रेय मुख्यतया हमारी देशी भाषाओं को है।

भारत की सब भाषाएँ राष्ट्रभाषाएँ हैं जिनकी अपन-अपने क्षेत्र में श्रेष्ठता और प्रधानता है। हम आज किसी एक ही राष्ट्रभाषा की जरूरत नहीं है बल्कि हमें जरूरत है एक राजभाषा की जो सर्वसाधारण कार्यों में उपयोगी होगी। अब प्रश्न है कि भारत की 18 राष्ट्रभाषाओं में कौन सी ऐसी भाषा है जो राजभाषा बनने का दावा करने का अधिकारी हो। संविधान-सभा ने लंबी चर्चा के बाद हिन्दी को यह जिम्मेदारी सौंपी है। अवश्य ही कोई दूसरा रास्ता है नहीं।

—श्री के एम पणिक्कर

("दक्षिण भारत", सितम्बर '68)

इस राष्ट्र का स्वाधीनता अवश्यंभावी है और स्वाधीन भारत का राज्य शासन एक संघ के रूप में होगा। उस संघ की भाषा वही हो सकती है जो देश के अधिकांश लोगों के द्वारा समझी या बोली जाती है। और वह भाषा न कन्नड़, न तमिल और न अंग्रेजी होगी बरन वह होगी केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी। संघ-संसद में जब राष्ट्र के भाग्य विधाता राष्ट्र की वाणी हिन्दी में व्याख्यान देते होंगे उस समय हिन्दी न जाननेवाले दक्षिण के सदस्य वहाँ बैठकर क्या करेंगे? इसलिए मैं जोर देता हूँ कि इस शोचनीय स्थिति से बचने का केवल एक उपाय है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी जल्दी-से-जल्दी सीख ली जाय।

—डॉ० राजन